शिक्षा-दर्शन की भूमिका

(प्रजातन्त्र और शिक्षा)

●

लेखक

जॉन ड्यूई

अनुवादक

सुरेन्द्रपालसिंह

●

प्रकाशक

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

संवत् २०१४ वि०

मूल्य १०)

मुद्रक

चन्द्रप्रकाश ऐरन

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक में, प्रजातन्त्रात्मक समाज में सन्निहित विचारों की गवेषणा तथा शिक्षा-सम्बन्धी प्रयासों की समस्याओं को सुलझाने में उनके संप्रयोग का प्रयत्न है। इसमें प्रजातन्त्रात्मक दृष्टिकोण से जन-शिक्षा के क्रियात्मक उद्देश्यों तथा विधियों का विवेचन किया गया है और साथ ही ज्ञान तथा नैतिक विकास के उन सिद्धान्तों की आलोचना की गई है, जो पूर्वकालीन सामाजिक परिस्थितियों में प्रणीत हुए थे, तथा जो अर्द्ध-प्रजातान्त्रिक समुदायों में आज भी प्रचलित हैं, और जो प्रजातान्त्रिक-आदर्श की पूर्ण-प्राप्ति में बाधक हैं। जैसा कि इसके अध्ययन से प्रकट होगा, इस पुस्तक में प्रस्तुत किए गए दार्शनिक विचार, प्रजातन्त्र के अभ्युदय तथा विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि एवं प्राणि-शास्त्र के विकासवादी सिद्धान्त के विकास और व्यावसायिक पुनर्निर्माण में सामंजस्य स्थापित करते हैं, साथ ही इन विकासों के कारण, शिक्षा की विषय-सामग्री तथा विधि में उत्पन्न परिवर्तनों को भी व्यक्त करते हैं।

लेखक, टीचर्स कालेज के डॉ० गुडसेल के प्रति, आलोचना के लिए; उसी संस्था के प्रोफेसर किलपैट्रिक के प्रति, आलोचना तथा विषयानुक्रम-सम्बन्धी सुझावों के लिए और कुमारी एलजी रिप्ले क्लैप के प्रति अनेक आलोचनाओं तथा सुझावों के लिए हार्दिक आभार व्यक्त करता है। प्रथम दोनों सज्जनों ने प्रूफ-संशोधन का कार्य करने की भी कृपा की है। मैं उन सभी विद्यार्थियों का भी अनुगृहीत हूँ, जिन्हें मैंने अपने विस्तृत अध्यापक-जीवन में पढ़ाया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय
न्यूयार्क
अगस्त, १९१५ ई०

—जॉन ड्यूई

विषयानुक्रम

१

शिक्षा : जीवन की आवश्यकता

प्रेषण द्वारा जीवन का पुनर्नवीकरण

सजीव और निर्जीव वस्तुओं के बीच सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सजीव वस्तुएँ पुनर्नवीकरण के माध्यम से अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखती हैं। यदि कोई वस्तु पत्थर से टकराती है, तो पत्थर प्रतिरोध करता है। यदि इसकी प्रतिरोध-शक्ति उस शक्ति से अधिक प्रबल होती है, जिससे उस पर प्रहार किया गया था, तो उसके वाह्य स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता ; अन्यथा वह छोटे-छोटे टुकड़ों में चूर-चूर हो जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि पत्थर प्रहार के विरुद्ध अपने अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास करे अथवा उस चोट को स्वयं अपनी किसी क्रिया का सहायक तत्त्व बना ले। यह संभव है कि कोई सजीव वस्तु किसी अन्य प्रबल शक्ति से सहज ही में पिस जाय ; किन्तु फिर भी वह वस्तु अपने ऊपर क्रियाशील समस्त शक्तियों को अपने भावी अस्तित्व का एक माध्यम बना लेती है। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ है, तो वह छोटे-छोटे टुकड़ों में टूटती ही नहीं—कम-से-कम जीवन के उच्च रूपों में—वरन् एक सजीव वस्तु के रूप में अपना अस्तित्व ही समाप्त कर देती है।

जब तक उस सजीव वस्तु की सत्ता रहती है, वह आस-पास की शक्तियों को अपने हित में नियोजित करने के लिए संघर्ष करती है। वह प्रकाश, वायु, आर्द्रता और भूमि के पदार्थों का उपयोग करती है। इन शक्तियों के उपयोग करने का अर्थ यही है कि वह सजीव वस्तु इन्हें अपने अस्तित्व के संरक्षण का एक साधन बना लेती है। अपनी इस विकासमान अवस्था के लिए वातावरण को अनुकूल बनाने में उसकी जितनी शक्ति का व्यय होता है, उससे कहीं अधिक शक्ति की उपलब्धि होती है। फलतः वह विकसित होती रहती है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि एक सजीव सत्ता सभी शक्तियों को अपनी क्रमागत प्रक्रिया के लिए अनुशासित व नियंत्रित किए रहती है, अन्यथा वे उस सत्ता को उपयोग करके समाप्त कर दें। वास्तव में जीवन, वातावरण पर प्रतिक्रिया द्वारा पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया है।

जीवन के अपेक्षाकृत उच्च रूपों में इस प्रक्रिया को अनिश्चित काल तक नहीं चलाया जा सकता ; क्योंकि कुछ समय के उपरान्त वह समाप्त हो जाती है। अतएव, जीवों में अनिश्चित समय तक आत्म-पुनर्नवीकरण की सामर्थ्य नहीं होती ; किन्तु जीवन-प्रवाह की निरन्तरता किसी जीव-विशेष के दीर्घ अस्तित्व पर निर्भर नहीं होती। जीवन के अन्य रूपों का पुनरुत्पादन अविच्छिन्न क्रम से चलता ही रहता है। भूगर्भ-शास्त्र के अभिलेख भी इस तत्त्व को प्रमाणित करते हैं कि यद्यपि केवल जीव-विशेष की ही नहीं, वरन् अनेक जीव वर्गों की भी मृत्यु हो जाती है ; किन्तु फिर भी जीवन-प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। अवरोधों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहने के फलस्वरूप जब कुछ वर्ग समाप्त हो जाते हैं, तब ऐसे रूपों को अस्तित्व मिलता है, जो उक्त अवरोधों की शक्तियों का अनुकूल उपयोग करने में सक्षम होते हैं। अतएव, जीवन की अविच्छिन्नता से यह तात्पर्य है कि सजीव वस्तुएँ अपनी आवश्यकता के अनुसार वातावरण के साथ पुनर्सामंजस्य की अटूटता बनाए रखती हैं।

अभी तक हम जीवन की चर्चा एक भौतिक वस्तु के रूप में कर रहे थे। वस्तुतः यह जीवन का एक निम्नस्तर है ; किन्तु 'जीवन' शब्द के प्रयोग द्वारा हमें व्यक्तिगत और जातीय अनुभवों के समस्त क्षेत्र की व्यञ्जना करना अभिप्रेत है। जब हम 'लिंकन की जीवनी' नामक पुस्तक देखते हैं, तब यह आशा नहीं करते कि वह शरीर-विज्ञान पर कोई निबन्ध होगा। हम तो उसे इस आशा से खोलते हैं कि उसमें सामाजिक पृष्ठभूमि का विवरण होगा। परिवार के पूर्व-वातावरण, उसकी परिस्थितियों और व्यवसाय का उल्लेख होगा। चरित्र के विकास के प्रमुख घटना-प्रसंग होंगे, उसमें संघर्षों और सफलताओं की व्याख्या होगी। व्यक्तिगत आशाओं, अभिरुचियों तथा हर्ष-विषाद का उल्लेख होगा। ठीक इसी प्रकार जब हम किसी वर्बर जाति, एथीनिया के लोगों अथवा अमरीकी राष्ट्र के जीवन का उल्लेख करते हैं, तब इस संदर्भ में 'जीवन' शब्द के अन्तर्गत उनके रीति-रिवाज, संस्थाएँ, विश्वास, सफलताएँ-असफलताएँ, मनोरंजन एवं व्यवसाय, सभी कुछ समाहित हो जाते हैं।

'अनुभव' शब्द के प्रयोग में भी हमें उसी सारगर्भित अर्थ की व्यञ्जना अभीष्ट होती है। जीवन का चाहे यह व्यापक अर्थ लें अथवा शरीर-विज्ञान से सम्बद्ध, उसका संकुचित अर्थ स्वीकार करें, दोनों ही में पुनर्नवीकरण के माध्यम से, जीवन की निरन्तरता का सिद्धान्त लागू होता है। जहाँ तक मानव-जाति का प्रश्न है, उसके भौतिक अस्तित्व के पुनर्नवीकरण के साथ-साथ विश्वासों, आदर्शों,

आशाओं, हर्ष, निराशाओं और पद्धतियों का पुनर्निर्माण होता रहता है। सामाजिक वर्ग के पुनर्नवीकरण के माध्यम से किसी अनुभव की अटूट क्रमबद्धता एक अति सामान्य तथ्य है। इस प्रकार शिक्षा, अपने व्यापक अर्थ में जीवन की सामाजिक अटूट क्रमबद्धता का साधन है। समाज का प्रत्येक विधायक तत्त्व अथवा सदस्य, चाहे वह आधुनिक नगर का हो अथवा किसी बर्बर जाति का हो, जन्म से अपरिपक्व, बेबस उत्पन्न होता है और भाषा, विश्वास, आदर्शों तथा सामाजिक मापदण्डों से रहित होता है। यद्यपि अपने समुदाय के जीवन-अनुभवों को आगे ले चलने वाले व्यक्तियों अथवा समाज की इकाइयों की कालान्तर में मृत्यु हो जाना निश्चित है, फिर भी समुदाय का जीवन अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।

एक सामाजिक सदस्य के जन्म और मृत्यु की अपरिहार्यता ही शिक्षा की आवश्यकता निर्धारित करती है। एक ओर तो वर्ग के नवजात सदस्यों को, जो इसके भावी प्रतिनिधि हैं, अपरिपक्वता और ऐसे वयस्क सदस्यों की परिपक्वता है, जिन्हें अपने वर्ग के रीति-रिवाजों तथा अन्य जानकारी का ज्ञान है। दूसरी ओर इस बात की आवश्यकता है कि नवजात अपरिपक्व सदस्यों की पर्याप्त संख्या को केवल शारीरिक रूप से ही न पलने-बढ़ने दिया जाय, वरन् साथ-ही-साथ उन्हें परिपक्व सदस्यों की अभिरुचियों, उद्देश्यों, जानकारियों, निपुणताओं एवं पद्धतियों से परिचित करा दिया जाए, अन्यथा वर्ग के जीवन की चारित्रिक विशिष्टता समाप्त हो जाएगी। यहां तक कि बर्बर समुदायों में भी वयस्क सदस्यों के अर्जित गुण उन अपरिपक्व सदस्यों की सिद्धि-क्षमता से अधिक होंगे, जिनको अपने-आप पर ही छोड़ दिया गया हो। सभ्यता के विकास के साथ-साथ अपरिपक्व सदस्यों की मौलिक सामर्थ्य एवं वयस्क सदस्यों के स्तर एवं रीति-रिवाजों के बीच का पार्थक्य बढ़ता ही जाता है। केवल शारीरिक वृद्धि अथवा जीविका-निर्वाह की मूल आवश्यकताओं की तुष्टि के साधनों की पूर्ण जानकारी इतनी पर्याप्त नहीं है कि उसके माध्यम से समुदाय के जीवन का पुनरुत्पादन किया जा सके। वस्तुतः इसके लिए सुनिर्दिष्ट एवं विवेकपूर्ण प्रयास की अपेक्षा होती है। सामाजिक समुदाय के उद्देश्यों और स्वभावों से अनभिज्ञ एवं उदासीन, जन्म लेने वाले प्राणियों को उनसे परिचित कराने और उनमें उनकी सक्रिय अभिरुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। शिक्षा ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके माध्यम से इस व्यवधान को भरा जा सकता है।

प्राणियों के जीवन के समान ही समाज का अस्तित्व भी प्रेषण की

प्रक्रिया के माध्यम से सुरक्षित रहता है। इसके द्वारा समाज के वयस्क सदस्यों के स्वभाव, विचार, अनुभूतियां आदि अल्पवयस्क एवं अपरिपक्व सदस्यों की ओर संचरित होती रहती हैं। यदि समाज के वर्ग-जीवन से समाप्तप्राय हो जाने वाले सदस्यों के आदर्शों, आज्ञाओं आकांक्षाओं, मापदण्डों एवं धारणाओं का संचरण आगामी संतति की ओर न हो, तो सामाजिक जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यदि समाज के सदस्य निरंतर जीवित रहें, तो उनके द्वारा नवजात सदस्यों को शिक्षा प्राप्त होने की संभावना है। किन्तु, उनका यह कार्य सामाजिक आवश्यकता के स्थान पर व्यक्तिगत स्वार्थ से परिचालित होगा। इस प्रकार यह एक अत्यंत आवश्यक कार्य बन गया है।

यदि किसी समाज के सभी सदस्य एक साथ ही प्लेग से मर जायं, तो इसका यह अर्थ होगा कि वर्ग का जीवन सदा के लिए समाप्त हो जायगा। फिर भी समाज के विधायक प्रत्येक सदस्य की मृत्यु उसी प्रकार निश्चित है, जैसे कि महामारी ने सभी सदस्यों की जीवनलीला को एक साथ समाप्त कर दिया। किन्तु, तथ्य तो यह है कि कुछ व्यक्तियों का जन्म होता रहता है और कुछ की मृत्यु होती रहती हैं और आयु के इस श्रेणीगत अन्तर के कारण यह संभव होता है कि विचारों और व्यवहार-पद्धतियों के संचरण के द्वारा सामाजिक ढांचे की पुनरंचना निरंतर होती रहती है। लेकिन, फिर भी यह पुनर्नवीकरण स्वतः चालित नहीं होता। यदि वास्तविक या पूर्ण संचरण घटित होने के लिए जागरूक प्रयास न किया जाय, तो अत्यंत सुलभ वर्ग भी असभ्य एवं बर्बर हो जाएगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि नवजात मानव-शिशु इतने अपरिपक्व होते हैं कि यदि वे दूसरों की देख-रेख या सहायता से रहित करके अपने-आप विकसित होने के लिए छोड़ दिए जायें, तो वे भौतिक अस्तित्व के लिए आवश्यक प्रारम्भिक योग्यता का भी अर्जन नहीं कर सकते। अनेक निम्नश्रेणी के नवजात जीवों की तुलना में मनुष्य के नवजात शिशुओं की जन्मजात क्षमता इतनी कम होती है कि वे भौतिक भरण-पोषण के लिए आवश्यक शक्ति भी शिक्षण द्वारा ही प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि मानव के कलात्मक, वैज्ञानिक, नैतिक एवं शिल्प-विज्ञान से संबद्ध गुणों को अर्जित करने में कितने अधिक शिक्षण की आवश्यकता होती है।

शिक्षा एवं संक्रमण

समाज के अटूट एवं क्रमबद्ध अस्तित्व के लिए शिक्षा एवं उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने व सीखने की आवश्यकता इतनी स्पष्ट है कि ऐसा लगता है, जैसे हम किसी स्वयंसिद्ध बात को ही अनुचित विस्तार देने जा रहे हैं। किन्तु, इसका औचित्य इस तथ्य में निहित है कि इस प्रकार बल दे देने से शिक्षा के सम्बन्ध में प्रचलित अत्यधिक पांडित्यपूर्ण एवं औपचारिक भ्रामक धारणा का निराकरण हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाठशालाएँ प्रेषण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं, जिनके द्वारा अपरिपक्व बालकों के स्वभाव का निर्माण होता है। किन्तु, विकास की अन्य अनेक विधियाँ भी हैं और तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध हो जायगा कि शिक्षा की उक्त विधि अपेक्षाकृत बाह्य एवं छिछली है। अतएव, जब तक कि शिक्षा की अधिक आधारभूत एवं प्रभावपूर्ण प्रणालियों को गंभीरतापूर्वक न समझ लिया जाय, तब तक उसकी पांडित्यपूर्ण विधियों को सही संदर्भ में रख सकना सहज नहीं होगा।

समाज प्रेषण एवं संक्रमण के माध्यम से न केवल अपने अस्तित्व को अटूट एवं अविच्छिन्न बनाए रखता है ; वरन् यह कहना भी गलत न होगा कि प्रेषण एवं संक्रमण ही में उसका अस्तित्व निहित है। सामूहिक समुदाय एवं संक्रमण शब्दों में केवल शाब्दिक साम्य ही नहीं है, वरन् उनमें एक अर्थगत सम्बन्ध भी अन्तर्भूत है। मनुष्य एक समुदाय में इसलिए रहते हैं ; क्योंकि कुछ वस्तुओं पर उनका सामूहिक अधिकार होता है और संक्रमण एक ऐसी विधि है, जिस के माध्यम से वे वस्तुएँ सामूहिक अधिकार के अन्तर्गत आती हैं। समुदाय या समाज का निर्माण करने के लिए जिन-जिन सामूहिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे हैं उद्देश्य, विश्वास, आकांक्षाएँ, ज्ञान, एक सामूहिक बोध एवं समझौता, जिसे समाज-शास्त्री सामाजिक ज्ञान की संज्ञा देते हैं। ऐसी वस्तुएँ ईंट आदि भौतिक वस्तुओं की भाँति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक बाह्य रूप

से नहीं पहुँच सकती और न उनका इस प्रकार विभाजन कर सकना ही सम्भव है, जैसे कि किसी सिक्के को भुनाकर आपस में बाँट लिया जाना। जिस संक्रमण की विधि से व्यक्ति एक सामूहिक बोध अथवा समझौते के सहगामी बनते हैं, उसी के माध्यम से समान भावनागत एवं बौद्धिक मनोवृत्तियों—आशाओं एवं आवश्यकताओं के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने के समान विधियों—की भी उपलब्धि होती है।

कुछ व्यक्तियों के निकट रहने-मात्र से समाज की रचना नहीं हो जाती और न किसी विधि पर समाज से कुछ फीट अथवा मील की दूरी पर रहने का यह अर्थ होता है कि व्यक्ति का सामाजिक प्रभाव समाप्त हो गया है। एक पुस्तक या पत्र के द्वारा हजारों मील की दूरी पर रहने वाले दो व्यक्तियों में इतने अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध का सूत्रपात हो जाता है, जितना एक ही छत के नीचे रहने वाले दो सहवासियों के बीच भी संभव न हो। व्यक्तियों के द्वारा एक सामाजिक समुदाय का निर्माण केवल इसलिए नहीं हो जाता कि वे सब एक सामूहिक उद्देश्य को फलीभूत करने में सक्रिय हैं, क्योंकि मशीन के पुर्जे भी तो एक सामूहिक फल के लिए अधिकतम सहकारिता से कार्य करते हैं; किन्तु उनसे किसी समुदाय की रचना नहीं होती। हाँ, यदि वे सामूहिक उद्देश्य के प्रति जागरूक होते और उनमें उनकी इतनी अभिरुचि होती कि वे अपनी विशिष्ट क्रियाओं का नियमन उक्त दृष्टिकोण से करते, तो अवश्य ही उनके द्वारा एक समुदाय का निर्माण हो जाता; किन्तु इस प्रक्रिया के फलीभूत होने के लिए संक्रमण की आवश्यकता होगी। प्रत्येक पुर्जे को यह जानना आवश्यक होगा कि दूसरे की गति-विधि क्या है और साथ-ही-साथ उसे भी किसी प्रणाली के द्वारा दूसरों को भी अपने उद्देश्य और प्रगति से परिचित कराते रहने की अपेक्षा होगी। सर्वसम्मति के लिए संचरण की अपेक्षा होती है; अतएव हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि अत्यधिक सामाजिक समुदायों के अन्तर्गत भी अनेक ऐसे सम्बन्ध हैं, जिनमें अभी तक सामाजिकता नहीं आ सकी है। किसी भी सामाजिक समुदाय के अधिकांश मानवीय सम्बन्धों में अब भी यांत्रिकता विद्यमान है। लोग अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए जिन दूसरे व्यक्तियों का उपयोग करते हैं, उनकी भावनात्मक अथवा बौद्धिक प्रकृति से परिचय पाने अथवा अनुमति लेने की परवाह नहीं करते हैं। दूसरों की सेवाओं के ऐसे उपयोग से यही प्रकट होता है कि सेवाएँ प्राप्त करने वाला व्यक्ति या तो शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली है अथवा उसकी स्थिति प्रतिष्ठापूर्ण है, या उसमें कुशलता,

प्राविधिक क्षमता और यांत्रिक एवं वित्तीय समस्याओं को संभालने की क्षमता दूसरों से अधिक है।

जहाँ तक माता-पिता तथा पुत्र, अध्यापक तथा शिष्य, मालिक तथा नौकर, शासक तथा शासित के सम्बन्ध इस स्तर पर प्रतिष्ठित रहते हैं, वे किसी वास्तविक सामाजिक वर्ग की रचना नहीं करते, चाहे उनकी पारस्परिक क्रियाओं में कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों न हो। दूसरों को आदेश देने और दूसरों से आदेश लेने से कार्य और फल में संशोधन अवश्य हो जाता है ; किन्तु उसके द्वारा न तो व्यक्ति में उद्देश्य के समभागी अथवा साझीदार होने की चेतना उत्पन्न होती है और न परस्पर आदान-प्रदान द्वारा हितों में एकरूपता ही स्थापित हो पाती है।

सामाजिक जीवन और संक्रमण में केवल अभिन्नता ही नहीं है, वरन् समस्त संचरण (और इसीलिए सम्पूर्ण वास्तविक सामाजिक जीवन) शिक्षाप्रद भी है। इस प्रकार संचरण ग्रहण करने वाले व्यक्तित्व में व्यापक एवं परिवर्तित अनुभव का सन्निवेश होता है। एक व्यक्ति दूसरे के विचारों और भावनाओं का भी साझीदार बन जाता है और इस प्रकार उसके अपने दृष्टिकोण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य होता है। वह व्यक्ति भी, जिसके सम्पर्क से संचरण होता है, प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता। यदि सम्पूर्ण रूप में और सही-सही किसी अनुभव को—विशेषकर किसी जटिल अनुभव को—दूसरे में संचरित करने का प्रयोग किया जाय, तो ऐसा ज्ञात होगा कि अनुभव के प्रति हमारे निजी दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन आ रहा है, अन्यथा हमारे संचित अनुभव, उद्‌गारों आदि के माध्यम से व्यक्त होते हैं। अनुभव का संचरण करने के लिए उसे प्रतिपादित करने की आवश्यकता होती है और प्रतिपादन करने के लिए यह अपेक्षित है कि 'स्व' को खींचकर उसमें एक निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण अपनाया जाय और यह विचार किया जाय कि उसमें और दूसरों के जीवन में कौन-से पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र और उसका ऐसा रूप प्रस्तुत किया जाय, जिससे कि दूसरे लोग उसके अर्थ का मूल्यांकन कर सकें। एक ग्रहणकर्ता व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सामान्य एवं प्रचलित उक्तियों के अतिरिक्त दूसरों के अनुभव के कुछ-न-कुछ अंश को अपनी कल्पनाशक्ति से आत्मसात् करके उसे अपने निजी अनुभव से बुद्धिमत्तापूर्वक परिचित करा सके। सभी प्रकार का संचरण एक कला है ; अतएव यह कहना संगत ही है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपने सहभागियों के लिए शिक्षाप्रद सिद्ध हो सकती है, यदि वह

जीवन्त रूप में सामाजिक बनी रहे अथवा उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया जाय। हाँ, जब वह एक निर्दिष्ट साँचे में ढल जाती है और एक निश्चित गति से चलने लगती है, तो शिक्षाप्रद शक्ति का ह्रास हो जाता है।

अन्ततः इसी तथ्य की व्यञ्जना कराना अभिप्रेत है कि सामाजिक जीवन अपने स्थायित्व के लिए शिक्षण एवं उसके द्वारा सीखते रहने की अपेक्षा ही नहीं करता, वरन् सामूहिक जीवन की प्रक्रिया ही अपने-आप में शिक्षाप्रद है। वह अनुभव को व्यापक और प्रबुद्ध बनाता है। उससे कल्पना अनुप्राणित एवं सम्पन्न बनती है, विचार व अभिव्यक्ति में उपयुक्तता और स्पष्टता प्राप्त करने के दायित्व का उदय होता है। एकान्त में रहने वाले (मानसिक और शारीरिक दृष्टि से एकान्त में रहने वाले) किसी व्यक्ति को कदाचित् ही ऐसा अवसर प्राप्त हो कि वह अपने अतीत अनुभवों पर विचार करके उनका ठीक अर्थ ग्रहण कर सके। वयस्कों एवं अल्पवयस्कों के अर्जित गुणों की इस असमानता से न केवल अल्प वयस्कों को शिक्षित किए जाने की आवश्यकता का जन्म होता है, वरन् शिक्षा की यही आवश्यकता अनुभवों को ऐसा क्रम एवं स्वरूप प्रदान करने के अगाध उद्दीपन प्रदान करती है, जिसके संचरण के वे अत्यन्त उपयुक्त एवं उपयोगी बन जाते हैं।

संविधिक शिक्षा का स्थान

बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा और उस शिक्षा में, जो प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ वास्तविक अर्थों में रहकर प्राप्त करता है, स्पष्ट अन्तर है। पहली स्थिति में शिक्षा आकस्मिक है और यह स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण है; किन्तु इसका स्पष्ट कारण साथ रहना ही नहीं है। वैसे बिना किसी अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि किसी भी सामाजिक संगठन—आर्थिक, कौटुम्बिक, राजनैतिक, वैधिक अथवा धार्मिक संस्था—का मूल्यांकन इस बात से किया जा सकता है कि कहाँ तक उसका प्रभाव हमारे अनुभवों के परिशोधन एवं संवर्द्धन पर पड़ता है। फिर भी यह उसका प्रारम्भिक उद्देश्य नहीं रहता, वह तो सीमित तथा व्यावहारिक होता है। उदाहरण के लिए धार्मिक संगठन दैवी शक्तियों की अनुकूलता प्राप्त करने तथा अमंगलकारी प्रभावों से बचाव के लिए प्रारम्भ किए जाते हैं, और कौटुम्बिक जीवन, कामनाओं की तुष्टि तथा पारिवारिक स्थायित्व की तुष्टि की आकांक्षा से सुनियोजित श्रम, अधिकांश रूप में दूसरों को अधिकृत करने के लिए। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। बहुत धीरे-धीरे ही संगठन के उपफल, सचेतन, जीवनपर पड़ने वाले इसके प्रभाव के गुण तथा विस्तार पर ध्यान दिया गया और उससे भी धीरे-धीरे इस प्रभाव को संगठन के आचरण का एक निर्देशक तत्त्व समझा गया है। यहाँ तक कि आज भी हमारे औद्योगिक जीवन में अध्यवसाय तथा मितव्ययिता-सम्बन्धी कुछ मूल्यों को छोड़कर मानव साहचर्य के उन स्वरूपों के प्रति, जिनके अन्तर्गत संसार के सारे कार्य चल रहे हैं, हमारी बौद्धिक एवं भावप्रवण प्रतिक्रिया, भौतिक प्रतिफल की तुलना में कम ध्यान आकर्षित करती है।

किन्तु बच्चों का साहचर्य एक प्रत्यक्ष मानवीय तथ्य के रूप में महत्त्व ग्रहण कर लेता है। वैसे यह आसान है कि हम उनके सम्पर्क में आते समय अपने कार्यों के उनके व्यवहारों पर पड़ने वाले शिक्षाप्रद प्रभाव की उपेक्षा कर जायें, या उसे किसी बाह्य तथा मूर्त प्रतिफल से गौण महत्त्व प्रदान करें; किन्तु यह उतना

सरल नहीं है, जितना वयस्क लोगों के साथ व्यवहार करने में है। लेकिन, उन्हें प्रशिक्षित करने की आवश्यकता इतनी प्रत्यक्ष है और उनकी मनोवृत्ति तथा आदतों को बदलना इतना जरूरी है कि इन परिणामों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हमारा मुख्य कर्तव्य यह है कि हम उन्हें इस योग्य बना दें कि वे हमारे सामूहिक जीवन में भाग ले सकें। हम बिना यह सोचे नहीं रह सकते कि हम उनके अन्दर वे शक्तियां उत्पन्न कर रहे हैं या नहीं, जिससे वे इस योग्य बन सकें। यदि मानव-जाति ने यह अनुभव करने में कुछ प्रगति की है कि प्रत्येक समवाय का वास्तविक मूल्य उसका विशिष्ट मानवीय प्रभाव—अर्थात् अभिज्ञ अनुभवों पर प्रभाव है, तो हम अच्छी तरह विश्वास कर सकते हैं कि हमने विस्तृत रूप से यह शिक्षा बच्चों के साथ व्यवहार द्वारा प्राप्त की है।

इस प्रकार अब हमें उस विस्तृत शिक्षा-प्रक्रिया में भेद स्पष्ट करना है, जिसे हम अब तक सविधिक शिक्षा अर्थात् व्यक्तिगत शिक्षा या पाठशाला की शिक्षा समझते रहे हैं। अविकसित सामाजिक समुदायों में हम सविधिक शिक्षा तथा प्रशिक्षा बहुत कम पाते हैं। असभ्य जातियां बच्चों में वांछित मनोवृत्ति उत्पन्न करने के लिए उन्हें उसी प्रकार का साहचर्य प्रदान करने में विश्वास करती हैं, जो वयस-प्राप्त लोगों को उनके समुदाय के प्रति निष्ठावान बनाए रखता है। उनके पास उन उपक्रमणात्मक उत्सवों के अतिरिक्त, जिनके द्वारा नवयुवकों को पूर्ण सामाजिक सदस्यता प्रदान की जाती है, शिक्षा का कोई अन्य भौतिक साधन या संस्था नहीं होती, प्रायः उनके बच्चे वयस्क जनों द्वारा किए जाने वाले कार्यों में हाथ बँटाकर ही उनके रीति-रिवाजों को सीखते और उनकी भावनाओं तथा विचारों को ग्रहण करते हैं। कुछ अंशों में यह हाथ बटाना प्रत्यक्ष रूप में होता है, जब वे बड़ों के कार्य-व्यापार में सहकारी शिष्य के रूप में हाथ बँटाते हैं, और कुछ अंशों में यह अप्रत्यक्ष रूप से होता है, जब वे नाटकीय खेलों द्वारा बड़ों के कार्यों की अनुकृति करते हैं और इस प्रकार ये वे बातें सीखते हैं, जिन्हें सीखने की उनसे आशा की जाती है। असभ्य जाति के लोगों को एक ऐसे स्थान की खोज करना व्यर्थ-सा लगेगा, जहां और कुछ न होता हो, केवल किसी को सिखाने के लिए शिक्षा का कार्य ही हो रहा हो।

लेकिन सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ बच्चों की शक्तियों तथा वयस्क जनों के अर्जित गुणों के बीच का अन्तर भी बढ़ता जाता है। कम विकसित काम-धन्धों को छोड़कर वयस्क जनों के कार्य-व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेकर शिक्षा प्राप्त करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। वयस्कों द्वारा किए जाने

वाले अधिकांश कार्य-विस्तार तथा अर्थ की दृष्टि से पहुँच के इतने बाहर होते हैं कि क्रीड़ात्मक अनुकृति द्वारा इसके सारतत्त्व का पुनर्प्रस्तुतिकरण अधिकाधिक अपर्याप्त होता जाता है। वयस्कों के क्रिया-कलापों में प्रभावपूर्ण ढंग से भाग ले सकने की योग्यता इसी दृष्टिकोण से दिए गए पूर्व प्रशिक्षण पर निर्भर होती है। इसके लिए साभिप्राय उपकरण पाठशालाएँ तथा सुनिश्चित उपादान अध्ययन को समझा जाता है। विशिष्ट वस्तुओं की शिक्षा प्रदान करने का भार कुछ विशेष लोगों को सौंप दिया जाता है। बिना इस प्रकार की सविधिक शिक्षा के किसी संश्लिष्ट समाज के समस्त अर्जित गुणों एवं साधनों का संक्रमण सम्भव नहीं है। यह एक ऐसे अनुभव की प्राप्ति का द्वार भी खोल देता है, जिसे प्राप्त करना बच्चों के लिए बिना पुस्तकों तथा ज्ञान के प्रतीकों को पूर्ण रूप से आत्मसात् किए, केवल दूसरों के साहचर्य में रहकर अविधिक शिक्षा द्वारा सम्भव नहीं है। किन्तु, शिक्षा को अप्रत्यक्ष रूप से सविधिक शिक्षा के रूप में संक्रमित करने में स्पष्ट खतरे भी हैं। प्रत्यक्ष रूप से या खेलद्वारा, अप्रत्यक्ष रूप से वास्तविक कार्यों में भाग लेना कम-से-कम व्यक्तिगत तो होता है। ये गुण कुछ अंशों में उपलब्ध सुयोगों की संकीर्णता की क्षतिपूर्ति कर देते हैं। दूसरी ओर हम कह सकते हैं कि सविधिक शिक्षा बड़ी आसानी से दुर्बोध तथा मृत, अस्पष्ट तथा किताबी बन जाती है। अल्प विकसित समाज में जितना संचित ज्ञान रहता है, वह कम-से-कम कार्य-रूप में परिणत तो किया जाता है। वह चरित्र का अंग बन जाता है और प्रतिदिन के आवश्यक कार्य-व्यापार में अवसर पड़ने पर काम आता रहता है।

लेकिन एक विकसित संस्कृति में जो कुछ भी सीखना पड़ता है, उसका अधिकांश प्रतीकों के रूप में संचित रहता है। परिचित कार्यों तथा वस्तुओं के रूप में इनका अनुवाद कर पाना सरल नहीं होता। इस प्रकार का उपादान आपेक्षिक रूप से विशिष्ट तथा प्रविधिक होता है। वास्तविकता के साधारण मानदण्ड के अनुसार यह कृत्रिम है; क्योंकि यह मानदण्ड व्यावहारिक विषयों से सम्बन्ध बनाए रखता है। इस प्रकार का उपादान, सामान्य विचार-परम्पराओं तथा अभिव्यक्तियों से अलग अपनी निज की दुनिया में ही स्थित रहता है। इसमें स्थाई खतरा यही है कि सविधिक निर्देश का उपादान जीवन के अनुभवों की विषय-वस्तु से अलग, केवल पाठशालाओं की विषय-वस्तु बनकर रह जायगा। इस प्रकार हो सकता है कि स्थाई सामाजिक आशय ही दृष्टि-पथ से ओझल हो जायें। ऐसी बातों को, जिनका सामाजिक जीवन में कोई उपयोग नहीं किया

जाता, लेकिन जो विस्तृत रूप से प्रतीकों के रूप में व्यक्त की गई विशिष्ट जानकारी का विषय बनी रहती है, स्कूलों में महत्त्वपूर्ण बना दिया जाता है। इस प्रकार हम शिक्षा-सम्बन्धी साधारण धारणा से परिचय प्राप्त करते हैं, ऐसी धारणा, जो इसकी सामाजिक आवश्यकता तथा समस्त मानवीय साहचर्य से—जो चेतन जीवन को प्रभावित करता है—इसके तादात्म्य की उपेक्षा करती है और अव्यावहारिक विषयों के सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत करने वाली, मौखिक संकेत-चिह्नों के माध्यम से प्राप्य शिक्षा—अर्थात् साक्षरता-प्राप्ति से इसका तादात्म्य स्थापित करती है।

इस प्रकार शिक्षा-दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या ऐसी पद्धति की है, जिससे अविधिक तथा सविधिक, सहज एवं सुनियोजित शिक्षा-पद्धति के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके, जहां एक ओर किसी विषय की जानकारी तथा शिल्पगत कौशल-प्राप्ति, सामाजिक व्यवस्था के निर्माण-कार्य को प्रभावित नहीं कर पाती, वहां दूसरी ओर साधारण महत्त्वपूर्ण अनुभव अपना अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ रह जाता है, जब कि पाठशाला की शिक्षा से शिक्षा के क्षेत्र में केवल मेधावी अर्थात् अहंवादी विशेषज्ञ ही उत्पन्न हो पाते हैं। विशेष ढंग की शिक्षा के विकास के साथ-ही-साथ लोगों द्वारा सचेष्ट होकर एक विशिष्ट विधि से शिक्षा-प्राप्ति के कार्य द्वारा किए गए ज्ञान और स्वाभाविक ढंग से अपने चरित्र-निर्माण-काल में अनायास ही दूसरों के सम्पर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान में अन्तर स्पष्ट करना कठिन हो जाता है।

अध्याय का सारांश

निरन्तर आत्म-संरक्षण के लिए संघर्ष करते रहना ही जीवन का अर्थ है। यह चिर अस्तित्व केवल निरन्तर पुनर्नवीकरण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अतः जीवन आत्मपुनर्नवीकरण की प्रक्रिया है। भौतिक जीवन में जो स्थान पोषण एवं पुनरुत्पादन का है, वही स्थान सामाजिक जीवन के क्षेत्र में शिक्षा का है। मुख्य रूप से यह शिक्षा संचरण के माध्यम द्वारा संक्रमण में निहित है। संचरण, अनुभवों में तब तक हिस्सा बँटाते रहने की प्रक्रिया है, जब तक कि वे सामूहिक सम्पत्ति न बन जायें। यह उन दोनों पक्षों की मनोवृत्ति का परिशोधन कर देती है, जो इसमें भाग लेते हैं। मानव-साहचर्य की प्रत्येक पद्धति का अप्रत्यक्ष महत्त्व इस बात में है कि उससे कहां तक अनुभवों के परिशोधन का कार्य सम्पन्न हो सका है, यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे बच्चों के साथ किए जाने

वाले व्यवहार में बड़ी आसानी से परखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अपने प्रभाव में शिक्षाप्रद है, तो यह शिक्षाप्रद प्रभाव सर्वप्रथम उस साहचर्य के उद्देश्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग बन जाता है, जो बच्चों और वयस्क जनों के साहचर्य में निहित है। जैसे-जैसे मानव-समाज अपने साधनों और ढांचे के क्षेत्र में संश्लिष्ट होते जाते हैं, वैसे-वैसे संविधिक या सुनियोजित शिक्षा की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे संविधिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, वैसे-वैसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से साहचर्य द्वारा प्राप्त और स्कूल द्वारा प्राप्त अनुभवों के बीच के अवांछनीय अन्तर के विस्तार का भी खतरा बढ़ता जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों में ज्ञान एवं कौशल की प्रविधिक पद्धति की द्रुत अभिवृद्धि के कारण यह खतरा जितना वर्तमान समय में है, उतना पहले कभी नहीं था।

२

शिक्षा : एक सामाजिक क्रिया

वातावरण का स्वरूप तथा अर्थ

हम देख चुके हैं कि कोई भी जाति या सामाजिक समुदाय अनवरत आत्म-नवीकरण के माध्यम से ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है और यह नवीकरण समुदाय के अवयस्क सदस्यों की शैक्षणिक प्रगति द्वारा ही सम्पन्न होता है। समाज सहज ही, अपने विभिन्न प्रकार के सुनियोजित साधनों द्वारा एक बाहरी मालूम पड़ने वाले एवं अदीक्षित प्राणी को अपने अर्जित गुणों एवं आदर्शों के सशक्त उत्तराधिकारी के रूप में ढाल लेता है, अतः शिक्षा एक प्रकार की पालक, पोषक एवं उत्पादक प्रक्रिया है। उपर्युक्त शब्दों का अर्थ है कि यह हमारा ध्यान 'विकास की परिस्थितियों' की ओर आकर्षित करती है। हम पुनर्वेक्षण, संवर्द्धन एवं संपोषण आदि की बात भी कहते हैं—ये शब्द शिक्षा द्वारा पूरे किए जाने वाले उद्देश्य के स्तर-भेद को प्रकट करते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शिक्षा का अर्थ पथ-निर्देशन या जीवन की प्रक्रिया-मात्र ही है। जब इस प्रक्रिया का प्रतिफल हमारे मस्तिष्क में वर्तमान है, तो हम शिक्षा को गढ़ने, आकार देने या ढालने की क्रिया कहते हैं—अर्थात् सामाजिक क्रिया-कलाप के एक प्रामाणिक स्वरूप के रूप में गढ़ने की प्रक्रिया कहते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमारा सम्बन्ध उस पद्धति के सामान्य तत्त्वों के विवेचन से है, जिसके द्वारा कोई सामाजिक समुदाय अपने अवयस्क सदस्यों को पाल-पोस कर उसका सामाजिक आकार प्रदान करता है।

अतः इसके लिए जो आवश्यक है, वह है अनुभवों के उन गुणों का रूपान्तरण, जो उस सामाजिक समुदाय में प्रचलित विचारों, आशयों एवं अभिरुचियों से सम्बद्ध है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से समस्या केवल बाह्य रूप से आकार प्रदान करने की ही नहीं है। वस्तुओं को भौतिक रूप से एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है, वे शारीरिक रूप से एक के पास से दूसरे के पास पहुँचाई जा सकती हैं। विश्वासों एवं आकांक्षाओं को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रक्खा नहीं जा सकता। तब फिर उनके संक्रमण

के लिए क्या ढंग अपनाया जाता है ? प्रत्यक्ष संस्पर्श या अभिधात्मक शिक्षण की असंभाविता को देखते हुए, हमारी समस्या उस पद्धति का पता लगाने की है, जिसके द्वारा बच्चे वयस्क जनों के दृष्टिकोण को ग्रहण करते हैं, या वयस्क जन बच्चों को अपने साथ समान मानसिक स्तर पर लाते हैं।

सामान्य रूप में इसका उत्तर होगा--"वातावरण की प्रतिक्रिया के माध्यम से कुछ विशिष्ट प्रतिफलों की प्राप्ति द्वारा।" अपेक्षित विश्वासों को न तो ठोंक-पीट कर बैठाया जा सकता है और न वाञ्छित दृष्टिकोणों को मढ़ा जा सकता है। लेकिन, वह विशेष परिस्थिति--जिसमें कोई व्यक्ति रहता है--उसे एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु के प्रति अधिक संवेदनशील बनाती है। यह उसे कुछ विशेष योजना बनाने की ओर अग्रसर करती है, जिससे वह दूसरों के साथ सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके। दूसरों के समर्थन-प्राप्ति के दृष्टिकोण से यह कुछ विश्वासों को सशक्त और कुछ को अशक्त बनाती है। इस प्रकार यह उस व्यक्ति में धीरे-धीरे आचरण की एक विशिष्ट पद्धति और कार्य की विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। 'वातावरण' और 'माध्यम' व्यक्ति के चारों ओर के वस्तुजगत् से कुछ अधिक व्यक्त करते हैं। ये व्यक्ति की क्रियाशील प्रवृत्तियों के साथ उसके चारों ओर के वस्तुजगत् की प्रगाढ़ अविच्छिन्नता व्यक्त करते हैं। एक निर्जीव वस्तु भी अपने चारों ओर के वस्तुजगत् से निश्चय ही अविछिन्न सम्बन्ध रखती है, किन्तु वातावरण निर्माण करने वाली परिस्थितियाँ वातावरण नहीं प्रस्तुत कर पातीं ; क्योंकि निर्जीव वस्तु उन प्रभावों से सम्बद्ध नहीं रहती, जो उसे प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर, किसी सजीव प्राणी के लिए--विशेष रूप से मानव प्राणी के लिए--समय और स्थान की दृष्टि से कुछ दूरवर्ती वस्तुएँ निकटवर्ती वस्तुओं की अपेक्षा उसके लिए अधिक सही रूप में वातावरण प्रस्तुत करती हैं। वे वस्तुएँ ही, जिनसे व्यक्ति दूसरों से भिन्न प्रकार का अस्तित्व ग्रहण करता है, उसका वास्तविक वातावरण बनाती हैं। इस प्रकार एक नक्षत्र-शास्त्री के क्रिया-कलाप उन नक्षत्रों से भिन्न हैं, जिनकी ओर वह दृष्टि गड़ा कर निहारता या जिनके विषय में वह गणना करता रहता है। निकटस्थ रूप से वातावरण प्रस्तुत करने वाली वस्तु तो उसका दूरवीक्षण-यंत्र ही है। इसी प्रकार किसी पुरातत्त्व-शास्त्री के वातावरण की सृष्टि उस अस्पष्ट युग का मानव-जीवन, जिसके विषय में वह अनुसंधान करता है, और वे अवशेष तथा शिला-लेख इत्यादि हैं, जिनके माध्यम द्वारा वह उस युग से सम्बन्ध स्थापित करता है।

संक्षेप में वातावरण की सृष्टि उन समस्त परिस्थितियों से होती है, जो किसी

जीवधारी के चरित्रगत क्रिया-कलापों को अनुप्रेरित या बाधित करती तथा प्रोत्साहित या निषेधित करती हैं। जल मछली का वातावरण है, क्योंकि यह उसके क्रिया-कलापों अर्थात् उसके जीवन के लिए आवश्यक है। आर्कटिक प्रदेश की खोज करने वाले के वातावरण में उत्तरी ध्रुव एक महत्वपूर्ण तत्व है, चाहे वह वहाँ तक पहुँच सके या नहीं; क्योंकि यह उसके क्रिया-कलापों को एक सुनिश्चित रूप और वास्तविक अस्तित्व प्रदान करता है। चूँकि जीवन केवल निष्क्रिय अस्तित्व (एक वस्तु-मात्र) नहीं, अपितु क्रिया-कलाप की एक पद्धति है; अतः वातावरण या परिस्थिति से उन अवस्थाओं का बोध होता है, जो इस क्रिया-कलाप में बाधक या सहायक सिद्ध होती हैं।

सामाजिक वातावरण

एक प्राणी, जिसका क्रिया-कलाप दूसरों से सम्बद्ध है, एक सामाजिक वातावरण में रहता है। जो कुछ वह करता या कर सकता है, वह दूसरों की वाञ्छा, अपेक्षा, स्वीकृति या अस्वीकृति पर निर्भर रहता है। कोई भी प्राणी, जो दूसरों से सम्बद्ध है, बिना दूसरों के क्रिया-कलापों का ध्यान रखे, अपने क्रिया-कलाप सम्पन्न नहीं कर सकता ; क्योंकि ये उसकी निज की प्रवृत्तियों के आत्मानुभव की अनिवार्य अवस्थाएं हैं। अपने क्रिया-कलापों द्वारा वह दूसरों को अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है। व्यक्ति के क्रिया-कलापों को केवल उस तक ही सीमित रखने के लिए हम एक ऐसे व्यवसायी की कल्पना कर सकते हैं, जो स्वयं अकेले ही क्रय-विक्रय के सारे कार्य करता हो। किसी कारखाने का मालिक अपने गणना-कक्ष में बैठकर योजनाएँ बनाते समय, सामाजिक रूप से उतना ही प्रभावित होता है, जितना अपने कारखाने के लिए कच्चा माल खरीदते समय या तैयार माल को बेचते समय होता है। किसी ऐसे कार्य के विषय में, जो दूसरों के सम्पर्क में रहकर किया जाना है, सोचना या अनुभव करना, व्यवहार का उतना ही सामाजिक ढंग है, जितना कोई भी सार्वजनिक सहयोग या विरोध का कार्य।

हमारा उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना है कि सामाजिक परिस्थिति अपने अवयस्क सदस्यों को किस प्रकार पोषित करती है। यह देखना कोई बहुत कठिन नहीं है कि यह कार्य करने की बाह्य प्रवृत्तियों को किस प्रकार गढ़ती है। मनुष्य के सम्पर्क में आकर कुत्ते तथा घोड़े तक अपनी चेष्टाओं में सुधार कर लेते हैं। वे भिन्न प्रकार के स्वभाव केवल इसलिए ग्रहण कर लेते हैं कि उनका सम्बन्ध मनुष्यों से होता है। पशुओं को वश में करने के लिए मनुष्य उनको प्रभावित करने वाली प्राकृतिक वृत्ति को नियंत्रित करता है—अर्थात् उनके लिए एक विशेष प्रकार का वातावरण प्रस्तुत कर देता है। घोड़ों की स्वाभाविक चेष्टाओं में परिवर्तन लाने के लिए दाना-चारा, लगाम-बागडोर, विशिष्ट प्रकार की आवाज, सीटी आदि का प्रयोग किया जाता है। किसी विशेष कार्य करने की आदत डालने

के लिए धीरे-धीरे दृढ़तापूर्वक प्रयास किया जाता है। बाद में ये आदतें स्वाभाविक चेष्टाओं की भाँति ही कार्य करने लगती हैं। अगर किसी चूहे को एक चक्करदार स्थान में रख दिया जाय और वह एक निश्चित क्रम से, निश्चित गिनती के चक्कर लगाने पर ही अपना भोजन प्राप्त कर सके, तो धीरे-धीरे उसकी चेष्टाओं का परिष्कार हो जायगा और वह भूख लगने पर बिना जरा भी गलती किए स्वाभाविक रीति से खाने के पास तक पहुँचने का रास्ता पकड़ लेगा।

मनुष्य की चेष्टाओं का परिष्कार भी ठीक इसी प्रकार होता है। जो बच्चा एक बार जल जाता है, वह आग से डरने लगता है। अगर किसी बच्चे के माता-पिता ऐसा प्रबन्ध करें कि वह एक विशेष खिलौने को जैसे ही छुए, जलन का अनुभव करने लगे, तो बच्चा उस खिलौने से उसी प्रकार बच कर रहने लगेगा, जैसे वह आग से रहता है। अभी तक हम जिस चीज की चर्चा कर रहे हैं, उसे शिक्षा से भिन्न प्रकार का प्रशिक्षण कह सकते हैं। इस प्रकार होने वाले परिवर्तन, व्यवहार की मानसिक या मनोवेगात्मक क्रियाओं में न होकर वाह्य चेष्टाओं में होते हैं। इन दोनों में वैसे कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। हो सकता है कि कुछ ही दिनों में उक्त बालक उस विशेष खिलौने के प्रति, बल्कि उस से मिलते-जुलते तमाम अन्य खिलौने के प्रति भी, एक तीव्र घृणा का अनुभव करने लगे। जलने की मूल बात को भूल जाने पर भी यह घृणा बनी रह सकती है और तब वह अपनी इस अविवेकपूर्ण लगने वाली घृणा का कोई अन्य कारण खोज निकाल सकता है। कुछ स्थितियों में व्यवहार की प्रवृत्ति को प्रभावित करनेवाले वातावरण में परिवर्तन लाकर, किसी वाह्य चेष्टा के स्वभाव को बदलते समय, उस कार्य-विशेष से सम्बन्धित मानसिक क्रिया में भी परिवर्तन आ जाता है। हमेशा ऐसा ही होता हो, यह बात नहीं है, चोट पहुँचाने वाले आघात को बचा जाने का प्रशिक्षण पाया हुआ व्यक्ति बिना कुछ सोचे या उत्तेजित हुए स्वाभाविक रूप से अपना बचाव कर ले जाता है; अतः हमें उन विशिष्टताओं का पता लगाना है, जो शिक्षा द्वारा दिए गए प्रशिक्षण में होती हैं।

एक सूत्र का पता इस बात से लगाया जा सकता है कि घोड़े की चेष्टाओं को जिस सामाजिक उपयोग में नियोजित किया जाता है, उसमें वह स्वयं हिस्सा नहीं बँटाता। कोई अन्य व्यक्ति ही अपने हित के लिए घोड़े का उपयोग करते समय उसके कार्य को सुविधाजनक बनाता है और इस प्रकार वह दाना-चारा आदि प्राप्त करता है। लेकिन, इससे घोड़े के मन में कोई नई अभिरुचि नहीं जगती। उसकी रुचि दाने-चारे में रहती है, न कि उस सेवा-कार्य में, जिसे वह

सम्पन्न करता है। वह एक सहयोगपूर्ण कार्य में बराबर का हिस्सेदार नहीं रहता। उस संयुक्त क्रिया में नियोजित होने में अगर वह बराबर का हिस्सेदार होता, तो उसकी उपलब्धि में भी उसकी उतनी ही रुचि होती, जितनी और लोगों की होती है। तब वह औरों के विचारों तथा मनोवेगों में भी हिस्सा बँटाता।

साधारणतः इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों में, उपयोगी आदतें डालने के लिए, अवयस्क मानव प्राणी के क्रिया-कलापों को नियंत्रित किया जाता है। वह एक मनुष्य की तरह शिक्षित किए जाने की बजाय, एक पशु की तरह प्रशिक्षित किया जाता है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियां, दुःख या सुख की मूल भावनाओं के साथ ही सम्बद्ध रहती हैं ; लेकिन सुख-प्राप्ति या असफलता के दुःख से बचने के लिए उसे आचरण का ऐसा ढंग अपनाना पड़ता है, जो दूसरों के लिए सुविधाजनक हो। अन्य परिस्थितियों में वह वास्तविक रूप से सामूहिक क्रिया-कलाप में हिस्सा लेता या हाथ बँटाता है। ऐसी परिस्थिति में उसकी मूलप्रवृत्ति का ही परिष्कार हो जाता है। वह केवल उस ढंग से कार्य ही नहीं करता, जो दूसरों के क्रिया-कलापों से मेल खा जाय, बल्कि वैसा करते समय उसके मन में वैसे ही विचार और मनोवेग भी उठते हैं, जैसे दूसरों में उठा करते हैं। मान लीजिए, कोई समुदाय लड़ाकू है। वे सफलताएँ, जिन्हें प्राप्त करने के लिए यह प्रयत्नशील रहता है ; या वे अर्जित गुण, जिन्हें यह संचित रखता है, युद्ध तथा विजय से सम्बन्धित होते हैं। इस माध्यम की उपस्थिति, पहले खेल-खेल में और बाद में जब वह पर्याप्त पुष्ट हो जाता है, तो व्यवहार रूप में बच्चे की युद्धप्रिय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। जैसे-जैसे वह लड़ता है, वैसे-वैसे वह दूसरों की सहमति और प्रोत्साहन प्राप्त करता है और जैसे-जैसे वह युद्ध के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करता है, वैसे-वैसे वह लोगों के प्रोत्साहन एवं प्रशंसा से वंचित होता जाता है और उसकी खिल्ली उड़ाई जाने लगती है। इसमें आश्चर्य नहीं कि दूसरों द्वारा उसकी प्राकृतिक लड़ाकू प्रवृत्ति तथा मनोभावों को बल मिलता है। और इस प्रकार उसके विचार युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं से सम्बद्ध हो जाते हैं। केवल इसी प्रकार वह पूर्णरूप से अपने समुदाय का मान्य सदस्य बन सकता है।

यदि हम उक्त दृष्टान्त पर आधारित सिद्धान्त का प्रतिपादन करें, तो हमें पता चलेगा कि सामाजिक माध्यम, प्रत्यक्ष रूप से न तो कुछ विशिष्ट आकांक्षाओं तथा विचारों, का बीजारोपण करता है और न केवल झपकी लेने या प्रहार को बचा जाने-जैसी सहज-प्रवृत्ति की भाँति आचरण की विशिष्ट मांसल आदतों का स्थापन। ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर देना, जिनसे आचरण के

कुछ विशिष्ट गोचर तथा मूर्त ढंग अपनाने का प्रोत्साहन मिले, सामाजिक शिक्षण की पहली सीढ़ी है। व्यक्ति को सामूहिक क्रिया-कलाप का एक ऐसा सहयोगी बना देना, जिससे वह समुदाय की सफलता को अपनी सफलता तथा असफलता को अपनी निज की असफलता समझने लगे, अन्तिम सोपान है। समुदाय की भावनात्मक प्रवृत्ति को ग्रहण करते ही वह उसके उद्देश्यों तथा वहाँ तक पहुँचने के लिए अपनाए जाने वाले माध्यमों से परिचित होने के प्रति जागरूक हो जायगा। दूसरे शब्दों में समुदाय के अन्य लोगों के अनुरूप ही उसके अपने विश्वास तथा विचार भी आकार ग्रहण कर लेंगे। वह भी लगभग उतना ही ज्ञान-कोश अर्जित कर लेगा, क्योंकि वह ज्ञान उसकी सहज-उपलब्धि का अंश है।

ज्ञान-प्राप्ति में भाषा का अत्यधिक महत्त्व है। निस्संदेह इस सामान्य विश्वास का प्रमुख कारण यह धारणा है कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सीधे ज्ञान का पहुँचाया जाना संभव है। यह लगभग ऐसा ही लगता है, जैसे यदि हम एक विशिष्ट विचार, किसी अन्य व्यक्ति के मस्तिष्क तक पहुँचाना चाहते हैं, तो इसके लिए हमें जो कुछ करना है, वह सिर्फ यह है कि हम एक ध्वनि-विशेष को उसके कानों तक पहुँचा दें। इस प्रकार ज्ञान प्रदान करने का कार्य एक भौतिक क्रिया तक सीमित हो जाता है ; लेकिन विश्लेषण करने पर नीचे प्रतिपादित सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए भाषा के माध्यम से जानकारी प्राप्त करने की उपयोगिता का पता चल सकता है। सम्भवतः थोड़े-बहुत संकोच के साथ यह बात स्वीकार की जा सकती है कि हैट के सम्बन्ध में कोई बच्चा इसे स्वयं उपयोग में लाकर--अर्थात् इससे अपना सिर ढाँक कर, दूसरों को इसे पहनने के लिए देकर, बाहर जाते समय दूसरों को इसे पहन कर जाते देख कर, भाव ग्रहण करता है। लेकिन, प्रश्न किया जा सकता है कि अनुकूत क्रिया-कलाप का सिद्धान्त वहाँ कहाँ तक लागू होता है, जहाँ किसी के द्वारा मौखिक रूप से बताए जाकर या पढ़कर वस्तु-विशेष के उदाहरण के लिए एक यूनानी शिरस्त्राण का भाव ग्रहण किया जाता है, जब कि उसके प्रत्यक्ष उपयोग का कोई अवसर उपस्थित नहीं होता। अमरीका की खोज के विषय में पुस्तकों द्वारा पढ़कर जानकारी प्राप्त करने में कौन-सा अनुकूत क्रिया-कलाप कार्य करता है।

चूँकि भाषा अनेक वस्तुओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने की प्रमुख साधन है ; अतः इसकी कार्य-प्रणाली का निरीक्षण कर लेना उचित होगा। नन्हें शिशु आरम्भ में केवल ध्वनियों, चीखों-चिल्लाहटों तथा अनुनादों का उपयोग

करते हैं, जिनका कोई अर्थ—अर्थात् कोई भाव नहीं होता। ध्वनियाँ वांछित प्रतिक्रिया को निर्दिष्ट करने के लिए एक प्रकार की उत्तेजना का कार्य करती हैं। कुछ ध्वनियाँ आह्लादपूर्ण प्रभाव डालती हैं और कुछ चौंका देती हैं ; इसी प्रकार अन्य ध्वनियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव डालती हैं। ह् - ै - ट् ध्वनि का भी घुरघुराहट के समान ही कोई निश्चित अर्थ नहीं होगा, यदि उसका उपयोग अनेक लोगों द्वारा व्यवहृत आचरण-विशेष के संदर्भ में न किया जाय। माँ, नन्हे शिशु को लेकर घर के दरवाजे से बाहर निकलते समय उसके सिर पर कोई वस्तु रखते समय 'हैट' शब्द का उच्चारण करती है। बाहर ले जाए जाने की क्रिया में धीरे-धीरे बच्चे की रुचि उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार बच्चा और माँ भौतिक रूप से बाहर जाने में एक दूसरे के साथ तक ही सम्बन्धित नहीं रहते ; बल्कि बाहर जाने की क्रिया से भी दोनों समान रूप से सम्बन्धित हो जाते हैं—अर्थात् दोनों सम्मिलित रूप से इसका आनन्द प्राप्त करते हैं। उक्त क्रिया-कलाप के अन्य अंशों के संसर्ग द्वारा 'हैट' ध्वनि बच्चे के लिए वही अर्थ ग्रहण कर लेती है, जो माँ के लिए होता है—अर्थात् यह उस क्रिया-विशेष की प्रतीक बन जाती है, जिसमें वह हिस्सा लेता है। यह स्पष्ट तथ्य कि भाषा ऐसी ध्वनियों से मिलकर बनती है, जो पारस्परिक रूप से बोधगम्य होती हैं, अपने-आप ही यह प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि इसका अर्थ किसी सह-अनुभव के सम्बन्ध पर आधारित है।

संक्षेप में ह् - ै - ट् ध्वनि ठीक उसी प्रकार अर्थ ग्रहण करती है, जिस प्रकार 'हैट' नामक वस्तु, एक विशेष प्रकार से उपयोग में लाई जाकर। और वे बच्चे के लिए वही अर्थ ग्रहण कर लेती हैं, जो वयस्कों के लिए रखती हैं ; क्योंकि उनका उपयोग दोनों के लिए एक संयुक्त अनुभव की प्राप्ति में होता है। समान ढंग के उपयोग की प्रतिभूति इस तथ्य पर आधारित है कि वस्तु तथा ध्वनि का उपयोग पहले-पहल बच्चे तथा वयस्क के बीच सक्रिय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक संयुक्त क्रिया में होता है। समान प्रकार के विचार या अर्थ उद्भूत होने का कारण यह है कि दोनों साझीदार के रूप में एक ऐसी क्रिया में भाग लेते हैं, जिसमें प्रत्येक वही करता तथा वैसा ही अनुभव प्राप्त करता है, जैसा दूसरा। यदि दो असभ्य व्यक्ति शिकार खेलने जायँ और एक विशेष संकेत का अर्थ इसका उच्चारण करने वाले के लिए 'दाहिनी ओर जाओ' हो और सुनने वाले के लिए 'बाईं ओर जाओ' हो, तो वे दोनों साथ-साथ सफलतापूर्वक शिकार नहीं कर सकते। एक दूसरे को समझने का

अर्थ है कि वस्तुएँ तथा ध्वनियाँ, दोनों के लिए एक उभयनिष्ठ उद्देश्य की उपलब्धि के हेतु समान मूल्य रखती हों।

अन्य वस्तुओं के सन्दर्भ में एक सम्मिलित क्रिया में प्रयुक्त होकर अर्थ-ग्रहण कर लेने के वाद, ध्वनियों का उपयोग उसी प्रकार की अन्य ध्वनियों के सन्दर्भ में करके उन्हें नए अर्थ प्रदान किए जा सकते हैं ; क्योंकि जिन वस्तुओं के लिए उनका उपयोग होता है, वे आपस में सम्वद्ध होने के कारण एक दूसरे से वहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। अतः उदाहरण के लिए जिन शव्दों से वच्चा एक यूनानी शिरस्त्राण के विषय में जानकारी प्राप्त करता है, मूलरूप से एक समान प्रकार के हित तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त की गई क्रिया-विशेष के उपयोग द्वारा ही उनका अर्थ ग्रहण करता (या समझता) है। इस प्रकार उनसे सुनने या पढ़ने वाले के मन में कल्पना द्वारा उस क्रिया के साक्षात् से, जिसमें यूनानी शिरस्त्राण का उपयोग होता है, एक नए अर्थ का उदय हो जाता है। कुछ समय के लिए 'यूनानी शिरस्त्राण' का अर्थ ग्रहण करने वाला व्यक्ति, उन लोगों का सहभागी वन जाता है, जिनके द्वारा यूनानी शिरस्त्राण का उपयोग हुआ रहता है। अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह अपने-आप को एक सहक्रिया में नियोजित कर लेता है। किसी भी शव्द का पूरा अर्थ ग्रहण कर लेना आसान नहीं है। कुछ लोग यही सोच कर संतोष कर लेते हैं कि 'यूनानी शिरस्त्राण' एक विचित्र प्रकार का टोप होता था, जिसे यूनानी लोग धारण किया करते थे। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकालते हैं कि भाषा के माध्यम से किसी विचार को दूसरे तक पहुँचाने या ग्रहण करने से इस सिद्धान्त का और अधिक विस्तार और परिशोधन हो जाता है कि वस्तुएँ किसी सहअनुभव या सम्मिलित क्रिया में प्रयुक्त होकर ही अर्थ ग्रहण करती हैं और इससे उपर्युक्त सिद्धान्त का किसी भी दशा में विरोध सिद्ध नहीं होता। जव प्रत्यक्ष या काल्पनिक रूप में शव्दों का उपयोग किसी सह-स्थिति में तथ्य के रूप में नहीं होता, तो वे केवल भौतिक उद्दीपक का कार्य करते हैं, न कि उनका कोई अर्थ या वौद्धिक मूल्य होता है। उनसे एक लीक-विशेष पर क्रिया अग्रसर अवश्य होने लगती है, किन्तु उनका कोई प्रकट आशय या अर्थ नहीं होता। उदाहरण के लिए, धन का चिह्न (+) एक संख्या को दूसरी के नीचे लिख कर जोड़ने के लिए उद्दीपन का कार्य कर सकता है ; लेकिन उक्त क्रिया को करने वाला व्यक्ति तव तक एक स्वचालित यन्त्र की भाँति ही कार्य करेगा, जव तक उसे अपने कार्य के अर्थ का वोध नहीं हो जाता।

शिक्षक के रूप में सामाजिक वातावरण

निष्कर्ष यह निकला कि सामाजिक वातावरण, व्यक्ति की मानसिक तथा मनोवेगात्मक चेष्टाओं को ऐसी क्रियाओं में लगा कर आकार देता है, जो उसमें कुछ विशेष प्रवृत्तियों को जगाती तथा शक्ति प्रदान करती हैं और जिनके कुछ निश्चित आशय और परिणाम होते हैं। एक संगीतज्ञ परिवार में पलता हुआ बच्चा, अपरिहार्य रूप से अपनी संगीत-सम्बन्धी शक्तियों को पूरी तरह उद्दीप्त कर लेगा और जो उन प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक उद्दीप्त होंगी, जिनका उद्दीपन भिन्न प्रकार के सामाजिक वातावरण में संभव होता। 'इस से बाहर' भी वह संगीत में रुचि रख कर कुछ कुशलता प्राप्त कर सकता है; लेकिन इस प्रकार वह उस समुदाय के जीवन में हिस्सा नहीं बँटा सकता, जिससे वह सम्बन्धित रहता है। सम्बन्धित समुदाय के जीवन में एक निश्चित सीमा तक भाग लेना व्यक्ति के लिए अपरिहार्य है, जिससे उसके ऊपर सामाजिक वातावरण का, पूर्वनिश्चित आशय से अलग, अचेतन रूप से एक शिक्षात्मक तथा रूपान्तरात्मक प्रभाव पड़ता है।

असभ्य तथा जंगली समुदायों में इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने से —जिससे अप्रत्यक्ष या सांयोगिक शिक्षा प्राप्त होती है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं—ही सामुदाय के विश्वासों और रीति-रिवाजों को ग्रहण करने के लिए बच्चों पर पूरा प्रभाव पड़ जाता है। यहाँ तक कि आज के वर्तमान समाज में, अत्यन्त सतर्क प्रयासपूर्वक शिक्षित किए गए बालक के मूल स्वभाव का निर्माण इसी के द्वारा होता है। समुदाय की रुचि तथा व्यवसाय के अनुसार कुछ वस्तुएँ, व्यक्ति के लिए चरम लालसा की पात्र बन जाती हैं, और अन्य उपेक्षा तथा घृणा की। साहचर्य, प्रेम अथवा घृणा की प्रवृत्तियों का निर्माण नहीं करता; किन्तु वे वस्तुएँ प्रदान अवश्य करता है, जिनके साथ ये सम्बद्ध होती हैं। हमारे समुदाय या वर्ग के कार्य करने का ढंग, ध्यान देने योग्य बातों की सीमा निर्धारित करता है, और इस प्रकार हमारे निरीक्षण और स्मृति की

दिशाएँ निश्चित होती हैं। जो कुछ अपरिचित या बाह्य होता है—अर्थात् समुदाय के कार्यक्षेत्र के बाहर का—वह नैतिक दृष्टि से निषिद्ध और बौद्धिक दृष्टि से सन्देहजनक होता है। उदाहरण के लिए हमें यह बिल्कुल अविश्वसनीय लगता है कि ऐसी वस्तुएँ, जिनके बारे में आज हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं, बीते हुए युगों में लोगों की जानकारी और मान्यता से परे थीं। इसके लिए हम अपने पूर्व-पुरुषों की जन्मजात अज्ञता को उत्तरदाई बनाते हैं और अपने-आप को स्वाभाविक रूप से बुद्धिमान समझते हैं। वास्तविक बात यह है कि उनके जीवन-क्रम में इन तथ्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं थी ; बल्कि उनका मस्तिष्क अन्य प्रकार की वस्तुओं की ओर लगा रहा। जिस प्रकार हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करने के लिए उपयुक्त उपादानों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार हमारी निरीक्षण, स्मृति तथा कल्पना की शक्तियाँ भी अपने-आप कार्यरत नहीं होतीं ; बल्कि सम-सामयिक सामाजिक व्यवसाय की माँगों द्वारा उन्हें कार्य में लगाया जाता है। हमारे आचरण की मूल तंतु-रचना, स्कूल की शिक्षा से अलग, इसी प्रकार के प्रभावों से होती है। जागरूक प्रयास द्वारा दी जानेवाली शिक्षा, अधिक-से-अधिक जो कुछ कर सकती है, वह यह है कि इस प्रकार से निर्मित शक्तियों के दोषों को दूर करके उन्हें अधिक स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण बनाए और उन्हें ऐसे उपादान प्रदान करे, जिनमे उनके क्रिया-कलाप अधिक फलप्रद अर्थ पा सकें।

चूँकि यह "वातावरण का अचेतन प्रभाव" इतना सूक्ष्म तथा व्यापक है कि यह हमारे चरित्र तथा मस्तिष्क के प्रत्येक तन्तु को प्रभावित करता है, अतः इसकी उन दिशाओं का पता लगा लेना आवश्यक है, जहाँ यह प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट है। सबसे पहले भाषा के स्वभाव को ही लें। भाषा के मूल तत्त्व अर्थात् शब्द-भाण्डार का निर्माण शिक्षा के बँधे-बँधाए ढंग से नहीं ; बल्कि सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के रूप में, जीवन के सामान्य साहचर्य के रूप में किया जाता है। इस प्रकार बच्चा, हमारे शब्दों में, मातृभाषा प्राप्त करता है। यद्यपि इस प्रकार प्राप्त की गई भाषा-वृत्तियों में सप्रयास शिक्षण द्वारा, सुधार या समूल परिवर्तन तक किया जा सकता है ; किन्तु तीव्र मनोवेगात्मक उत्तेजना के अवसरों पर व्यक्ति प्रयास द्वारा सीखी गई भाषा भूल कर अपनी वास्तविक मातृभाषा का उपयोग करने लगता है। दूसरी बात है, आचरण के ढंग। प्रत्यक्ष रूप से नियम की अपेक्षा उदाहरण अधिक प्रभविष्णु होता है। जैसा कि हम कहते हैं, अच्छे स्वभाव की उपलब्धि अच्छे ढंग के पालन-पोषण

तथा निर्देश द्वारा होती है। अच्छे ढंग का निर्देश केवल सूचना-मात्र से नहीं; बल्कि स्वाभाविक उत्तेजन के प्रति उत्तर में स्वाभाविक आचरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। परिशोधन तथा निर्देश के अन्तहीन प्रयास के बावजूद भी वातावरण तथा उसकी अंतःप्रवृत्ति ही, अन्तिम रूप से हमारे आचार का मूल निर्णायक तत्त्व हैं। आचार वास्तव में गौण रूप से ही नैतिक शिक्षा है। वैसे ऊँचे नैतिक आदर्शों में, चेतन निर्देश, बालक के सामाजिक वातावरण का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के दैनिक जीवन और उनके वार्तालाप की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। तीसरी बात है, सुरुचि और सौन्दर्य की परख। यदि आँखों के समक्ष, ऐसी सुन्दर वस्तुएँ, निरन्तर आती रहें, जिनमें रूप और रंग का सामंजस्य हो, तो स्वतः ही रुचि का एक निश्चित मानदण्ड बन जाता है। असंगत तथा अव्यवस्थित और अतिअलंकृत वातावरण का प्रभाव, रुचि को विकृत कर देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रभावहीन तथा नीरस वातावरण सौन्दर्य की भूख को मार देता है। ऐसी अनुपयुक्त परिस्थितियों में सचेतन शिक्षा, दूसरों के विचारों से परिचित करा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती। ऐसी रुचि कभी भी सहज तथा स्वार्जित नहीं हो सकती, अपितु सदा के लिए उन व्यक्तियों के विचारों का, जिनसे कोई व्यक्ति प्रभावित हुआ रहता है, श्रम-साध्य स्मृति-मात्र बन कर रह जाती है। यह कहना कोई नई बात नहीं; बल्कि ऊपर कही गई बात को पुष्ट करना ही है, कि मूल्यांकन के गहरे मानदण्डों का निर्माण, व्यक्ति के स्वाभाविक परिस्थितियों में पड़ने के कारण ही होता है। हमें कदाचित् ही इस बात का ज्ञान हो पाता है कि उपयोगी तथा अनुपयोगी वस्तुओं के सचेतन मूल्यांकन में, अचेतन मानदंड कहाँ तक प्रभाव डालते हैं; किन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बिना किसी सोच-विचार या तर्क-वितर्क के, सहज रूप से ग्रहण कर ली गई बातें, हमारे चेतन, चिंतन तथा निष्कर्षों को सुनिश्चित करती हैं। और ये स्वभावगत विशेषताएँ, जो विचार-शक्ति से निम्न स्तर की होती हैं—ठीक वे ही हैं, जो दूसरों के सम्पर्क में आकर आदान-प्रदान की सतत प्रक्रिया द्वारा निर्मित हुई हैं।

विद्यालय : एक विशिष्ट वातावरण

शिक्षा को एक सतत-प्रक्रिया मानने से, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालकों की सचेतन शिक्षा को नियंत्रित करने के लिए वयस्क व्यक्ति जिस एकमात्र विधि का उपयोग करते हैं, वह है उस वातावरण का नियंत्रण, जिसमें बच्चा नाना प्रकार के क्रिया-कलाप करता और ज्ञान तथा अनुभूति प्राप्त करता है। हम कभी भी प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा नहीं देते ; बल्कि वातावरण के माध्यम से परोक्ष रूप से ही देते हैं। वातावरण को सहज रूप से अपना कार्य करने देने और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने, दोनों में बड़ा अन्तर है। वैसे कोई भी वातावरण, जहाँ तक उसके शिक्षाप्रद प्रभाव का सम्बन्ध है, स्वाभाविक ही माना जायगा, यदि उसका निर्माण जान-बूझ कर उसके शिक्षा-प्रद प्रभाव को ध्यान में रख कर नहीं किया गया है। एक विवेक एवं रुचि-सम्पन्न परिवार, किसी विवेक-हीन परिवार से इस बात में भिन्न होता है कि उसके आचार-व्यवहार तथा बात-चीत के तौर-तरीके चुने हुए और चुस्त होते हैं या इस बात का ध्यान रख कर उन्हें सुरंजित किया गया रहता है कि इनसे बालकों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा। फिर भी विद्यालय निश्चित रूप से एक विशिष्ट उदाहरण है कि उसका वातावरण उसके सदस्यों के मानसिक तथा नैतिक संस्कारों को प्रभावित करने के स्पष्ट उद्देश्य को ध्यान में रख कर निर्मित किया जाता है।

सामान्यत: उनका आविर्भाव तब होता है, जब सामाजिक रीति-रिवाज इतने संश्लिष्ट हो जाते हैं कि समाज-कोश का पर्याप्त अंश लिखित रूप धारण कर लेता है और लिखित संकेतों द्वारा संक्रमित होने लगता है। लिखित संकेत मौखिक संकेतों से अधिक कृत्रिम एवं रूढ़ होते हैं, वे स्वाभाविक रूप से दूसरों के सहज संपर्क द्वारा नहीं प्राप्त किए जा सकते। इसके अतिरिक्त, लिखित रूप के अन्तर्गत उन्हीं बातों को लिया जाता, जो सामान्य रूप से दैनिक जीवन में नहीं आतीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परागत रूप से अर्जित बातें, इसके अन्तर्गत संगृहीत रहती हैं। वैसे संभव है, उनमें कुछ ऐसी बातें भी हों, जो व्यवहार में

कभी न आती हों। अतः ज्यों ही कोई समुदाय अपनी सीमा तथा वर्तमान पीढ़ी से परे की बातों पर निर्भर करने लगता है, उसे संचित ज्ञान के संक्रमण के लिए विद्यालयों का माध्यम अपनाना पड़ जाता है। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान और रोम-निवासियों के जीवन का हमारे जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ; किन्तु उनके प्रभाव डालने का ढंग हमारे सामान्य अनुभव के धरातल पर व्यक्त नहीं हो पाता। इसी तरह हमसे दूर रहने वाले आधुनिक ब्रिटिश, जर्मन तथा इटालियन लोगों का हमारे सामाजिक आचार-व्यवहार से सीधा सम्बन्ध है, फिर भी इस प्रतिक्रिया का ज्ञान बिना स्पष्ट वर्णन या सूक्ष्म निरीक्षण के नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार केवल हमारे दैनिक सम्पर्क से बालक को उन दूरस्थ भौतिक शक्तियों तथा अदृष्ट वस्तुओं के प्रभाव का प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो सकता, जिनसे हमारा क्रिया-कलाप प्रभावित होता है। अतः सामाजिक आदान-प्रदान के एक विशिष्ट प्रकार के साधन विद्यालय की आवश्यकता पड़ती है, जो इन बातों का ध्यान रख सके।

सम्पर्क-स्थापन की यह विधि जीवन के सामान्य सम्पर्क से भिन्न तीन विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ करती हैं, जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। किसी संश्लिष्ट सभ्यता को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर सकना, एक प्रकार से असंभव है। इसे पहले खण्डों-उपखण्डों में विभक्त करना पड़ता है और तब क्रमशः एक-एक करके हम इसे आत्मसात् कर सकते हैं। आज के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध इतने विविध और एक-दूसरे में गुँथे हुए हैं कि एक अत्यन्त उपयुक्त परिस्थिति में रक्खा गया बालक भी प्रायः उनमें से अनेक अत्यावश्यक सम्बन्धों के सम्पर्क में नहीं आ पाता। उनके सम्पर्क में न आ पाने के कारण न तो वह उनका अर्थ ग्रहण कर सकता है और न वे उसके मानसिक संस्कार के अंग बन पाते हैं। दूर से देखने पर जंगल की हरियाली का बोध तो हो सकता है ; लेकिन उसके पेड़ों का ज्ञान नहीं हो सकता। वाणिज्य, राजनीति, कला, विज्ञान और धर्म आदि यदि एक साथ उसके ध्यान को आकर्षित करेंगे, तो इसका परिणाम भाव-विभ्रम के अतिरिक्त और कुछ न होगा। सामाजिक यन्त्र के अंग के रूप में विद्यालय का प्रथम कार्य, एक सर्वसुगम वातावरण प्रदान करना है। यह पहले उन आधारभूत तत्त्वों को चुनता है, जिनके प्रति बालक की प्रतिक्रिया का पूर्ण निश्चय रहता है। इसके पश्चात् यह प्रथम तत्त्वों के माध्यम से अधिक संश्लिष्ट तत्त्वों की जानकारी के लिए क्रमिक विकास की विधि की स्थापना करता है।

दूसरी ओर विद्यालय का यह भी कार्य है कि वह वातावरण से ऐसे अवांछित तत्त्वों को दूर रक्खे, जिससे वे बालक के मन:पटल पर अनुपयुक्त प्रभाव न डाल सकें। यह क्रिया-कलाप के विशुद्ध माध्यम का निर्माण करता है। चुनाव का उद्देश्य केवल सुगम बनाना ही नहीं है, अपितु अवांछित तत्त्वों को दूर करना भी है। प्रत्येक समाज के विकास में उसके संकुचित विचार, निर्जीव पुरातन परंपराएँ तथा अन्य भ्रष्ट तत्त्व बाधा डालते हैं। विद्यालय का कर्तव्य है कि वह अपने वातावरण से ऐसी वस्तुओं को दूर रक्खे और इस प्रकार सामान्य सामाजिक वातावरण पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को दूर करे। अपने पूर्ण उपयोग के लिए सर्वोत्तम तत्त्वों को चुनकर यह उन्हें सामान्य सामाजिक वातावरण में क्रियाशील रूप में पुन: प्रविष्ट कर देता है। जैसे-जैसे समाज अधिकाधिक विवेक एवं ज्ञान-सम्पन्न होता जाता है, वैसे-वैसे उसे इस बात का अनुभव होने लगता है कि, उसका कर्तव्य न केवल वर्तमान उपलब्धियों को संचित एवं संक्रमित करना ही है ; बल्कि एक अधिक सुन्दर भावी समाज का निर्माण करना भी है। उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विद्यालय इसका प्रमुख साधन है।

तीसरी ओर विद्यालय के वातावरण का यह भी कार्य है कि वह सामाजिक वातावरण के विभिन्न तत्त्वों को संतुलित करे और साथ ही इसका भी ध्यान रक्खे कि उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय के संकुचित घेरे से बाहर निकल कर विस्तृत वातावरण के सजीव संपर्क में आने का सहज अवसर प्राप्त हो। 'समाज' और 'समुदाय' जैसे शब्द पर्याप्त भ्रम उत्पन्न करते हैं ; क्योंकि ऐसा लगता है कि उनमें से प्रत्येक किसी भिन्न प्रकार की वस्तु का बोधक है। वस्तुत: वर्तमान समाज अनेक छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयों का समन्वित रूप है। प्रत्येक परिवार अपने घर के लोगों तथा इष्ट-मित्रों को मिलाकर एक समाज बनाता है। एक गाँव या मुहल्ले के खिलाड़ियों की अपनी एक अलग बिरादरी होती है, इसी तरह प्रत्येक व्यावसायिक समुदाय तथा संगठनों की अपनी अलग सामाजिक इकाई होती है। इन सुपरिचित समुदायों के अतिरिक्त हमारे-जैसे देश में विभिन्न जातियाँ, अनेकानेक धार्मिक सम्प्रदाय तथा आर्थिक समुदाय हैं। आधुनिक नगरों में नाममात्र की राजनैतिक एकता के होते हुए भी सम्भवत: उससे अधिक प्रकार के सम्प्रदाय, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, उद्देश्य, नियंत्रण या राज्य के विभिन्न रूप वर्तमान हैं, जितने अतीत काल के किसी महाद्वीप में भी नहीं थे।

इस प्रकार का प्रत्येक समुदाय अपने सक्रिय सदस्यों के संस्कारों पर एक वैधिक प्रभाव डालता है। एक गुट, संघ, दल, चोरों का परिवार-समूह, जेल के कैदी आदि अपने निकट-सम्पर्क में आने वालों तथा सामूहिक क्रिया-कलापों में हाथ बँटाने वालों पर वैसा ही प्रशिक्षात्मक प्रभाव डालते हैं, जैसा कि एक धर्म-संघ, मजदूर-संघ, व्यापार-मण्डल या राजनैतिक दल। इनमें से प्रत्येक, परिवार या राज्य की भाँति एक सामाजिक इकाई है। कुछ ऐसे भी समुदाय होते हैं, जिनके सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध नाम-मात्र या बिल्कुल नहीं के बराबर होता है। जैसे कलाकारों का समुदाय, लेखक-संघ या समस्त भूमण्डल पर बिखरे व्यावसायिक बुद्धिजीवियों के समूह। वैसे उनके उद्देश्य समान होते हैं और वे दूसरों के क्रिया-कलापों से शिक्षा ग्रहण करके अपने कार्य-व्यापारों को परिष्कृत भी करते हैं।

प्राचीन काल में समुदायों की विविधता का कारण भौगोलिक था। अनेक समाज होते हुए भी वे अपनी क्षेत्र-सीमा के भीतर समान थे ; लेकिन वाणिज्य, निष्क्रमण, आवागमन तथा प्रवास के विकास के साथ अमरीका-जैसे देश में अनेक समुदाय तथा विभिन्न प्रकार के परम्परागत रीति-रिवाज मिलने लगे हैं। इस परिस्थिति ने, किसी भी अन्य एक कारण की अपेक्षा ऐसे शिक्षा-संगठन की आवश्यकता को, जो बालकों को सम तथा सन्तुलित विकास का वातावरण प्रदान कर सके, अधिक बल प्रदान किया है। केवल इसी प्रकार केन्द्रापसारी शक्तियाँ, विभिन्न समुदायों के सन्निकर्ष द्वारा एक ही राजनैतिक इकाई में प्रतिक्रिया कर सकती हैं। विद्यालय में विभिन्न जाति, अनेक धर्म तथा असमान रीति-रिवाज के बालकों का पारस्परिक सम्मिलन प्रत्येक बालक के लिए एक नवीन और विस्तृत वातावरण की सृष्टि करता है। समान विषय-सामग्री विस्तृत रूप से समान दृष्टिकोण अपनाने का अभ्यासी बना देती है, जैसा कि किसी भी एक समुदाय में अलग रह कर नहीं किया जा सकता। अमरीकी जन-विद्यालयों की संयोजन-शक्ति, सामान्य तथा संतुलित प्रभाव की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विद्यालय का एक कार्य, प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार-गत विविध प्रभावों को, जो विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में प्रवेश करने से उत्पन्न होते हैं, प्रत्यय-सम्बन्धित करना भी है। परिवार में एक नियम प्रचलित है, तो मुहल्ले में दूसरा, कारखाने में तीसरा, तो धार्मिक सम्प्रदाय में चौथा। जैसे-जैसे व्यक्ति एक वातावरण से दूसरे वातावरण में प्रवेश करता जाता है, वैसे-वैसे वह विरोधी शक्तियों के आकर्षण में पड़ता जाता है, और ऐसी दशा में यह खतरा सदैव बना रहता है कि व्यक्ति निर्णय के विभिन्न मानदण्डों तथा

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न मनोवेगों के प्रदर्शन का आदी न हो जाय, यह भय विद्यालय पर दृढ़ तथा संगत व्यक्तित्व निर्माण का उत्तरदायित्व रख देता है।

अध्याय का सारांश

बालक में प्रत्यक्ष रूप से विश्वासों, उद्वेगों तथा ज्ञान के संचरण द्वारा, समाज के निरंतर तथा उन्नतिशील जीवन के लिए आवश्यक संस्कार तथा मनोभाव नहीं पैदा किए जा सकते। यह वातावरण के माध्यम से ही होता है। वातावरण, प्राणी की विशिष्ट क्रियाओं के सम्पादन से सम्बन्धित समस्त परिस्थितियों का योग है। सामाजिक वातावरण में सहवासियों की वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जो इसके एक भी सदस्य के कार्य-निर्वहण से सम्बन्धित हैं। इसके प्रशिक्षात्मक प्रभाव की मात्रा व्यक्ति के सामूहिक क्रिया-कलाप में भाग लेने के साथ-साथ आनुपातिक रूप से बढ़ती जाती है। सामूहिक क्रिया-कलाप में हाथ बँटा कर व्यक्ति समाज के उद्देश्य से सामंजस्य स्थापित कर लेता है, इसकी विषय-वस्तु तथा विधि-प्रणालियों से परिचित हो जाता है, वांछित कार्य-दक्षता प्राप्त कर लेता है और उसके उद्वेगों से आप्त-काम हो उठता है।

जैसे-जैसे बालक विभिन्न समूहों के क्रिया-कलापों में भाग लेता है, वैसे-वैसे बिना किसी सचेतन प्रयास के अधिक गंभीर तथा परिचित प्रशिक्षात्मक संस्कार निर्मित होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों समाज संश्लिष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों यह आवश्यक होने लगता है कि समाज में एक ऐसा विशिष्ट वातावरण उपस्थित किया जाय, जिसमें विशेष रूप से बालकों की विभिन्न शक्तियों का पोषण हो सके। इस विशिष्ट वातावरण के तीन प्रमुख कार्य हैं—(१) वांछित संस्कारों को सहज एवं सुगठित बनाना, (२) सम-सामयिक रीति-रिवाजों को परिष्कृत करके आदर्श रूप प्रदान करना, (३) बालक को सहज रूप से प्रभावित करनेवाले असाधारण वातावरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत उदार तथा संतुलित वातावरण का निर्माण करना।

३

शिक्षा : निर्देश के रूप में

वातावरण : एक निर्देशक तत्त्व

अब हम शिक्षा-प्रक्रिया की एक विशेष विधि का वर्णन करेंगे, जिसे निर्देश, नियंत्रण अथवा मार्ग-दर्शन कह सकते हैं। इन तीन शब्दों, निर्देश, नियंत्रण और मार्ग-दर्शन में, अन्तिम द्वारा व्यक्ति की सहज शक्तियों को सहयोग देकर सहायता करने का भाव अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त होता है। नियंत्रण में एक बाह्य शक्ति का भाव निहित है, जिसे नियंत्रित वस्तु के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। निर्देश एक निरपेक्ष पद है, जिसका अर्थ है निर्देशित वस्तु की क्रियाशील शक्तियों के निरुद्देश्य-विकिरण को रोक कर उन्हें एक सोद्देश्य उपयोग के लिए विशिष्ट मार्ग पर लेजाने का सचेतन प्रयास। निर्देश से उस मौलिक क्रिया का बोध होता है, जो एक ओर तो पथ-प्रदर्शक सहयोग का अर्थ देती है और दूसरी ओर नियमन और शासन का। हम कोई भी अर्थ लें, हमें 'नियंत्रण' शब्द में निहित भाव से बचना होगा। कभी-कभी ऐसा सोचा जाता है कि व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ, स्वाभाविक रूप से व्यक्तिवादी या अहंवादी और इस प्रकार समाज-विरोधी होती हैं। नियंत्रण का अर्थ तब उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को जनसाधारण के सामान्य हितों के अधीन रक्खा जाता है। चूँकि उसका अपना स्वभाव इस प्रक्रिया से अपरिचित रहता है तथा सम्भवतः उसका सहायक न होकर बाधक है, अतः नियंत्रण में एक प्रकार की जबरदस्ती और बाध्यता का भाव निहित है। शासन-प्रणालियों तथा राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसी भाव को लेकर किया गया है और इसने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों एवं अभ्यासों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। वैसे इस प्रकार की धारणा निराधार है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी व्यक्ति अपना निज का ढंग ही अपनाना पसंद करता है और उसका अपना ढंग दूसरों के प्रतिकूल भी पड़ सकता है। लेकिन लोग सम्पूर्ण रूप में दूसरों के क्रिया-कलापों में भी रुचि रखते हैं और सम्मिलित तथा सहयोगपूर्ण कार्यों में भाग लेना पसन्द करते हैं, अन्यथा 'समुदाय' जैसी

वस्तु के अस्तित्व की संभावना ही न होती। और ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति पुलिस के आदमियों को कोई सहयोग न देता, यदि उसे किसी व्यक्तिगत लाभ की आशा न रहती। 'नियंत्रण' का वास्तविक अर्थ शक्तियों के निर्देशन की एक शक्तिशाली विधि है, जिसमें व्यक्ति की अपनी शक्तियों द्वारा प्राप्त नियमन तथा दूसरों के नेतृत्व में प्राप्त नियमन दोनों सन्निहित हैं।

साधारणतः प्रत्येक उद्दीपन, क्रिया का निर्देश करता है। यह केवल उसे उत्तेजित करता या उभारता ही नहीं ; बल्कि एक लक्ष्य-विशेष की ओर प्रेरित करता है। दूसरे शब्दों में प्रतिक्रिया केवल व्याघात-विरोधी क्रियामात्र नहीं, बल्कि एक उत्तर भी है। यह उद्दीपन का उचित उत्तर है। उद्दीपन और प्रतिक्रिया, दोनों एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रकाश, नेत्रों द्वारा किसी वस्तु-विशेष को देखने के लिए उद्दीपन है और नेत्रों का कार्य देखना है। यदि नेत्र खुले हों और प्रकाश विद्यमान हो, तभी देखना संभव हो सकता है। इस प्रकार उद्दीपन वाह्य व्याघात नहीं, बल्कि अंग-विशेष की उचित क्रिया के पूर्ण होने के लिए आवश्यक स्थिति है। इस प्रकार एक सीमा तक निर्देश अथवा नियंत्रण, क्रिया को उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है। अंग-विशेष की वांछित क्रिया को पूर्ण करने में यह सहायक होता है।

उक्त सामान्य कथन को दो अर्थों में सीमित करने की आवश्यकताहै। पहले तो यह कि आरम्भ में कुछ मूल प्रवृत्तियों को छोड़ कर बालक से सम्बन्धित अन्य उद्दीपनों के सम्बन्ध में यह निश्चय नहीं रहता कि उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। प्रायः अतिरिक्त मात्रा में शक्ति उद्दीपित हो जाती है। यह या तो वांछित लक्ष्य से अलग हट कर विनष्ट हो जाती है या कार्य-निर्वहण में वाधक बनती है। यह मार्ग में रोड़े अटकाती है। एक निपुण साइकिल-चालक तथा किसी नौसिखिए के क्रिया-कलापों की तुलना करके यह बात देखी जा सकती है। प्रयुक्त शक्ति के निर्देश का अक्ष निश्चित न रहने से वह प्रायः विकेन्द्रित तथा केन्द्रापसारी हो जाती है। निर्देश, क्रिया को केन्द्रित तथा नियत बनाकर उचित प्रतिक्रिया का रूप प्रदान करता है। इसमें अनावश्यक तथा भ्रामक क्रियाओं को छोड़ देना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि कोई भी ऐसी क्रिया संभव नहीं, जिसमें व्यक्ति का सहयोग न हो ; फिर भी प्रतिक्रिया ऐसी भी हो सकती है, जो कार्य के क्रम अथवा निरन्तरता से मेल न खाए। घूँसेबाजी करता हुआ व्यक्ति अपने ऊपर पड़ने वाली चोट बचाकर अपने-आप को ऐसी परिस्थिति में कर ले सकता है कि वह प्रत्युत्तर में अधिक करारी चोट दे सके। सही नियंत्रण

का अर्थ है—विभिन्न क्रियाओं को सुनियोजित करके एक निश्चित साँचे में ढाल देना। प्रत्येक प्रतिक्रिया केवल तत्कालीन उद्दीपन का उत्तर ही नहीं, बल्कि आगे आने वाली क्रियाओं में सहायक भी सिद्ध होती है।

संक्षेप में निर्देश समवर्ती तथा क्रमिक दोनों होता है। एक निश्चित अवसर पर आंशिक रूप से उद्दीपन के लिए समस्त मनोवृत्तियों में से केवल वे ही चुनी जानी चाहिएँ, जो वांछित कार्य के सम्पादन में शक्ति को केन्द्रित करती हैं। यह आवश्यक है कि क्रमिक रूप से प्रत्येक 'क्रिया' पूर्वानुवर्ती हो तथा भावी क्रियाओं के साथ संतुलन स्थापित किए रहे, जिससे क्रियाओं का 'क्रम' बँध जाय। इस प्रकार क्रिया को केन्द्रीकृत तथा क्रमबद्ध बनाना। निर्देश के दो पहलू हैं—एक दिक् सम्बन्धी और दूसरा काल सम्बन्धी। पहला, लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयत्न को सफल बनाता है और दूसरा, भावी क्रियाओं के साथ सन्तुलन स्थापित करता है। स्पष्ट है कि इन दोनों को हम व्यवहार में अलग नहीं कर सकते, जैसा कि यहाँ विचार करते समय हमने अलग कर लिया है। एक निश्चित समय पर क्रिया को इस प्रकार केन्द्रित होना पड़ता है कि वह भावी कार्य की प्रस्तावना बन जाय। तात्कालिक प्रतिक्रिया की समस्या, भावी क्रिया की अपेक्षा के कारण अधिक जटिल बन जाती है।

उपर्युक्त सामान्य कथनों से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह कि केवल बाह्य निर्देश असम्भव है। वातावरण अधिक-से-अधिक प्रतिक्रियाओं को सम्भव बनाने के लिए केवल उद्दीपन प्रदान कर सकता है। ये प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के अन्तर में निहित मनोवृत्तियों द्वारा ही परिचालित होती हैं। यहाँ तक कि जब कोई व्यक्ति धमकियों से डराकर किसी कार्य-विशेष को करने के लिए बाध्य किया जाता है, तो धमकियाँ केवल इसीलिए कारगर सिद्ध होती हैं कि भय की मूलप्रवृत्ति उस व्यक्ति में वर्तमान रहती है। यदि भय की मूलप्रवृत्ति उसमें न होती, अथवा होकर भी उसके नियंत्रण में होती, तो 'धमकी' का प्रभाव उस पर उसी प्रकार व्यर्थ होता, जैसे अंधे आदमी पर प्रकाश का प्रभाव। जहाँ वयस्क जनों के रीति-रिवाज और नियम ऐसे उद्दीपन हैं, जो निर्देश का कार्य करके बालक की क्रियाओं को उकसाते हैं, वहाँ बालक भी अपने कार्यों द्वारा ग्रहण किए गए निर्देश की दिशा की ओर अग्रसर होता है। वस्तुतः उन पर कुछ जबरदस्ती लादा या बाहर से कुछ प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। इस सत्य की उपेक्षा करना, मानव-स्वभाव को विकृत तथा भ्रष्ट कर देना है। निर्देशित व्यक्तियों में निहित मूलप्रवृत्तियों तथा आदतों की पूँजी को विवेक-सम्मत तथा उपयोगी मार्ग पर

लगाना ही निर्देश है। वस्तुतः सारा-का-सारा निर्देश, पुनर्निर्देश है। यह पूर्व-वर्तमान क्रियाओं को एक दूसरे मार्ग पर लगाता है। यदि बालक में पहले से ही वर्तमान क्रियाशील शक्तियों को ध्यान में न रक्खा जायगा, तो निर्देश का सारा प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होगा।

दूसरी ओर दूसरों के विधि-निषेधों तथा रीति-रिवाजों द्वारा किया गया नियंत्रण अदूरदर्शितापूर्ण हो सकता है। इससे तात्कालिक परिणाम की प्राप्ति तो हो सकती है, किन्तु साथ ही व्यक्ति के भावी कार्यों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। उदाहरणार्थ धमकी दुःखद परिणाम का भय दिखा कर व्यक्ति को स्वाभाविक मनोवृत्ति के अनुकूल कार्य करने से रोक सकती है ; किन्तु सम्भावना इस बात की भी है कि इसके प्रभाव में आकर वह अधिक बुरे कार्य कर बैठे। उसमें धूर्तता तथा चुप्पेपन की प्रवृत्तियाँ जग जाती हैं और बाद में वह टाल-मटोल तथा छल-कपट का व्यवहार करने लगता है, जैसा कि अन्य परिस्थित में वह न करता। निर्देश का कार्य करने वालों के लिए बालकों के क्रमिक विकास की आवश्यकता की उपेक्षा का खतरा सदैव बना रहता है।

सामाजिक निर्देश के स्वरूप

वयस्क जन, स्वाभाविक रूप से तात्कालिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरों के आचरणों को निर्देशित करने के लिए विशेष सजग रहते हैं। नियमित रूप से वे ऐसे उद्देश्य के प्रति जागरूक तब होते हैं, जब उनका विरोध होता है; अर्थात् जब दूसरे ऐसा काम करते हैं, जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल होता है। किन्तु, नियंत्रण का अधिक प्रभावशाली तथा स्थाई रूप वह है, जो प्रतिक्षण निरन्तरतापूर्वक, बिना किसी जागरूक प्रयास के सहज गति से चलता रहता है।

जब दूसरे लोग हमारी इच्छा के प्रतिकूल कार्य करते हैं, या वे हमारी आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगते हैं, तो हम उनके नियंत्रण की आवश्यकता तथा प्रभावोत्पादक नियंत्रणकारी शक्तियों के प्रति अत्यन्त जागरूक हो उठते हैं। ऐसी दशा में हमारा नियंत्रण अधिक प्रत्यक्ष हो उठता है और ऐसे अवसर पर उपर्युक्त भूलों की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। नियंत्रण के लिए हम अधिक वरिष्ठ शक्ति के प्रभाव का प्रयोग करते समय यह भूल जाते हैं कि घोड़े को मार-पीट कर पानी के पास तक तो ले जाया जा सकता है, लेकिन उसे पीने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति को प्रायश्चित्त-गृह में बन्द तो कराया जा सकता है; किन्तु उसे वास्तविक अनुपात में आत्म-ग्लानि की अनुभूति के लिए विवश नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में दूसरों पर डाले गए तात्कालिक प्रभावों से सम्बन्धित भौतिक तथा नैतिक परिणामों में अन्तर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। एक व्यक्ति इस दशा में भी हो सकता है कि उसके हित के लिए उसे खिलाना-पिलाना तथा उसे एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक हो। बच्चे को जलने से बचाने के लिए उसे आग के पास से क्रूरतापूर्वक घसीटना पड़ता है। किन्तु, इससे प्रशिक्षात्मक परिणाम के रूप में उसके संस्कारों में कोई परिष्कार हो जाय, यह आवश्यक नहीं। कड़ी आज्ञा के जोरदार शब्द भी बच्चे को आग से दूर रख सकने में समर्थ हो सकते हैं और इस दिशा में भी भौतिक परिणाम वही हो सकता है, जो घसीट कर दूर करने पर होता; किन्तु नैतिक रूप

से जिस आज्ञाकारिता का भाव एक दशा में उदित होगा, वह दूसरी में नहीं होगा। किसी व्यक्ति को जेल में बन्द करके उसका सेंध लगाना तो रोका जा सकता है; किन्तु केवल जेल में बन्द करना उसके चोरी करने के संस्कार को बदल सकने में असमर्थ भी सिद्ध हो सकता है। जब हम किसी भौतिक परिणाम को प्रशिक्षात्मक परिणाम के अर्थ में ग्रहण करने की भूल कर बैठते हैं, तो हम व्यक्ति के प्रेरणात्मक संस्कारों का परिष्कार करके वांछित परिणाम उत्पन्न करने का अवसर खो देते हैं। इसके साथ-ही-साथ हम उसे सन्मार्ग पर ले जाने की उपयुक्त दिशा के विकास के अवसर से भी हाथ धो बैठते हैं।

साधारणत: अधिक सजग नियंत्रण के कार्यों के अवसर को उन्हीं क्रियाओं तक सीमित रखना चाहिए, जो इतनी प्रवृत्यात्मक अथवा उद्वेगात्मक होती हैं कि उनमें संलग्न रहकर व्यक्ति उनके परिणामों को नहीं देख सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने कार्य के परिणामों का पूर्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता और इस योग्य भी नहीं होता कि अधिक अनुभवी व्यक्तियों के बताने पर उसके परिणाम को समझ सके, तो उसके लिए अपने क्रिया-कलापों का विवेकपूर्ण संचालन करना असम्भव हो जाता है। ऐसी दशा में उसके लिए सभी कार्य एक समान होते हैं। जिस भी वस्तु से उसे प्रेरणा मिलती है, वह उसे ग्रहण करके गतिशील हो उठता है, और वही उसके लिए सब कुछ होता है। कुछ दशाओं में ऐसे व्यक्ति को प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर देना उचित होता है, ताकि वह स्वयं परिणामों का अन्वेषण कर सके और भविष्य में उसी प्रकार की परिस्थिति में वह विवेकपूर्ण आचरण कर सके। किन्तु, कुछ कार्य इतने निषिद्ध एवं दूसरों के लिए भयानक होते हैं कि उन्हें करने की अनुमति किसी भी दशा में नहीं दी जा सकती। इनको रोकने के लिए लज्जित करने, हँसी उड़ाने, पक्ष न लेने, डाँटने-फटकारने अथवा दण्ड का भय दिखाने का मार्ग अपनाया जाता है। बालक को अनौचित्यपूर्ण आचरणों से बचाने के लिए उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाया जाता है। बालक की क्रियाओं को वांछित दिशा की ओर मोड़ने के लिए उसकी, अपने कार्यों द्वारा दूसरों का अनुमोदन तथा शाबाशी प्राप्त करने की आकांक्षा की सहायता ली जाती है।

नियंत्रण की ये विधियाँ इतनी प्रत्यक्ष हैं—क्योंकि ये साधारणत सचेतन प्रयोग में आती हैं—कि यदि इनके अतिरिक्त नियंत्रण के दूसरे अधिक आवश्यक तथा स्थाई रूप पर ध्यान दिया जाय, तो इनका वर्णन कुछ अधिक महत्त्व का न होगा। यह दूसरी विधि बालकों के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों

के 'वस्तुओं का उपयोग' करने के ढंगों में निहित है। ये ढंग उनके अपने उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। वह सामाजिक वातावरण ही, जिसमें बालक रहता और नाना क्रिया-कलाप करता है, उसकी क्रियाओं को निर्देशित करने वाला अत्यन्त प्रभावशाली साधन है।

इस तथ्य के कारण, यह आवश्यक हो जाता है कि हम अधिक विस्तारपूर्वक सामाजिक वातावरण के अर्थ की विवेचना करें। इसके लिए हमें सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण को, जिसमें हम रहते हैं, एक दूसरे से अलग करना होगा। जहाँ यह विभाजन एक ओर ऊपर कहे गए नियंत्रण के वैयक्तिक तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप की नैतिक आवश्यकता के महत्त्व को बढ़ा देने के लिए उत्तरदाई है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान मनोविज्ञान तथा दर्शन में प्रचलित प्राकृतिक वातावरण के सम्पर्क की मानसिक सम्भावना को आवश्यकता से अधिक बढ़ा देता है। वास्तव में प्राकृतिक वातावरण के अतिरिक्त एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर प्रत्यक्ष एवं स्वतंत्र रूप से प्रभाव डालने का कोई अन्य माध्यम नहीं है। मुस्कान, भ्रू भंग, डाँट-फटकार, चेतावनी या प्रोत्साहन के शब्द, सभी एक प्रकार का भौतिक परिवर्तन उपस्थित करते हैं, अन्यथा एक व्यक्ति की मनोवृत्ति दूसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति में परिवर्तन न उपस्थित कर पाती। प्रभाव डालने वाली इन विधियों को आपेक्षिक रूप से वैयक्तिक कहा जा सकता है। अन्ततोगत्वा भौतिक माध्यम, मात्र वैयक्तिक सम्पर्क के रूप तक परिसीमित रह जाता है। पारस्परिक प्रभाव की इन प्रत्यक्ष विधियों के अतिरिक्त, सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न, ऐसे संघ भी हैं, जो वस्तुओं के प्रयोग को परिणाम का माध्यम तथा मानदण्ड बना लेते हैं। यदि माँ अपनी पुत्री को न तो अपने कार्यों में सहायता करने के लिए कहे और न सहायता न करने पर डाँटे-फटकारे ही, तब भी पुत्री अपने माता-पिता को पारिवारिक कार्यों में संलग्न देखकर ही अपनी क्रियाओं के लिए परिवार से निर्देश प्राप्त कर लेगी। अनुकरण, प्रतिस्पर्धा तथा मिल-जुलकर कार्य करने की आवश्यकता आदि से नियंत्रण को शक्ति प्राप्त होती है।

यदि माँ बच्चे को कोई वांछित वस्तु प्रदान करती है, तो उसे प्राप्त करने के लिए बच्चे को उस वस्तु तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। जहाँ एक ओर देने की क्रिया हो रही है, वहाँ दूसरी ओर ग्रहण करने की क्रिया आवश्यक हो जाती है। वस्तु को प्राप्त कर लेने के बाद, बच्चे की उसे पकड़ने की विधि, प्रयोग करने का ढंग आदि इस तथ्य से अवश्य प्रभावित होते हैं कि बच्चे ने

माँ के क्रिया-कलापों का निरीक्षण किया है। जब माता-पिता कोई वस्तु खोज रहे होते हैं, तो बच्चे के लिए यह स्वाभाविक है कि वह भी उस वस्तु की खोज करे और मिल जाने पर उसे उन्हें दे दे, जैसा कि इसी प्रकार के किसी अन्य अवसर पर वह सीख चुका रहता है। इस उदाहरण को दैनिक सम्पर्क के आदान-प्रदान सम्बन्धी सहस्रों व्यवहारों तक विस्तृत कर लेने पर, बालक की क्रियाओं को निर्देशित करने वाली सब से स्थाई तथा प्रभावशाली विधि का चित्र स्पष्ट हो जाता है।

ऐसा कहकर हम पहले कही जा चुकी संस्कार-निर्माण की प्रधान विधि, 'सामूहिक क्रिया में सहयोग' की पुनरावृत्ति कर रहे हैं। हमने प्रत्यक्ष रूप से सामूहिक क्रिया में 'वस्तुओं के प्रयोग' के महत्त्व को स्वीकार करने की बात यहाँ और जोड़ दी है। शिक्षा-दर्शन, एक गलत प्रकार के मनोविज्ञान से अनुचित रूप से प्रभावित हो गया है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि व्यक्ति, मस्तिष्क पर पड़ी वस्तुओं की छाप से, इन्द्रियों के माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करता है। मस्तिष्क में संवेदनात्मक छापों का एक कोश एकत्रित हो जाने पर संश्लेषण द्वारा उन्हें सम्बद्ध करके 'भावों'—अर्थपूर्ण वस्तुओं—के रूप में बदलने के लिए एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति की कल्पना की गई है। ऐसा सोचा जाता है कि पत्थर, नारंगी, वृक्ष, कुर्सी आदि वस्तुएँ मस्तिष्क पर, रंग, रूप, आकार, कठोरपन, गंध तथा स्वाद आदि सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की छाप छोड़ती हैं, जिनका एकीकृत रूप, वस्तु-विशेष के अर्थ का निर्माण करता है; किन्तु वास्तविकता यह है कि वस्तु का, उसके गुणों के कारण, विशिष्ट प्रयोग ही उसे अर्थ प्रदान करता है। इसी अर्थ से उस वस्तु का तादात्म्य स्थापित किया जाता है। कुर्सी ऐसी वस्तु है, जिसका विशेष प्रयोग है, मेज ऐसी वस्तु है जिसके प्रयोग का उद्देश्य दूसरा है, नारंगी ऐसी वस्तु है, जिसका मूल्य अमुक है, जो गर्म देशों में पैदा होती है, जो खाने के काम में आती है और खाए जाने पर सुगंधि और स्फूर्तिदायक स्वाद आदि प्रदान करती है।

प्राकृतिक वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने और मानसिक क्रिया में यह भेद है, कि मानसिक क्रिया, वस्तुओं के अर्थ के प्रति की गई प्रतिक्रिया है, जब कि सामंजस्य स्थापन में वस्तुओं के अर्थ का कोई स्थान नहीं है। कोई भी तेज आवाज हमें चौंका देने में समर्थ है, चाहे हम उसका अर्थ समझ सकें या नहीं। जब हम एक विशेष प्रकार का शोर सुन कर दौड़ पड़ते हैं और पानी लेकर लगी आग को बुझाने लगते हैं, तो शोर का अर्थ आग लगना और 'आग

लगने' का अर्थ उसे बुझाने की आवश्यकता को व्यक्त करना है। हमें एक पत्थर से ठोकर लगती है। हम उसे भौतिक-क्रिया द्वारा दूसरी ओर फेंक देते हैं। हम उसे दूसरी ओर इस भय से फेंक देते हैं कि ऐसा न हो कि कोई ठोकर खाकर गिर पड़े; हमारी प्रतिक्रिया वस्तु के अर्थ के प्रति होती है। बिजली की कड़कड़ाहट हमें चौंका देती है, चाहे हम उसे पहचानें या नहीं; विशेष रूप से तब, जब हम उसे नहीं पहचानते। लेकिन, अगर हम जोर से चिल्लाकर या धीरे से अपने-आप से कहें कि यह बिजली की कड़कड़ाहट है, तो हमारी प्रतिक्रिया, उत्पन्न घबड़ाहट के अर्थ के प्रति होगी। हमारे व्यवहार में एक मानसिक विशेषता है। जब वस्तुओं का एक विशेष अर्थ होता है, तो हम कार्य एक अर्थ (उद्देश्य, निश्चय) के अनुसार करते हैं, और यदि उनका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता, तो हम अन्धे, अचेतन तथा अविवेकपूर्ण ढंग से कार्य करते हैं।

दोनों ही तरह के प्रतिक्रियात्मक संयोजन में हमारी क्रियाएँ निर्दिष्ट तथा नियंत्रित होती हैं; किन्तु केवल अन्धी प्रतिक्रिया में, निर्देश भी अंधा होता है। उसमें अभ्यास निहित है, शिक्षा नहीं। पुनरागत उद्दीपन के प्रति की गई प्रतिक्रियाओं की पुनरावृत्तियाँ, एक विशेष ढंग से कार्य करने की आदत डाल देती हैं। हम सभी में बहुत-सी ऐसी आदतें हैं, जिनके अन्तर्गत महत्त्व का हमें ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उनका निर्माण अचेतन तथा अज्ञान अवस्था में हुआ रहता है। फल यह होता है कि बजाय उन पर अधिकार रखने के, हम स्वयं उनके अधीन रहते हैं, और वे हमें गतिशील तथा नियंत्रित रखती हैं। जब तक हमें उनके परिणाम का ज्ञान न हो जाय और हम उस परिणाम का मूल्यांकन न कर लें, तब तक हम उन्हें नियंत्रित नहीं कर सकते। किसी व्यक्ति-विशेष की उपस्थिति में, एक बालक को गर्दन की मांसपेशियों पर बल डाल कर दण्डवत कराए जाते रहने पर अन्ततः दण्डवत उसके लिए एक यान्त्रिक क्रिया बन जायगी। लेकिन यह क्रिया उसकी ओर से आदर या अनादर की द्योतक तब तक नहीं बन सकेगी, जब तक इसके उद्देश्य का ज्ञान उसे न हो जायगा, या उसे इस क्रिया का अर्थ ज्ञात न हो जायगा। जब तक इस बात का ज्ञान न हो जाय कि वह अमुक प्रकार की क्रिया-विशेष क्यों करता है तथा इसका अर्थ क्या है, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह उसे सीख गया है अथवा उसने एक विशेष प्रकार की क्रिया करने की शिक्षा ग्रहण कर ली है। किसी वस्तु का 'भाव' ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं कि उस वस्तु-विशेष से एक विशिष्ट प्रकार की संवेदना ग्रहण कर ली जाय। इसका अर्थ है कि एक निश्चित क्रिया-व्यवस्था में उस वस्तु-विशेष

का क्या स्थान है, यह किसी वस्तु-विशेष की हमारे ऊपर क्रिया तथा उस क्रिया के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का पूर्वज्ञान है।

वस्तुओं के प्रति वही भाव रखना जो दूसरे रखते हैं, उनका समष्टि-गत ज्ञान ग्रहण करना, और इस प्रकार एक सामाजिक समुदाय की सदस्यता प्राप्त करने का अर्थ है कि वस्तु-विशेष तथा क्रिया-विशेष का वही अर्थ लगाया जाय, जो दूसरे लगाते हैं, अन्यथा सर्वनिष्ठ ज्ञान तथा सामाजिक जीवन सम्भव नहीं। किन्तु किसी सामूहिक-क्रिया में भाग लेकर व्यक्ति अपने कार्यों का दूसरों के कार्यों से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा दूसरे भी ऐसा ही करते हैं, अर्थात् सभी के कार्यों का परिस्थिति-विशेष में एक ही अर्थ लिया जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी रस्से को खींच रहा हो, साथ ही अन्य लोग भी उसे खींच रहे हों, तो उस व्यक्ति द्वारा रस्से को खींचने की क्रिया को तब तक सामूहिक क्रिया की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती, जब तक उसे इस बात का ज्ञान न हो कि अन्य लोग भी रस्से को खींच रहे हैं और वह स्वयं उनका सहायक या विरोधी है। एक पिन अपनी निर्माण-प्रक्रिया में बहुत-से लोगों के हाथों से होकर गुजरती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग का कार्य करता है; किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरे क्या करते हैं अथवा दूसरों के कार्यों से उसके कार्य का सम्बन्ध है। उनमें से प्रत्येक, विभिन्न उद्देश्य (अपने वेतन) को ध्यान में रख कर कार्य करता है। इस परिस्थिति में कोई सर्वनिष्ठ अभीष्ट नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिए ये क्रियाएँ की जा रही हों; अतएव सन्निधि तथा सभी की क्रियाएँ एक ही परिणाम की प्राप्ति के लिए की जाती रहने पर भी उनमें पारस्परिक सम्पर्क तथा सहचार का विधान नहीं माना जा सकता। लेकिन, यदि उन में से प्रत्येक सदस्य को अपने कार्य के द्वारा दूसरों पर पड़ने वाले प्रभाव और दूसरों के कार्यों का अपने कार्य पर पड़ने वाले प्रभाव के सम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान हो, तो हम सह-ज्ञान एवं उनके कार्यों में एक सर्वनिष्ठ उद्देश्य की स्थिति मान सकते हैं। ऐसी स्थिति में, प्रत्येक सदस्य को एक सर्वनिष्ठ उद्देश्य का ज्ञान रहता है, और यही ज्ञान उन सभी के कार्यों को नियंत्रित रखता है।

कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति इस दशा में रक्खे गए हैं कि एक व्यक्ति यांत्रिक गति से गेंद को पकड़ कर दूसरे के पास फेंकता है तथा दूसरा भी यांत्रिक विधि से गेंद को पकड़ कर वापस लौटा देता है, और उनमें से प्रत्येक इस कार्य को करता हुआ यह नहीं जानता कि गेंद कहाँ से आती और कहाँ जाती है, तो प्रकट है कि उस क्रिया का दोनों ही व्यक्तियों के लिए कोई अर्थ नहीं हो

सकता। उक्त क्रिया भौतिक रूप से नियंत्रित हो सकती है ; किन्तु सामाजिक रूप से निर्दिष्ट नहीं। लेकिन, मान लीजिए उनमें से प्रत्येक को इस बात का ज्ञान हो जाय कि दूसरा क्या कर रहा है और वे एक दूसरे के कार्य में रुचि लेने लगें तथा अपने कार्य का दूसरे के कार्य से सम्बन्ध स्थापित कर लें, तो प्रत्येक का व्यवहार सज्ञान तथा सामाजिक दृष्टि से निर्दिष्ट हो जायगा। इससे कुछ अधिक कल्पनापूर्ण उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कोई बच्चा भूख से चिल्ला रहा है और उसकी उपस्थिति में ही भोजन तैयार किया जा रहा है। यदि वह अपनी दशा का दूसरों के कार्यों से और उनके कार्यों का अपने सन्तोष से सम्बन्ध स्थापित करने लगे, तो वह अपनी तकलीफ के प्रति बढ़ती हुई अधीरता के साथ प्रतिक्रिया करने लगेगा। वह अपने ही शरीर की दशा के इन्द्रिय-विषयक ज्ञान द्वारा, भौतिक रूप से नियंत्रित है। लेकिन जब वह आगा-पीछा सोचने लगता है, तो उसकी सम्पूर्ण मनोवृत्ति बदल जाती है। वह दूसरों के कार्यों में रुचि दिखाता तथा उनके क्रिया-कलापों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करता है। वह अब केवल अपनी भूख के प्रति ही प्रतिक्रिया नहीं करता ; बल्कि इस बात को भी ध्यान में रखकर व्यवहार करता है कि दूसरे लोग उसकी संतुष्टि के लिए क्या कर रहे हैं। इसी प्रकार अब वह भूख के कारण से अनभिज्ञ रह कर उद्विग्न तथा अधीर नहीं होता, बल्कि समझता है कि उसे भूख लगी है। भूख उसका ज्ञान-विषय बन जाती है और उसकी मनोवृत्ति भूख के प्रति कुछ विवेकपूर्ण हो उठती है। इस प्रकार दूसरों की क्रियाओं तथा अपनी स्वयं की दशा का अर्थ जानने में वह सामाजिक निर्देश ग्रहण करता है।

स्मरण होगा कि हमारी प्रस्तावना के दो पक्ष थे। उनमें से एक की व्याख्या हम कर चुके हैं, विशेष रूप से इस बात की कि भौतिक वस्तुएँ क्रिया का साधन बन कर भावी परिणाम के सम्बन्ध के अतिरिक्त सीधे मस्तिष्क पर प्रभाव नहीं डालतीं, अर्थात् भावों या विश्वासों का निर्माण नहीं करतीं। दूसरी बात यह है कि लोग भौतिक परिस्थितियों के विशिष्ट उपयोग द्वारा एक दूसरे के संस्कारों का परिष्कार करते हैं। उदाहरण के लिए सामान्य अभिव्यक्तिपूर्ण क्रियाओं को लीजिए—जैसे झेंपना, मुस्कराना, त्योरी चढ़ाना, मुट्ठी भींचना या अन्य अनेक स्वाभाविक चेष्टाएँ—इनके प्रति दूसरे भी अनुभूतिशील होते हैं। वैसे अपने-आप में ये अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं होतीं। वे व्यक्ति की मनोवृत्ति की आंगिक अंश हैं। कोई दूसरों को लज्जा या आकुलता दिखाने के लिए नहीं झेंपता ; बल्कि उद्दीपन की प्रतिक्रिया में केशीय-संचार बदल जाने से ऐसा होता है। लेकिन, दूसरे लोग

झेंप अथवा सम्वन्धित व्यक्ति की मांसपेशियों के संकोचन को उस व्यक्ति की तात्कालिक दशा के लक्षण तथा भावी क्रिया के संकेत के रूप में ग्रहण करते हैं। चढ़ी हुई त्योरी एक कड़ी फटकार की द्योतक है, जिसे सहने के लिए व्यक्ति को तैयार हो जाना चाहिए, अथवा एक अनिश्चितता या द्विविधापूर्ण अवस्था की प्रतीक है, जिसे यदि सम्भव हो, तो उसे पुनः विश्वास प्राप्त करने के लिए कुछ कह या करके दूर कर देना चाहिए।

मान लीजिए कोई व्यक्ति दूर से जोर-जोर से अपना हाथ हिला रहा है और यदि उसे देखने वाला दूसरा व्यक्ति उससे उदासीन है, तो हाथ हिलाने वाले व्यक्ति की स्थिति उसके लिए अन्य अनुभवगम्य भौतिक परिवर्तनों से भिन्न स्तर की न होगी। यदि हमारा कोई सम्बन्ध या अभिरुचि उक्त परिस्थिति-विशेष से न हो, तो हमारे लिए हाथों का हिलना उतना ही अर्थहीन होगा, जितना किसी हवाई चक्की के पंखों का घूमना। यदि अभिरुचि जागृत कर दी जाय, तो वह क्रिया हमें अर्थपूर्ण लगने लगती है। तव हम अपने तात्कालिक कार्य तथा भावी क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। हमें आगे क्या करना चाहिए, इसके निश्चय के लिए, इस क्रिया का अर्थ निर्धारित करना होगा। क्या वह सहायता के लिए हमें वुला रहा है ? या वह हमें किसी विनाशकारी विस्फोट की सूचना दे रहा है, जिससे हमें बचना चाहिए। पहले अर्थ में हमें उसकी ओर दौड़ना है और दूसरे में किसी ओर भाग जाना है। यहाँ हमारी क्रिया, सामाजिक रूप से नियंत्रित होती है, क्योंकि हमें अपनी क्रिया का उस व्यक्ति की तात्कालिक स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करना होता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, भाषा हमारे अपने और दूसरों के कार्यों का एक सर्वनिष्ठ स्थिति से सामंजस्य स्थापित करती है। इसीलिए सामाजिक निर्देश के माध्यम के रूप में इसका महत्त्व अद्वितीय है। किन्तु भाषा, यदि भौतिक साधनों के साधारण तथा मूर्त प्रयोग द्वारा वांछित फल प्राप्त करने की पृष्ठभूमि पर आधारित न होती, तो कदाचित् इतना फलोत्पादक निमित्त न वन पाती। वालक अपने आस-पास के लोगों को कुर्सियों, टोपियों, मेजों, फावड़ों, आरों, हलों, घोड़ों तथा रुपयों-पैसों को एक विशेष विधि से प्रयोग करते देखता है। यदि वह उनके क्रिया-कलापों में तनिक भी भाग लेता है, तो वह उन वस्तुओं को उसी विधि से प्रयोग में लाएगा अथवा दूसरी वस्तु का भी उसी अनुकूल विधि से प्रयोग करेगा। यदि किसी कुर्सी को मेज के पास खींच दिया जाय, तो इसका अर्थ है कि इस पर उसे बैठना है और इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपना दायाँ हाथ आगे

फैलाए तो देखने वाला भी ऐसा ही करेगा। इस प्रकार अनवरत रूप से क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। मानव-कला में उत्पन्न वस्तुओं के प्रयोग की वर्तमान प्रणालियाँ तथा प्रकृति की निर्माण-सामग्री ही, सामाजिक-नियंत्रण के गंभीरतम तथा सर्वव्यापी रूप का निर्माण करती हैं। विद्यालय-प्रवेश के पूर्व से ही बालक में मस्तिष्क उपस्थित रहता है। उसके अन्दर ज्ञान तथा निर्णय के संस्कार मौजूद रहते हैं, जिन्हें भाषा के माध्यम से प्रयोग में लाया जा सकता है। ये 'मस्तिष्क' उन विवेकपूर्ण प्रतिचारों की सुनियोजित आदतें हैं, जिनकी आवश्यकता दूसरों की भाँति वस्तुओं के प्रयोग के पूर्व-अवसरों पर पड़ चुकी रहती है। नियंत्रण एक अपरिहार्य वस्तु है, जो संस्कारों को संपृक्त बनाता है।

अब तक के विवेचन का मूल निष्कर्ष यह है कि नियंत्रण का प्रमुख माध्यम वैयक्तिक न होकर बौद्धिक होता है। यह इस अर्थ में नैतिक नहीं है कि व्यक्ति दूसरों की प्रत्यक्ष प्रेरणा के कारण गतिशील होता है; बल्कि संकटपूर्ण परिस्थितियों में यह विधि बड़े काम की सिद्ध होती है। यह बुद्धि की उन आदतों में निहित है, जो दूसरों के सम्पर्क में उनकी अनुरूप विधि से वस्तुओं के प्रयोग के कारण बनती हैं, चाहे वह सहयोग और सहायता के रूप में हो अथवा प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता के रूप में। स्थूल वस्तु के रूप में मस्तिष्क वह शक्ति है, जो वस्तुओं को उनके उपयोग के अर्थ में समझने का प्रयास करती है। समाजीकृत मस्तिष्क वह शक्ति है, जो उन्हें सम्मिलित अथवा सामूहिक स्थितियों में प्रयुक्त रूप में समझने का प्रयास करती है। इस अर्थ में मस्तिष्क सामाजिक नियंत्रण की विधि है।

अनुकरण तथा समाज - मनोविज्ञान

हमने उस मनोविज्ञान के दोष देख लिए हैं, जो मस्तिष्क को नग्न रूप में वस्तुओं के सम्पर्क में रखता है, और जो विश्वास करता है कि भाव, विश्वास तथा ज्ञान इस सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए, नैतिक तथा मानसिक संस्कारों के निर्माण में सामाजिक व्यक्तियों के सहचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। आज भी प्रायः इसे वस्तुओं के सीधे सम्पर्क से सीखने की विधि अथवा व्यक्तियों के ज्ञान द्वारा वस्तु-ज्ञान के अनुपूरक के रूप में स्वीकार किया जाता है। हमारे विवेचन का उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि ऐसा दृष्टिकोण व्यक्तियों तथा वस्तुओं में अनावश्यक तथा व्यर्थ का भेद उत्पन्न करता है। वस्तुओं के साथ प्रतिक्रिया, नियोजन की बाह्य आदतों का निर्माण कर सकती है ; किन्तु यह अर्थपूर्ण क्रिया तथा सचेतन उद्देश्य का रूप तभी ग्रहण करती है, जब वस्तुएं एक निश्चित परिणाम की उपलब्धि के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। और एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क को परिष्कृत करने की एकमात्र विधि यही है कि वर्तमान अथवा नियंत्रित भौतिक परिस्थिति का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि दूसरा व्यक्ति इनके उत्तर में प्रतिक्रिया करे। इस प्रकार हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यह वांछनीय है कि उन्हें विस्तृत करके उस सिद्धान्त के विरोध में रखकर स्पष्ट किया जाय, जो व्यक्ति और वातावरण के सम्पर्क के रूप में ही व्यक्तियों के प्रत्यक्ष पारस्परिक सम्पर्क की कल्पना के मनोविज्ञान को स्वीकार करता है। संक्षिप्त रूप से हम कह सकते हैं कि यह तथाकथित समाज-मनोविज्ञान, अनुकरण के भाव पर आधारित है। अतएव, आगे हम मानसिक संस्कारों के निर्माण में अनुकरण के कार्य और उसके स्वरूप की विवेचना करेंगे।

इस सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्तियों के सामाजिक नियंत्रण का आधार उनकी दूसरों के कृत्यों के अनुकरण की प्रवृत्यात्मक मनोवृत्ति है। इस प्रकार दूसरों के कार्य, आदर्श के रूप में कार्य करते हैं। अनुकरणात्मक प्रवृत्ति इतनी बलवती

होती है कि बालक अपनी सम्पूर्ण शक्ति दूसरों द्वारा प्रस्तुत किए गए आदर्शों को आत्मसात् करने तथा उन्हें अपने व्यवहार के क्रम में पुनरुत्पादित करने में लगा देता है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार जिसे, यहाँ अनुकरण की संज्ञा दी गई है, वह सर्वनिष्ठ उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए वस्तु प्रयोग में, दूसरों के साथ भाग लेने की क्रिया का भ्रामक नाम है।

अनुकरण के प्रचलित अर्थ में मौलिक दोष यह है कि यह क्रिया के क्रम को उलट देता है। यह कार्य को उसके कारण के रूप में ग्रहण करता है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि सामाजिक समुदाय के निर्माण में व्यक्तियों में समूह ज्ञान होता है; वे एक दूसरे को समझते हैं। समान परिस्थितियों में वे एक ही भाव, विश्वास तथा उद्देश्य से कार्य करते देखे जाते हैं। बाहर से देखने पर यह कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे के अनुकरण में संलग्न हैं—अर्थात् वे एक ही प्रकार के कार्य को सम्भवतः एक ही विधि से कर रहे हैं। यह बहुत अंशों में सही है ; किन्तु 'अनुकरण' यह स्पष्ट नहीं करता कि वे ऐसा क्यों करते हैं। वे अनुकरण के तथ्य को इसके स्वयं के कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। यह व्याख्या उस प्रख्यात कहावत जैसी है, जो कहती है कि अफीम लोगों को इसलिए सुला देती है कि उसमें सुला देने वाली शक्ति होती है।

चूँकि व्यक्ति-विशेष तथा दूसरों के क्रिया-कलाप और तज्जन्य मानसिक संतोष में समानता होती है ; इसलिए इसे अनुकरण की संज्ञा दे देते हैं। इस सामाजिक तथ्य को समानता उत्पन्न करने वाली एक मनोवैज्ञानिक शक्ति का रूप दे दिया जाता है। अनुकरण का अधिकांश, केवल इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति रचना में समान होने के कारण समान उद्दीपनों के प्रति एक ही तरह के प्रतिचार करते हैं। अनुकरण के परे भी अपमानित किए जाने पर लोग क्रुद्ध होते तथा अपमानकर्ता पर आक्रमण कर बैठते हैं। इस कथन के लिए कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज वाले समुदायों में, अपमान के प्रति किया गया प्रतिचार भिन्न होता है। एक में यदि घूँसेबाजी इसका रूप है, तो दूसरे में द्वंद्व-युद्ध, या तीसरे में केवल घृणापूर्ण तिरस्कार का प्रदर्शन। ऐसा कहा जाता है कि इसका कारण अनुकरण के लिए उपस्थित आदर्शों की भिन्नता है ; किन्तु यहाँ अनुकरण की सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं। रीति-रिवाजों के भिन्न होने का ही अर्थ है कि व्यवहार के वास्तविक उद्दीपन भिन्न हैं। यहाँ सचेतन शिक्षा कार्य करती है और पूर्व अनुमोदन तथा निषेध का प्रभाव भी काफी होता है। और इस तथ्य का प्रभाव भी कम नहीं होता, यदि व्यक्ति समुदाय-

विशेष में प्रचलित विधि से कार्य नहीं करता, तो वह निश्चय ही उसका अंग न कहा जायगा। वह दूसरों से सम तथा परिचित अर्थ में तभी सम्बन्ध जोड़ सकता है, जब वह उसी प्रकार आचरण करे, जैसा कि अन्य लोग करते हैं। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कोई व्यक्ति एक समुदाय-विशेष का सदस्य इसलिए है कि वह उसमें प्रचलित विधियों के अनुसार क्रिया करता है, और उससे अलग इसलिए है कि उसमें प्रचलित प्रणालियों के अनुसार कार्य नहीं करता। जिसे अनुकरण का कार्य कहा जाता है, वह मुख्यतः सचेतन निर्देश की उत्पत्ति तथा सम्बन्धित सदस्यों के अचेतन अनुमोदन और पुष्टीकरण द्वारा उत्पन्न चुनाव की निष्पत्ति है।

मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी बालक के पास एक गेंद लुढ़काता है, वह इसे पकड़ कर फिर लुढ़का कर वापस कर देता है। और इस प्रकार खेल चलता रहता है। यहाँ उद्दीपन केवल गेंद की अथवा व्यक्ति की उपस्थिति मात्र नहीं। खेल जो खेला जा रहा है, एक परिस्थिति है ; प्रतिचार केवल गेंद को लुढ़का देना ही नहीं है, बल्कि उसे इसलिए लुढ़का देना है, ताकि दूसरा उसे पकड़ कर वापस कर सके और खेल चलता रहे। इसमें आदर्श, दूसरे व्यक्ति की क्रिया नहीं है। पूर्ण रूप में परिस्थिति की यह माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की तात्कालिक क्रिया तथा भावी क्रिया को ध्यान में रखकर अपनी क्रिया परिचालित करे। अनुकरण इसमें सहायक अवश्य होता है ; किन्तु उसका स्थान गौण है। इसमें बालक की अपनी स्वयं की रुचि ही कार्य करती है ; क्योंकि वह चाहता है कि खेल चलता रहे। अपनी क्रिया में सुधार करने के लिए वह दूसरे के क्रिया-कलाप का निरीक्षण कर सकता है कि वह कैसे गेंद को पकड़ता या लुढ़काता है। वह क्रिया के साधन का अनुकरण करता है, साध्य का नहीं। और साधन का भी अनुकरण इसलिए करता है कि खेल में सफलतापूर्वक भाग लेने के लिए वह स्वयं इच्छुक रहता है। हम देखते हैं कि प्रारम्भ में बालक अपने प्रयोजन की सफलता के लिए दूसरों की क्रियाओं के साथ अपने कार्यों को सुनियोजित करता है। जैसा दूसरे व्यवहार करते रहते हैं, वैसा ही वह स्वयं करता है। सामाजिक भावना का क्रिया पर इतना गहरा प्रभाव होता है कि अनुकरण के प्रयोग की कोई विशेष आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

वास्तव में साध्य का अनुकरण, साधन के अनुकरण की अपेक्षा, जिसके द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है, इतने कम महत्त्व का तथा इतना अस्थाई होता है कि इसका प्रभाव संस्कारों पर नाम-मात्र का ही पड़ता है। केवल विवेकहीन व्यक्ति

ही इस प्रकार का अनुकरण करते हैं। यह क्रिया के अर्थ पर नहीं, केवल बाह्य चेष्टाओं पर ही प्रभाव डालता है। हम देखते हैं कि बालक प्रायः उक्त प्रकार की नकलें किया करते हैं। उन्हें प्रोत्साहन देने के बजाय (जैसा कि यदि वह कृत्य सामाजिक नियंत्रण का आवश्यक साधन हो, तो हमें करना चाहिए) हम उन्हें नकलची बन्दर, बिल्ली या तोता कहकर डाँट देते हैं। दूसरी ओर कार्य-संपादन के साधन का अनुकरण एक बौद्धिक क्रिया है। इसके लिए सूक्ष्म निरीक्षण तथा किसी कार्य को अधिक सफलतापूर्वक कर सकने के लिए कौन-सा साधन उपयुक्त होगा, इसके विवेकपूर्ण निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। सप्रयोजन प्रयोग में अनुकरणात्मक प्रवृत्ति भी, अन्य प्राकृतिक शक्तियों की भाँति, अधिक प्रभावशाली क्रियाओं के विकास का एक साधन बन जाती है।

इस प्रासंगिक प्रकरण का तात्पर्य इस निष्कर्ष को अधिक दृढ़ करना है कि सामाजिक नियंत्रण का अर्थ कतिपय मानसिक संस्कारों का निर्माण तथा वस्तुओं, घटनाओं और ऐसी क्रियाओं को, जो सामूहिक-कार्य करने में व्यक्ति को सफल बनाती हैं, एक विशेष विधि से समझना है। सामाजिक संसर्ग में दूसरों द्वारा उपस्थित किए गए अवरोधों को दूर करने की आवश्यकता होने के कारण ही ऐसा समझा गया है कि सामाजिक नियंत्रण की क्रिया, स्वाभाविक अभिरुचि के प्रतिकूल है। उन परिस्थितियों को, जिनमें व्यक्ति एक दूसरे के पारस्परिक सम्पर्क में आते हैं (या पारस्परिक प्रतिचार में हिस्सा लेते हैं) ठीक तरह से न समझ सकने के कारण ही अनुकरण को सामाजिक नियंत्रण प्रस्तुत करने का विशेष साधन समझा जाता है।

शिक्षा में कुछ संप्रयोग

असभ्य समाज असभ्यता को और सभ्य समाज सभ्यता को स्थायित्व क्यों देता है ? इस प्रश्न का पहला उत्तर जो हमारे मन में आता है, वह यह है कि असभ्य लोग असभ्य, मंद बुद्धि तथा सम्भवतः विकृत नैतिक भावना वाले होते हैं। लेकिन सूक्ष्म अध्ययन से यह पता चलता है कि यह एक सन्देहास्पद बात है कि उनकी जन्मजात शक्तियाँ, सभ्य व्यक्तियों की अपेक्षा निम्न कोटि की होती हैं। यह स्पष्ट है कि सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए केवल जन्मजात शक्तियों का अन्तर ही पर्याप्त नहीं। कुछ अर्थों में असभ्य लोगों का मस्तिष्क उनकी पिछड़ी हुई संस्था का कारण नहीं, बल्कि परिणाम है। उनकी सामाजिक क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जो उनके ध्यान और रुचि की अभीष्ट-प्राप्ति में बाधा पहुँचाती हैं और इस प्रकार मानसिक विकास के उद्दीपनों को परि-सीमित कर देती हैं। यहाँ तक कि जो बातें ध्यान के अन्तर्गत आती भी हैं, उन्हें पुरातन सामाजिक परम्पराएँ, निरीक्षण तथा कल्पना ऐसी बातों से जकड़ देती हैं, जो मानसिक विकास में सहायक नहीं सिद्ध होतीं। प्राकृतिक शक्तियों के नियंत्रण की कमी का अर्थ होता है कि प्रकृति की बहुत कम वस्तुएँ ही सामाजिक उपयोग में आ पाती हैं। प्राकृतिक साधन बहुत कम काम में लाए जाते हैं और जो उपयोग में लाए भी जाते हैं, उनका भी पूर्ण और सफल उपयोग नहीं हो पाता। सभ्यता की उन्नति का अर्थ है कि अधिक संख्या में प्राकृतिक शक्तियाँ तथा वस्तुएँ व्यवहार के निमित्त के रूप में परिणत कर ली गई हैं, अर्थात् मानव-उद्देश्य की प्राप्ति का साधन बना ली गई हैं। हमारे अन्दर अधिक ऊँची प्राकृतिक शक्तियाँ नहीं होतीं ; बल्कि हम उनके विकास तथा निर्देश के लिए उच्चतर उद्दीपन से क्रियाशीलता ग्रहण करते हैं। असभ्य लोग अपरिष्कृत उद्दीपन से कार्य करते हैं और हम परिष्कृत।

पूर्वकालिक मानव-प्रयत्नों ने प्राकृतिक दशाओं को बदल दिया है। अपनी पूर्व दशा में वे मानव-प्रयत्नों के प्रति उदासीन थीं। प्रत्येक घरेलू पौदा या

जानवर, प्रत्येक हथियार, यन्त्र, वर्तन, उपकरण, उत्पादित वस्तु, प्रसाधन-सामग्री, कलात्मक वस्तु इस तथ्य की द्योतक है कि वे परिस्थितियाँ, जो कभी विशिष्ट मानव व्यवहार से उदासीन या विरोध रखने वाली थीं, अब अनुकूल तथा मैत्रीपूर्ण दशाओं में परिणत कर ली गई हैं। चूँकि बालकों की क्रियाएँ आज इन चुने हुए तथा परिवर्तित उद्दीपनों से नियंत्रित हैं, अतः वे समाज द्वारा युगों के सतत प्रयत्न से प्राप्त अर्जित गुणों को जीवन के थोड़े ही समय में प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार पूर्वकालिक समस्त मानव सफलताओं से बालक लद जाता है।

अधिक सुगम तथा प्रभावशाली प्रतिचार के उद्दीपन, जैसे हमारी सड़कें तथा संचार-साधन, हमारी सेवा में उपस्थित ताप, प्रकाश तथा विद्युत्, हमारे उद्देश्यपूर्ति के लिए तैयार यन्त्र तथा उपकरण स्वयं अपने-आप में किसी सभ्यता का निर्माण नहीं करते। लेकिन, उनका उपयोग ही सभ्यता है और बिना वस्तुओं की उपस्थिति के उपयोग असंभव है।

जो समय पहले दुर्गम वातावरण में जीविकोपार्जन तथा उसकी दुस्तर प्रतिकूलताओं से आत्म-रक्षा में लगता था, अब मुक्त हो गया है। ज्ञान-कोश निरन्तर संक्रमित होता चलता है। उसकी उपादेयता तथा सत्यता का प्रमाण इस तथ्य में निहित है कि जिस भौतिक उपकरण-विशेष के उपयोग में उसका प्रयोग किया जाता है, परिणाम अन्य दशाओं के अनुकूल ही होता है। इस प्रकार कला के उपकरण हमें प्रकृति-सम्बन्धी अनेक अन्धविश्वासों, मन-गढ़ंत रूढ़ियों तथा अनुपादेय कल्पनाओं से बचाते हैं, जिनमें प्राचीन काल की बौद्धिक शक्ति का अधिकांश, व्यर्थ व्यय हुआ है। यदि इतना हम और जोड़ दें कि ये उपकरण केवल प्रयोग में लाए ही नहीं जाते ; बल्कि वस्तुतः सामूहिक जीवन के लाभ के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, तो ये उपकरण ही सभ्यता के विधेयात्मक साधन सिद्ध होते हैं। यदि यूनानी लोग हमारे धन-प्राप्ति के भौतिक साधनों की तुलना में केवल धर्म-शुल्क द्वारा प्राप्त थोड़े-से साधनों द्वारा ही प्रशंसनीय तथा उदात्त मानसिक एवं कलात्मक स्तर प्राप्त करने में सफल हुए थे, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि यूनान ने अपने समय में प्राप्त समस्त साधनों को सामाजिक कल्याण के लिए प्रयुक्त किया था।

लेकिन प्रयोग में आनेवाली वस्तुएँ प्रत्येक दशा में, दैनिक जीवन में प्रशिक्षात्मक दशा का निर्माण तथा मानसिक एवं नैतिक संस्कारों के निर्माण का निर्देश करती हैं, चाहे वे वर्बर-जीवन की हों या सभ्य युग की, चाहे प्रकृति की आंशिक गुलामी के युग की हों, चाहे उसकी शक्तियों के नियंत्रण के युग की।

सचेतन-शिक्षा, जैसा कि हम बता चुके हैं, एक चुने हुए वातावरण में होती है। यह चुनाव, वांछित निर्देश के विकास में सहायक साधनों तथा विधियों के आधार पर किया जाता है। चूंकि भाषा उन दशाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिनमें सामाजिक लाभ के लिए अधिकतम परिवर्तन हो चुका है (उन भौतिक वस्तुओं का, जो अब उपकरण बनकर अपने मौलिक अर्थ को छोड़ चुकी हैं), अतः यह निश्चित है कि अन्य उपकरणों की अपेक्षा भाषा का महत्त्व अधिक है। इसके माध्यम से हम भूतकालीन मानव-अनुभवों में भी हिस्सा बटा सकते हैं और इस प्रकार अपने वर्तमान अनुभव को अधिक विस्तृत तथा सम्पन्न बनाते हैं। हम सांकेतिक तथा काल्पनिक रूप से भावी दशाओं का पूर्व-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अनेक रूपों में भाषा उन अर्थों को घनीभूत करती रहती है, जो सामाजिक उपलब्धियों को अंकित तथा सामाजिक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं। जीवन की उपादेयता में इसका इतना बड़ा महत्त्व है कि निरक्षरता तथा शिक्षा-हीनता प्रायः परस्पर पर्यायवाची शब्द हो गए हैं—अर्थात् जो पढ़ा-लिखा नहीं, उसे ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

विद्यालय में इस विशेष साधन पर अधिक बल देने से ऐसी हानियां हैं, जो सैद्धान्तिक न होकर आभ्यासिक हैं। क्या कारण है कि शिक्षक द्वारा शिक्षा को घोंट कर पिलाए जाने और बालक द्वारा निष्क्रिय रूप से ग्रहण किए जाने के स्वरूप को सार्वभौम रूप से दोषयुक्त करार दिए जाने के बावजूद भी इसका अभ्यास तथा प्रयोग चलता आ रहा है? शिक्षा एक 'कथ्य' तथा 'श्रव्य' प्रक्रिया मात्र नहीं है, बल्कि एक विधेयात्मक प्रक्रिया है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसे सिद्धान्त रूप में जितना अधिक महत्त्व दिया जाता है, अभ्यास में इसका उतना ही उल्लंघन होता है। इस शोचनीय स्थिति का कारण यह तथ्य नहीं है कि यह सिद्धान्त स्वयं, मात्र कथन द्वारा व्यक्त किया जाता है—उपदेश देकर, व्याख्यान देकर तथा लिख कर इसे बताया जाता है; लेकिन इसके कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय के वातावरण को क्रियात्मक साधनों, उपकरणों, भौतिक सामग्रियों आदि से पूरी तरह सुसज्जित किया जाय। शिक्षा-प्रणाली तथा पाठशाला-प्रबंध में बालकों का वस्तुओं से प्रत्यक्ष सतत सम्पर्क स्थापित करने के लिए परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि भाषा को शिक्षा-साधन के रूप में कम महत्त्व दिया जाय, बल्कि यह है कि वास्तविक क्रियाओं के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ कर इसे अधिक सजीव तथा फलप्रद बनाया जाय। विद्यालय के

लिए ये बातें सामूहिक तथा सहयोगी क्रियाओं को संभव बनाने के लिए आवश्यक उपकरण जुटाने का उपक्रम करने का अर्थ देती हैं।

विद्यालय जब वाह्य वातावरण की शिक्षात्मक अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, तब वे केवल किताबी अथवा बौद्धिकतापूर्ण ज्ञान को सामाजिक ज्ञान का साधन बनाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बच्चे विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं; किन्तु अभी यह सिद्ध नहीं किया जा सका है कि सफल शिक्षा बिलकुल भिन्न प्रकार का एक अलग सचेतन व्यापार है। जहाँ शिक्षा को इस प्रकार का व्यापार समझना सामाजिक ज्ञान-प्राप्ति में बाधक है--जो कि सर्वनिष्ठ महत्त्व की क्रियाओं में भाग लेने से ही उत्पन्न होता है--वहाँ पृथक् बौद्धिक अध्ययन अपने निज के उद्देश्य का ही विरोधी है। व्यक्ति में अपने-आप, पृथक् रूप से ऐन्द्रिक उत्तेजना तथा केशीय प्रतिक्रिया अथवा सहज क्रियाएँ प्राप्त की जा सकती हैं; किन्तु वह उस जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं का, जिसका वह स्वयं एक अंग होता है, अर्थ नहीं जान सकता। हम इस प्रकार वनस्पति-शास्त्र, लैटिन भाषा, अथवा बीजगणित में प्रविधिक, विशिष्ट योग्यता भले प्राप्त कर लें; किन्तु उपादेय उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर निर्देशित करने वाला ज्ञान नहीं पा सकते। सामूहिक क्रिया में सम्मिलित होकर ही, जहाँ एक व्यक्ति के वस्तुओं तथा उपकरणों के सचेतन प्रभाव और दूसरों के अपनी शक्तियों तथा उपकरणों के उपयोग में सम्बन्ध स्थापित होता है, वहीं संस्कार-निर्माण के लिए सामाजिक निर्देश की प्राप्ति संभव है।

अध्याय का सारांश

बालक की सहज अथवा जन्मजात प्रवृत्तियाँ उस समाज के जीवन-व्यापार के अनुकूल नहीं होतीं, जिसमें वह उत्पन्न होता है; अतएव इसके लिए मार्ग-दर्शन अथवा निर्देश की आवश्यकता पड़ती है। यह नियंत्रण भौतिक नियंत्रण की तरह का नहीं होता। यह समय-विशेष में क्रियाशील प्रवृत्तियों को एक निश्चित उद्देश्य की ओर केन्द्रित कर देता है। और क्रियाओं की विच्छिन्न धारा को एक क्रमागत रूप दे देता है। दूसरों के क्रिया-कलाप सदैव उन उद्दीपनों पर निर्भर रहते हैं, जो क्रिया को जाग्रत करते हैं। किन्तु, विधि, निषेध, अनुमोदन अथवा अवरोध के माध्यम से उद्दीपन, व्यक्तियों द्वारा क्रिया को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने के लिए उपलब्ध होते हैं। चूँकि इस दशा में हम दूसरों की क्रियाओं के नियंत्रण के प्रति अधिक जागरूक

होते हैं, अतः इस प्रकार के नियंत्रण के महत्त्व को अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्थाई विधियों से बढ़कर समझते हैं। मौलिक नियंत्रण उन परिस्थितियों के स्वरूप में निहित है, जिनमें बालक भाग लेता है। सामाजिक परिस्थितियों में बच्चों को अपनी कार्य-विधि का दूसरों की विधि से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। इससे उनकी क्रिया एक सर्वनिष्ठ लक्ष्य की ओर निर्देशित हो जाती है और उन्हें अपने सहयोगियों की सह-भावना का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि अलग-अलग कार्य करते रहने पर भी उन सभी का लक्ष्य एक ही होता है। क्रियाओं के साध्य और साधन का यह सर्वनिष्ठ ज्ञान ही सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य तत्त्व है। यह सीधा तथा वैयक्तिक न होकर अप्रत्यक्ष, भावात्मक (संवेगात्मक) तथा बौद्धिक होता है। यह दमनात्मक तथा बाह्य न होकर व्यक्ति के संस्कारों के लिए तात्त्विक होता है। शिक्षा का कार्य अभिरुचि तथा अभिज्ञान के तादात्म्य द्वारा आन्तरिक नियंत्रण प्रस्तुत करना है। यद्यपि पुस्तकें, वार्तालाप तथा उपदेश काफी हद तक शिक्षा में सहायक सिद्ध होते हैं; लेकिन साधारणतः इन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। विद्यालयों को, पूर्ण प्रभाव प्राप्त करने के लिए, शिक्षार्थियों को कार्य करने के लिए सामूहिक क्रिया का वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे उन्हें प्रयुक्त उपकरणों तथा साधनों और अपनी ही शक्तियों द्वारा सामूहिक भावना का ज्ञान प्राप्त हो सके।

४

शिक्षा : विकास के रूप में

विकास की परिस्थितियाँ

बालक के क्रिया-कलापों का निर्देशन करने में समाज बालक का भविष्य सुनिश्चित करके स्वयं अपना भविष्य सुनिश्चित करता है। चूँकि कुछ दिनों बाद एक निश्चित समय पर बालक उस समय के समाज के निर्माण में हाथ बटाएगा, अतः समाज का रूप-परिवर्तन बहुत कुछ उन्हीं निर्देशों के आधार पर होगा, जो पहले बच्चे के क्रिया-कलापों के दिशा-निर्देश के लिए दिए गए होते हैं। एक भावी परिणाम की ओर संचालित क्रिया की वर्द्धमान गति से ही विकास का अर्थ लिया जाता है।

अवयस्कता, विकास की प्रथमावस्था है। यह कथन, मात्र एक स्वयंसिद्धि है कि कोई भी प्राणी केवल उन्हीं क्षेत्रों में विकास कर सकता है, जिनमें वह अविकसित है। लेकिन, अवयस्कता शब्द के उपसर्ग 'अ' का अर्थ किसी विधेयात्मक वस्तु से है। केवल अभाव अथवा हीनता से नहीं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'क्षमता' और 'संभाव्यता' पद दो अर्थ रखने वाले हैं, एक निषेधात्मक, दूसरा विधेयात्मक। किसी द्रव पदार्थ नापने के बर्तन की क्षमता के समान 'क्षमता' का अर्थ ग्रहणशीलता से भी लिया जा सकता है। 'संभाव्यता' से हम सुषुप्त तथा निष्क्रिय अवस्था का अर्थ ले सकते हैं, अर्थात् किसी बाह्य प्रभाव से एक भिन्न वस्तु बन सकने की क्षमता समझ सकते हैं। लेकिन, क्षमता से हमारा तात्पर्य योग्यता तथा शक्तिमत्ता और 'संभाव्यता' से सामर्थ्य तथा शक्ति भी होता है। अब जब हम कहते हैं कि अवयस्कता का अर्थ विकास की संभावना है, तो हम किसी भावी शक्ति की अनुपस्थित की चर्चा नहीं करते ; बल्कि हम पूर्ण रूप से उपस्थित एक शक्ति अर्थात् विकास की योग्यता की बात कहते हैं।

अवयस्कता को केवल अभाव तथा विकास को अवयस्क तथा वयस्क के बीच की कड़ी मानने की हमारी प्रवृत्ति का कारण बचपन के सम्बन्ध में तात्त्विक के स्थान पर तुलनात्मक धारणा है। वयस्कता को एक निश्चित प्रतिमान मान कर इसकी नाप-जोख करने के कारण ही हम इसे एक अभाव

के रूप में ग्रहण करते हैं। इससे हमारा ध्यान बालक की उन न्यूनताओं की ओर केन्द्रित हो जाता है, जो उसके पूर्ण मनुष्य बनने के पूर्व पूरी नहीं हो सकतीं। कुछ प्रयोजनों के लिए यह तुलनात्मक विचार पर्याप्त न्याय-संगत है ; लेकिन यदि इसे अन्तिम मान लें, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या हम एक अतिवादी पूर्व-धारणा बनाने के दोषी नहीं है, यदि बच्चे अपने-आप को मुखर तथा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से व्यक्त कर पाते, तो वे एक भिन्न प्रकार की कहानी कहते। कुछ उच्चकोटि के विद्वानों की धारणा है कि वयस्कों को कुछ नैतिक तथा बौद्धिक प्रयोजनों के लिए बच्चों के समान बनना चाहिए।

अवयस्कता के निषेधात्मक गुणों को मान बैठने की गंभीरता तब स्पष्ट होती है, जब हम यह सोचते हैं कि यह आदर्श तथा प्रतिमान के रूप में एक परिनिष्ठित अन्त का विधान करता है। विकास की परिसमाप्ति का अर्थ पूर्ण विकास लिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विकास-हीनता से ऐसी वस्तु समझा जाता है, जो विकास न कर रही हो। इस मान्यता की निरर्थकता इस तथ्य में देखी जा सकती है कि प्रत्येक वयस्क, विकास की संभावना न रह जाने के आक्षेप का विरोध करता है और इसे शक्ति की यथेष्ट अभिव्यक्ति का सूचक न समझ कर, जहाँ तक वह उससे सम्बन्धित होता है, अपने लिए ह्रास-सूचक समझ कर उस पर दुखी होता है। फिर बालक और वयस-प्राप्त मनुष्य के लिए अलग-अलग मानदण्ड क्यों ?

आपेक्षिक के स्थान पर परम समझ लेने पर अवयस्कता एक विधेयात्मक शक्ति या योग्यता अर्थात् विकास करने की शक्ति का द्योतन करती है। हमें कुछ अन्य शिक्षा-सिद्धान्तों की भाँति बालक में विधेयात्मक शक्तियाँ पैदा करना या उन्हें उसके अन्दर से बाहर निकालना नहीं है। जिसमें जीवन होता है, उसमें अपने-आप विकास के लिए उत्सुक तथा आवेगपूर्ण क्रियाएँ वर्तमान रहती हैं। विकास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उनके लिए किया जाता हो ; बल्कि ऐसी वस्तु है, जिसे वे स्वयं करते हैं। संभावना के विधेयात्मक तथा क्रियात्मक पक्षों से हमें अवयस्कता की दोनों प्रमुख धाराओं, निर्भरता तथा नमनीयता को समझाने का गुर मिल जाता है। (१) निर्भरता को एक विधेयात्मक वस्तु कहना हास्यास्पद है और उसे शक्ति कहना तो और भी हास्यास्पद है। यदि निर्भरता में असहायता ही सब कुछ है, तो विकास कभी भी संभव नहीं हो सकता। एक शक्ति-हीन व्यक्ति हमेशा दूसरों द्वारा आगे बढ़ाया जाता रहेगा। यह तथ्य कि निर्भरता, योग्यता में विकास के साथ

सहगमित होती है न कि निरन्तर बढ़ती जाने वाली परोपजीविता से, बतलाता है कि यह स्वयं एक रचनात्मक वस्तु है। सदैव दूसरों की शरण में पड़े रहने से विकास की प्रगति संभव नहीं। क्योंकि (२) इससे शक्ति-हीनता के चारों ओर केवल एक प्राचीर का निर्माण ही संभव हो सकेगा। जहाँ तक भौतिक संसार का सम्बन्ध है, बच्चा असहाय होता है। जन्म ग्रहण करने के समय तथा उसके पश्चात् भी एक दीर्घकाल तक उसमें, अपने-आप जीवन-निर्वाह करने के लिए, भौतिक रूप से अपना मार्ग बनाने की शक्ति का अभाव रहता है। यदि उसे यह सब स्वयं करना हो, तो वह मुश्किल से एक घंटा जीवित रह सकेगा। इस ओर उसकी असहायता लगभग सम्पूर्ण होती है। इस क्षेत्र में पशुओं के बच्चे उससे कहीं अधिक बढ़ कर होते हैं। शारीरिक रूप से वह निर्बल होता है और वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने की अपनी शक्ति का उपयोग कर सकने में भी समर्थ नहीं होता।

(१) गम्भीर रूप से परिव्याप्त यह असहायता की वृत्ति किसी क्षतिपूरक शक्ति की ओर संकेत करती है। पशु-प्राणियों के बच्चों में छोटी अवस्था में ही भौतिक परिस्थितियों के साथ अच्छी तरह समायोजन स्थापित कर लेने की आपेक्षिक योग्यता इस बात की ओर संकेत करती है कि उनका जीवन उनके आस-पास के लोगों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध नहीं है; बल्कि यह कहना पड़ता है कि उनके इस प्रकार के शारीरिक गुणों से युक्त रहने का कारण यह है कि उनमें सामाजिक गुणों का अभाव रहता है। दूसरी ओर मानव शिशु में सामाजिक क्षमताओं के कारण ही शारीरिक क्षमताओं का अभाव रहता है। कभी-कभी हम ऐसा कहते तथा सोचते हैं कि वे केवल भौतिक रूप से सामाजिक वातावरण में निवास करते हैं, जैसे कि सामाजिक शक्तियाँ केवल वयस्क जनों में ही निवास करती हैं, जो उनकी देख-भाल करते हैं, और वे निरपेक्ष ग्रहणकर्ता होते हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि बच्चे स्वयं अद्‌भुत ढंग से अपनी आवश्यकताओं की ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं, तो यह बात को कहने का दूसरा ढंग समझ लिया जायगा कि दूसरे लोग बच्चों की आवश्यकताओं के प्रति अद्‌भुत रूप से सावधान रहते हैं। लेकिन, निरीक्षण से पता चलता है कि बच्चों में सामाजिक सम्पर्क-प्राप्ति की शक्तियाँ तथा गुण उपस्थित रहते हैं। कुछ वयस-प्राप्त लोगों में भी बच्चों की तरह अपने आस-पास के लोगों की मनोवृत्तियों तथा कार्यों से सहानुभूतिपूर्ण ढंग से प्रभावित होने की, नमनीयता तथा संवेदनशीलता की

योग्यता बनी रहती है। भौतिक वस्तुओं की ओर ध्यान न देने (उन्हें नियंत्रित कर सकने की क्षमता न रहने पर) से लोगों के कार्यों के प्रति अभिरुचि तथा ध्यान में आनुपातिक वृद्धि होती है। बच्चे का जन्मजात ढाँचा तथा उसकी मूल प्रवृत्तियाँ आदि सभी उसे सहज सामाजिक प्रतिचार की ओर ले जाती हैं। यदि यह कहना सच होता कि बच्चा, किशोरावस्था के पूर्व अहंभाव से निज में ही केन्द्रित रहता है, तब भी उपर्युक्त कथन के सत्य से इसका विरोध न होता। इससे केवल यह व्यक्त होता है कि उनकी सामाजिक प्रतिभावना उनका अपना प्रतिनिधित्व करने में संलग्न रहती है, यह नहीं कि उनमें यह होती ही नहीं। लेकिन, वास्तव में यह कथन सत्य नहीं है। बालकों के तथाकथित विशुद्ध अहंभाव के पक्ष में जो तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, वे उनकी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रत्यक्षता तथा गहनता को ही व्यक्त करते हैं। यदि उस लक्ष्य के निर्णायक परिणाम, वयस्क जनों को संकुचित तथा स्वार्थपूर्ण लगते हैं, तो इसका कारण यह है कि वयस्क जन (अपने बचपन के दिनों में इसी प्रकार) इन परिणामों को प्राप्त कर चुके हैं; अतः इनमें उनकी रुचि नहीं रह गई है। बच्चों के तथाकथित जन्मजात अहंभाव के अवशेष का अधिकांश वही अहंभाव होता है, जो वयस्क जनों के अहंभाव के विरुद्ध जाता है। एक ऐसे वयस्क व्यक्ति के लिए, जो अपने निज के कार्य-व्यापारों में इतना तल्लीन रहता है कि बच्चों के मामलों में रुचि नहीं ले सकता, बच्चे निःसन्देह अविवेकपूर्ण ढंग से आत्मलीन दिखाई देंगे।

सामाजिक दृष्टि से निर्भरता, हीनता के स्थान पर एक शक्ति की परिचायक है। इसमें पारस्परिक निर्भरता का भाव सन्निहित है। बढ़ी हुई वैयक्तिक स्वतन्त्रता से सदैव व्यक्ति की सामाजिक क्षमता के ह्रास का भय रहता है। व्यक्ति को अधिक आत्म-विश्वासी बना कर, उसे अधिक आत्म-निर्भर बनाया जा सकता है; लेकिन इससे उसमें निरपेक्षता तथा उपेक्षा का भाव भी आ सकता है। इससे प्रायः व्यक्ति दूसरों के सम्बन्ध में इतना असंवेदनशील हो जाता है कि उसके मन में यह भाव जागृत हो जाता है कि वह वास्तव में दुनिया में अकेले खड़ा हो सकता है और अपना कार्य अपने-आप चला सकता है। यह एक ऐसे अनाम पागलपन का भाव है, जो संसार के अधिकांश परिहार्य कष्टों के लिए उत्तरदायी है।

(२) विकास के लिए समायोजन की विशेष योग्यता एक अवयस्क प्राणी के नमनीयता के गुण का निर्माण करती है। यह मोम आदि की नमनीयता से बिल्कुल

भिन्न प्रकार की वस्तु है। यह वाह्य प्रभावों के अनुसार आकार परिवर्तन की क्षमता नहीं है। यह उस सहज नमनीयता से मिलती-जुलती है, जिसमें लोग अपने आसपास की वस्तुओं का रंग ग्रहण कर लेने पर भी अपना निजत्व बनाए रखते हैं ; बल्कि यह उससे भी गंभीर वस्तु है। वास्तव में यह अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता है। यह अनुभवों से प्राप्त उन वस्तुओं को बनाए रखने की शक्ति है, जो आगे चलकर कठिन परिस्थितियों में काम आ सकती है। इसका अर्थ पूर्व-अनुभवों से प्राप्त परिणामों के आधार पर अपनी क्रियाओं का परिष्कार करने की शक्ति अर्थात् प्रतिचारों के विकास की शक्ति है। इसके बिना आदतों का उपार्जन असंभव है।

यह एक सुपरिचित तथ्य है कि उच्चश्रेणी के जीवधारियों के बच्चों, विशेष रूप से मनुष्यों के बच्चों को अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं का उपयोग करना सीखना पड़ता है। मानव-प्राणी अन्य जीवधारियों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर पैदा होता है। लेकिन अन्य निम्नश्रेणी के जीवधारियों की मूल प्रवृत्तियाँ जन्म के थोड़ी ही देर बाद कार्य करने के लिए अपने-आप को सक्षम बना लेती हैं, जब कि मानव-शिशु की मूल प्रवृत्तियाँ बहुत दिनों तक काम नहीं दे पातीं। सामंजस्य-स्थापन की विशिष्टता-प्राप्त मूल शक्ति यद्यपि तत्काल कार्य-क्षमता प्राप्त कर लेती है ; लेकिन यह रेल के टिकट की तरह केवल एक ही ओर की यात्रा के लिए उपयोगी है। एक ऐसा प्राणी, जिसे अपनी आँख, कान, हाथ पैर आदि विविध समन्वित प्रतिक्रियाओं के लिए प्रयोग करने पड़ते हैं, वह उन पर नमनीय तथा वैविध्यपूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए मुर्गी का बच्चा अण्डे निकलने के कुछ घंटे बाद ही ठीक रूप से भोजन के टुकड़े पर चोंच मारता है। इसका अर्थ है क्रियाओं का निश्चित सहयोग, अर्थात् यह आँखों से देखने और शरीर तथा चोंच से ठीक जगह पर प्रहार करने में कुछ ही प्रयासों में सफल हो जाता है। एक शिशु को ठीक से देखने की क्षमता प्राप्त करने में लगभग छः महीने लग जाते हैं, यह उसकी दृष्टि तथा क्रिया के योग से होता है, अर्थात् वह देखी हुई वस्तु तक पहुँच सकता है या पहुँचने की क्रिया सम्पन्न कर सकता है। फलस्वरूप मुर्गी का बच्चा अपनी मौलिक देन की आपेक्षिक पूर्णता से परिसीमित रहता है। शिशु को अनेक प्रयत्नात्मक प्रक्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित अनुभवों की सुविधा रहती है, यद्यपि उसे यह अस्थाई असुविधा भी रहती है कि वे एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं। प्रस्तुत रूप में प्राप्त करने की अपेक्षा किसी

क्रिया को स्वयं करके सीखने से, परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के संयुक्त रूप देने के लिए उसके विभिन्न तत्वों की विभिन्नताओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस बात से सतत विकास की संभावना का मार्ग खुल जाता है कि एक क्रिया करना सीख लेने से वे ढंग विकसित हो जाते हैं, जिनका उपयोग अन्य परिस्थितियों में किया जा सकता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार मानव-प्राणी सीखने की आदत प्राप्त कर लेता है। वह सीखने की शिक्षा ग्रहण कर लेता है।

मानव जीवन में निर्भरता एवं परिवर्तनशील नियंत्रण के महत्त्व का सारांश "दीर्घ-कालीन शैशवावस्था का महत्त्व[1]" के सिद्धान्त में प्रस्तुत किया गया है। यह दीर्घीकरण समुदाय के वयस्क सदस्यों और साथ ही बच्चों, दोनों के ही दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। आश्रित तथा शिक्षा ग्रहण करने वाले लोगों की उपस्थिति, पालन-पोषण तथा वात्सल्य का भाव जगाने के लिए उद्दीपन का कार्य करती है। सम्भवतः सतत देख-रेख की आवश्यकता ही, अस्थाई सह-निवास को स्थाई संगठन के रूप में बदलने का मुख्य साधन थी। स्नेह तथा सहानुभूतिपूर्ण ढंग से दूसरों की देख-रेख करने की आदत बनाने में इसका निश्चित रूप से प्रमुख हाथ था। परस्पर सम्बद्ध जीवन के लिए रचनात्मक रूप से दूसरों की शुभचिन्तना करना, अत्यन्त अनिवार्य वस्तु है। बौद्धिक रूप से इस नैतिक विकास का अर्थ, ध्यान आकर्षित करने वाले अन्य विषयों को प्रस्तुत करना है। इसने पूर्व-दृष्टि तथा भविष्य के लिए योजना-निर्माण की प्रवृत्ति जाग्रत की। इस प्रकार इसमें एक पारस्परिक प्रभाव है। क्रमशः सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई संश्लिष्टता को आवश्यक क्षमताओं की उपलब्धि के लिए अधिक समय तक रहने वाले बचपन की आवश्यकता पड़ती है। निर्भरता के इस दीर्घीकरण का अर्थ नमनीयता का दीर्घीकरण या परिवर्तनशील तथा विशिष्ट प्रकार के नियंत्रण की प्राप्ति है। अतएव यह सामाजिक विकास को और आगे की ओर उन्मुख करता है।

---

१ वैसे इसका उल्लेख अनेक लेखकों ने किया है; किन्तु इसका प्रथम विस्तृत विवेचन जॉन फिस्क के ग्रन्थ "एक्सकर्शन्स ऑफ़ एन इवोल्यूशनिस्ट" में ही हुआ है।

आदतें : विकास की अभिव्यक्ति के रूप में

हम देख चुके हैं कि नमनीयता, पहले अनुभव की गई बातों को—जो हमारी भावी क्रियाओं को परिष्कृत करती हैं—बनाए रखने एवं आगे बढ़ाने की क्षमता है। यह आदतें बनाने की क्षमता अथवा निश्चित संस्कारों को विकसित करने की परिचायक है। अब हमें आदतों की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करना है। सब से पहले आदत, कार्य-क्षमता की निष्पादक निपुणता का एक रूप है। आदत का अर्थ लक्ष्य-प्राप्ति के लिए स्वाभाविक परिस्थितियों को साधन रूप में प्रयुक्त करने की योग्यता है। यह क्रिया-निष्पादक अंगों के नियंत्रण के माध्यम से वातावरण का सक्रिय नियंत्रण है। वातावरण पर नियंत्रण करने के लिए हमें शरीर पर नियंत्रण करने पर बल देना होगा। हम टहलने, बात-चीत करने, पियानो बजाने या बर्तन पर नक्काशी करने वालों, शल्य-चिकित्सकों, पुल बनाने वालों की विशिष्ट निपुणताओं के विषय में ऐसा सोचते हैं, जैसे कि ये गुण उन व्यक्तियों के शारीरिक अंगों की सहजता, कुशलता तथा परिशुद्धि मात्र हैं। उनके ऐसा होने में सन्देह नहीं है; किन्तु इन गुणों का मूल्य वातावरण के मितव्ययितापूर्ण प्रभावशाली नियंत्रण से आँका जा सकता है। टहल सकने के योग्य होने का अर्थ है कि प्रकृति के कुछ गुण हमारे वश में हैं, इसी प्रकार अन्य आदतें भी हैं।

कभी-कभी शिक्षा की परिभाषा व्यक्ति तथा उसके वातावरण के सामंजस्य स्थापन पर प्रभाव डालने वाली आदतों के अर्जन के रूप में नहीं की जाती। यह परिभाषा, विकास की अनिवार्य अवस्था की अभिव्यक्ति करती है; किन्तु यह आवश्यक है कि सामंजस्य-स्थापन को, लक्ष्य-प्राप्ति के साधन को निमंत्रित करने के सक्रिय अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। यदि हम इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए कि यह परिवर्तन वातावरण में उपयुक्त परिवर्तन लाने की योग्यता रखता है, आदत को व्यक्ति के क्रिया-कलाप में उत्पन्न एक परिवर्तन समझ लें, तो हम 'उपयुक्त बनाने' को 'वातावरण के अनुकूल परिवर्तन' कहने को विवश हो

जायँगे, जैसे मोम, दबाने वाली मुहर के अनुरूप अपना स्वरूप बदल लेता है। वातावरण को एक परिनिष्ठित वस्तु के अर्थ में ग्रहण किया जाता है और इसकी परिनिष्ठता में ही व्यक्ति की क्रियाओं के परिवर्तन के लक्ष्य तथा प्रतिमान निहित होते हैं। सामंजस्य स्थापन का अर्थ अपने-आप को वाह्य परिस्थितियों[1] की इसी परिनिष्ठता के उपयुक्त बना लेना है। 'अभ्यस्तता' के रूप में ग्रहण करने पर आदतें निष्क्रिय प्रतीत होती हैं। हम अपने चारों ओर की वस्तुओं—अपने वस्त्रों, जूतों, दस्तानों आदि का वातावरण के अनुकूल उपयोग करते हैं, जब तक यह हमारे उपयुक्त रहता है और इस प्रकार हम अपने नित्य सम्पर्क में आने वालों के अभ्यस्त हो जाते हैं। अपने चारों ओर की वस्तुओं को परिष्कृत करने की योग्यता के सम्बन्ध में बिना किसी जागरूकता के अपने-आप को वातावरण के उपयुक्त बना लेने की क्षमता प्राप्त कर लेना, इस प्रकार की अभ्यस्तता की प्रमुख विशेषता है। इस तथ्य को छोड़ कर कि हमें इस प्रकार के सामंजस्य-स्थापन की विशेषताओं को (जिन्हें सक्रिय सामंजस्य-स्थापन से पृथक् करने के लिए हम निर्वाहोपयुक्तता कह सकते हैं) अपने वातावरण के सक्रिय उपयोग की आदतों के रूप में आगे बढ़ाने का अधिकार नहीं है। अभ्यस्तता के दो तत्त्व ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि हम पहले वस्तुओं का उपयोग करके ही उनके उपयोग के योग्य होते हैं।

एक अपरिचित नगर का अभ्यस्त होने पर विचार करो। सर्वप्रथम वहाँ अत्यधिक उद्दीपन तथा अत्यधिक कुसमायोजित प्रतिचार होंगे। धीरे-धीरे अपनी सार्थकता के कारण कुछ विशेष उद्दीपन चुन लिए जाते हैं और शेष की उपेक्षा कर दी जाती है। हम कह सकते हैं कि या तो हम उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते, या यह कहना अधिक सत्य होगा कि हमने उनके प्रति एक स्थाई प्रतिचार का अर्जन करके समायोजन का सन्तुलन स्थापित कर लिया है। दूसरी ओर इसका अर्थ यह हुआ कि यह स्थाई समायोजन एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रदान करता है, जिससे परिस्थितियों के अनुकूल विशिष्ट सामंजस्य स्थापित किए जा सकते हैं। हम यह कभी नहीं चाहते कि 'सम्पूर्ण' वातावरण में ही परिवर्तन उपस्थित कर दिया जाय, उसमें बहुत कुछ ऐसा होता है, जिसे प्रामाणिक

---

१ यह विचार पिछले अध्याय में विवेचित 'उद्दीपन एवं प्रतिचार' और प्रस्तुत अध्याय में वर्णित 'अवयस्कता तथा नम्यता' की नास्त्यात्मक धारणाओं का तार्किक सहगामी है।

मानकर हम ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लेते हैं। इस पृष्ठभूमि को आधार मानकर हमारी क्रियाएँ कुछ सुनिश्चित विन्दुओं को अपना लक्ष्य बनाती हैं, जिससे अपेक्षित परिवर्तन किए जा सकें। इस प्रकार आदी होना अपने-आप को उन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना हैं, जिनमें हम तत्काल कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते और जो हमारी क्रियात्मक आत्मा को सुविधा ही प्रदान करती हैं।

समायोजन, वातावरण को हमारी क्रियाओं के उतना ही उपयुक्त बनाना है, जितना हमारी क्रियाओं को वातावरण के। एक जंगली जाति रेगिस्तानी मैदान में रहने की व्यवस्था करती है। यह अपने-आप को उसके अनुरूप बना लेती है; किन्तु इस समायोजन में ग्रहण, स्वीकृत सहनशीलता तथा वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने—अर्थात् निष्क्रिय अर्जन का अंश अधिकतम तथा उपयोग की वस्तुओं के सक्रिय नियंत्रण का अंश न्यूनतम होता है।

एक सुसभ्य जाति यदि उसी परिस्थिति में आती है, तो वह भी वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करती है। यह वहाँ पर कृषि की व्यवस्था करती है, यह ऐसे पेड़-पौधों और पशुओं की तलाश करती है, जो इस प्रकार की परिस्थितियों में फल-फूल सकें और जो कुछ वहाँ पर उपलब्ध होता है, उसे सतर्क प्रवरण द्वारा सुधारने की चेष्टा करती है। परिणाम-स्वरूप वन-कुसुम पाटल-पुष्प बनकर खिल उठता है। जंगली लोग उन परिस्थितियों के आदी बन गए होते हैं और सुसभ्य लोगों के पास ऐसी आदतें होती हैं, जो वातावरण को ही परिवर्तित कर देती हैं। आदत का महत्त्व इसके कार्य-निर्वहण तथा यांत्रिक स्थिति तक ही सीमित नहीं है। इसका अर्थ बौद्धिक तथा संवेगात्मक संस्कारों के निर्माण के साथ-साथ सुगमता, मितव्ययिता तथा कार्यक्षमता की वृद्धि है। प्रत्येक आदत का किसी-न-किसी ओर झुकाव होता है—अर्थात् इसके सम्पादन से सम्बन्धित परिस्थितियों के प्रति एक सक्रिय अधिमान्यता तथा पसंद होती है। आदत किसी ऐसे उद्दीपन की प्रतीक्षा नहीं करती, जो इसे सक्रिय बनाए; बल्कि यह सक्रिय रूप से ऐसे अवसरों की तलाश करती है, जिनमें यह पूरी तरह क्रियाशील हो सके। यदि, इसकी अभिव्यक्ति को अनुचित रूप से अवरुद्ध कर दिया जाय, तो एक प्रकार की उद्विग्नता तथा प्रबल लालसा की स्थिति उपस्थित हो जाती है। आदत एक मानसिक संस्कार की अभिव्यक्ति करती है। जहाँ कोई आदत होती है, वहाँ उस सामग्री तथा साधन से परिचय भी रहता है, जिसके साथ क्रिया का संप्रयोग होता है। उन परिस्थितियों को समझने का एक सुनिश्चित ढंग है, जिनमें आदत क्रियाशील होती है। विचार, पर्यवेक्षण तथा

चिंतन की प्रणालियाँ कौशल तथा आकांक्षा के रूप में आदतों में प्रवेश करती हैं, जो किसी भी व्यक्ति को इंजीनियर, वास्तुशास्त्री, चिकित्सक या व्यापारी बनाती हैं। श्रम के कौशल-हीन रूपों में बौद्धिक तत्त्व अत्यंत न्यून तथा संक्षिप्त होते हैं; क्योंकि उनमें संलग्न आदतें उच्च श्रेणी की नहीं होतीं। किन्तु, कारण-ज्ञान-संबंधी आदतें भी उतने ही सत्य रूप में होती हैं, जितनी कि किसी औजार को चलाने, चित्र बनाने या किसी प्रयोग के संचालन की।

उक्त प्रकार के कथन कुछ अपूर्ण कथन-से हैं। आंख तथा हाथ से संबंधित आदतों में संलग्न मस्तिष्क की आदतें उन्हें उनके महत्व की सूचना देती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आदत में निहित बौद्धिक तत्त्व आदत का संबंध विविध तथा नमनशील उपयोगों से सुनिश्चित कर देता है। इस प्रकार सतत संवर्द्धन होता रहता है। हम सुनिश्चित आदतों की बात कहते हैं। इस कथन का अर्थ ऐसी सुनिश्चित शक्तियों से है, जिन्हें धारण करने वाला व्यक्ति हमेशा आवश्यकता पड़ने पर साधन के रूप में उनका उपयोग कर सके। किन्तु, इस कथन का अर्थ घिसा-घिसाया कार्यक्रम-निबद्ध ऐसा ढंग भी तो हो सकता है, जिसमें नवीनता, मानसिक विमुक्तता तथा मौलिकता का अभाव हो। आदत के सुनिश्चय का अर्थ बजाए इसके, कि हमारा चीजों पर स्वतंत्र अधिकार है, यह भी तो हो सकता है कि किसी वस्तु का हमारे ऊपर निश्चित अधिकार है। यह तथ्य आदतों के विषय में एक उभयनिष्ठ धारणा में दो बातों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। एक तो मानसिक तथा नैतिक मनोवृत्तियों की उपेक्षा कर यान्त्रिक तथा वाह्य कार्यों के रूप से उनका तादात्म्य, तथा दूसरे उन्हें बुरा अर्थ देने की मनोभावना, अर्थात् बुरी आदतों से तादात्म्य। बहुत-से व्यक्ति अपने चुने हुए व्यवसाय में रुचि रखने के कारण इसे आदत सुनकर आश्चर्य करेंगे तथा अपने तम्बाकू, मादक पेयों (शराब) अथवा गन्दी भाषा के प्रयोग को आदत के विशिष्ट अर्थ में पाएंगे। आदत उनके लिए एक ऐसी वस्तु है, जो उन पर अपना अधिकार रखती है तथा यदि न्याय उसे बुरा भी कहे, तो भी वे उसे आसानी से छोड़ नहीं सकते।

आदतें कार्य करने के यान्त्रिक ढंगों में बदल जाती हैं, अथवा उस प्रकार की कार्यप्रणालियाँ बन जाती हैं, जिनके वश में हम उतने ही हो गए हैं, जितनी कि बुद्धि उनसे असम्बद्ध है। कार्यक्रमिक आदतें, अविचारपूर्ण आदतें हैं, "बुरी आदतें" विवेक से इतनी दूर होती हैं कि वे सचेष्ट विचार तथा निर्णय के निष्कर्षों के विरुद्ध हो जाती हैं। जैसा कि हमने देखा है, आदतें हमारे अपने

स्वभाव की मौलिक नमनीयता के कारण ही अर्जित होती हैं। इसका कारण, जब तक हम कार्य करने के उपयुक्त तथा कुशल ढंग नहीं पा जाते, तब तक प्रतिचारों को बदलते रहने की योग्यता है। कार्यक्रमिक आदतें तथा ऐसी आदतें, जिन पर हमारा अधिकार नहीं होता, बल्कि जो हमी पर अधिकार रखती हैं, ऐसी आदतें हैं, जो हमारी नमनशीलता को समाप्त कर देती हैं। उनसे प्रतिचारों को बदलने की शक्ति के अन्त का बोध होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आंगिक नम्यता की क्षमता जो हममें होती है तथा जिसका आधार शारीरिक है, उम्र के बढ़ने के साथ खतम होती जाती है। बाल्यावस्था के मूलप्रवृत्यात्मक रूप से गतिशील तथा उत्सुकतापूर्वक परिवर्तित होने वाले कार्य, तथा नवीन उद्दीपनों और नवीन विकासों का प्रेम बड़ी आसानी से निश्चयात्मक रूप में आ जाता है। जिसका अर्थ यह होता है कि परिवर्तन के प्रति घृणा तथा पूर्व अर्जित व्यवहारों पर ही स्थिर रह जाना होता है। केवल वही वातावरण, जिसमें आदतों के बनने के लिए बुद्धि का प्रयोग होता है, इस धारणा को रोक सकता है। निःसन्देह यही भौतिक कठिनाई, जो शारीरिक दशाओं को कसती है, विचार में आने वाले आंगिक अवयवों पर भी प्रभाव डालती है। किन्तु, यह तथ्य केवल यह प्रकट करता है कि सदैव यह ध्यान रखा जाय कि बुद्धि की क्रिया अपनी अधिकतम संभावना की ओर प्रेरित हो रही है। अदूरदर्शी ढंग, जो यान्त्रिक कार्यक्रम-प्रणाली तथा आदत द्वारा बाह्य कार्यों को कुशलतापूर्वक करने के लिए पुनरावृत्ति, और शारीरिक कुशलता पर बिना विचार के साहचर्य्य पर जोर देता है, निश्चित ही विकास पर वातावरण का पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार करता है।

विकास की धारणा के शैक्षणिक पक्ष

इस अध्याय में अब तक हमने शिक्षा के विषय में बहुत थोड़ा कहा है। हम अभी तक विकास की दशाओं एवं उसके अर्थों से ही सम्बन्धित रहे। यदि हमारे निष्कर्ष न्याय-संगत हैं, तो उनसे कुछ निश्चित शैक्षणिक परिणाम निकलते हैं। जब यह कहा जाता है कि शिक्षा विकास है, तो सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि विकास का अर्थ क्या है। हमारा मुख्य निष्कर्ष यह है कि जीवन विकास है तथा विकसित होना और बढ़ना ही जीवन है। शिक्षा के शब्दों में इसका अर्थ होता है (१) कि शिक्षा का अपने से परे कोई उद्देश्य नहीं है। यह स्वयं अपना साध्य है। (२) शिक्षा निरंतर पुनर्संगठन, पुनर्निर्माण तथा परिवर्तन की प्रक्रिया है।

१—जब विकास का अर्थ तुलनात्मक रूप से लिया जाता है—अर्थात् वयस्क एवं बालक के विशेष गुणों को ध्यान में रखकर लगाया जाता है, तो इसका अर्थ शक्ति का विशिष्ट मार्गों की ओर का निर्देश होता है, जिसका अर्थ है, निश्चय एवं रुचि से विशिष्ट विचार एवं ज्ञान द्वारा नियंत्रित आदतों का निर्माण। किन्तु तुलनात्मक विचार ही अन्तिम नहीं है। बालक में विशिष्ट शक्ति होती है। इस तथ्य का ध्यान न रखने का अर्थ उन अंगों को विकृत तथा कुंठित कर देना है, जिन पर उसका विकास निर्भर है। वयस्क अपने वातावरण को रूपांतरित करने के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है, जिससे ऐसे नवीन उद्दीपनों की प्राप्ति होती है, जिनसे उसकी शक्तियों का पुनर्निर्देश होता है तथा वे विकसित होती रहती हैं। इस तथ्य की उपेक्षा का अर्थ नियंत्रित विकास अथवा निष्क्रिय समायोजन है। दूसरे शब्दों में सामान्य बालक तथा सामान्य वयस्क दोनों ही विकास करते हैं। उनका अन्तर विकास एवं अविकास का अन्तर नहीं ; वरन् विभिन्न अवस्थाओं के लिए उपयुक्त विकास के ढंगों का अन्तर है। विशिष्ट वैज्ञानिक तथा आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लगी हुई शक्तियों के विकास के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि बालक पुरुषत्व की

ओर विकास कर रहा है। सहानुभूतिपूर्ण उत्सुकता, तात्कालिक प्रतिचारशीलता तथा मन की उदारता के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वयस्क लड़कों की तरह विकास कर रहा है। यह कथन उतना ही सत्य है, जितना कि दूसरा। ये तीनों विचार, जिनकी अभी तक आलोचना की गई है—अर्थात् बाल्यावस्था का केवल एकान्तिक स्वभाव एक स्थिर वातावरण के साथ का स्थाई समायोजन तथा आदतों की अनम्यता ; सभी, विकास अथवा वृद्धि की एक असंगत धारणा से सम्बद्ध हैं, जिसके अनुसार विकास एक स्थाई गन्तव्य की ओर की गति है। यहां विकास को स्वयंसाध्य न मानकर उसका भी एक साध्य स्वीकार किया जाता है। इन तीन भ्रामक विचारों के शैक्षणिक समानार्थी हैं, एक तो बालक के मूल प्रवृत्यात्मक अथवा जन्मजात शक्तियों पर ध्यान दे सकने की असफलता, दूसरे नवीन स्थितियों का सामना करने की प्रेरणा का विकास करने की असफलता तथा तीसरे वैयक्तिक प्रत्यक्षीकरण का हनन कर यान्त्रिक दक्षता प्राप्त करने के लिए व्यायाम अथवा अन्य उपायों पर अनावश्यक बल दिया जाना। इन सभी दशाओं में, वयस्क वातावरण को, बालक के लिए प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसे इसी के उपयुक्त बनाना ही शिक्षा का कार्य रह जाता है।

मूल प्रवृत्तियों की या तो अवहेलना होती है अथवा उन्हें अनुपयुक्त माना जाता है—जैसे कि वे सिर्फ दुर्गुण हों तथा उन्हें दबा देना ही ठीक हो अथवा वाह्यादर्शों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित किया जाय। चूंकि सामंजस्य लक्ष्य है, अतः बालक में स्पष्ट रूप से जो कुछ भी वैयक्तिक है, उस पर ध्यान नहीं दिया जाता अथवा उसे शरारत या बेहूदगी का माध्यम माना जाता है। सामंजस्य, एकरूपता का समानार्थी माना जाता है। परिणाम स्वरूप नवीनता में रुचि का अभाव, प्रगति से घृणा तथा अनिश्चित एवं अज्ञेय का भय उत्पन्न हो जाता है। चूंकि विकास का साध्य, वृद्ध की प्रक्रिया के परे होता है, अतएव इसकी ओर गति उत्पन्न करने के लिए वाह्य प्रतिकारकों का सहारा लेना होता है। जब कभी भी शिक्षा की एक विधि को यान्त्रिक कह कर दोषी ठहराया जाता है, तो हमें यह निश्चित जान लेना चाहिए कि वाह्य साध्य तक पहुंचने के लिए वाह्य दबाव का प्रयोग किया गया है।

२—चूंकि वास्तव में और अधिक विकास के अतिरिक्त और कुछ भी विकास का आपेक्षिक नहीं है ; अतः अधिक शिक्षा के अतिरिक्त शिक्षा भी किसी के अधीन नहीं है। यह तो साधारण-सी बात है कि स्कूल छोड़ने के बाद किसी

की शिक्षा रुक नहीं जानी चाहिए। इस साधारण बात का तात्पर्य यह है कि स्कूल-शिक्षा का ध्येय विकास की निश्चित रूप से गतिशील रखने वाली शक्तियों को व्यवस्थित करके शिक्षा के क्रम को जारी रखना है। विद्यालय की शिक्षा की सर्वोत्तम देन स्वयं जीवन से शिक्षा ग्रहण करने की रुचि उत्पन्न करना तथा जीवन की परिस्थितियों को ऐसा बना देना है कि सभी जीवन की प्रक्रिया में ही शिक्षा प्राप्त कर सकें। जब हम बाल्यावस्था की परिभाषा वयस्कों के अर्जित गुणों की स्थाई तुलना के माध्यम से करने का प्रयास छोड़ देते हैं, तो इसे वांछित गुणों के अभाव को व्यक्त करने वाली समझने की भावना को छोड़ देने के लिए विवश हो जाते हैं। इस विचार को त्यागकर हम लोग मानसिक और नैतिक रिक्त स्थान—जो भरे जाने की प्रतीक्षा में रहते हैं—में ज्ञान भर कर उस अभाव की पूर्ति के साधन के रूप में इस सुझाव को सोचने की आदत को भी छोड़ देने के लिए विवश हो जाते हैं। चूँकि जीवन का अर्थ विकास होता है, अतः जीवित रहने वाला प्राणी एक अवस्था में उसी आन्तरिक पूर्णता एवं पूर्ण अधिकारों के साथ उतने ही सत्य एवं निश्चित रूप में रहता है, जितना कि दूसरी अवस्थाओं में। अतएव, शिक्षा का अर्थ अणु पर ध्यान दिए बिना विकास अथवा जीवन की यथेष्टता, निश्चित रूप से प्रदान करनेवाली परिस्थितियाँ प्रदान करने का उपक्रम है। हम पहले बाल्यावस्था को अधीरता के साथ देखते रहते हैं और चाहते हैं कि यह जितनी जल्दी हो सके समाप्त हो जाय, तब इस प्रकार की शिक्षा से निर्मित युवक पीछे की ओर अपनी बाल्यावस्था को बड़े दुःख के साथ तथा युवावस्था को खोए हुए अवसरों तथा क्षतशक्तियों के दृश्य के रूप में देखता है। यह व्यंग्यात्मक स्थिति तब तक बनी रहेगी, जब तक यह नहीं स्वीकार किया जाता कि जीवन में अपनी स्वयं की अनिवार्य विशेषता है और शिक्षा का संबंध इसी विशेषता से है।

जीवन को विकास के रूप में स्वीकार करने से हम बाल्यावस्था को तथाकथित रूप से आदर्श मानने की इस गलत धारणा से बच जाते हैं, जिसके अनुसार बाल्यावस्था निरर्थक क्रिया-कलापों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन को प्रत्येक व्यर्थ कार्य तथा अभिरुचि समझना ठीक नहीं। यद्यपि यह कह सकना भी सरल नहीं है कि जो कुछ केवल धरातलीय मूर्खता प्रतीत होती है, वह लड़कपन तथा अप्रशिक्षित शक्ति का चिन्ह है। हमें यह याद रखना चाहिए कि वाह्य व्यक्तीकरण स्वयं अपने-आप में साध्य नहीं समझे जा सकते। ये संभाव्य-विकास के चिन्ह हैं, उन्हें विकास तथा शक्ति को आगे ले चलने के माध्यम

के रूप में रूपान्तरित करना है न कि उन्हें स्वयं अपने-आप के लिए क्रियाशील अथवा विकसित करना। धरातलीय क्रियाओं पर अत्यधिक ध्यान देने से (उत्साहवर्द्धन और डाँट-फटकार के रूप में भी) उनका स्थायित्व तथा इस प्रकार वृद्ध विकास उत्पन्न हो सकता है। माता-पिता तथा शिक्षक के लिए कौन-कौन सी शक्तियाँ आगे बढ़ रही हैं, यह देखना आवश्यक है। इसका कोई महत्त्व नहीं कि वे क्या थीं। बाल्यावस्था के आदर का सच्चा सिद्धान्त जितना इमरसन के शब्दों से स्पष्ट होता है, उससे और अधिक अच्छे रूप में स्पष्ट कर सकना सरल नहीं—"बालक का आदर करो। उसकी आवश्यकता से अधिक माता-पिता के रूप में नियंत्रक न बनो। उसकी ऐकांतिकता का अपहरण न करो ; किन्तु मैं इस सुझाव के विपरीत भी आवाजें सुनता हूँ। क्या आप सार्वजनिक तथा वैयक्तिक अनुशासन की लगाम को निश्चित रूप से ढीली छोड़ देंगे? क्या आप अवयस्क बालक को अपने स्वयं की वासनाओं तथा भावों का पागल जीवन बिताने के लिए छोड़ देंगे और इस अराजकता को बालक के स्वभाव के प्रति आदर की संज्ञा देंगे? मैं उत्तर देता हूँ—बालक का आदर करो, उसका अन्त तक आदर करो, किन्तु स्वयं अपना भी आदर करो। . . . . ." बालक के प्रशिक्षण में दो मुख्य बातें यह हैं कि उसकी स्वाभाविक शक्तियों को सुरक्षित रखा जाय और प्रशिक्षण द्वारा अनावश्यक व्यवहारों को मिटा दिया जाय। उसके स्वभाव को बनाए रखा जाय ; किन्तु उसके शोर मचाने, मूर्खता तथा व्यर्थ के खेलों को खतम कर दिया जाय। उसके स्वभाव को सुरक्षित रख कर, वह जिस दिशा में निर्देश करता है, उसी दिशा में ज्ञान का शस्त्र उसे प्रदान कर दिया जाय। जैसे इमरसन बाल्यावस्था तथा युवावस्था के प्रति ऐसा सम्मादर व्यक्त करता है, वैसे ही सरल तथा सरलतापूर्वक चलने वाले मार्ग के बजाय शिक्षक पर शीघ्र ही समय, विचार तथा जीवन के बहुत बड़े-बड़े उत्तर-दायित्व ला देता है। इसके लिए समय, उपयोग, अन्तर्दृष्टि, घटना, ईश्वर की महान् सहायताएँ तथा उसके पाठ चाहिए और इनका प्रयोग करने के केवल विचार में ही चरित्र तथा सफलता निहित है।

अध्याय का सारांश

विकास की शक्ति या विकास करने की शक्ति दूसरों के लिए आवश्यकता तथा नमनशीलता पर निर्भर करती है। ये दोनों ही स्थितियाँ बाल्यावस्था तथा युवावस्था में सबसे अधिक रहती हैं। नमनशीलता अथवा अनुभव से शिक्षा

ग्रहण करने की शक्ति का अर्थ आदतों का निर्माण है। आदतें वातावरण पर नियंत्रण तथा मानवीय प्रयोजनों के लिए इसका प्रयोग करने की शक्ति प्रदान करती हैं। आदतों के दो रूप होते हैं। एक तो आदी बनाना अथवा वातावरण के साथ आंगिक क्रियाओं का सामान्य तथा संयत संतुलन उत्पन्न करना तथा नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए—क्रिया का पुनर्समायोजन करने के लिए सक्रिय शक्तियों को उत्पन्न करना। प्रथम रूप विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है और दूसरा वृद्धि का निर्माण। क्रियाशील आदतों में विचार, आविष्कार तथा नवीन उद्देश्यों के लिए शक्तियों का संप्रयोग करने की आरंभिक प्रेरणा निहित होती है। वे कार्यक्रम की विरोधी हैं, क्योंकि कार्यक्रम विकास को बन्दी बना देता है। चूँकि विकास जीवन की विशेषता है, इसलिए शिक्षा और विकास एक रूप हैं। इसका अपने से परे कोई साध्य नहीं। विद्यालय की शिक्षा के महत्त्व का मापदंड यह है कि वह कहाँ तक क्रमशील विकास की इच्छा उत्पन्न कर पाती है तथा वास्तविक रूप से इस इच्छा को सफल बनाने के लिए कहाँ तक साधन प्रदान करती है।

५

प्रस्तावना, प्रस्फुरण तथा सविधिक अनुशासन

शिक्षा : प्रस्तावना के रूप में

हम यह लिख चुके हैं कि शिक्षा, विकास की एक सतत क्रिया है, जो अपने लक्ष्य को प्रत्येक अवस्था में विकसित करते रहने की शक्ति रखती है। यह विचार, अभ्यास को प्रभावित करने वाले अन्य विचारों से गहरा मतभेद रखता है। इस मतभेद को स्पष्ट कर देने से उक्त विचार के अर्थ पर और अधिक प्रकाश डाला जा सकता है। पहला मतभेद तो इस धारणा पर है कि शिक्षा उपक्रम या तैयार होने की एक प्रक्रिया है। जिस बात के लिए तैयार होना है, वे निश्चित रूप से वयस्क जीवन के उत्तरदायित्व तथा विशेषाधिकार हैं। बच्चों को समाज का पूर्ण तथा उत्तरदायी सदस्य नहीं स्वीकार किया जाता। उन्हें उम्मीदवार समझ कर भावी सदस्यों की सूची के अन्तर्गत रखा जाता है। इस विचारधारा को कुछ और बढ़ाया जाता है। जब यह समझा जाता है कि वयस्क का जीवन अपने-आप में अर्थपूर्ण नहीं है, बल्कि यह "अगले जीवन" का उपक्रमात्मक प्रयोगावसर है। यह विचारधारा पूर्व आलोचित विकास की अभावात्मक तथा वैयक्तिक धारणा का एक दूसरा रूप मात्र है। अतः अपनी आलोचना को दुहराने की बजाय हम सिर्फ उन दुष्परिणामों पर प्रकाश डाल कर ही आगे बढ़ जायेंगे, जो शिक्षा को इस राह पर लगाने से उत्पन्न हो सकते हैं।

पहली हानि तो इसमें प्रेरणा की ही है। इसमें प्रेरणात्मक शक्ति का उपयोग नहीं हो पाता। कहा जाता है कि बच्चे केवल वर्तमान में ही रहते हैं, यह एक ऐसा तथ्य नहीं है, जिसकी उपेक्षा की जा सके ; बल्कि यह तो एक उत्तम गुण है। भविष्य, मात्र भविष्य के रूप में तात्कालिकता तथा निश्चित स्वरूप से हीन होता है। किसी वस्तु का निश्चित स्वरूप तथा उपयोग जाने बिना उसके लिए तैयारी करना वैसा ही है, जैसे वर्तमान क्रियाशक्ति को दूर फेंक कर किसी अनिश्चित अवसर के लिए उपयोगी प्रेरणात्मक शक्ति की खोज करना। ऐसी स्थिति में विलम्ब तथा डावांडोल परिस्थिति के अतिरिक्त और कोई लाभ न होगा। भविष्य, जिसके लिए तैयार होना है, एक दूरस्थ लम्बी राह है, इसे वर्तमान बनने में पर्याप्त

समय लगेगा। फिर इसके लिए तैयार होने में इतनी जल्दबाजी क्यों की जाय। इस तैयारी को स्थगित करने की ओर उन्मुख होने का एक कारण यह भी है कि वर्तमान बहुत-से आश्चर्यजनक सुअवसर प्रदान करता तथा उन्हें साहसपूर्ण कार्यों की ओर उन्मुख करता है। स्वभावतः शक्ति एवं ध्यान उस ओर जाता है और स्वाभाविकरूप से शिक्षा एक परिणाम के रूप में आती है; किन्तु यह शिक्षा उस शिक्षा से निम्न कोटि की होगी, जिसमें सारी शक्ति परिस्थितियों को प्रशिक्षात्मक बनाने में लगा दी गई हो। इसका एक तीसरा अवांछनीय परिणाम यह है कि शिक्षार्थी व्यक्ति की विशिष्ट शक्तियों के मानदण्ड के स्थान पर एक रूढ़िबद्ध, परंपरागत 'सामान्य' मानदण्ड प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। गुणावगुणों पर आधारित कठोर तथा निश्चित निर्णय के स्थान पर सुदूर भविष्य या निकट भविष्य में व्यक्ति से क्या करने की आशा की जाती है, इससे सम्बन्धित एक अनिश्चित तथा परिवर्तनशील विचार को स्थानापन्न कर दिया जाता है— अर्थात् वर्ष के अन्त में जब उन्हें तरक्की देने का अवसर आता है, या जिस समय से वे विद्यालय जाने के लिए तैयार कर दिए जाते हैं, या जब वे उपक्रम-काल से आगे बढ़कर जीवन के गंभीर व्यवसाय में प्रविष्ट होते हैं। मुख्य बात के स्थान पर अनुत्पादक बात पर ध्यान देने से उत्पन्न होने वाली हानि के विषय में कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। जहाँ इसमें यह सोचा जाता है कि इससे भविष्य के लिए तैयारी हो रही है, वहीं इसकी सर्वाधिक असफलता होती है।

अन्त में तैयारी का सिद्धान्त, सुख और दुःख देने की गलत धारणाओं को अपनाना अनिवार्य कर देता है। उद्दीपन तथा निर्देशक शक्ति से हीन भविष्य, जब वर्तमान की सम्भावनाओं से युक्त हो जाता है, तो इसे क्रियाशील बनाने के लिए किसी-न-किसी उत्प्रेरक वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। पुरस्कार के प्रलोभनों तथा दुःख की धमकियों से काम लिया जाता है। वर्तमान कारणों तथा जीवनगत तथ्य के लिए किए गए स्वस्थ कार्य, प्रायः अवचेतन रूप से सम्पन्न होते हैं। कार्य की उत्प्रेरक शक्ति उन परस्थितियों में निहित होती है, जो व्यक्ति के सम्मुख वर्तमान रहती हैं। लेकिन, जब इस परिस्थिति की उपेक्षा की जाय, तो विद्यार्थियों को यह बतला दिया जाना चाहिए कि यदि वे निर्धारित मार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे, तो उन्हें दण्ड भुगतना होगा और यदि वे करेंगे, तो उन्हें अपने वर्तमान त्यागपूर्ण कार्यों के लिए पुरस्कार प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि किस व्यापक रूप में शिक्षा-प्रणालियों द्वारा

दण्ड-विधियों का अवरोध किया जाना चाहिए, जो भविष्य की तैयारियों के नाम पर वर्तमान की संभावनाओं की उपेक्षा कर देती हैं। तब इस कठोरता तथा दुर्बलता की वितृष्णा में पेण्डुलम विपरीत सीमा की ओर झूलने लगता है और उन सूचनाओं को, जिनकी आवश्यकता किसी दिन बाद में पड़ने वाली है शर्करावेष्टित कर दिया जाता है, जिससे विद्यार्थियों को मूर्ख बना कर वह वस्तु दी जा सके, जिसकी उन्हें परवाह ही नहीं है।

वास्तव में यह प्रश्न नहीं है कि शिक्षा को भावी जीवन के लिए तैयार करना चाहिए। यदि शिक्षा विकास है, तो यह निश्चय ही वर्तमान संभावनाओं का अनुभव करेगी और इस प्रकार व्यक्ति को उसकी भावी आवश्यकताओं के उपयुक्त बनाएगी। विकास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो विषम क्षणों में समाप्त हो जाती है, यह तो भविष्य में निरन्तर आगे बढ़ाने वाली वस्तु है। यदि विद्यालय के बाहर तथा भीतर का वातावरण ऐसी परिस्थितियां प्रदान करने में समर्थ है, जिनसे अवयस्क में वर्तमान शक्तियों का पूर्ण उपयोग किया जा सके, तो इस प्रकार वर्तमान से उद्भूत भविष्य की चिन्ता करना आवश्यक है। गलती भावी आवश्यकताओं के लिए तैयारी को महत्त्व प्रदान करने में नहीं है; बल्कि उसे वर्तमान प्रयासों की मुख्य प्रेरणा बना देने में है। चूंकि निरन्तर विकासशील जीवन के उपक्रम की आवश्यकता इतनी महान् है कि यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक शक्ति को वर्त्तमान अनुभवों को अधिक-से-अधिक पुष्ट तथा महत्त्वपूर्ण बनाने में पूरी तरह लगा दिया जाय। अतः जैसे-जैसे वर्तमान अचेतन रूप से भविष्य में अन्तर्भुक्त होता जाय, वैसे-वैसे भविष्य की ओर ध्यान दिया जाय।

शिक्षा : प्रस्फुरण के रूप में

शिक्षा-सम्बन्धी एक विचारधारा ऐसी भी है, जो विकास की धारणा पर आधारित बताई जाती है ; किन्तु यह विचारधारा एक हाथ से जो कुछ देती है, दूसरे हाथ से उसे वापस ले लेती है। इसमें विकास को एक सतत प्रगति न मान कर प्रसुप्त शक्तियों का एक निश्चित लक्ष्य की ओर प्रस्फुरण माना जाता है। इस ध्येय की संपूर्णता तथा परिपूर्णता के रूप में कल्पना की जाती है। इस लक्ष्य तक पहुंचने के पूर्व जीवन प्रत्येक अवस्था में इसकी ओर प्रस्फुरण की ही स्थिति में रहता है। तार्किक दृष्टि से यह सिद्धान्त उपक्रम-सिद्धान्त का रूपान्तर-मात्र है। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में यह अन्तर है कि उपक्रम-सिद्धान्त का अनुयायी, जिसके लिए तैयारी करता रहता है, उसके प्रति अनेक व्यावहारिक तथा व्यावसायिक कर्तव्यों का पालन करता है, जब कि विकासवादी सिद्धान्त आदर्शों तथा आध्यात्मिक गुणों के प्रस्फुरण की बात कहता है।

यह धारणा कि विकास और प्रगति अन्तिम अपरिवर्तनीय लक्ष्य का सन्निकर्ष है, जीवन के सम्बन्ध में मस्तिष्क की स्थिर समझ से अस्थिर समझ की संक्रान्ति की अन्तिम दुर्वलता है। यह बाद वाले की शैली को उत्प्रेरित करता है। यह विकास, प्रक्रिया तथा प्रगति के विषय में बहुत कुछ कह कर प्रशंसा करता है ; किन्तु इन समस्त कार्यों को संक्रान्ति-कालीन समझा जाता है और अपने-आप में इनका कोई अर्थ नहीं होता। उनका महत्त्व सिर्फ ऐसी गतियों के रूप में समझा जाता है, जो वर्तमान कार्य से भिन्न दिशा की ओर संचालित हैं। चूँकि विकास एक पूर्ण जीव की ओर एक गतिमात्र है, अतः अन्तिम आदर्श स्थिर है। एक अमूर्त तथा अनिश्चित भविष्य, वर्तमान शक्तियों तथा सुअवसरों के अवमूल्यन-सम्बन्धी समस्त अर्थों सहित नियन्त्रण में आ जाता है।

चूँकि पूर्णता का लक्ष्य, विकास का प्रतिमान, इतना दूर, हमसे इतना परे है कि वास्तव में यह अप्राप्य है। फलस्वरूप वर्तमान निर्देश के लिए इसे किसी ऐसी वस्तु के रूप में रूपान्तरित करना चाहिए, जो इसके प्रतीक का कार्य कर

सकें। अन्यथा हम बालक के किसी भी, और प्रत्येक प्रदर्शन को अन्तःप्रस्फुरण की संज्ञा देकर पवित्र समझ लेने को विवश होंगे। जब तक हम आदर्श लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित मानदण्ड नहीं निर्धारित कर लेते, जिससे हम किसी प्रवृत्ति या कार्य के सम्बन्ध में यह बता सकें कि यह लक्ष्य के निकट आ रहा है, या लक्ष्य से दूर जा रहा है, तब तक हमें वातावरण के समस्त प्रभावों को दूर कर देना चाहिए, जिससे वे उचित विकास के मार्ग में बाधा न डाल सकें। चूँकि यह व्यावहारिक नहीं है ; अतः एक कामचलाऊ स्थानापन्न की व्यवस्था कर ली गई है। प्रायः वयस्क यह चाहता है कि बच्चा कुछ विशिष्ट विचारों का ज्ञान प्राप्त करे। फलस्वरूप निर्देशात्मक प्रश्नों से या किसी अन्य प्रशैक्षणिक उपाय द्वारा अध्यापक शिष्य से वांछित प्रतिफल प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है। यदि वांछित प्रतिफल प्राप्त हो जाता है, तो यह इस बात का प्रमाण है कि बालक में उचित रूप से प्रस्फुरण हो रहा है। चूँकि इस दिशा में बालक की अपनी कोई स्वतः प्रेरणा नहीं होती ; अतः वांछित प्रतिफल की ओर वह अँधेरे में टटोल कर बढ़ता है और उसकी परनिर्भरता की आदतों का निर्माण दूसरों द्वारा प्रदत्त संकेतों के आधार पर होता है। चूँकि ऐसी विधियाँ यही सिद्धान्त और स्वीकृति का दावा करती हैं, अतः उनसे लाभ के स्थान पर हानि की अधिक संभावना है, जबकि यह बात स्वयं बच्चे पर ही निर्भर है कि वह किसी बात पर कितना अधिक दृढ़ रहता है।

दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में अन्तिम लक्ष्य के कामचलाऊ प्रतिनिधि प्रदान करने के दो विशिष्ट प्रयास किए गए हैं। दोनों, मानव-जीवन में 'अन्तर्निहित' एक सम्पूर्ण—सर्वोपरि—की धारणा से प्रारम्भ करते हैं। संपूर्ण या परिपूर्ण आदर्श, केवल आदर्श न होकर यहाँ कार्य-रूप में परिणत होता है ; किन्तु वास्तव में यह 'शक्तिपूर्ण ढंग' से या 'परोक्षरूप' में ही स्थित रहता है। जिसे विकास कहा जाता है, वह वास्तव में जो कुछ आवेष्ठित होता है, उसी का क्रमिक अनावरण मात्र होता है। ऊपर वर्णित दोनों दार्शनिक प्रणालियों के प्रवर्त्तक फ्रॉबेल और हीगेल उस पथ के विषय में भिन्न मत रखते हैं, जिसके द्वारा पूर्ण सिद्धान्त का प्रगतिशील आत्मज्ञान तथा प्रत्यक्षीकरण प्रभावित होता है। हीगेल के अनुसार इसका कार्यान्वयन अनेक क्रमायोजित ऐतिहासिक संस्थाओं के माध्यम से होता है, जिनमें सम्पूर्णता-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्व अन्तर्निहित होते हैं। फ्रॉबेल के अनुसार कार्यान्वित करनेवाली शक्ति विस्तृत रूप से संख्या-शास्त्रीय तथा पूर्णता की अनिवार्य धाराओं के संकेत-चिह्नों की उपस्थिति

है। जब इन्हें बच्चों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, तो उनकी अन्तःप्रसुप्त पूर्णता या संपूर्णता जग जाती है। केवल एक ही उदाहरण इस प्रणाली को स्पष्ट कर देगा। किंडर गार्टन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति उस वृत्त के विषय में जानता है, जिसमें बच्चे एकत्रित होते हैं। यही इतना काफी नहीं है कि वृत्त बच्चों को एकत्रित करने का एक सुविधाजनक ढंग है। इसका उपयोग 'इसलिए भी आवश्यक है कि यह मानव-जाति के सामूहिक जीवन का प्रतीक है।'

फ्रॉबेल की बालक की जन्मजात शक्तियों के महत्त्व की मान्यता, उनका स्नेहमय चिन्तन, और उनका अध्ययन करने के लिए दूसरों पर उसका प्रभाव, कुल मिला कर आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त की सम्भवतः सर्वाधिक प्रभावशाली शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे विकास की धारणा को व्यापक मान्यता प्राप्त हुई है। किन्तु, उसकी विकास की धारणा की स्थापना तथा उसके प्रसार का ढंग इस बात से बुरी तरह अवस्थित हो गए थे कि वह विकास को एक बने-बनाए प्रसुप्त सिद्धान्त के अनुसार प्रस्फुरण-मात्र समझता था। वह यह देखने में असफल रहा कि संवर्द्धन, संवर्द्धन है और विकास, विकास; और परिणाम-स्वरूप उसने उत्पादित वस्तु के अन्तिम स्वरूप पर बल दिया। इस प्रकार वह एक ऐसे लक्ष्य की स्थापना करता है, जिसका अर्थ है विकास का निबन्धन, और यह एक ऐसे प्रतिमान की व्यवस्था करता है, जो संक्रान्ति के माध्यम से अमूर्त तथा प्रतीकात्मक सूत्र को छोड़ कर वर्तमान शक्तियों के निर्देशन के उपयुक्त नहीं है।

पूर्ण प्रस्फुरण का दूरस्थ लक्ष्य पारिभाषिक दार्शनिक भाषा में सर्वोपरि है—अर्थात् यह प्रत्यक्ष अनुभव तथा अभिज्ञान से बिल्कुल अलग है। जहां तक अनुभव का प्रश्न है, यह अभावयुक्त होता है और यह किसी कथनीय तथा बुद्धिग्राह्य वस्तु की बजाय एक भावुकता, अनिश्चित लालसा का प्रतिनिधित्व करता है। इस अस्पष्टता की क्षतिपूर्ति किसी-न-किसी मूलसूत्र द्वारा अवश्य होनी चाहिए। फ्रॉबेल ने अनुभव के मूर्त तथ्यों तथा विकास के सर्वोपरि आदर्श के बीच प्रथम को द्वितीय का प्रतीक मान कर परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया। किसी स्वेच्छाचारी मूलसूत्र के अनुसार—और प्रत्येक मूल धारणा को स्वेच्छाचारी अवश्य होना चाहिए—ज्ञात वस्तुओं को प्रतीकों के रूप में स्वीकार करना ऐसी कल्पना को आमंत्रित करता है, जिससे किसी भी सादृश्य को ग्रहण करके उसे नियम के रूप में व्यवहृत किया जा सकता है। प्रतीक-प्रणाली को

सुनिश्चित कर लेने के बाद कोई ऐसा ढंग अवश्य निकाल लेना चाहिए, जिससे प्रयुक्त किए जाने वाले सार्थक प्रतीक बच्चों की समझ में आ जायँ। इस प्रतीकवाद के नियामक होने के नाते वयस्क स्वभावतः ही इसकी शैली के प्रवर्तक तथा नियंत्रक हैं। परिणाम यह हुआ कि फ्रॉबेल का अमूर्त प्रतीकवाद के प्रति प्रेम प्रायः उसकी सहानुभूतिपूर्ण अन्तर्दृष्टि पर हावी हो गया और विकास के स्थान पर एक ऐसी स्वच्छंदतावादी अधिनायकत्वपूर्ण बाह्यारोपित प्रणाली स्थापित हो गई, जैसी कि निर्देशन के इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी।

हीगेल के लिए अप्राप्य पूर्णता की कामचलाऊ प्रतिमूर्ति की खोज ने प्रतीक के स्थान पर एक संस्था का रूप धारण किया। उसका दर्शन भी फ्रॉबेल के दर्शन की तरह ही जीवन-प्रक्रिया की एक वैधानिक धारणा के सम्बन्ध में एक विशेष दिशा में महत्वपूर्ण विचार प्रदान करता है। एक अमूर्त व्यक्तिवादी दर्शन की कमजोरियाँ उसे अच्छी तरह मालूम थीं, वह जानता था कि ऐतिहासिक संस्थाओं को निरंकुश शासन का छल-प्रपंच समझ कर पूरी तरह अनदेखा कर जाना असम्भव है। उसके इतिहास तथा समाज-विषयक दर्शन में लेसिंग, हरडर, कान्ट, शिलर, गेटे आदि समस्त जर्मन-लेखकों के प्रयास समाहित हैं, जिसमें समस्त मानव-जाति के, संस्था के रूप में सामूहिक उत्पादन के, पोषक प्रभाव की संस्तुति की गई है। जिन लोगों ने इस आन्दोलन से शिक्षा ग्रहण की है, उनके लिए संस्थाओं या संस्कृति को कृत्रिम समझना असम्भव है। इसने वास्तव में तो नहीं ; लेकिन विचार के क्षेत्र में उस दर्शन को पूरी तरह विनष्ट कर दिया, जो "विषय-परक मन"—भाषा, शासन, कला, धर्म—अर्थात् व्यक्तियों के 'मन' के निर्मायक तत्त्वों के महत्त्व को दिखला कर यह प्रतिपादित किया कि 'मन' विशुद्ध व्यक्ति की बनी-बनाई सम्पत्ति है। लेकिन, हीगेल चूँकि एक चरम लक्ष्य की धारणा से प्रभावित था, अतः उसने संस्थाओं को लक्ष्योन्मुख विकास-क्रम में नियोजित रूप में देखने की कल्पना की। अपने समय तथा स्थान पर प्रत्येक संस्था चरम आवश्यकता की पूर्ति करती है, क्योंकि चरम मन की आत्मसाक्षात्कार-प्रक्रिया में वे सोपान के समान हैं। सोपान या अवस्था के रूप में समझ लिए जाने पर इनका अस्तित्व पूर्ण रूप से विवेक-सम्मत हो जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण का एक अविभाज्य तत्त्व है, और यही विवेक है। संस्थाओं के विरुद्ध, जैसी की ये हैं, व्यक्तियों के पास कोई भी आध्यात्मिक अधिकार नहीं है, व्यक्तिगत उन्नति तथा पोषण, वर्तमान संस्थाओं की सामूहिक

आत्मा की आत्माकांक्षा में ही निहित है। परिवर्तन नहीं ; बल्कि पुष्टि ही शिक्षा का सार तत्त्व है। जैसा कि इतिहास दिखाता है, संस्थाएँ परिवर्तित होती हैं ; किन्तु उनका परिवर्तन—अर्थात् साम्राज्यों का उत्थान-पतन विश्व-आत्मा का कार्य है। महान् 'नायकों' को छोड़कर, जो विश्व-आत्मा के कार्यवाहक अंग हैं, व्यक्तियों का उसमें कुछ भी हाथ नहीं होता। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार के आदर्शवाद में जीवशास्त्रीय विकास के सिद्धान्त का घालमेल कर दिया गया था। 'विकास' एक ऐसी शक्ति थी, जो अपने निज के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वतः क्रियाशील थी। इसके विरोध में या इसकी तुलना में सचेतन विचार तथा वैयक्तिक रुचियां, शक्तिहीन हैं। या यही वे साधन हैं, जिनसे वह स्वयं कार्य करती है। सामाजिक विकास, प्रयोगात्मक प्रवरण न होकर एक "संघटनात्मक संवर्द्धन" है। विवेक, सर्वशक्तिमान हैं ; किन्तु केवल चरम विवेक में ही शक्ति होती है।

इस मत का प्रतिपादन (या पुनर्प्रतिपादन, क्योंकि ग्रीक लोग इस विचार से परिचित थे) कि महान् ऐतिहासिक निकाय मन के बौद्धिक पोषण के क्रियात्मक तत्त्व हैं, शिक्षा-दर्शन के लिए एक महान् देन है। इसने रूसो के विचारों से आगे एक महत्त्वपूर्ण प्रगति का संकेत दिया है, जिसने यह समझ कर कि सामाजिक परिस्थितियां प्राकृतिक नहीं हैं, इस बात पर बल दिया था कि शिक्षा एक प्राकृतिक विकास के रूप में होनी चाहिए, न कि व्यक्ति पर बाहर से बरबस थोपी हुई वस्तु के रूप में। किन्तु अपनी, विकास के पूर्ण तथा सर्वातिभिन्न लक्ष्य की धारणा में, हीगेल के सिद्धान्त ने समस्त ठोस वैयक्तिकताओं को आत्मसात् कर लिया, यद्यपि इसने अमूर्त रूप में व्यक्ति को विस्तार प्रदान किया है। हीगेल के कुछ अनुयायियों ने समाज को एक संघटनात्मक इकाई या संघटन मान कर सम्पूर्णता तथा वैयक्तिकता के सिद्धान्तों में पुनर्समन्वय की चेष्टा की। उन्होंने प्रतिपादित किया कि यह एक पूर्व निश्चित तथा सन्देहरहित बात है कि सामाजिक संघटन को वैयक्तिक शक्ति के उपयोग का अधिकार प्राप्त है ; किन्तु सम्पूर्ण शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अंगों के आधार पर प्रस्तुत की गई व्याख्या के अनुसार सामाजिक संघटन का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक सीमित कार्य तथा क्षेत्र है और वह अन्य अंगों के कार्य तथा क्षेत्र से अनुपूरित है। जिस प्रकार शरीर के एक भाग के सूक्ष्म अंश अन्य भागों के सूक्ष्म अंशों से नितान्त भिन्न होते हैं, जिससे हाथ मात्र हाथ हो सके या आँख सिर्फ आँख, इसी प्रकार अन्य सभी अंग भी, और सब एक साथ मिलकर संघटन को पूर्ण करें, इसी प्रकार समाज

के यान्त्रिक कार्यों के सम्पादन के लिए एक व्यक्ति-विशेष को अन्य सब से भिन्न समझा जाता है, दूसरे किसी को राजनीतिज्ञ, किसी को विद्वान् और इसी प्रकार अन्य कार्यों के लिए भी। इस प्रकार 'संघटन' की धारणा का उपयोग सामाजिक संघटन में वर्ग-भेद की भावना को दार्शनिक मान्यता प्रदान करने के लिए किया जाता है, यह एक ऐसी धारणा है, जो अपने शैक्षणिक संप्रयोग में फिर संवर्द्धन की बजाय बाह्यारोपण का अर्थ रखती है।

शिक्षा : अन्तः शक्तियों के प्रशिक्षण के रूप में

एक ऐसा सिद्धान्त, जो अत्यन्त प्रचलित रहा है और जो विकास-सिद्धान्त से पहले अस्तित्व में आ गया था, 'सविधिक अनुशासन' का सिद्धान्त है। इसका एक सही आदर्श है, अर्थात् शिक्षा का परिणाम कार्य-सम्पादक शक्तियों की सृष्टि होनी चाहिए। एक प्रशिक्षित व्यक्ति वह है, जो उन प्रमुख कार्यों को, जो उसके लिए महत्त्वपूर्ण हैं, उससे अधिक अच्छी तरह प्रतिपादित कर सके, जैसा कि वह प्रशिक्षित होने के पूर्व करता था—अधिक अच्छी तरह का अर्थ है, अधिक सुगमता, निपुणता, मितव्ययिता, तत्परता आदि से। अर्थात्, यहाँ शिक्षा के फल के रूप में उन्हीं बातों को कहा गया है, जिन्हें शैक्षणिक विकास के फलस्वरूप आदतों के बारे में कहा गया है। प्रस्तुत सिद्धान्त एक संक्षिप्त पथ का अवलम्बन करता है, यह कुछ शक्तियों को विकास की उत्पत्ति-मात्र न मान कर निर्देशन के प्रत्यक्ष लक्ष्य मानता है। प्रशिक्षित की जाने वाली शक्तियों की ठीक उसी प्रकार एक निश्चित संख्या है, जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति इस बात की गणना कर सकता है कि एक गोल्फ खेलने वाले को कितने प्रकार से वार करने में निपुण होना चाहिए। परिणाम-स्वरूप शिक्षा को प्रत्यक्ष रूप से उन्हीं का प्रशिक्षण करना चाहिए ; किन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि वे अप्रशिक्षित रूप में पहले से ही वर्तमान हैं, अन्यथा उनकी सृष्टि अन्य क्रियाओं तथा माध्यमों की अप्रत्यक्ष उत्पत्ति होगी। किसी अनगढ़ रूप में विद्यमान होने पर जो कुछ करना शेष रह जाता है, वह है उनका सतत तथा क्रम नियोजित आवर्तन और इस प्रकार वे अपरिहार्य रूप से परिष्कृत तथा त्रुटिहीन हो जायेंगी। इस वाक्यांश 'सविधिक अनुशासन' में, जैसा कि प्रस्तुत सिद्धान्त में इसका उपयोग किया गया है, 'अनुशासन' प्रशिक्षित शक्तियों के परिणाम तथा आवर्तन-क्रिया द्वारा प्रशिक्षण की विधि, दोनों का अर्थ देता है।

उक्त शक्तियों के विविध स्वरूप देखने, धारण करने, पुनर्स्मरण, साहचर्य, ध्यान लगाने, इच्छा करने, कल्पना करने, विचार करने आदि की क्षमताओं का है, जिन्हें प्रस्तुत की गई सामग्री पर प्रयुक्त करके आकार प्रदान किया जाता है।

अपने विशिष्ट रूप में यह सिद्धान्त लॉक द्वारा प्रतिपादित किया गया था। एक ओर तो निष्क्रिय रूप से ग्रहण किए गए संवेदनों के माध्यम से वाह्यजगत्, ज्ञान की सामग्री या अन्तर्वस्तु प्रस्तुत करना है और दूसरी ओर ध्यान, पर्यवेक्षण, तुलना करने, संयोजन आदि की, मस्तिष्क की कुछ पूर्व-प्रस्तुत अपनी शक्तियाँ होती हैं। यदि मस्तिष्क, वस्तुओं का अलगाव तथा संयोजन करने में समर्थ हो जाता है, जैसी कि वे स्वयं प्रकृति में संयोजित तथा विभाजित हैं, तो ज्ञान का परिणाम प्रकट होता है ; किन्तु शिक्षा में महत्त्वपूर्ण वस्तु है मस्तिष्क की शक्तियों का तब तक उपयोग या अभ्यास, जब तक वे पूरी तरह स्थाई वृत्तियाँ न बन जायें। जो उदाहरण प्रायः प्रयुक्त किया जाता है, वह है बिलियर्ड या जिमनास्टिक के खिलाड़ी का, जो कुछ विशिष्ट मांसपेशियों का एक ही ढंग से निरन्तर प्रयोग करके अन्त में स्वतः परिचालित कौशल प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक कि सोचने की शक्ति को भी प्रशिक्षित वृत्ति बनाने के लिए साधारण विभेद तथा संयोजन की पुनरावर्तित क्रिया करनी होती है और लॉक का विचार है कि इसके लिए गणित सब से अधिक उपयोगी है।

लॉक का कथन, तत्कालीन द्वैतवाद के सर्वथा उपयुक्त था। यह मस्तिष्क तथा विषय-वस्तु, व्यक्ति तथा जगत् दोनों के साथ न्याय करता हुआ जान पड़ता है। दोनों में से एक ने ज्ञान की विषय-सामग्री तथा लक्ष्य प्रदान किया, जिस पर मस्तिष्क को कार्य करना चाहिए, और दूसरे ने निश्चित मानसिक शक्तियाँ प्रदान कीं, जो संख्या में कम थीं और जिन्हें विशिष्ट क्रिया-प्रयोगों द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है। यह योजना, ज्ञान की विषय-सामग्री को उपयुक्त महत्त्व देती हुई ज्ञात होती है और साथ ही इसने इस बात पर भी जोर दिया कि शिक्षा का लक्ष्य सूचनाओं का मात्र ग्रहण तथा संचय ही नहीं है ; बल्कि ध्यान, स्मरण, पर्यवेक्षण, विभेद तथा समानीकरण की वैयक्तिक शक्तियों का निर्माण करना है। बाहर से प्राप्त सामग्री के सम्बन्ध में इसका दृढ़ाग्रह यथार्थवादी था और इस रूप में वह आदर्शवादी था कि इसमें अन्तिम रूप से बौद्धिक शक्तियों के निर्माण पर बल दिया गया। इस बात पर बल देने के कारण कि व्यक्ति न तो वास्तविक रूप में विचारों का स्वामी होता है और न वह उन्हें स्वयं उत्पन्न ही कर सकता है, यह सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ तथा अवैयक्तिक था और शिक्षा का लक्ष्य कुछ ऐसी शक्तियों को परिपूर्णता प्रदान करना मानने के कारण—जो व्यक्ति में आरम्भ से ही वर्तमान रहती हैं—यह व्यक्तिनिष्ठ है। लॉक के बाद की पीढ़ियों में सुचारु रूप से इसी प्रकार से अभिमूल्यों के विभाजन का मत प्रचलित था। लॉक के

मत का बिना स्पष्ट उल्लेख किए ही शिक्षा-सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह एक सामान्य धारणा हो गई। व्यावहारिक दृष्टि से इसने शिक्षक को अनिश्चित के बदले सुनिश्चित कार्य प्रदान किए। इसने आपेक्षिक रूप से सुगम शिक्षा-शैली को विस्तार प्रदान किया। इसके अनुसार शिक्षा का कार्य प्रत्येक शक्ति के पर्याप्त अभ्यास का अवसर प्रदान करना-मात्र रह गया। यह अभ्यास ध्यान, पर्यवेक्षण, स्मरण आदि पुनरावर्तित क्रियाओं में निहित होता है। कार्यों की दुष्करता के क्रम-निर्धारण द्वारा, अर्थात् प्रत्येक पुनरावर्तित समूह को क्रमानुसार अधिक दुष्कर बना कर इसने शिक्षण का एक पूर्ण कार्यक्रम प्रदान किया।

इसके मान्य आधारों तथा इसके शैक्षणिक संप्रयोगों की आलोचना करने के अनेक तथा समान रूप से सारगर्भित ढंग हैं—–

१——सम्भवतः इस पर आक्रमण करने का सब से प्रत्यक्ष ढंग यह दिखाना है कि पर्यवेक्षण, पुनर्स्मरण, आकांक्षा, चिंतन आदि की मानी हुई मूल शक्तियाँ, विशुद्ध रूप से कपोलकल्पित हैं। व्यक्ति में इस प्रकार की पूर्व-प्रस्तुत उत्सुक शक्तियाँ वर्तमान नहीं होतीं, जिनका उपयोग करके उन्हें प्रशिक्षित किया जा सके। केन्द्रीय नाड़ी-चक्र में नाड़ी-तत्त्वों के मूल सम्बन्धों पर आधारित मूल आदिम प्रवृत्तियाँ तथा मूल प्रवृत्यात्मक कार्य-वृत्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में अवश्य वर्तमान हैं। प्रकाश का अनुसरण तथा स्थिरण नेत्रों की प्रवृत्यात्मक वृत्तियाँ हैं, ग्रीवा की मांसपेशियों की प्रकाश तथा ध्वनि की ओर घूमने की, हाथों की किसी वस्तु तक पहुँच कर उसे पकड़ने की और मुड़ने, मोड़ने तथा आघात करने की, स्वर-यन्त्र की ध्वनियाँ उत्पन्न करने की, मुँह की अरुचिकर पदार्थों को बाहर फेंकने, होठों को भींचने तथा वर्तुलाकार करने और इसी तरह की लगभग असंख्य वृत्तियाँ हैं; किन्तु ये वृत्तियाँ (अ) थोड़ी संख्या में तथा एक दूसरी से स्पष्ट-रूप से भिन्न होने की बजाय असंख्य प्रकार की समस्त दुर्बोध ढंगों से परस्पर अन्तर्सम्बद्ध होती हैं। (ब) प्रसुप्त बौद्धिक शक्तियों की बजाय, जिन्हें परिपूर्ण बनाने के लिए मात्र अभ्यास की आवश्यकता होती है, वे वातावरण के परिवर्तनों के अनुसार अन्य परिवर्तन उपस्थित करने के लिए विशिष्ट ढंग से प्रतिचार करनेवाली वृत्तियाँ होती हैं। गले के अन्दर किसी चीज का अस्तित्व खाँसी पैदा करता है, इसकी वृत्ति उस अवांछनीय वस्तु को बाहर निकाल देती है और इस प्रकार उक्त उद्दीपन को शांत कर देती है। हाथ जब किसी गर्म वस्तु को छूता है, तो यह अपने-आप, बिना किसी सोच-विचार के वहाँ से खिंच आता है; किन्तु खिंचने की यह क्रिया कार्यनिरत उद्दीपन को

बदल कर शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के अधिक उपयुक्त बना देती है। वातावरण के परिवर्तनों के प्रतिचार में हुए यही आंगिक क्रियाओं के परिवर्तन, वातावरण के नियन्त्रण को, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं (देखिए पृष्ठ ५०) प्रभावित करते हैं। इस प्रकार देखने, सुनने, स्पर्श करने, चखने, सूँघने आदि की हमारी समस्त प्राथमिक क्रियाएँ इसी प्रकार की हैं। मानसिक, बौद्धिक या प्रज्ञात्मक शब्दों के किसी भी मान्य अर्थ में लें, तो उनमें इन गुणों का अभाव है और किसी भी मात्रा में किया गया पुनरावर्तित अभ्यास उनमें पर्यवेक्षण, निर्णय या वांछा-क्रिया (इच्छा-शक्ति) का कोई भी बौद्धिक गुण नहीं उत्पन्न करता।

२—परिणाम-स्वरूप हमारी मौलिक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं को उस तरह परिष्कृत तथा परिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता, जिस तरह अभ्यास से मांसपेशियों को शक्तिशाली बनाया जाता है । (अ) यह उन विकीरित प्रतिचारों के प्रवरण में निहित है, जो एक निश्चित समय पर उद्दीप्त होते हैं और जिन्हें उद्दीपनों के उपयोग के लिए विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य[1] रूप से शारीरिक प्रतिक्रियाओं में और विशिष्ट रूप में हाथ की क्रियाओं में, जो कि प्रकाश द्वारा नेत्रों के उद्दीपन से सम्पादित होती हैं, यहाँ तक कि विशिष्ट रूप से समायोजित—पहुँचने, पकड़ने, किसी वस्तु को प्रभावशाली ढंग से उपयुक्त बनाने आदि को छोड़कर अन्य सभी धीरे-धीरे विलोपित हो जाती हैं—या इसके अलावा अन्य कोई प्रशिक्षण क्रिया नहीं सम्पन्न होती। जैसा कि हम देख चुके हैं कि बहुत थोड़े-से अपवादों को छोड़कर मूल प्रतिक्रियाएँ इतनी विकीर्ण तथा सामान्य होती हैं कि व्यावहारिक रूप से मानव-शिशु के लिए वे बहुत अधिक उपयोगी नहीं होतीं। इस प्रकार प्रवरित प्रतिचारों के साथ ही प्रशिक्षण का व्यक्तित्व है। (तुलना करो पृ० ५१)। (ब) इतना ही महत्त्वपूर्ण प्रतिचार के विभिन्न तत्वों का घटित होने वाला सहयोग-कार्य भी है। यहाँ पकड़ने की क्रिया को प्रभावित करने वाली, मात्र हाथ की ही प्रतिक्रियाओं का नहीं, अपितु विशेष

१ वास्तव में यह अन्तर्सम्बन्ध इतना महान् है और उसमें निर्माण के इतने मार्ग वर्तमान हैं कि प्रत्येक उद्दीपन प्रतिचार के अंगों में कोई-न-कोई परिवर्तन उपस्थित ही कर देता है। हम लोग सम्पूर्ण रूप में शारीरिक क्रिया के अधिकांश परिष्कारों की उपेक्षा करने और अपना ध्यान उनकी ओर केन्द्रित करने के आदी हो चुके हैं, जो अवसरोपयोगी उद्दीपनों के लिए विशिष्ट रूप से उपयुक्त हैं।

रूप से उन चाक्षुष उद्दीपनों का प्रवरण होता है, जो ठीक उन्हीं प्रतिक्रियाओं को आहृत करते हैं, किसी अन्य को नहीं और इस प्रकार दोनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। किन्तु, सहयोगकार्य का अन्त यहीं नहीं हो जाता। विशिष्ट उत्तप्त प्रतिक्रियाएँ लक्ष्य-प्राप्ति के बाद ही सम्पन्न हो सकती हैं। आगे चलकर इनका भी प्रवेश कराया जा सकता है, उत्तप्त प्रतिक्रियाएं प्रत्यक्ष रूप से वैकल्पिक उद्दीपन से सम्बन्धित की जा सकती हैं, जैसे हाथ की प्रतिक्रिया दबाए जाने पर होती है—उदाहरण के लिए आग की तेज लौ, निकट सम्पर्क में न आकर भी किसी को दूर भगा सकती है। या जैसे बच्चा किसी चीज का उपयोग करते समय उसके साथ खिलवाड़ करता, उसे तोड़ता-मरोड़ता और उससे ध्वनियाँ निकालता है। तब कर्ण-प्रतिचार, प्रतिचार-प्रणाली में नियोजित होता है। यदि दूसरों द्वारा एक विशिष्ट ध्वनि (रूढ़ नाम) उत्पन्न की जाती है और उसके साथ ही क्रिया सम्पन्न होती है, तो संप्रेक्ष्य-उद्दीपन के साथ कानों तथा ध्वनि-यन्त्र के प्रतिचार भी उस संश्लिष्ट प्रतिचार के सम्बद्ध तत्त्व बन जायेंगे।[1]

३—जितने ही विशिष्ट रूप में प्रतिचार तथा उद्दीपन का परस्पर समन्वय होगा (क्योंकि क्रियाओं के अनुक्रम को महत्त्व प्रदान करने के लिए उद्दीपन को प्रतिक्रियाओं के अनुसार और प्रतिक्रियाओं को उद्दीपन के अनुसार समन्वित किया जाता है), उतने ही अधिक परिदृढ़ तथा कम सामान्य रूप में प्रशिक्षण उपलब्ध होता है। यदि उसकी बराबरी की भाषा का व्यवहार करें, तो कह सकते हैं कि यह कम बौद्धिक या प्रशिक्षात्मक गुण, प्रशिक्षण से सम्बद्ध करता है। इस तथ्य के कथन का सामान्य ढंग यह है कि प्रतिक्रिया जितनी ही विशिष्टता पूर्ण होगी, व्यवहार की अन्य प्रवृत्तियों में स्थानान्तरित करने योग्य पूर्णता तथा अभ्यास के अर्जित कौशल में उतनी ही कमी होगी। सर्वाधिक अनुशासन के रूढ़िवादी सिद्धान्त के अनुसार वर्तनी के पाठ का अध्ययन करते समय शिक्षार्थी उन विशिष्ट शब्दों की वर्तनी दे सकने की योग्यता के साथ-साथ अपनी पर्यवेक्षण, ध्यान तथा पुनर्स्मरण की शक्तियों का भी संवर्द्धन करता है, जिन्हें उन शक्तियों की आवश्यकता पड़ने पर काम में लाया जा सकता है। वास्तव में

१ प्रतिचारों के अनुक्रमात्मक क्रमनियोजन के सम्बन्ध में जो कुछ पहले कहा जा चुका है (देखिए पृष्ठ ५१) उसके साथ इस कथन की तुलना की जानी चाहिए। यह केवल उक्त क्रमागत व्यवस्था के सम्पादन-प्रणाली का अधिक स्पष्ट कथन-मात्र है।

जितना अधिक वह अन्य सम्बन्धित वस्तुओं (जैसे शब्दों का अर्थ, जिन सन्दर्भों में प्राय: उनका प्रयोग किया जाता है, व्युत्पत्ति, क्रिया-रूपों के वर्गीकरण आदि) की उपेक्षा करके केवल रूपों पर ही ध्यान देने तथा दृष्टि गड़ाने तक अपने को सीमित करता है, उतना ही कम वह ऐसी योग्यता प्राप्त कर सकेगा, जो मात्र दृष्टिगत क्रिया-रूपों को देख सकने के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रयुक्त हो सके। वह अपनी योग्यता इतनी भी नहीं बढ़ाता रहता कि ज्योमितिक रूपाकारों में भी शुद्ध विभेद कर सके, अर्थात् सामान्य रूप से पर्यवेक्षण की कुछ भी क्षमता उसमें नहीं आती। वह शब्द-रूपों तथा मौखिक या लिखित पुनर्प्रस्तुतिकरण द्वारा प्रदत्त उद्दीपन का प्रवरण मात्र करता है। सहयोग-क्रिया (अपनी पूर्व प्रयुक्त पदावली का व्यवहार करें तो) का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। जब शिक्षार्थी को मात्र अक्षरों तथा शब्दों के रूपों का ही अभ्यास कराया जाता है, तो वे सम्बन्ध जो अन्य पर्यवेक्षणों तथा पुनर्स्मरणों (या पुनर्प्रस्तुतिकरणों) में नियुक्त होते हैं, जानबूझ कर समाप्त कर दिए जाते हैं। अलग निकाल देने पर आवश्यकता के समय उन्हें पुन: नहीं प्राप्त किया जा सकता। क्रिया-रूपों के पर्यवेक्षण तथा पुनर्स्मरण के लिए प्राप्त की गई योग्यता, अन्य वस्तुओं के पर्यवेक्षण तथा पुनर्स्मरण के काम नहीं आ सकती। सामान्य कथन के रूप में कहें, तो कह सकते हैं कि यह संक्रमणीय नहीं है। लेकिन जितना ही विस्तृत सन्दर्भ होगा—अर्थात् सहयोगी प्रतिचार तथा उद्दीपन जितने ही विविधतापूर्ण होंगे—प्राप्त की गई योग्यता अन्य कार्यों के सफल सम्पादन में उतनी ही अधिक काम आ सकती है, यह परिदृढ़ रूप में नहीं कहा जा रहा है, इसका कारण यह नहीं है कि इसमें कोई 'संक्रमण' होता है, बल्कि इसलिए कि कार्य-विशेष में नियुक्त तत्त्वों का विस्तृत क्षेत्र संकुचित तथा परिदृढ़ सहयोग-कार्य की बजाय नमनशील क्रिया के विस्तृत क्षेत्र के अनुरूप है।

४—विषय के मूल में जाएँ, तो ज्ञात होता कि इस सिद्धान्त का मूल दोष इसका द्वैतवाद है—अर्थात् क्रियाओं तथा शक्तियों का विषय-सामग्री से अलगाव। सामान्य रूप से देखने, सुनने, स्मरण करने की योग्यता जैसी कोई चीज नहीं होती, सिर्फ 'किसी वस्तु' के देखने, सुनने या स्मरण करने की योग्यता होती है। किसी मानसिक या शारीरिक शक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित विषय-सामग्री से अलग उसके प्रशिक्षण की बात करना अर्थहीन है। रक्त-संचार, श्वास-क्रिया तथा पाचन-क्रिया पर व्यायाम, बल-विक्रम बढ़ाने वाली प्रतिक्रिया कर सकता है; किन्तु इस सुरक्षित-कोष को उपलब्ध करना उनकी पूर्ति करने वाले भौतिक

साधनों के सम्बद्ध उपयोग द्वारा ही सम्भव है। बल किसी भी व्यक्ति को निर्बल होने की तुलना में अधिक अच्छी तरह टेनिस या गोल्फ खेलने या नाव खेने के योग्य बनाता है। किन्तु, क्या गेंद तथा बल्ला, गेंद और क्लब, डांड़ तथा पतवार के विशेष ढंग से उपयोग द्वारा ही इनमें से किसी एक में निपुणता प्राप्त कर लेता है और एक में प्राप्त की गई निपुणता दूसरे में वहीं तक निपुणता प्राप्त कराती है, जहाँ तक यह एक सुन्दर मांसल शरीर की सहकारिक कुशलता का चिह्न है या उन सब में उसी एक प्रकार का सहकार्य संलग्न है। वर्तनी दे सकने की योग्यता, जो दृष्टिगत रूपों को संकुचित सन्दर्भ में ग्रहण करने से आती है और उसमें जो अर्थ ग्रहण करने के लिए वांछित क्रियाओं के सन्दर्भ में उन्हें ले जाती हैं, जैसे प्रसंग, सुघरता का सम्पर्क आदि दोनों में जो अन्तर है, उसकी तुलना उस अन्तर से की जा सकती है, जो व्यायामशाला में उपकरण-विशेष की सहायता से कुछ विशिष्ट मांसपेशियों के संवर्द्धन के लिए किए गए व्यायाम तथा खेलकूद में होता है। पहला एक रूप तथा यान्त्रिक है, यह परिदृढ़ रूप से विशिष्टतायुक्त है, दूसरा क्षण-प्रतिक्षण विविध रूपी है, कोई भी दो क्रियाएँ एक समान नहीं हैं, नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है, सहकारिता के रूपों की लोच और नमनशीलता बनाए रखने की आवश्यकता पड़ती है। परिणाम-स्वरूप प्रशिक्षण, अधिकांश रूप में 'सामान्य' होता है, अर्थात् यह विस्तृत क्षेत्र घेरता है और अधिक तथ्यों को अन्तर्निहित करता है। ठीक यही बात मन की सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा पर भी लागू होती है।

एक शुष्क, एक रूपात्मक अभ्यास बार-बार किए जाने पर किसी विशेष कार्य के करने की महान् निपुणता प्रदान कर सकता है; किन्तु यह निपुणता बही-लेखन या सुगम कलन-पद्धति के क्षेत्र में गणना, या हाइड्रो-कार्बोन्स के क्षेत्र में प्रयोग करने आदि, जिस किसी की हो, केवल उसी एक कार्य तक सीमित रहती है। किसी एक क्षेत्र-विशेष का अधिकारी विशेषज्ञ प्रायः उन विषयों के सम्बन्ध में, जो उक्त क्षेत्र से सम्बद्ध नहीं है, बड़ी निर्बल किस्म की निर्णय क्षमता रखता है, जब तक कि उस क्षेत्र-विशेष में उसे दिया गया प्रशिक्षण इस प्रकार का न हो कि वह अन्य क्षेत्रों के विषयों में भी दखल रख सके।

५—स्वरूप, पर्यवेक्षण, पुनस्स्मरण, निर्णय, सौन्दर्यात्मक रुचि आदि जैसी शक्तियाँ विशिष्ट विषय-सामग्रियों के साथ आदिम क्रियात्मक-प्रवृत्तियों के व्यवहार का प्रतिनिधित्व करती हैं। कोई व्यक्ति पर्यवेक्षण शक्ति को कार्य-निरत करने के लिए बटन दबा कर ही घनिष्ट रूप में तथा पूरी तरह से पर्यवेक्षण

नहीं कर लेता (दूसरे शब्दों में केवल पर्यवेक्षण की 'इच्छा'-मात्र से ही); किन्तु यदि उसे कोई ऐसा काम करना रहता है, जिसका सफल सम्पादन आँखों तथा हाथों के घनिष्ट तथा व्यापक उपयोग द्वारा ही सम्भव होता है, तो वह स्वाभाविक रूप से पर्यवेक्षण करता है। पर्यवेक्षण विषय-सामग्री तथा ज्ञानेन्द्रियों की अन्तर्क्रिया का परिणाम या प्रतिफल है। प्रयुक्त विषय-सामग्री के अनुसार इसमें अन्तर आता जाता है।

इस प्रकार पर्यवेक्षण, स्मरण आदि की शक्तियों के अन्तिम विकास का नियोजन बिल्कुल व्यर्थ है, जब तक कि हम पहले यह न तय कर लें कि शिक्षार्थी किस उद्देश्य से तथा किस विषय-सामग्री के पर्यवेक्षण तथा पुनस्मरण में विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहता है। और यह उस पूर्वकथन का पृष्ठ-पेषण-मात्र है, जिसमें कहा गया है कि इसका मानदण्ड सामाजिक होना चाहिए। हम चाहते हैं कि व्यक्ति उन चीजों का निरीक्षण, पुनस्मरण तथा मूल्यांकन करे, जो उसे उस समुदाय का एक प्रभावशाली सफल सदस्य बनाती है, जिसमें वह दूसरों से अन्तसंम्बद्ध है। नहीं तो हम शिक्षार्थी को दीवाल पर पड़ी हुई दरारों के गहन पर्यवेक्षण, किसी अज्ञात भाषा की अर्थहीन शब्द-तालिका के स्मरण आदि का काम दे सकते हैं और वास्तव में जब हम सविधिक अनुशासन के सिद्धान्त को काम में लाते हैं, तो यही करते हैं। यदि किसी वनस्पति-शास्त्री, रसायन-शास्त्री या अभियान्ता की पर्यवेक्षण-वृत्तियाँ इस प्रकार निर्मित वृत्तियों से इसीलिए श्रेष्ठ हैं; क्योंकि ये ऐसी विषय-सामग्री से सम्बन्ध रखती हैं, जो जीवन में अधिक महत्त्व रखती हैं।

प्रस्तुत विवचन के इस अंश को समाप्त करते हुए हम देखते हैं कि विशिष्ट तथा सामान्य शिक्षा के अन्तर का, क्रिया या शक्ति की संक्रमणात्मकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। शाब्दिक रूप में कोई भी संक्रमण आश्चर्योत्पादक तथा असम्भव है, किन्तु कुछ क्रियाएँ व्यापक होती हैं, वे अनेक तत्त्वों को सम स्तर पर ला देती हैं। उनके विकास के लिए सतत परिवर्तन तथा पुर्नसमायोजन की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ परिवर्तित होती जाती हैं, वैसे-वैसे कुछ तत्त्व गौण स्थान ग्रहण कर लेते हैं और कुछ जो गौण महत्त्व के रहते हैं, प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेते हैं। क्रिया के लक्ष्य-विम्ब का निरन्तर पुर्नवितरण होता रहता है, जैसा कि हम किसी खेल के उदाहरण या किसी भार को एक ही प्रकार की सतत क्रिया द्वारा खींचने में देखते हैं। इस प्रकार विषय-सामग्री में हुए परिवर्तन के अनुसार नवीन समन्वयों के तात्कालिक निर्माण के लिए क्रिया का लक्ष्यविम्ब

बदलता रहता है। जहाँ कहीं भी किसी क्रिया का क्षेत्र-विस्तार व्यापक होता है (अर्थात् अधिक संख्या में विविध उपक्रियाओं को सम स्तर पर लाती है) और निरन्तर तथा अप्रत्याशित रूप से अपने प्रगतिशील विकास में दिशा परिवर्तन करती रहती है, वहाँ सामान्य शिक्षा का प्रतिफलित होना अनिवार्य है ; क्योंकि 'सामान्य' का अर्थ ही है व्यापक तथा नमनशील है। जहाँ तक यह सामाजिक सम्बन्धों का ध्यान रखता है, शिक्षण सामान्य होने के कारण उक्त परिस्थितियों की पूर्ति करता है। कोई व्यक्ति पारिभाषिक दर्शन या भाषा विज्ञान, अथवा गणित या अभियान्त्रिकी या अर्थ-शास्त्र का विशेषज्ञ हो सकता है और अपनी विशेषता के क्षेत्र से बाहर अपनी क्रिया तथा निर्णय में वह अज्ञान या गलत जानकारी रखने वाला हो सकता है। यदि इन विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित उसकी जानकारी सामाजिक व्यापकता वाली क्रियाओं से युक्त हो, तो खेल तथा नमनीय रूप में संघटित स्थिति में आहूत सक्रिय प्रतिचार बहुत अधिक व्यापक होते हैं। विषय-सामग्री को सामाजिक सन्दर्भ से अलग रखने से ही आजकल की पद्धति में मन के सामान्य प्रशिक्षण की उपलब्धि में विशेष बाधा पड़ रही है। इस तरह अलग रखने पर साहित्य, कला, धर्म आदि सभी उतने ही सीमित करने वाले हैं, जितनी ये प्रविधिक वस्तुएँ, जिनका विरोध सामान्य शिक्षा के व्यावसायिक समर्थक अत्यन्त तीव्र रूप में करते हैं।

अध्याय का सारांश

यह धारणा कि शिक्षण-प्रक्रिया का प्रतिफल आगामी शिक्षण ग्रहण करने की शक्ति है, कुछ अन्य विचारों के विरोध में पड़ सकती है, जिन्होंने शिक्षण-अभ्यास को गम्भीर रूप में प्रभावित किया है। पहली विरोधी धारणा, जिस पर विचार किया गया है, वह किसी आगामी कर्तव्य या विशेषाधिकार के लिए उपक्रम करने या तैयार होने की है। इसके प्रमुख दोष की ओर संकेत किया गया है, जिनके परिणाम-स्वरूप शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों का ध्यान उस एकमात्र लक्ष्य-बिन्दु से हट जाता है, जिसकी तरफ इसे सफलतापूर्वक लगाया जाना चाहिए ; मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान की आवश्यकताओं तथा सम्भावनाओं का लाभ उठाने की ओर से। परिणाम यह होता है कि यह स्वयं अपने निज के कथित लक्ष्य को ही पराजित कर देता है। यह धारणा कि शिक्षा अन्तःवृत्तियों का प्रस्फुरण है, पूर्व प्रतिपादित विकास-सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। किन्तु, जैसा फ्रॉबेल तथा हीगेल के सिद्धान्तों में इसे प्रतिपादित किया गया है ; यह तात्कालिक

वातावरण के साथ वर्तमान शारीरिक वृत्तियों की अन्तर्क्रिया की उतनी ही उपेक्षा करती है, जितनी उपक्रम की धारणा। इसमें एक बने-बनाए स्पष्ट पूर्ण की कल्पना कर ली गई है और विकास का महत्त्व-मात्र सांक्रान्तिक होता है, यह अपने-आप में लक्ष्य नहीं है, बल्कि एक ऐसी वस्तु को स्पष्ट करने का साधन है, जो पहले से ही स्पष्ट है। अब चूँकि जो स्पष्ट नहीं है, उसका निश्चित उपयोग नहीं किया जा सकता; अतः इसका प्रतिनिधित्व करने वाली किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। फ्रॉवेल के अनुसार कुछ विशिष्ट वस्तुओं तथा क्रियाओं (अधिकांश रूप में गणित-सम्बन्धी) का रहस्ययुक्त प्रतीकात्मक अभिमूल्य उस चरमपूर्ण का प्रतिनिधित्व करता है, जो प्रस्फुरण की प्रक्रिया में रहता है। हीगेल के अनुसार वर्तमान संस्थाएँ इसका वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रतीकों तथा संस्थाओं पर बल दिए जाने के कारण दृष्टि अर्थ की सम्पन्नता में अनुभवों के प्रत्यक्ष विकास की ओर से हट जाती है। एक अन्य प्रभावशाली किन्तु दोषपूर्ण सिद्धान्त वह है, जिसकी धारणा है कि जन्मकाल से ही मन की कुछ विशेष मानसिक शक्तियाँ या क्षमताएँ होती हैं—जैसे पर्यवेक्षण, स्मरण, इच्छा करने, मूल्यांकन, समानीकरण, ध्यान देने आदि की—और पुनरावर्तित अभ्यास द्वारा शिक्षा का काम इन शक्तियों का प्रशिक्षण मात्र है। यह सिद्धान्त विषय-सामग्री को आपेक्षिक रूप से बाह्य तथा अलग की वस्तु समझता है, जिसका महत्त्व सिर्फ इतना ही है कि इससे सामान्य शक्तियों के उपयोग का अवसर मिल सकता है। इसकी आलोचना इन कल्पित शक्तियों के पारस्परिक अलगाव तथा उस विषय—विषय-वस्तु के अलगाव के आधार पर की गई है, जिस पर ये कार्य करती हैं। व्यवहार में इस सिद्धान्त का फल यह हुआ कि प्रेरणात्मक, उपज्ञात्मकता तथा पुनराभिकल्नात्मकता —ऐसे गुणों की कीमत पर कौशल की विशिष्ट संकुचित वृत्तियों के प्रशिक्षण पर बल डाला गया, जो विशिष्ट क्रियाओं की सतत पारस्परिक अन्तरक्रियाओं पर आधारित हैं।

६

शिक्षा का रूढ़िवादी तथा प्रगतिशील स्वरूप

शिक्षा : निर्माण के रूप में

अब हम ऐसे सिद्धान्त पर आते हैं, जो शक्तियों की स्थिति को अस्वीकार करता है और मानसिक तथा नैतिक संस्कारों के विकास में विषय-सामग्री के अद्वितीय कार्य पर बल देता है। इसके अनुसार, शिक्षा न तो अन्दर से प्रस्फुरण की प्रक्रिया है, और न स्वयं मन में निवास करने वाली विभिन्न शक्तियों का प्रशिक्षण ही। यह बाह्य रूप से प्रस्तुत विषय-सामग्री के माध्यम से अन्तर्वस्तु के कतिपय संघातों अथवा सम्बन्धों के संस्थापन द्वारा मन का निर्माण है। शिक्षा, शाब्दिक अर्थों में प्राप्त किए गए आदेशों से उत्पन्न होती है, अर्थात् इसमें बाहर से मन में कुछ निर्माण होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा से मन का निर्माण होता है, यह पूर्ण निश्चित धारणा है ; किन्तु निर्माण का यहाँ एक प्रविधिक अर्थ है, जो बाहर से कार्य करने वाले कतिपय अवयवों के भाव पर निर्भर है।

इस प्रकार के सिद्धान्त का सब से अच्छा ऐतिहासिक प्रतिनिधि हर्बर्ट है। वह जन्मजात शक्तियों के अस्तित्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता है। मन में केवल उस पर कार्य करने वाली विभिन्न वास्तविकताओं की प्रतिक्रिया में विभिन्न गुणों को उत्पन्न करने की शक्ति मात्र होती है। यह गुणात्मक रूप से विभिन्न प्रतिक्रियाएँ संस्कार (वोर्स्टेलुंगेन) कहलाती हैं। प्रत्येक प्रस्तुत संस्कार एक बार आ जाने पर स्थिर रहता है ; आत्मा की नई सामग्री पर की गई प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न नवीन तथा अधिक शक्तिशाली संस्कार द्वारा यह चेतना से नीचे कर दिया जा सकता है ; किन्तु चेतना के धरातल के नीचे ही, इसकी क्रिया अपनी समवायी शक्ति के कारण चलती रहती है। जिन्हें शक्तियाँ कहा जाता है, जैसे—ध्यान, स्मृति, विचार, प्रत्यक्षीकरण और स्थायीभाव आदि भी इन दबे हुए मानसिक संवेदनों के एक दूसरे के साथ तथा नवीन संस्कारों के साथ की पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा निर्मित प्रबन्ध, संघात और संश्लेषण है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्षीकरण, उन संवेदनों का संश्लेषण है, जो प्राचीन संवेदनों के नए संवेदनों के साथ जुड़ने से उत्पन्न होते

हैं। स्मृति, दूसरे संवेदनों के साथ के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कारों को चेतना की सीमा के ऊपर लाना है ; इत्यादि। आनन्द, संस्कारों की स्वतंत्र क्रियाओं के सहयोगपूर्वक चलने से उत्पन्न होता है। और यदि उनमें आपस में विभिन्न दिशाओं का खिचाव होता है, तो दुःख उत्पन्न होता है ; इत्यादि। इस प्रकार मन के स्थूल स्वरूप के अन्तर्गत, पूर्णरूप से विभिन्न संस्कारों द्वारा उनके विभिन्न गुणों में निर्मित अनेक प्रवन्ध आते हैं। मन की निर्मायक वस्तु मन ही में होती है। यह पूर्ण रूप से अन्तर्वस्तुओं का विषय है। इस सिद्धान्त के शैक्षणिक निष्कर्ष तीन हैं--(१) प्रकार-विशेष के मन का निर्माण उन वस्तुओं के प्रयोग द्वारा हो सकता है, जो विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाओं को उद्दीप्त करती हैं, और जो उत्पन्न प्रतिक्रियाओं में विशेष प्रकार के प्रवन्धों का निर्माण करती हैं। मन का निर्माण पूर्णतः उचित प्रकार के शैक्षणिक सामग्रियों के प्रस्तुतिकरण का विषय है। (२) चूँकि पहले के आए हुए संस्कार 'पुनः प्रत्यक्षीकरण के अंगों' का निर्माण करते हैं, जो नवीन संस्कारों को आत्मसात् करने का नियंत्रण करते हैं, इसलिए उनका स्वरूप महत्त्वपूर्ण है। नवीन संस्कारों का प्रभाव पूर्व-निर्मित संस्कार-समुदायों के पुनर्समायोजन पर वल देना है। शिक्षक का कार्य पहले तो मौलिक प्रतिक्रियाओं के स्वभाव को निश्चित करने के लिए उचित सामग्री चुनना, और दूसरे, पूर्व-संस्कारों द्वारा प्राप्त भावों के संचय के आधार पर वाद में आने वाले संस्कारों के क्रम का प्रवन्ध करना है। नियंत्रण, जैसा कि प्रस्फुरण की धारणा में होता है, चरम लक्ष्य के वजाय पीछे अर्थात् भूतकाल से होता है। (३) शिक्षा की सारी विधि के कतिपय सविधिक सोपान लिखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि नवीन विषय-सामग्री का प्रस्तुतिकरण मुख्य वात है ; किन्तु चूँकि ज्ञान-प्राप्ति उस विधि में होती है, जिसमें यह पहले ही चेतना के नीचे दवी अन्तर्वस्तुओं के साथ पारस्परिक क्रिया करता है, इसलिए पहली वात तैयारी का सोपान है, अर्थात् उन प्राचीन संस्कारों को विशेष क्रिया में लगाना और चेतना में लाना है, जिन्हें नवीन संस्कारों को आत्मसात् करना है। प्रस्तुतिकरण के वाद नवीन तथा प्राचीन संस्कारों की पारस्परिक क्रिया की प्रक्रियाएँ होती हैं ; तव नवीन निर्मित अन्तर्वस्तु का किसी कार्य के करने में संप्रयोग होता है। प्रत्येक वस्तु इसी क्रम से गुजरती है ; परिणाम-स्वरूप सभी आयु के सभी विद्यार्थियों के लिए सभी विषयों की शिक्षा में पूर्ण-रूप से एक ही समविधि अपनाई जाती है।

हर्वर्ट का मुख्य महत्त्व इस वात में निहित है कि उसने शिक्षण को यांत्रिक तथा आकस्मिक क्रिया के क्षेत्र से वाहर निकाल लिया। और इसे सचेष्ट विधि के

क्षेत्र में ले आया। यह सामयिक प्रेरणाओं तथा परंपरा की अधीनता का यौगिक होने के बजाय, निश्चित उद्देश्य तथा प्रणाली का सचेष्ट कार्य बन गया। इसके अतिरिक्त चरम आदर्शों तथा विचारात्मक आध्यात्मिक प्रतीकों के सम्बन्ध, अस्पष्ट तथा लगभग रहस्यात्मक सामान्यताओं से ही संतुष्ट रहने के बजाय, अध्यापन तथा अनुशासन में प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती थी। उसने ऐसी पूर्व-स्थित शक्तियों की धारणा को मिटा दिया, जिन्हें किसी भी प्रकार की सामग्री पर कार्य करके प्रशिक्षित किया जा सके; और स्थूल विषय-सामग्री, अर्थात् अन्तर्वस्तु पर ध्यान देने को सर्वाधिक महत्त्व दिया। निस्संदेह अध्ययन की सामग्री से संबंधित प्रश्नों को सामने लाने में हर्बर्ट का प्रभाव किसी भी दूसरे शैक्षणिक दार्शनिक से अधिक था। उसने विधि के, विषय-सामग्री के साथ के संबंधों के दृष्टिकोण से विधि की समस्याओं को स्पष्ट किया तथा ऐसी विधि प्रस्तुत की जिसमें प्राचीन विषय-सामग्री के साथ नवीन विषय-सामग्री को, उचित पारस्परिक क्रिया को निश्चित करने के लिए, नवीन विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने के ढंग तथा क्रम पर विचार किया गया था।

इस विचारधारा का मूलभूत सैद्धांतिक दोष यह है कि इसमें व्यक्ति के अन्दर रहने वाली उन सक्रिय तथा विशिष्ट क्रियाओं की उपेक्षा की गई है, जिनका वातावरण के संघर्ष के साथ-साथ पुर्ननिर्देश तथा संयोग द्वारा विकास होता है। सिद्धांत में अध्यापक के ही विचारों को कार्यान्वित करने पर बल दिया गया है। इसी तथ्य से इस विचारधारा की शक्ति तथा दुर्बलता दोनों ही व्यक्त होती हैं। इस धारणा में, कि मन में वही होता है, जो कुछ पढ़ाया गया है, और जो कुछ पढ़ाया गया उसका महत्त्व, बाद की शिक्षा के लिए प्राप्य होने में निहित है, शिक्षक ही की जीवन-दृष्टि का परावर्तन होता है। शिष्यों को आदेश देने में अध्यापक के कर्तव्य के संबंध में तो यह दर्शन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है; किन्तु उसके ज्ञानार्जन के सुअवसर और उसके लाभ के संबंध में लगभग इसमें कुछ भी नहीं कहा गया है। यह मन पर बौद्धिक वातावरण के प्रभाव पर बल देता है; किन्तु यह विचार इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता कि वातावरण में सर्वनिष्ठ अनुभवों में व्यक्तिगत सहयोग भी निहित है। इसमें सचेष्ट रूप से सूत्रबद्ध और प्रयुक्त विधियों की संभावना को अनावश्यक महत्त्व दिया गया तथा सजीव अचेतन मनोवृत्तियों के कार्य को कम महत्त्व दिया गया है। यह प्राचीन, तथा भूतकाल पर बल देता है और वस्तुतः नवीन तथा अदृश्य क्रियाओं पर ध्यान नहीं देता। संक्षेप में, यह शिक्षा के

मूल तत्त्व—उस सजीव शक्ति के अतिरिक्त, जो प्रभावशाली क्रिया करने के लिए अवसर ढूंढा करती है, लगभग प्रत्येक शैक्षणिक पहलू पर विचार करता है। संपूर्ण शिक्षा, मानसिक तथा नैतिक चरित्र का निर्माण करती है। किन्तु निर्माण, जन्मजात क्रियाओं, प्रवरण तथा संयोग में निहित है, ताकि वे सामाजिक वातावरण की विषय-सामग्री का उपयोग कर सकें। इसके अतिरिक्त निर्माण, केवल जन्मजात क्रियाओं का ही निर्माण नहीं है, यह उनके माध्यम द्वारा होने वाला निर्माण है। यह पुनर्समायोजन तथा पुनंसंघटन की प्रक्रिया है।

शिक्षा : पुनर्स्मरण तथा पुनरागमन के रूप में

बाहर से विकास तथा निर्माण के विचारों के अनोखे मिश्रित भाव ने शिक्षा के शारीरिक तथा सांस्कृतिक पुनर्स्मरण के सिद्धांत को जन्म दिया है। व्यक्ति विकास करता है, किन्तु उसका उचित विकास क्रमागत सोपानों में प्राणी-जीवन तथा मानव-इतिहास के भूतकालीन विकास को दुहराने में निहित है। प्राणी-जीवन का पुनर्स्मरण शारीरिक रूप से होता है, और सांस्कृतिक पुनर्स्मरण को शिक्षा के माध्यम द्वारा किया जाना चाहिए। इस कथित प्राणि-शास्त्रीय सत्य से कि अपने साधारण भ्रूण से लेकर वयस्कता तक के विकास में व्यक्ति, सर्वाधिक साधारण से लेकर सर्वाधिक संश्लिष्ट रूपों की उन्नति में हुए प्राणी-जीवन के विकास के इतिहास को दुहराता है, हमारा संबंध नहीं है। केवल जहाँ तक इसे भूत-काल के सांस्कृतिक पुनर्स्मरण की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के रूप में स्वीकार किया जाता है, वहीं तक हम इससे संबंधित हैं। सांस्कृतिक पुनर्स्मरण सर्वप्रथम यह कहता है कि बालक एक निश्चित आयु होने तक असभ्यता की मानसिक तथा नैतिक दशा में रहते हैं। उनकी मूल प्रवृत्तियाँ उच्छृंखल तथा अपहरण मूलक होती हैं, क्योंकि उनके पूर्वज एक समाज में ऐसा ही जीवन बिताते थे। परिणाम-स्वरूप (अतएव यह निष्कर्ष निकाला जाता है) ऐसे समय पर उनकी शिक्षा की उचित विषय-सामग्री —विशेषकर पौराणिक गाथाओं, लोक-कथाओं तथा गीतों की साहित्यिक सामग्री—उसी प्रकार के सोपान की मानवता द्वारा उत्पन्न की गई सामग्री ही है। इसके बाद बालक, पशुपालन-युग के अनुरूप के सोपान में आता है। और इस प्रकार क्रमशः उस समय तक आता है, जब कि वह सम-सामयिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार हो जाता है। अन्त में वह संस्कृति के वर्त्तमान स्तर पर आ जाता है।

इस विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप में, यह सिद्धांत, जर्मनी के एक छोटे-से समुदाय (प्रायः हर्बर्ट के अनुयायियों के) के बाहर बहुत कम ही प्रचलित है; किन्तु उसमें निहित भाव यह है कि शिक्षा मौलिक रूप से पूर्वानुवर्ती होती

है, अर्थात् प्राथमिक रूप से यह भूतकाल की ही ओर देखती है तथा विशेषकर भूतकाल की साहित्यिक उत्पत्तियों की ओर; और मन का यथेष्ट रूप में निर्माण उतना ही अधिक होता है, जितना कि वह भूतकाल की आध्यात्मिक संपत्ति के आधार पर निर्मित होता है। विशेषकर उच्च शिक्षा पर इस विचार का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि इस पर विचार अनिवार्य हो जाता है।

पहले तो इसका जीव-वैज्ञानिक आधार ही भ्रामक है, निःसंदेह मानव शिशु के भ्रूण-विकास में जीवन के निम्न रूपों की कुछ विशेषताएँ सुरक्षित होती हैं; किन्तु किसी भी रूप में यह भूतकालीन सोपानों का ठीक-ठीक पिष्टपेषण नहीं है। यदि पिष्टपेषण का कोई भी परिदृढ़ विधान होता, तो प्रत्यक्ष रूप से विकासवादी ढंग से विकास न होता। प्रत्येक नवीन पीढ़ी ने केवल अपने पूर्वजों की स्थिति की पुनरावृत्ति कर दी होती। संक्षेप में विकास, वृद्धि के पूर्वक्रम में रूपान्तर होने तथा अधिक सीधे मार्गों को अपनाए जाने के कारण उत्पन्न हुआ है। और इससे यह संकेत मिलता है कि शिक्षा का उद्देश्य ऐसे अधिक सरलतापूर्वक बिताए जाने वाले जीवन को सुविधाजनक बनाना है। शैक्षणिक रूप से अवयस्कता का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके होने के कारण हम बालक को बीत गए भूतकाल में ही रहने से बचा सकते हैं। शिक्षा का कार्य बालक को भूतकाल के पुनरावर्तन की ओर ले जाने की अपेक्षा इसे इसके पुनर्स्मरण तथा पुनरागमन से छुटकारा देना है। बालक के सामाजिक वातावरण में सभ्य व्यक्तियों की विचार तथा अनुभव करने की आदतें उपस्थित होती हैं तथा क्रियाशील रहती हैं, इस वर्तमान वातावरण का बालक पर जो निर्देशक प्रभाव पड़ता है, उसकी उपेक्षा करना, शैक्षणिक प्रक्रिया को अपंग कर देना है। एक जीव-शास्त्री ने कहा है कि, "विभिन्न प्राणियों के विकास का इतिहास हमें पुनरावर्तन की आवश्यकता से बचने तथा पूर्व-पुरुषों की विधि के बजाय अधिक सीधी विधि स्थानापन्न करने के लिए किए गए अनवरत, निश्चित, अनेक प्रकार के, किन्तु लगभग असफल प्रयत्नों का क्रम प्रदान करता है। निश्चय ही यदि शिक्षा सचेष्ट अनुभव में ऐसे प्रयत्नों को अधिकाधिक सफल बनाने के लिए क्रियाशील न रहेगी, तो व्यर्थ होगी।

इस धारणा की सत्यता के दोनों अवयवों को उन गलत संदर्भों से सरलतापूर्वक अलग किया जा सकता है, जो इसे दूषित बनाते हैं। जीव-शास्त्री पक्ष में तथ्य यह है कि कोई भी शिष्य निश्चय ही कतिपय मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं से विकास प्रारम्भ करता है और यह क्रियाएँ अंधी, बहुत-सी एक दूसरे

की विरोधी, उच्छृंखल तथा उनके तात्कालिक वातावरण से असमायोजित होती हैं। दूसरी बात यह है कि जहां तक भूतकालीन इतिहास की उपलब्धियां, भविष्य के लिए सहायक हों, वहाँ तक उनका उपयोग कर लेना बुद्धिमानी ही है। चूँकि उनमें पूर्ण अनुभव के परिणाम निहित होते हैं ; इसलिए इसमें संदेह नहीं कि भावी अनुभव के लिए उनका महत्त्व बहुत अधिक हो सकता है। भूतकाल में उत्पन्न हुए साहित्य, जहाँ लोग उनका प्रयोग करते हैं और प्राप्य हैं, व्यक्तियों के वर्तमान वातावरण के अंग हैं ; किन्तु उन्हें वर्तमान साधन समझ कर उपयोग करने तथा उनके पुनरानुवर्तक स्वरूप को मापदंड-स्वरूप मान लेने में बड़ा अन्तर है।

१--पहली बात साधारणतः वंश-परम्परा के भाव के दुष्प्रयोग के कारण विकृत हो जाती है। यह मान लिया जाता है कि वंशानुसंक्रमण का अर्थ यह होता है कि भूतकालीन समय ने किसी प्रकार व्यक्ति के मुख्य गुणों को पूर्व निश्चित कर दिया है, तथा वे गुण इस प्रकार से स्थाई बना दिए गए हैं कि उनमें बहुत कम ही परिवर्तन लाया जा सकता है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर वंश-परम्परा का प्रभाव, वातावरण का विरोधी हो जाता है। और वातावरण का प्रभाव बहुत कम हो जाता है ; किन्तु शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए वंशानुसंक्रान्त गुणों का अर्थ न तो व्यक्ति की मौलिक शक्तियों से कम है न अधिक। शिक्षा को, व्यक्ति जैसा है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् व्यक्ति-विशेष में जन्मजात शक्तियों की केवल अमुक-अमुक क्षमताएँ हैं। यह मौलिक तथ्य है। शिक्षक के लिए इसका विशेष महत्त्व नहीं है कि वे अमुक रूप से उत्पन्न होती हैं अथवा वे व्यक्ति की वंश-परम्परा से प्राप्त होती हैं। उनके वर्तमान रूप की तुलना में उनका महत्त्व, शिक्षा-शास्त्री के लिए हो सकता है। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति को, दूसरे व्यक्ति को उसकी वंश-परम्परा से प्राप्त संपत्ति के बारे में सलाह अथवा निर्देश देना है। यहाँ वंश-परम्परा का तथ्य इसके भावी प्रयोग को पूर्व निश्चित करता है, यह कल्पना कर लेने की धारणा स्पष्ट है। सलाह देने वाले को, यहाँ जो कुछ वर्तमान है, उसका सर्वोत्तम उपयोग करना है, अर्थात् उसे सर्वाधिक वांच्छनीय परिस्थितियों में काम में लाना है। स्पष्ट है कि जो कुछ वर्तमान नहीं, उसका उपयोग नहीं किया जा सकता ; इसी प्रकार शिक्षक भी नहीं कर सकता। इस प्रकार वंश-परम्परा शिक्षा की सीमा है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने से हम व्यक्ति को शिक्षा द्वारा ऐसा बना लेने के प्रयत्न की अनावश्यक रूप से प्रचलित आदत से उत्पन्न होने वाली परेशानी तथा शक्ति

के व्यर्थ हो जाने से बच जाएँगे, जो कुछ वह स्वाभाविक रूप से बनने के योग्य नहीं है। किन्तु यह सिद्धान्त यह नहीं निश्चित करता कि निश्चित शक्तियों का क्या उपयोग किया जायगा। और केवल जड़ व्यक्तियों को छोड़ कर लगभग मूर्खों में भी मौलिक शक्ति इतनी विलक्षण तथा विभिन्न होती हैं कि हम अभी तक यह नहीं जान सके हैं कि उनका कैसे उचित उपयोग किया जाय। परिणाम-स्वरूप जहाँ व्यक्ति की जन्मजात मनोवृत्तियों और उनकी कमियों का सचेष्ट अध्ययन सदैव प्रारंभिक आवश्यकता है, वहीं उत्तरकालीन सोपान यह है कि जो क्रियाएँ वर्तमान हैं, उन्हें यथेष्ट रूप से क्रियाशील बनाने के लिए वातावरण उपस्थित किया जाय।

वंश-परंपरा तथा वातावरण का संबंध भाषा के संबंध में सब से अधिक व्यक्त होता है। यदि किसी प्राणी में ऐसे वाक्-अंग न हों, जिनसे स्पष्ट शब्द-ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, यदि उस में कान अथवा अन्य ग्राहक इंद्रियाँ न हों, और इन दोनों उपकरणों के बीच संबंध न हो, तो उसे वार्तालाप सिखाने के प्रयत्न में समय लगाना व्यर्थ ही होगा। उसमें जन्म से ही वार्तालाप कर सकने की क्षमता न होगी, और शिक्षा को यह सीमा स्वीकार ही करनी पड़ेगी। किन्तु यदि उसमें ये जन्मजात शक्तियाँ हैं, तो भी केवल इसी से यह निश्चय नहीं हो सकता कि वह कभी भी कोई भाषा बोल सकेगा, अथवा कौन-सी भाषा बोलेगा। वह वातावरण ही इन बातों को निश्चित कर सकता है, जिसमें उसकी क्रियाएँ होती हैं, और जिसके द्वारा वे क्रियाशील होती हैं। यदि वह ऐसे गूंगे-बहरे सम्पन्न असामाजिक वातावरण में रहे, जहाँ लोग एक दूसरे से बातचीत न करते हों, और केवल उन्हीं न्यूनतम भाव-भंगिमाओं का प्रयोग करें, जिनके बिना वे रह ही नहीं सकते, तो वार्तालाप की भाषा का वैसे ही विकास नहीं होगा, जैसे कि उसके वाक्-अंग ही न हों। वे ध्वनियाँ, जो वह उत्पन्न करता है, अगर ऐसी हों जैसी चीनी भाषा-भाषियों के माध्यम में होती हैं, तो वह भी उसी प्रकार के शब्दों के अनुसार अपनी क्रियाओं को चुनेगा, और वे उन विशेष शब्दों के साथ संबद्ध हो जाएँगी। यह उदाहरण किसी व्यक्ति की पूर्व शैक्षणिक योग्यता के विस्तार के लिए संप्रयुक्त किया जा सकता है। यह भूत से वंशानुसंक्रांत वर्तमान को माँगों तथा अवसरों के उचित संबंध में रखता है।

२—यह सिद्धांत कि शिक्षा की उचित विषय-सामग्री, भूतकाल की सांस्कृतिक उपलब्धियों से प्राप्त होती है (चाहे सामान्य रूप से अथवा विशेषकर उन विशिष्ट साहित्यों में जो उस सांस्कृतिक युग में उत्पन्न हुई थीं,

जो विकास के उस स्तर के अनुरूप हों, जो पढ़ाया जाना हो) ; विकास की प्रक्रिया तथा उत्पत्ति के उस विलगाव का दूसरा उदाहरण प्रदान करता है, जिसकी आलोचना की गई है। शैक्षणिक विषय-सामग्री का कार्य, इस प्रक्रिया को सजीव बनाए रखना, और ऐसे ढंग से सजीव बनाए रखना है, जो भविष्य में इसे जीवित रखने में सहायक हो। किन्तु व्यक्ति तो केवल वर्तमान में ही रह सकता है। वर्तमान केवल वह ही नहीं है, जो कुछ भूत के पश्चात् आता है, और न केवल उससे उत्पन्न किया हुआ ही होता है। यह भूतकाल को पीछे छोड़ देने पर जीवन का व्यतीत होता हुआ रूप ही वर्तमान है। भूतकालीन उपलब्धियों का अध्ययन हमें वर्तमान को समझने में नहीं सहायक होगा ; क्योंकि वर्तमान का कारण ये उपलब्धियाँ नहीं, वरन् वह जीवन है जिसमें ये उत्पन्न हुई थीं। भूतकाल तथा इसके वंशानुसंक्रमण का ज्ञान जब वर्तमान में प्रवेश पाता है, तो बहुत महत्त्व का होता है ; किन्तु अन्यथा नहीं। भूतकाल के अभिलेखों और अवशेषों को शिक्षा की मुख्य सामग्री बना देने की गलती यह है कि इससे वर्तमान और भूतकाल का सजीव सम्बन्ध टूट जाता है, और भूत वर्तमान का प्रतिद्वंद्वी-सा बन जाता है तथा वर्तमान भूतकाल का व्यर्थ अनुकरण मात्र। ऐसी परिस्थितियों में संस्कृति, अलंकार, और शांति, शरणस्थल तथा विश्रामालय मात्र बन जाती है। लोग वर्तमान की अपरिपक्वताओं को परिष्कृत करने के लिए, भूतकाल जो कुछ साधन के रूप में प्रदान करता है, उसका उपयोग करने के बजाय, वर्तमान की अपरिपक्वताओं से बचते हैं, और इसके काल्पनिक परिष्कार में ही लगे रहते हैं।

संक्षेप में, वर्तमान ऐसी समस्याएँ उत्पन्न करता है, जो संकेत प्राप्त करने के लिए हमें भूतकाल की गवेषणा करने के लिए प्रोत्साहित करती है तथा गवेषणोपरांत हमें जो कुछ प्राप्त होता है, उसे यही संकेत, अर्थ प्रदान करते हैं। भूत, मुख्यकर इसीलिए भूत है कि जो कुछ विशिष्ट रूप से वर्तमान में समाविष्ट रहता है, वह इसमें नहीं होता। गतिमान वर्तमान में भूत इस आधार पर समाविष्ट रहता है, कि यह स्वयं अपनी गति का निर्देश करने के लिए भूतकाल का उपयोग करता है। भूतकाल कल्पना का बहुत बड़ा साधन है, यह जीवन में नवीन विस्तार लाता है ; किन्तु ऐसा तभी होता है, जब इसे वर्तमान के भूत के रूप में ही देखा जाय, असंबद्ध और दूसरे संसार के रूप में नहीं। वह सिद्धांत, जो केवल जीवन की क्रिया और वृद्धि के कार्य के वर्तमान स्वरूप को ही वर्तमान समझता है, भूतकाल की ओर केवल इसलिए देखता है कि भावी

गंतव्य जो यह निश्चित करता है, वह अत्यंत दूरस्थ तथा शून्य होता है। किन्तु वर्तमान से मुँह मोड़ लेने पर, भूतकाल के अवशेषों से लदे रह कर, इस तक पुनः वापस आने का कोई मार्ग नहीं रह जाता। जो बुद्धि वर्तमान की आवश्यकताओं तथा अवसरों के प्रति पर्याप्त संवेदनशील है, उसमें वस्तुतः वर्तमान की पृष्ठभूमि में अभिरुचि रखने के लिए सर्वाधिक सजीव प्रेरणाएँ होंगी तथा इसे कभी भी अन्वेषण के लिए मार्ग न खोजने पड़ेंगे ; क्योंकि इसके संबंध कभी भी विच्छिन्न न होंगे।

शिक्षा : पुनर्निर्माण के रूप में

अंदर से निहित शक्तियों के प्रस्फुरण या भौतिक प्रवृत्ति द्वारा अथवा भूतकाल की सांस्कृतिक उपलब्धियों द्वारा वाह्य रूप से होने वाले निर्माण के विरोध में वृद्धि के आदर्श का अंत इस धारणा में होता है कि शिक्षा अनुभव की निरंतर पुनर्व्यवस्था अथवा पुनर्निर्माण की क्रिया है। इसका सदैव एक तात्कालिक साध्य होता है, और जहां तक क्रिया शिक्षात्मक है, यह उस साध्य को प्राप्त करती है—अर्थात् अनुभव की विशेषताओं का प्रत्यक्ष रूपांतरण होता है। शैशवावस्था, किशोरावस्था और वयस्कता, सभी एक ही शैक्षणिक स्तर पर इस अर्थ में होती हैं कि वास्तव में अनुभव के किसी अथवा प्रत्येक स्तर पर जो कुछ सीखा जाता है, उसी में उस अनुभव का महत्त्व निहित है। इसका कारण यह भी है कि जीवन का मुख्य कार्य हर स्थान पर अपने द्रष्ट अर्थ के संपन्न बनाने में योग देना है।

इस प्रकार हम शिक्षा की एक प्रविधिक परिभाषा पर आते हैं। यह अनुभव का ऐसा पुनर्निर्माण अथवा इसकी ऐसी पुनर्व्यवस्था है, जिससे अनुभव के अर्थ में वृद्धि होती है, जिससे बाद में आने वाले अनुभव के क्रम का निर्देश करने की क्षमता की वृद्धि होती है। १—अर्थ की वृद्धि के अनुरूप, हम जिन क्रियाओं में लगे रहते हैं, उनके संबंधों तथा क्रमों के प्रत्यक्षीकरण में भी वृद्धि होती है। क्रिया प्रवृत्यात्मक रूप में प्रारंभ होती है, अर्थात् यह अंधी होती है, इसे इसका ज्ञान नहीं होता कि इसका कार्य क्या है, या अन्य क्रियाओं के साथ इसका क्या पारस्परिक कार्य है। जिस क्रिया के साथ शिक्षा अथवा आदेश होते हैं, वह व्यक्ति को कतिपय ऐसे संबंधों का ज्ञान प्रदान करती है, जो तब तक अप्रत्यक्ष रहते हैं। साधारण उदाहरण यह है कि जो बालक तेज लौ के निकट जाता है, जल जाता है। इसके बाद वह जान जाता है कि दृष्टि के एक कार्य-विशेष के साथ, स्पर्श के कार्य-विशेष (अथवा इसके उलटे भी) का अर्थ ताप और पीड़ा है। अपनी प्रयोगशाला में कोई वैज्ञानिक

लौ के वारे में जिन कार्यों से सीखता है, वे इससे भिन्न प्रकार के नहीं हैं। कुछ कार्यों को करके वह अन्य वस्तुओं के साथ ताप के ऐसे संबंधों को प्रत्यक्ष करता है, जो पहले उपेक्षित थे। इस प्रकार इन वस्तुओं के संबंध में उसके कार्य और अधिक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वह और अच्छी तरह से जान जाता है कि वह क्या कर रहा है। अथवा जब वह उनके साथ कार्य कर रहा है, तो उसे क्या करना है। परिणामों को स्वतः घटित होने देने के बजाय वह उनकी पूर्वकल्पना कर सकता है। ये सभी एक ही तथ्य को कहने के विभिन्न रूप हैं। इसके साथ-ही-साथ लौ के अर्थ में भी वृद्धि हो जाती है—प्रज्ज्वलन, आक्सीजन की क्रिया, प्रकाश तथा तापक्रम के वारे में जो कुछ भी ज्ञात है, वह सभी बौद्धिक अंतर्वस्तु का अनिवार्य अंश बन सकता है।

२—शिक्षात्मक अनुभव का दूसरा पक्ष, बाद के निर्देश अथवा नियंत्रण की परिवृद्ध शक्ति है। निस्संदेह यह कहने का अर्थ कि कोई व्यक्ति यह जानता है कि उसे क्या करना है, अथवा वह कतिपय परिणामों को प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है, यह होता है कि वह अच्छी तरह इसका पूर्वज्ञान प्राप्त कर सकता है कि क्या घटित होने जा रहा है ; अर्थात् इसीलिए, वह पहले से ही अधिक लाभकारी परिणामों को प्राप्त करने तथा अवांछनीय परिणामों से बचने के लिए तैयार हो सकता है। अतः वास्तविक शिक्षात्मक अनुभव, अर्थात् ऐसा अनुभव, जिससे शिक्षा मिलती है तथा जिससे योग्यता की वृद्धि होती है, एक ओर तो यांत्रिक क्रिया तथा दूसरी ओर उच्छृंखल क्रिया से भिन्न है। (क) उच्छृंखल क्रिया में जो कुछ होता है, व्यक्ति उसकी परवाह नहीं करता। वह, जो कुछ भी होता जाता है, करता जाता है, और अपने कार्यों के परिणामों को (अन्य वस्तुओं के साथ इसके संबंधों के प्रमाणों को) कार्य के साथ जोड़ने का प्रयास नहीं करता है। ऐसी निरुद्देश्य तथा अनियंत्रित क्रिया को सामान्यतः बुरा समझा जाता है, इसे जानबूझ कर की गई बदमाशी, लापरवाही अथवा अनियमितता कहा जाता है ; किन्तु बच्चे के स्वयं अपने संस्कारों में, और प्रत्येक वस्तु से पृथक् ऐसी निरुद्देश्य क्रियाओं का कारण ढूंढने की मनोवृत्ति होती है। किन्तु, वास्तव में ऐसी क्रिया विस्फोटक होती है, तथा वातावरण के साथ के कुसमायोजन के कारण होती है। व्यक्ति उच्छृंखल रूप से तभी काम करता है, जब उसे दूसरों के आदेश अथवा उनकी तानाशाही में कार्य करना पड़ता है, जिसमें उनका स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं दृष्टिगत होता, अथवा उनकी कृति का अन्य कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, वे

इसे नहीं जानते ; किन्तु हम सीख तो केवल इसलिए पाते हैं कि कार्य के हो जाने के पश्चात् हम परिणाम को जानते हैं, जिसका हमें पहले अनुभव नहीं हुआ रहता। किन्तु, पाठशाला के अधिकांश कार्य, नियमों को निर्धारित करने के लिए होते हैं, जिनके द्वारा बालकों को इस प्रकार कार्य करना होता है कि कार्य कर लेने के बाद भी वे परिणाम—अर्थात् उत्तर और अपनाई गई विधि के संबंध नहीं देख पाते। जहाँ तक उनका संबंध है, सारी बात ,एक वंचना, जादू के खेल-जैसी होती है। ऐसे कार्य तात्त्विक रूप से अनियंत्रित होते हैं, और उनसे उच्छृंखल आदतें ही निर्मित होती हैं। (ख) कार्यक्रमिक कार्य, ऐसे कार्य जो यांत्रिक होते हैं, कार्य-विशेष करने की दक्षता में वृद्धि कर सकते हैं। यहाँ तक तो यह कहा जा सकता है कि इसके परिणाम शिक्षात्मक होते हैं, किन्तु इससे प्रभावों तथा संबंधों के नवीन प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाते हैं, ये अर्थ-क्षेत्र को विस्तृत करने के स्थान पर सीमित कर देते हैं। और चूँकि वातावरण बदलता रहता है, और सफलतापूर्वक वस्तुओं के साथ संतुलित संबंध बनाए रखने के लिए हमारे कार्य करने के ढंग को रूपांतरित करना पड़ता है ; इसलिए किसी-किसी अत्यन्त सूक्ष्म अवसर पर, कार्य करने का पृथक्, एक ढंग अत्यन्त हानिकर है। यांत्रिक दक्षता से प्रेरणात्मक मनोवृत्ति का ह्रास होता है।

शिक्षा की निरंतर पुनर्निर्माण की धारणा तथा अन्य एकांगी धारणाओं में, जिनकी इस तथा पिछले अध्याय में आलोचना की गई है, मौलिक अंतर यह है कि इसमें अंत (परिणाम) तथा प्रक्रिया में तादात्म्य होता है। शाब्दिक रूप से इसमें विरोधाभास है ; किन्तु केवल शाब्दिक रूप से ही। इसका अर्थ यह होता है कि क्रियाशील प्रक्रिया के रूप के अनुभव में समय लगता है, और इसका उत्तरकालीन समय पहले के अंश की पूर्ति करता है, इससे निहित, किन्तु अब तक अव्यक्त संबंध व्यक्त होते हैं। इस प्रकार बाद का परिणाम, पूर्व परिणामों का अर्थ व्यक्त करता है, और अपने संपूर्ण रूप में अनुभव, इस अर्थ रखने वाली वस्तु के बारे में एक 'संस्कार' का निर्माण करता है। इस प्रकार का प्रत्येक निरंतर अनुभव अथवा क्रिया शिक्षात्मक होती है, और संपूर्ण शिक्षा ऐसे अनुभव प्राप्त करने में ही है।

अभी यह उल्लेख करना शेष है (और इस पर बाद में पर्याप्त ध्यान दिया जायेगा) कि अनुभव का पुनर्निर्माण सामाजिक तथा वैयक्तिक दोनों होता है। सरलता के लिए पिछले अध्यायों में ऐसा कहा गया है, जैसे कि बालकों की शिक्षा, जो उनमें संबंधित सामाजिक समुदाय की आत्मा को भर देती है, एक प्रकार

से वयस्क समुदाय की मनोवृत्तियों तथा उसके साधनों से बालक को जकड़ देती है। अप्रगतिशील समाजों, अर्थात् ऐसे समाजों में जहाँ स्थाई परंपरा को कायम रखने को ही प्रतिमान स्वरूप ग्रहण किया जाता है, यह धारणा मुख्य रूप से लागू होती है ; किन्तु प्रगतिशील समुदायों में नहीं। वे बालकों के अनुभवों को इस प्रकार निर्मित करने का प्रयत्न करते हैं कि उनमें प्रचलित आदतों का कोरा पिष्टपेषण पैदा करने के बजाय, और अच्छी आदतों का निर्माण हो, तथा इस प्रकार भावी वयस्क समाज, उनके अपने समाज से अधिक उन्नत होगा। बहुत दिनों से लोगों को इसका ज्ञान था कि किस प्रकार शिक्षा को सामाजिक बुराइयाँ दूर करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। बालकों को ऐसे मार्ग पर लगाया जाए, जिनसे ये बुराइयाँ न उत्पन्न हों और उन्हें यह भी ज्ञात था कि शिक्षा को किस सीमा तक मनुष्यों की और अधिक अच्छी आशाओं को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। किंतु निस्संदेह हम अभी, समाज की उन्नति करने के निर्माणकारी साधन के रूप में, शिक्षा की अंतर्निहित शक्ति का उपयोग कर सकने से दूर हैं। अभी हम यह पूर्णरूप से स्वीकार कर सके हैं कि शिक्षा से केवल बालकों तथा नवयुवकों का विकास ही नहीं होता ; बल्कि उस भावी समाज का भी विकास होगा, जिसके वे निर्मायक होंगे।

अध्याय का सारांश

शिक्षा को पूर्वानुवर्त्ती और अग्रानुवर्त्ती दोनों ही रूपों में ग्रहण किया जा सकता है, अर्थात् इसे भविष्य को भूत के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया, अथवा प्रगतिशील भविष्य में साधन के रूप में भूतकाल का उपयोग करने की प्रक्रिया, दोनों ही रूपों में लिया जा सकता है। प्रथम धारणा को अपने अधिमान तथा रूप-विधान, भूतकाल से प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क को कतिपय पूर्ववर्तमान वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली अंतर्वस्तुओं के संघात के रूप में ग्रहण किया जा सकता। ऐसी दशा में, पूर्वप्रस्तुत सामग्री के आधार पर भावी ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अवयस्क प्राणियों के शैशवकालीन अनुभवों पर बल दिए जाने का सर्वाधिक महत्त्व होता है, इसका विशेष कारण यह है कि दूसरी मनोवृत्ति इन्हें बहुत कम महत्त्व देती है। किन्तु इन अनुभवों में बाह्य रूप से प्रस्तुत सामग्री नहीं होती ; बल्कि जन्मजात क्रियाओं की वातावरण के साथ की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं की सामग्री होती है, जिनके द्वारा वातावरण तथा क्रियाओं, दोनों का ही प्रगतिशील परिष्कार होता है। प्रस्तुतिकरण के माध्यम से निर्माण के हर्बर्ट के सिद्धांत का दोष यह

है कि इसमें इस निरंतर होने वाले परिवर्तन तथा पारस्परिक प्रतिक्रिया पर ध्यान नहीं दिया गया।

आलोचना का यही सिद्धांत उन सिद्धांतों पर भी संप्रयुक्त होता है, जो मनुष्य के इतिहास की सांस्कृतिक उपलब्धियों—विशेषकर साहित्यिक उत्पत्तियों से अध्ययन की प्राथमिक विषय-सामग्री प्राप्त करते हैं। जिसमें व्यक्तियों को कार्य करना है, उस वर्तमान वातावरण के संबंधों से पृथक् उनसे प्रतिद्वंद्वी तथा अवरोधक वातावरण का निर्माण होता है। उनका महत्त्व उन वस्तुओं का अर्थविस्तार करने के लिए प्रयोग किए जाने में है, जिनका हम से वर्तमान काल में संबंध है। इन अध्यायों में प्रस्तुत की गई शिक्षा की धारणा, सर्वाधिक रूप से अनुभव के निरंतर पुनर्निर्माण के भाव में, संक्षिप्त रूप से उपस्थित की गई है, जो उन सभी भावों से भिन्न है, जो शिक्षा को दूरस्थ भविष्य की तैयारी, प्रस्फुरण, वाध्य, निर्माण तथा भूतकाल के पुनरानुवर्तन के रूप में ग्रहण करते हैं।

७

शिक्षा में प्रजातंत्रात्मक धारणा

शिक्षा में प्रजातंत्रात्मक धारणा

अभी तक प्रायः केवल कुछ अवसरों को छोड़ कर हमारा संबंध शिक्षा के ऐसे स्वरूप से रहा है, जिसका अस्तित्व किसी भी सामाजिक समुदाय में हो सकता है। अब हमें शिक्षा की आत्मा, सामग्री तथा विधि के उन अंतरों को व्यक्त करना है, जो इसके विभिन्न प्रकार के सामुदायिक जीवन में कार्य करने के कारण उत्पन्न होते हैं। यह कहना कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, अर्थात् बालक में निर्देश तथा विकास उसके उस समुदाय के जीवन में भाग लेने के द्वारा होता है, जिसमें वह रहता है, परिणाम-स्वरूप यह अर्थ रखता है कि समुदाय-विशेष में प्रचलित जीवन-प्रणाली के साथ-साथ शिक्षा-विधि बदलती रहेगी। विशेषकर यह तो सत्य ही है कि ऐसे समाज में, जो केवल परिवर्तित ही नहीं होता रहता है, प्रत्युत एक ऐसा परिवर्तन ही जिसका आदर्श है, जिससे उसकी उन्नति हो, उस समाज से भिन्न शिक्षा के अधिमान तथा विधियां होंगी, जिनका उद्देश्य केवल अपनी परम्परा को कायम रखना ही है। अतएव, अपने स्वयं के शिक्षात्मक अभ्यास पर प्रस्तुत किए गए सामान्य भावों को लागू होने के योग्य बनाने के लिए वर्तमान सामाजिक जीवन के स्वरूप को और अधिक निकट से समझ लेना बहुत आवश्यक है।

मानव-समुदायों के निहित अर्थ

समाज है तो एक ही शब्द ; किन्तु उसमें बहुत-सी चीजें आती हैं। लोग सभी प्रकार के प्रयोजनों के लिए बहुत तरह से आपस में संगठित होते हैं। एक ही मनुष्य विभिन्न प्रकार के विरोधी समुदायों का सदस्य होता है, जिनमें उसके सहयोगी सदस्य नितान्त भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। ऐसा सामान्यतः प्रतीत होता है कि ये सभी सहयोगी जीवन के ही विभिन्न रूप हैं, केवल इसके अतिरिक्त इनमें एक दूसरे से कोई भी बात उभयनिष्ठ नहीं है। प्रत्येक वृहत् सामाजिक संघटन में अनेक छोटे-छोटे समुदाय होते हैं, केवल राजनैतिक विभाग ही नहीं, अपितु औद्योगिक, वैज्ञानिक, धार्मिक संघ भी होते हैं। विभिन्न उद्देश्य रखने वाले अनेक राजनैतिक दल, सामाजिक समुदाय, गोष्ठियाँ, गिरोह, साझेदारी के संगठन, रक्त संबंध से बँधे हुए समुदाय इत्यादि अनगिनत प्रकार के सामाजिक संघ हैं। बहुत-से आधुनिक राज्यों तथा कतिपय प्राचीन राष्ट्रों में भी विभिन्न प्रकार की जातीय विषमताएँ तथा विभिन्न प्रकार की भाषाएँ, धर्म, नैतिक आदर्श तथा परम्पराएँ पाई जाती हैं। इस दृष्टिकोण से बहुत-सी छोटी-मोटी राजनैतिक इकाइयाँ, उदाहरण के लिए हमारा एक बड़ा नगर ही एकात्मक तथा विचार तथा क्रिया का एक संघात्मक समुदाय होने की अपेक्षा ढीले-ढाले रूप से जुड़े हुए अनेक सम्बद्ध समाजों का संघात होता है।

समाज तथा समुदाय पद इस प्रकार भ्रामक हैं कि उनमें संस्तुति अथवा कर्त्ताभाव तथा वर्णनात्मक भाव दोनों ही हैं। इनका एकात्मक अर्थ भी है तथा अनेकात्मक भी। सामाजिक दर्शन में पहला अर्थ प्रायः सदैव मुख्य समझा जाता है। समाज को इसके स्वभाव के कारण ही एक समझा जाता है। उन विशेषताओं पर बल दिया जाता है, जो इस एकता की सहगामी हैं। जैसे प्रयोजन तथा कल्याण के श्लाघनीय समुदाय, सार्वजनिक साध्यों के प्रति निष्ठा तथा सहानुभूति का पारस्परिक अनुभव ; किन्तु जब हम अपने ध्यान को केवल इसके अनिवार्य अर्थ तक ही सीमित न रखकर उन तथ्यों पर दृष्टिपात करते हैं, जो इससे

व्यक्त होते हैं, तो हमें एकता नहीं प्रत्युत अच्छे-बुरे अनेक समाजों की विविधता प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत दोषपूर्ण षड्यंत्र के लिए संगठित हुए मनुष्य, सेवा करते हुए जनता का शोषण करने वाले व्यापारिक संगठन, लूटने की अभिरुचि द्वारा एक साथ जुड़े हुए राजनैतिक यंत्र सभी इसके अन्तर्गत आते हैं। यदि यह कहा जाय कि ऐसी व्यवस्थाएँ समाज नहीं हैं ; क्योंकि इनसे समाज की धारणा की आदर्श आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, तो आंशिक रूप से अन्तर यह होगा कि ऐसी अवस्था में समाज की धारणा को इतना 'आदर्श' बना दिया जाता है कि उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता, वास्तविक तथ्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता तथा आंशिक रूप से यह भी सत्य है कि इन व्यवस्थाओं में से प्रत्येक में समाज की कतिपय सराहनीय विशेषताएँ होती हैं, जो इन्हें एक सूत्र में सम्बद्ध रखती हैं, चाहे इनकी अभिरुचियां दूसरे समुदायों की अभिरुचियों की कितनी ही विरोधी क्यों न हों। चोरों में भी प्रतिष्ठा-भावना होती है तथा डाकुओं के दल में भी, जहां तक उसके सदस्यों का प्रश्न है, एक सर्वनिष्ठ अभिरुचि होती है। दलों में भ्रातृत्व की भावना होती है। संकुचित धार्मिक सम्प्रदायों में उनके अपने धार्मिक नियमों के प्रति बड़ी ही दृढ़ निष्ठा होती है। पारिवारिक जीवन में बाहर से स्वार्थ, सन्देह तथा ईर्ष्या के होते हुए भी आन्तरिक रूप से पारस्परिक सहयोग तथा सहायता का आदर रह सकता है। किसी समुदाय द्वारा ही दी गई कोई भी शिक्षा इसके सदस्यों को सामाजिक बनाती है ; किन्तु इस समाजीकरण की विशेषता तथा महत्ता समुदाय की आदतों तथा उसके उद्देश्यों पर निर्भर है।

इसीलिए सामाजिक जीवन के प्रस्तुत स्वरूप के मूल्यांकन की आवश्यकता है। इस मापक की खोज में हमें दो चरम दशाओं से बचना है। अपने स्वयं के मनों से निर्मित किसी आदर्श समाज को हम इसके लिए नहीं रख सकते। हमें अपनी विचार-धारणा को निश्चय ही उन समाजों पर आधारित करना होगा, जो वास्तविक रूप से स्थित हैं, ताकि यह निश्चित हो जाय कि हमारा आदर्श क्रियात्मक है तथा इसे कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है ; किन्तु जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, आदर्श केवल उन्हीं गुणों का पिष्टपेषण-मात्र नहीं हो सकता, जो प्रचलित हैं। समस्या यह है कि सामुदायिक जीवन के विभिन्न रूपों के स्थित वांछनीय गुण चुन लिए जाएँ और उन्हें अवांछनीय अवयवों की आलोचना करने तथा सुधार का सुझाव देने के लिए संप्रयुक्त किया जाय। अब हम प्रत्येक सामाजिक समुदाय में, यहां तक कि चोरों के दल में भी, कोई-न-कोई सर्वनिष्ठ

अभिरुचि पाते हैं, तथा अन्य समुदायों के साथ कुछ-न-कुछ पारस्परिक क्रिया तथा सहयोगी सम्पर्क भी पाते हैं। इन्हीं दोनों विशेषताओं से हम अपने अधिमान का निर्माण करते हैं। वे अभिरुचियाँ कितनी विभिन्न, और अनगिनत हैं, जिनमें पारस्परिक रूप से भाग लिया जाता है? अन्य समुदायों के साथ की पारस्परिक क्रिया कितनी पूर्ण तथा स्वतंत्र है? यदि हम इन विचारों को अपराधियों के दल पर लागू करें, तो यह पाएँगे कि वे सम्बन्ध जो सदस्यों को एक दूसरे से सम्बद्ध रखते हैं, बहुत कम होते हैं, यहाँ तक कि अन्ततः केवल लूटने की ही सर्वनिष्ठ अभिरुचि रह जाती है तथा उनका स्वरूप ऐसा होता है कि जीवन की महत्ताओं के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में वे उक्त समुदाय को अन्य समुदायों से पृथक् कर देते हैं। अतएव, ऐसे समाज द्वारा प्रदान की गई शिक्षा, आंशिक तथा विकृत होती है। दूसरी ओर यदि हम पारिवारिक जीवन वाले समुदाय को लें, जो अधिमान के उदाहरण को स्पष्ट करता है, तो हम यह पाएँगे कि उसमें ऐसी भौतिक, बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक अभिरुचियाँ हैं, जिसमें सभी भाग लेते हैं, और एक सदस्य की उन्नति का अन्य सदस्यों के अनुभव के लिए बड़ा महत्त्व होता है। यह अपने-आप एक दूसरे के आदान-प्रदान में आ जाती है। परिवार एक पृथक् आत्मपूर्ण इकाई नहीं है, अपितु इसका, व्यावसायिक समुदायों, पाठशालाओं, संस्कृति की सभी संस्थाओं तथा इस प्रकार के अन्य समुदायों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसका राजनैतिक व्यवस्था में भी यथेष्ट सहयोग होता है तथा इसे बदले में उससे पर्याप्त सहायता मिलती है। संक्षेप में, इसमें बहुत-सी ऐसी अभिरुचियाँ होती हैं, जिनमें सचेतन रूप से आदान-प्रदान होता है और जिनमें सभी भाग लेते हैं; और समुदाय के अन्य रूपों के साथ सम्पर्क के अनेक तथा स्वतंत्र अवसर होते हैं।

१—आइए हम इस प्रतिमान के प्रथम तत्त्व को स्वेच्छाचारी शासन पर संप्रयुक्त करें। यह सत्य नहीं है कि ऐसी व्यवस्था में शासकों तथा शासितों के बीच कोई उभयनिष्ठ अभिरुचि नहीं होती। अधिकारियों को अनिवार्य रूप से प्रजा की कतिपय जन्मजात क्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। उनकी कुछ शक्तियों को अवश्य ही कार्य में लाना होता है। टैलीरैंड ने कहा था कि सरकार संगीनों के सहारे सब कुछ कर सकती है, केवल उन्हें अपना आसन नहीं बना सकती। इस जनद्वेषी घोषणा में कम-से-कम यह प्रत्यभिज्ञा तो निहित ही है कि, एकता का बंधन केवल दमनात्मक शक्ति ही नहीं है। कुछ भी हो, यह तो कहा ही जा सकता है कि वे क्रियाएँ, जिनका सहारा लिया जाता है, स्वयं अयोग्य

तथा अधोगामिनी होती हैं, अर्थात् ऐसी सरकार केवल भय की शक्ति को ही प्रयोग में लाती है। एक प्रकार से यह कथन सत्य है ; किन्तु इसमें इस तथ्य पर ध्यान नही दिया जाता कि यह आवश्यक नहीं कि भय के अनुभव में अवांछनीय अवयव ही हो। सावधानी, सतर्कता, सजगता, भावी घटनाओं का पूर्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा इत्यादि, जो हानि से अपने को बचाने के लिए आवश्यक हैं, ये सब भी उसी भय की प्रवृत्ति के कार्य करने से उत्पन्न होती हैं, जिससे कायरता तथा नीच समर्पण। वास्तविक आपत्ति तो यह है कि भय का उपयोग ऐकांतिक होता है। भय तथा विशिष्ट स्थूल पारितोषिक, जैसे सुख तथा शान्ति, की आशा को जागृत करने में अन्य अनेक शक्तियां अछूती ही रह जाती हैं। अथवा यदि उन पर प्रभाव पड़ता भी है, तो ऐसा कि वे विकृत हो जाएं। स्वतः क्रियाशील होने के बजाय, वे केवल सुख-प्राप्ति तथा दुःख से बचाव की दास-मात्र बन जाती हैं।

यह कहने का अर्थ तो यही होता है कि, ऐसे समाज में उभयनिष्ठ अभिरुचियों का यथेष्ट उपयोग नहीं होता, सामाजिक समुदाय के सदस्यों में खुलकर स्वतंत्रतापूर्वक आदान-प्रदान नहीं होता। उद्दीपन तथा प्रतिचार अत्यन्त एकांगी होते हैं। अधिक संख्या में सर्वनिष्ठ महत्ताओं के लिए समुदाय के सभी सदस्यों को दूसरों से लेने तथा प्राप्त करने के यथेष्ट सुअवसर मिलने चाहिए। सहयोगी कार्यों तथा अनुभवों के अनेक रूप वर्तमान होने चाहिए। अन्यथा, जिन प्रभावों के कारण कुछ लोगों को मालिक बनने की शिक्षा मिलती है, वही दूसरों को दास बनाते हैं। और जब जीवन-अनुभव के विभिन्न रूपों का स्वतंत्र आदान-प्रदान अवरुद्ध हो जाता है, तो प्रत्येक दल के अनुभवों में अर्थ की हानि होती है। अधिकारी तथा अधीन वर्गों के विभाजन से समाज का पारस्परिक आदान-प्रदान तथा उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। उच्च वर्ग पर इसकी प्रभाव डालने वाली बुराइयां कम स्थूल और कम ही दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी संस्कृति अनुत्पादक होती जाती है। स्वयं अपने-आप तक ही सीमित हो जाती है। उनकी कला दिखावटी प्रदर्शन-मात्र तथा बनावटी हो जाती है ; उनकी सम्पत्ति विलासिताप्रिय, उनका ज्ञान अनावश्यक रूप से विशिष्टीकृत तथा उनका व्यवहार दयापूर्ण तथा मानवीय होने की अपेक्षा उपेक्षक बन जाता है।

स्वतंत्र तथा यथार्थ पारस्परिक सम्पर्क का अभाव, जो सहयोगी अभिरुचियों के भिन्न होने के कारण उत्पन्न होता है, बौद्धिक उद्दीपन को

असंतुलित कर देता है। उद्दीपन की अनेकरूपता से नवीनता उत्पन्न होती है और नवीनता के उत्पन्न होने का अर्थ है, विचार को चुनौती देना। क्रिया को जितने ही कम मार्गों तक सीमित कर दिया जायगा—जैसा कि उस समय होता है, जब अनुभवों की पर्याप्त पारस्परिक क्रिया को अवरुद्ध करने वाली अनम्य वर्ग-रेखाएँ खिंच जाती हैं—अधीन वर्ग की क्रियाएँ उतना ही अधिक कार्यक्रमिक और भौतिक रूप में भाग्यशाली स्थिति वाले वर्ग की क्रियाएँ उतनी ही उच्छृंखल, निरुद्देश्य तथा विस्फोटक हो जाएँगी। प्लेटो ने दास की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में दी है, जो उन प्रयोजनों को दूसरों से स्वीकार कराता है, जो उसके स्वयं के कार्य को नियंत्रित करते हैं। जहाँ वैधानिक भाव की दासता नहीं भी होती, वहाँ भी यह शर्त लागू होती है। जहाँ कहीं भी लोग सामाजिक महत्त्व के कार्य में लगे रहते हैं, किन्तु अपने कार्यों को वे स्वयं नहीं समझ पाते और जिसमें उनकी स्वयं की कोई अभिरुचि नहीं होती, वहीं ऐसा होता है। कार्य के वैज्ञानिक प्रबन्ध के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। यह संकुचित धारणा है, जो मांस-पेशियों की गति के लिए कार्य की क्षमता प्रदान करने वाले विज्ञान को सीमित कर देती है। विज्ञान के लिए मुख्य अवसर यह है कि वह किसी मनुष्य के, उसके कार्य के साथ क्या सम्बन्ध हैं, इसका अन्वेषण करे। इसमें उसके अन्य सहयोगियों के साथ के सम्बन्ध भी शामिल हैं। यह अन्वेषण, वह जो कुछ कर रहा है, उसमें उसकी बौद्धिक अभिरुचि की खोज करेगा। उत्पादन की वृद्धि के लिए प्रायः श्रम के विभाजन की आवश्यकता पड़ती है ; किन्तु यदि श्रमिक जो कुछ करते हैं, उसमें निहित प्रविधिक, बौद्धिक तथा सामाजिक सम्बन्धों को नहीं देख पाते, तथा ऐसे प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रस्तुत प्रेरणा के कारण ही अपने कार्य में नहीं संलग्न होते हैं, तो उनका काम केवल यांत्रिक कार्यक्रम बन जाता है। क्रिया की परिवृद्ध क्षमता तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध को केवल प्रविधिक बाह्य तत्त्व समझने की भावना—उद्योग का नियंत्रण करने वाले, अर्थात् उद्योग को उद्देश्य प्रदान करने वाले लोगों के दिए गए विचार के एकांगी उद्दीपन का प्रभाव है। उनकी सर्वोन्मुखी तथा सुसंतुलित सामाजिक अभिरुचि के अभाव के कारण, उद्योग में मानवीय अवयवों तथा सम्बन्धों पर ध्यान देने के लिए पर्याप्त उद्दीपन नहीं मिल पाता। बुद्धि केवल प्रविधिक उत्पादन तथा वस्तुओं के व्यापार तक ही संकुचित हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस संकुचित क्षेत्र में बुद्धि का अत्यन्त सूक्ष्म तथा गहरा विकास हो सकता है। किन्तु महत्त्वपूर्ण सामाजिक अवयवों पर ध्यान देने की असफलता

का अर्थ बुद्धि का अभाव तथा तदनुरूप संवेगात्मक जीवन का विकृत हो जाना है।

२—यह उदाहरण (जिसकी बात को उन सभी समुदायों तक विस्तृत करना है, जिनमें अभिरुचि के अन्योन्याश्रय का अभाव होता है) हमें हमारी दूसरी बात पर लाता है। किसी दस्यु-दल अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की पृथकता तथा आत्मपूर्णता से उसकी समाज-विरोधी भावना को शान्ति मिलती है। किन्तु जहाँ कहीं भी समुदाय की अपनी स्वयं की ऐसी अभिरुचियाँ होती हैं, जो अन्य समुदायों के साथ इसकी होने वाली पारस्परिक प्रतिक्रिया के द्वार वन्द कर देती हैं, वहीं ऐसी भावना प्राप्त होती है। परिणाम-स्वरूप अधिक विस्तृत सम्बन्धों द्वारा पुनर्व्यवस्था तथा प्रगति के बजाय इसका प्रचलित प्रयोजन ही, इसे जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसका रक्षक बन जाता है। यह ऐसे राष्ट्रों का द्योतक है, जो एक दूसरे से पृथक् (विलग) रहते हैं ; तथा ऐसे परिवारों का, जो अपने घरेलू कार्यों को इस प्रकार संकुचित कर लेते हैं, जैसे अधिक विस्तृत जीवन से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो ; और ऐसे विद्यालयों का प्रतीक है, जो घर तथा समुदाय की अभिरुचियों से विलग हो गए हों। इससे धनी तथा निर्धन, शिक्षित तथा अशिक्षितों के विभाजन का बोध होता है। मुख्य बात यह है कि इस पृथक्करण के कारण जीवन में अनम्यता आ जाती है और उसमें अनेक रूपात्मक संस्थाओं का निर्माण हो जाता है। एक ही समुदाय के अन्दर अप्रगतिशील तथा स्वार्थी आदर्श आ जाते हैं। असभ्य जातियों का विदेशियों को शत्रु समझना केवल आकस्मिक नहीं है। यह इस तथ्य के कारण होता है कि वे अपने अनुभव का अपने प्राचीन रीति-रिवाजों के दृढ़ पालन के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। इस आधार पर दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करने से डरना नितान्त न्याय संगत है, क्योंकि ऐसे सम्बन्ध से परम्परा नष्ट हो सकती है। इससे निश्चय ही पुनर्निर्माण होगा। यह तो अत्यन्त साधारण बात है कि सतर्क तथा विस्तार करने वाला मानसिक जीवन भौतिक वातावरण के साथ सम्पर्क के बढ़ते हुए विस्तार पर निर्भर है।

मानव-जाति के इतिहास में प्रत्येक विकास का युग उन्हीं अवयवों के कार्यकाल में रहा है, जो ऐसे मनुष्यों और वर्गों के बीच की दूरी को दूर करते हैं, जो पहले एक दूसरे से पृथक् तथा अछूते होते थे। युद्ध के कथित लाभ भी, जहाँ तक वे केवल तथाकथित से अधिक हैं, इसी तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि लोगों के विरोधी संघर्ष कम-से-कम उन्हें पारस्परिक सम्पर्क में लाते हैं, तथा

आकस्मिक रूप से उन्हें एक दूसरे से सीखने का अवसर देते हैं और उसके द्वारा उनके क्षितिजों का विस्तार करते हैं। वर्तमान काल में यात्राओं तथा आर्थिक और व्यापारिक मनोवृत्तियों ने बाधक सीमाओं को तोड़ने में बहुत अधिक कार्य कर लिया है। इससे लोग तथा वर्ग एक दूसरे के साथ निकट तथा अधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गए हैं। दूरी के इस प्रकार भौतिक रूप से दूर हो जाने के बाद अधिकांशतः अब इसके संवेगात्मक तथा बौद्धिक महत्त्व को प्राप्त करना ही अवशेष है।

प्रजातन्त्रात्मक आदर्श

हमारे प्रतिमान के दोनों ही तत्त्व प्रजातंत्र की ओर संकेत करते हैं। प्रथम तत्त्व से केवल सहयोगी सर्वनिष्ठ अभिरुचि के और अधिक तथा अधिक भिन्न विन्दुओं का महत्त्व ही नहीं; अपितु सामाजिक नियंत्रण के अवयव के रूप में पारस्परिक अभिरुचियों पर और अधिक बल देने का महत्त्व भी व्यक्त होता है। दूसरे का अर्थ केवल सामाजिक समुदायों (कभी यथासंभव सचेष्ट रूप से पृथक् रक्खे गए) में अधिक स्वतंत्र पारस्परिक प्रतिक्रिया ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक आदत में परिवर्तन—अर्थात् विभिन्न प्रकार के परस्पर सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों की पूर्ति द्वारा इसका निरन्तर पुनर्समायोजन—भी है। और यही दोनों विशेषताएँ, प्रजातंत्रात्मक रूप से निर्मित समाज के मुख्य गुण हैं।

शैक्षणिक पक्ष में, हम सर्वप्रथम यह देखते हैं कि सामाजिक जीवन के ऐसे रूप को स्वीकार करने के कारण, जिसमें अभिरुचियाँ अन्योन्याश्रित रूप से एक दूसरे से गुँथी हुई होती हैं, और जहाँ उन्नति अथवा पुनर्समायोजन पर विशेष ध्यान दिया जाता है, प्रजातंत्रात्मक समुदाय सचेष्ट तथा व्यवस्थित शिक्षा में अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक रुचि लेने वाला बन जाता है। प्रजातंत्र का शिक्षा पर अधिक ध्यान देना तो परिचित तथ्य है ही। इसकी साधारण-सी व्याख्या तो यही है कि जब तक शासकों को चुनने वाले तथा उनकी आज्ञा का पालन करने वाले लोग शिक्षित न होंगे, तब तक सार्वजनिक दुःख को दूर करने में निरत सरकार कभी सफल नहीं हो सकती। चूँकि प्रजातंत्रात्मक समाज बाह्य अधिकार के सिद्धान्त की अवहेलना करता है, इसलिए ऐच्छिक संस्कार तथा अभिरुचि में इसका स्थानापन्न प्राप्त करना इसके लिए आवश्यक है, और ये केवल शिक्षा द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती हैं; किन्तु इसकी गहरी व्याख्या भी है। प्रजातंत्र, सरकार का एक रूप होने के अतिरिक्त और भी कुछ है; प्राथमिक रूप से यह संघात्मक जीवन, पारस्परिक सहयोग में वृद्धि पाने वाले

अनुभव का एक रूप है। एक अभिरुचि में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या का दूरी में विस्तार, जिसके कारण प्रत्येक को अपने कार्य को दूसरों के कार्य के सम्बन्ध में लाना पड़ता है तथा दूसरों के कार्य पर अपने स्वयं के कार्य को संकेत तथा निर्देश देने के लिए विचार करना पड़ता है, वर्ग, जाति तथा राष्ट्रीय साम्राज्य की उन दीवारों को तोड़ने का समानार्थक है, जिनके कारण लोग अपनी क्रिया के पूरे अर्थ को नहीं समझ पाते थे। ये संख्या में अधिक तथा अधिक विभिन्न प्रकार के सम्पर्क-विन्दु उन उद्दीपनों की अधिकाधिक अनेकरूपता व्यक्त करते हैं, जिन पर व्यक्ति को प्रतिचार करना होता है। परिणाम-स्वरूप वे उसके कार्य में परिवर्तन लाते हैं। इनके कारण वे सभी शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से विकसित हो पाती हैं, जो तब तक दबी हुई पड़ी रहती हैं, जब तक कार्य करने की उत्तेजनाएँ केवल आंशिक होती हैं, जो अनिवार्य रूप से ऐसे समुदाय में आंशिक होती हैं, जो अपनी आत्मपूर्णता में अनेक अभिरुचियों के लिए द्वार बन्द रखता है।

निःसंदेह, सहयोगी कार्यों के क्षेत्र का विस्तार तथा वैयक्तिक शक्तियों का अधिकाधिक विकास, जो प्रजातंत्र की मुख्य विशेषताएँ हैं, चेष्टा तथा सचेतन प्रयत्न से नहीं उत्पन्न होते। इसके विपरीत वे उत्पादन, वाणिज्य, यात्रा, देशांतर-वास तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के रूपों के विकास के कारण उत्पन्न हुए हैं, जो प्राकृतिक शक्ति पर विज्ञान के अधिकार के कारण संभव हुए हैं; परन्तु एक ओर व्यक्तिवाद का अधिक विकास तथा दूसरी ओर अभिरुचि का अधिक विस्तृत समुदाय स्थापित हो जाने के पश्चात् उन्हें कायम रखना तथा बढ़ाना सचेष्ट प्रयत्न का ही विषय है। यह स्पष्ट है कि उस समाज को, जिसके लिए पृथक् वर्गों का स्तर-निर्माण घातक है, इस पर ध्यान देना आवश्यक है कि बौद्धिक सुविधाएँ सभी को सरलतापूर्वक बराबर मिलती रहें। जिस समाज में वर्ग विभाजन हो, उसे विशेषकर केवल शासनीय तत्त्वों की ही शिक्षा पर ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। जो समाज गतिशील है, जिसमें कहीं भी होने वाले परिवर्तन के विभाजन के लिए पर्याप्त अवसर हो, उसे इस पर ध्यान देना आवश्यक होता है कि उसके सदस्य वैयक्तिक आरम्भिक रुचि तथा समायोजन में शिक्षित हों। अन्यथा वे ऐसे परिवर्तनों में पड़ कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाएँगे, जो उनके समक्ष आते हैं और जिसके महत्त्व अथवा संबंधों का प्रत्यक्षीकरण वे नहीं कर पाते। परिणाम-स्वरूप एक ऐसा संभ्रम उत्पन्न होगा, जिसमें कुछ लोग दूसरों की अंधी तथा वाह्य रूप से निर्देशित क्रियाओं के परिणामों को ही अपने-अपने अनुकूल बना लेंगे।

प्लेटो का शिक्षा-दर्शन

आगे आने वाले अध्यायों में, शिक्षा में प्रजातन्त्रात्मक भावों के महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। इस अध्याय के शेष अंश में हम उन शैक्षणिक सिद्धान्तों पर विचार करेंगे, जो ऐसे तीन युगों में विकसित हुए हैं, जबकि शिक्षा का सामाजिक महत्त्व विशेष रूप से स्वीकार किया गया था। प्रथम विचारणीय युग प्लेटो का है। उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी इस तथ्य को अधिक सुन्दर ढंग से नहीं व्यक्त कर सका है कि सामाजिक व्यवसाय तभी सुदृढ़ हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति, अभिरुचि तथा अपने स्वभाव के अनुकूल कार्यों में इस प्रकार लगा हो, जो दूसरों के लिए लाभकारी हो (अथवा उस पूर्णव्यवस्था में योगदान करे जिससे वह संबंधित है); तथा यह शिक्षा का कार्य है कि वह इन वैयक्तिक शक्तियों का अन्वेषण कर प्रगतिशील रूप से उन्हें सामाजिक उपयोग के लिए प्रशिक्षित करे। जो कुछ अब तक कहा गया है उसका अधिकांश, जो कुछ प्लेटो ने सर्वप्रथम विश्व को बताया था, उसी से लिया गया है। किन्तु, उन परिस्थितियों ने, जिन्हें वह बौद्धिक रूप से नियंत्रित न कर सका, उसे इन भावों को सम्प्रयुक्त न कर सकने के लिए विवश कर दिया। ऐसी क्रियाओं की अनिश्चित बहुरूपता की कोई भी धारणा उसमें न आ पाई, जो किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक समुदाय में विशेष रूप से प्राप्त हो सकती हैं; और परिणाम-स्वरूप उसने शक्तियों के वर्गों तथा सामाजिक प्रबंधों की सीमित संख्या तक ही अपनी विचारधारा को सीमित रक्खा।

प्लेटो यह मानकर चलता है कि अंततः समाज की व्यवस्था अस्तित्व के साध्य के ज्ञान पर निर्भर है। यदि हमें इसके साध्य का ज्ञान नहीं है, तो हमें संयोग और सम्भावना पर ही संतोष करके रहना पड़ेगा। जब तक हमें साध्य, 'सद्' का ज्ञान न हो, तब तक विवेकपूर्वक यह निश्चित करने के लिए कि किन-किन सम्भावनाओं को विकसित करना है, हमें कोई प्रतिमान न मिल सकेगा, और न हम यही जान सकेंगे कि सामाजिक प्रबंधों को किस प्रकार व्यवस्थित किया

जाय। हम व्यक्ति तथा सामाजिक व्यवस्था दोनों की ही विशेषता के रूप में क्रियाओं की उचित सीमा तथा उनके विभाजन की धारणा को—जिसे वह न्याय कहता था—न रक्खेंगे। किन्तु, अंतिम तथा स्थायी सद् का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हम प्रातिभासिक रूप से इस अलंध्य बाधा पर आते हैं कि ऐसे ज्ञान की प्राप्ति न्यायपूर्ण तथा सम-सामाजिक व्यवस्था के अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्त कर सकना असंभव है। प्रत्येक अन्य दशा में मन भ्रामक अधिमानों तथा गलत प्रणालियों के कारण अवरोधित हो जाता है तथा गलत मार्गों पर चला जाता है। अव्यवस्थित तथा पक्ष-भेद वाले समाज में विभिन्न प्रकार के अनेक आदर्श तथा अधिमान होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति के लिए मन का संतुलन तथा आत्म-संगति प्राप्त कर सकना असंभव हो जाता है। केवल पूर्व संपूर्णता में ही आत्म-संगति होती है। ऐसे समाज में, जो किसी अवयव-विशेष को किसी अन्य अवयव से, उसके आनुपातिक अथवा विवेकपूर्ण महत्ता पर ध्यान दिए विना, अधिक महत्त्वपूर्ण तथा महान् समझने पर आधारित है, विचार अनिवार्य रूप से गलत रास्तों पर चला जाता है। यह कतिपय बातों को अधिक महत्त्व देता है और कुछ की अवहेलना करता है, तथा ऐसे मन की उत्पत्ति करता है, जिसकी प्रातिभासिक एकता केवल ऊपरी तथा विकृत होती है। अंततः शिक्षा, संस्थाओं, परंपराओं तथा नियमों द्वारा प्रस्तुत किए गए रचना-विधानों से उत्पन्न होती है। केवल न्याय-राज्य में ही ऐसे तत्त्व होते हैं कि उचित शिक्षा प्रदान कर सकें, और केवल वे ही, जिन्होंने अपने मन को उचित रूप से प्रशिक्षित किया है, साध्य तथा वस्तुओं के व्यवस्थापक सिद्धांत की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त कर सकेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक आशाहीन चक्र में फँस गए हैं। कुछ भी हो, प्लेटो ने एक निकास-मार्ग का सुझाव दिया है। कतिपय व्यक्ति, दार्शनिक अथवा ज्ञान अथवा सत्य के प्रेमी, अध्ययन द्वारा कम-से-कम सत्य स्थिति के उचित रचना-विधानों की रूप-रेखा का ज्ञान प्राप्त करें। यदि कोई शक्तिशाली शासक इन रचना-विधानों के आधार पर राज्य का निर्माण करे, तो इसके नियमों को सुरक्षित रक्खा जा सकता है। ऐसी शिक्षा दी जा सकती है, जो व्यक्तियों की परीक्षा कर सकेगी कि वे क्या करने के योग्य हैं, और उनका स्वभाव उन्हें जिसके योग्य बनाता है, जीवन में उसी कार्य को करने के लिए प्रत्येक को एक विधि प्रदान कर सकेगी। प्रत्येक अपना स्वयं का कार्य करेगा और दूसरे का अतिक्रमण न करेगा, और संपूर्ण की एकता तथा व्यवस्था कायम रहेगी।

दार्शनिक विचार की ओर किसी भी योजना में एक ओर सामाजिक प्रबंधों के शैक्षणिक महत्त्व, और दूसरी ओर बालकों को शिक्षित करने के लिए प्रयुक्त होने वाले माध्यमों पर उन प्रबंधों की निर्भरता की और अधिक यथेष्ट प्रत्यभिज्ञा पा सकना असंभव है। और वैयक्तिक शक्तियों के अन्वेषण, विकास तथा उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करने में, कि वे दूसरों की क्रियाओं को संबद्ध कर सकें, शिक्षा के कार्य का अधिक गहरा भाव प्राप्त कर सकना असंभव है। फिर भी वह समय, जिसमें इस सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ था, इतना अप्रजातांत्रिक था कि प्लेटो उस समस्या का कोई हल न निकाल सका, जिसके पदों का उसे पूर्ण ज्ञान था।

उसने बड़ी दृढ़तापूर्वक इस बात की पुष्टि तो की कि समाज में व्यक्ति का स्थान जन्म अथवा संपत्ति अथवा किसी अन्य परंपरागत स्तर के आधार पर नहीं निर्धारित किया जाना चाहिए, बल्कि शिक्षा की प्रक्रिया में अन्वेषित उनके स्वयं के स्वभाव द्वारा निर्धारित होना चाहिए, किन्तु उसे व्यक्तियों की अद्वितीयता का प्रत्यक्षीकरण न हो सका। उसके अनुसार वे स्वभाव के अनुसार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, और वह भी वर्गों की बहुत छोटी संख्या में। परिणाम-स्वरूप शिक्षा के कार्य का परीक्षण तथा तदनुरूप विभाजन केवल यही बताता है कि व्यक्ति तीनों विशिष्ट वर्गों में किसके अंतर्गत आता है। चूँकि तब ऐसी प्रत्यभिज्ञा न थी कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने-आप में एक वर्ग है; इसलिए व्यक्ति की उन अनेक क्रियाशील मनोवृत्तियों तथा उनके संघातों के अनिश्चित बाहुल्य की प्रत्यभिज्ञा भी न हो सकी, जो व्यक्ति में संभव है। व्यक्ति के स्वरूप में केवल तीन ही प्रकार की शक्तियाँ अथवा क्षमताएँ देखी गई थीं। इसीलिए प्रत्येक वर्ग में शिक्षा शीघ्र ही अपनी अप्रगतिशील सीमा तक आ जाएगी; क्योंकि केवल विविधता के कारण ही परिवर्तन तथा प्रगति होती है।

कुछ व्यक्तियों की इच्छाएँ स्वाभाविक रूप से प्रधान होती हैं, उन्हें श्रमिक तथा व्यापारी वर्ग में रक्खा जाता है, जो मानवीय माँगों को व्यक्त करता तथा उनकी पूर्ति करता है। शिक्षा के उपरांत दूसरों में यह व्यक्त होता है कि इच्छाओं के ऊपर उन में उदार, बाह्य रूप से कार्य करने तथा अधिकार करने के साहसी संस्कार हैं। वे राज्य की नागरिक प्रजा, युद्ध में इसकी रक्षक तथा शांति में इसकी आंतरिक संरक्षक बनती हैं। किन्तु उनकी सीमा उनमें "विवेक" के अभाव द्वारा निश्चित हो जाती है, जो समष्टि को समझ सकने

की शक्ति है। जिनमें यह शक्ति होती है, वे सर्वोच्च प्रकार की शिक्षा के योग्य समझे जाते हैं, और समय आने पर राज्य के वैधानिक अधिकारी बनते हैं ; क्योंकि विधान ऐसा सामान्य नियम होता है, जो अनुभव के विशेषों को नियंत्रित करता है। इस प्रकार यह सत्य नहीं ठहरता कि प्लेटो का मंतव्य व्यक्ति को सामाजिक संपूर्णता के अधीन करना है ; किन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की विलक्षणता तथा दूसरों के साथ उसकी असमानता के प्रत्यक्षीकरण का अभाव होने के कारण तथा परिणाम-स्वरूप यह न स्वीकार कर पाने के कारण कि परिवर्तित होते हुए समाज में भी स्थायित्व होता है, उसके सीमित शक्तियों तथा वर्गों के सिद्धांत का निश्चित अंत वैयक्तिकता की अधीनता के भाव में हुआ।

हम प्लेटो के न तो इसी विश्वास को और अच्छा रूप दे सकते हैं कि जब प्रत्येक व्यक्ति उन क्रियाओं में संलग्न रहता है, जिनके लिए उसमें स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं, तो व्यक्ति भी प्रसन्न रहता है और समाज भी अत्यंत सुन्दर ढंग से व्यवस्थित रहता है, और न इस निश्चय को ही कि शिक्षा का प्राथमिक कार्य व्यक्ति के लिए इन शक्तियों का अन्वेषण करना तथा उसे इनके सफल उपयोग के लिए प्रशिक्षित करना है। किन्तु, ज्ञान की प्रगति ने हमें प्लेटो के व्यक्तियों के समूह-विभाजन तथा इनकी मौलिक शक्तियों का कतिपय विशिष्ट वर्गों में बाँटने की धरातलीयता का ज्ञान करा दिया है ; इसमें हमें यह बता दिया गया है कि मौलिक शक्तियाँ अनिश्चित रूप से बहुसंख्यक तथा परिवर्तनीय हैं। यह कहना तो केवल इसी तथ्य का दूसरा पक्ष है कि समाज जितना प्रजातंत्रात्मक बन गया है, उसमें सामाजिक व्यवस्था का अर्थ व्यक्तियों की विशिष्ट तथा परिवर्तनशील विशेषताओं का उपयोग करना है, वर्गों द्वारा स्तर-विभाजन करना नहीं। यद्यपि उसका शिक्षा-दर्शन क्रांतिकारी था, फिर भी वह अप्रगतिशील आदर्शों के बंधन में था। उसने यह सोचा था कि परिवर्तन अथवा परिष्कार अनियमित आशय का प्रमाण है, अर्थात् वास्तविक सत् अपरिवर्तनशील है। इसीलिए, जहाँ वह समाज की तत्कालीन दशा को पूर्णरूप से परिवर्तित करना चाहता था, वहीं उसका उद्देश्य ऐसे राज्य का निर्माण था, जिसमें बाद को परिवर्तन के लिए कोई स्थान न रह जाय। जीवन का अंतिम साध्य स्थाई है, इस साध्य को ध्यान में रख कर निर्मित किए गए राज्य में छोटे-छोटे महत्त्व-हीन तत्त्व भी नहीं बदले जा सकते। यद्यपि वे समवायीरूप से महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकते, फिर भी यदि वे स्वीकार कर लिए जायें, तो वे

मनुष्यों के मन में परिवर्तन का भाव जागृत कर देंगे। इसीलिए उन्हें नाशक तथा अराजक कहा गया है। उसके दर्शन की सफलता इस तथ्य में व्यक्त होती है कि वह ऐसे अधिकाधिक सुन्दर समाज का निर्माण करने के लिए शिक्षा में उत्तरोत्तर सुधार करने पर विश्वास न कर सका, जो बाद में शिक्षा में सुधार करे और इस प्रकार अनिश्चित रूप से यह क्रम चलता रहे। जब तक आदर्श राज्य की स्थापना न हो जाय, तब तक ठीक शिक्षा की स्थापना भी नहीं हो सकती। और बाद में उस शिक्षा का काम केवल इसे अक्षुण्ण बनाए रखना होगा। इस राज्य की स्थापना के लिए उसे कुछ ऐसी सुखद आकस्मिक घटनाओं पर विश्वास करने के लिए विवश होना पड़ा, जिनके द्वारा राज्य में दार्शनिक बुद्धि ही शासन-शक्ति बन सके।

अठारहवीं शताब्दी का 'व्यक्तिवादी' आदर्श

१८वीं शताब्दी के दर्शन में हम अपने को भावों के एक दूसरे ही प्रकार के चक्र में पाते हैं। 'प्रकृति' का अर्थ अब भी स्थित सामाजिक व्यवस्था के विरोधी तत्त्व के रूप में था। प्लेटो का रूसो के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव था। प्रकृति का अर्थ अब वैयक्तिक बुद्धि की विविधता तथा सभी रूपों में व्यक्तित्व के अपने स्वतंत्र विकास की आवश्यकता है। प्रकृति के अनुकूल शिक्षा, आदेश तथा अनुशासन का गंतव्य तथा उसकी विधि प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त जन्मजात अथवा मौलिक शक्ति को, चरम दशाओं में असामाजिक अथवा समाज-विरोधी के भी रूप में समझा जाता था। सामाजिक प्रबंधों को केवल ऐसे वाह्य विधानों के रूप में समझा जाता था, जिनके द्वारा वे असामाजिक व्यक्ति अपने लिए स्वकीय सुख अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकें।

कुछ भी हो, ये कथन आन्दोलन के वास्तविक महत्त्व के केवल अशुद्ध भाव को ही व्यक्त करते हैं। वास्तव में इसकी प्रमुख अभिरुचि प्रगति तथा सामाजिक प्रगति में थी। प्रातिभासिक समाज विरोधी दर्शन लगभग अधिक विस्तृत तथा अधिक स्वतंत्र समाज की ओर, अर्थात् विश्व-बंधुत्व की ओर ले जाने वाली भावना का पारदर्शी, ऊपरी दिखावा मात्र था। विधानात्मक आदर्श, मानवता का था। राज्य के भिन्न प्रकार मानवता की सदस्यता में मनुष्य की शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो सकेंगी, जबकि वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्थाओं में राज्य के शासकों की स्वार्थी अभिरुचियों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसकी शक्तियों का दमन किया जाता था तथा वे विकृत कर दी जाती थीं। चरम व्यक्तिवाद का सिद्धांत केवल मनुष्य को अनिश्चित रूप से पूर्ण बन सकने के आदर्शों तथा पूरी मानवता को अपने विस्तार-क्षेत्र के रूप में ग्रहण करने वाली संस्था का दूसरा पक्ष, दूसरा सिरा था। मुक्त व्यक्ति को पूर्ण तथा प्रगतिशील समाज का अंग तथा साधन बनना था।

इस मत के विचारक उस सामाजिक स्थिति की बुराइयों के प्रति पर्याप्त सतर्कतापूर्वक सजग थे, जिसमें उन्होंने अपने को पाया। उन्होंने इन बुराइयों का कारण उन सीमाओं को बताया, जो मनुष्य की स्वतंत्र शक्तियों पर लगा दी गई थीं। ऐसी सीमाबद्धता उन्हें विकृत तथा दूषित कर देती है। उनकी, जीवन को ऐसे वाह्‌य बंधनों से मुक्त करने की उत्कट भावना, जो केवल उस वर्ग को पूर्ण लाभ प्रदान करने के लिए बनाए गए थे, जिसे भूतकालीन सामंतवादी व्यवस्था ने शक्ति प्रदान की थी, प्रकृति की पूजा के रूप में बौद्धिक रूप से सूत्रबद्ध हुई। 'प्रकृति' को पूर्ण रूप से स्वीकार करने का अर्थ कृत्रिम, दूषित तथा असमान सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर मानवता के नवीन तथा अधिक अच्छे राज्य की स्थापना करना था। आदर्श तथा क्रियाशील शक्ति, दोनों के ही रूप में प्रकृति पर किए गए अनवरुद्ध विश्वास को भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा और भी बल मिला। धर्म तथा राज्य के कृत्रिम अवरोधों तथा पक्षपात के स्वतंत्र अन्वेषण से यह व्यक्त हुआ कि विश्व नियम का दृश्य है। न्यूटन की सौरमण्डल की व्यवस्था, जिसने प्राकृतिक नियम के साम्राज्य को व्यक्त किया, आश्चर्यजनक संगति का दृश्य था ; जिसमें प्रत्येक शक्ति, अन्य शक्ति के साथ संतुलित थी। यदि मनुष्य केवल कृत्रिम, मानव द्वारा लादे गए दमनात्मक बन्धनों से मुक्त हो जाय, तो प्राकृतिक नियम मानवीय सम्बन्धों में भी उसी प्रकार के परिणाम उत्पन्न करेगा।

प्रकृति के अनुकूल बनने की शिक्षा को इस अधिक सामाजिक समाज के निर्माण का पहला कदम समझा जाता था। यह साफ़-साफ़ देखा जा चुका था कि आर्थिक तथा राजनैतिक प्रतिबंध अंततः विचार तथा भावनाओं के प्रतिबंधों पर निर्भर हैं। मनुष्य को बाहरी जंजीरों से मुक्त करने का पहला कदम उन्हें गलत विश्वासों तथा आदर्शों की आंतरिक जंजीरों से मुक्त करना है। तत्कालीन संस्थाएँ, अर्थात् जिसे सामाजिक जीवन कहा जाता था, इतनी गलत तथा दूषित थीं कि यह कार्य उनके सुपुर्द नहीं किया जा सकता था। उससे इस कार्य को करने की आशा कैसे की जा सकती थी, जबकि इसे पूरा करने का अर्थ उसका स्वयं अपना विनाश था? अतएव 'प्रकृति' ही ऐसी शक्ति थी, जो इस उपक्रम को कर सकती थी। उस समय प्रचलित, ज्ञान का चरम संवेदनावादी सिद्धांत भी इसी धारणा से उत्पन्न हुआ था। इस पर बल देना कि मन मौलिक रूप से निष्क्रिय तथा शून्य होता है, शिक्षा की संभावनाओं की प्रतिष्ठा बढ़ाने का एक रूप था। यदि मन ही प्लेट है, जिस पर विषय लिखे जाते

है, तो प्राकृतिक वातावरण के माध्यम द्वारा शिक्षा की संभावनाओं की कोई सीमा नहीं। और चूंकि वस्तुओं का प्राकृतिक संसार, संगत 'सत्यों' का दृश्य है, इसलिए अनिवार्य रूप से यह शिक्षा, सत्य से पूरित मन उत्पन्न करेगी ।

शिक्षा का राष्ट्रीय तथा सामाजिक स्वरूप

जैसे ही स्वतंत्रता के प्रति प्रथम उत्साह का स्वर धीमा हुआ, इस सिद्धांत के रचनात्मक पक्ष की निर्बलता स्पष्ट हो गई। प्रत्येक चीज को केवल प्रकृति पर ही छोड़ देने का अर्थ तो शिक्षा के भाव का ही निषेध कर देना था; यह तो परिस्थितियों की आकस्मिकता पर ही विश्वास करना था। आदेश की प्रक्रिया आगे बढ़ाते रहने के लिए न केवल किसी साधन की ही, बल्कि किसी विधानात्मक अंग, प्रबंधक माध्यम की भी आवश्यकता थी। "सभी शक्तियों के पूर्ण तथा सम विकास" के लिए, जिसके सामाजिक पक्ष के रूप में प्रबुद्ध तथा प्रगतिशील मानवता आती है, इसे प्राप्त करने के लिए निश्चित व्यवस्था की आवश्यकता होती है। स्वकीय व्यक्ति तो केवल यत्र-तत्र इस मत की घोषणा मात्र कर सकते थे, वे कार्य को चला तो नहीं सकते थे। 'पेस्टॉलाजी' जैसे इस पर प्रयोग कर सके तथा धनी एवं शक्ति-संपन्न दार्शनिक सम्मान के व्यक्तियों को इस उदाहरण का अनुकरण करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते थे; किन्तु पेस्टॉलाजी ने भी यह पाया कि नवीन शैक्षणिक आदर्श के किसी प्रकार के भी सफल विकास के लिए राज्य की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। नवीन समाज को जन्म दे सकने वाली नवीन शिक्षा का कार्यान्वित होना आखिरकार तत्कालीन राज्यों की क्रियाओं पर निर्भर है। प्रजातंत्रात्मक भाव के लिए किया गया आंदोलन अनिवार्यतः सार्वजनिक रूप से चलाए जाने वाले तथा उन्हीं प्रबंधित विद्यालयों का आंदोलन बन गया।

जहां तक यूरोप का संबंध था, वहां की ऐतिहासिक स्थिति ने राजनैतिक जीवन के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ राज्य-संचालित शिक्षा-आंदोलन का तादात्म्य स्थापित कर दिया, जो बाद के आंदोलनों के लिए असाधारण महत्त्व का तथ्य था। विशेषकर जर्मन-विचारधारा के प्रभाव में, शिक्षा नागरिक-कार्य बन गई और नागरिक कार्य को राष्ट्रीय-राज्य के आदर्श को प्राप्त करना समझा गया। मानवता के स्थान पर 'राज्य' को स्वीकार किया गया, और मानवतावाद के

स्थान पर राष्ट्रवाद ने जोर पकड़ा। 'मनुष्य' नहीं 'नागरिक' का निर्माण, शिक्षा का उद्देश्य बन गया।[1] वह ऐतिहासिक परिस्थिति, जिसकी यहां चर्चा की गई है—वह नेपोलियन की विजयों का उत्तरकालीन परिणाम है और विशेषकर जर्मनी में उसका प्रभाव है। जर्मनी के राज्यों ने यह अनुभव किया (और बाद की घटनाएं इस विश्वास की सत्यता को स्पष्ट करती हैं) कि शिक्षा पर व्यवस्थित ध्यान देना ही उनकी राजनैतिक एकता तथा शक्ति को पुनः प्राप्त करने तथा उसे कायम रखने का सर्वोत्तम साधन है। वाध्य रूप से वे विभाजित तथा निर्बल थे। प्रशा के राजनीतिज्ञों के नेतृत्व में उन्होंने इस परिस्थिति को, सार्वजनिक शिक्षा की विशाल तथा दृढ़ व्यवस्था के विकास का उद्दीपन बनाया।

अभ्यास के इस परिवर्त्तन ने अपरिहार्य रूप से सिद्धांत में भी परिवर्तन कर दिया। व्यक्तिवादी सिद्धांत पृष्ठभूमि में चला गया। राज्य अब केवल सार्वजनिक शिक्षा के साधन ही नहीं प्रस्तुत करता था, वरन् इसका लक्ष्य भी निर्धारित करता था। जब वास्तविक अभ्यास यह था कि प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय के विभागों तक की विद्यालय-व्यवस्था, देशभक्त नागरिक सैनिक, तथा भावी राजकीय अधिकारी और प्रबंधक उत्पन्न करती थी तथा सैनिक, औद्योगिक तथा राजनैतिक सुरक्षा और विकास के साधन प्रस्तुत करती थी, तो सिद्धांत के लिए सामाजिक क्षमता के उद्देश्य पर बल न देना असंभव था। और प्रतिद्वंद्वी तथा लगभग विरोधी राज्यों से घिरे हुए राष्ट्रीय राज्य को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण यह भी उतना ही असंभव था कि सामाजिक क्षमता को अस्पष्ट विश्व-मैत्रीय मानवतावाद के पदों में व्यक्त किया जाए। चूंकि विशिष्ट राष्ट्रीय संप्रभुता को कायम रखने के लिए, राज्य की अधिक महत्त्वपूर्ण अभिरुचियों

---

१. रूसो ने भी, इस दिशा की ओर के बौद्धिक सम्मान पर कुछ उपेक्षापूर्वक ध्यान दिया है। उसने तत्कालीन स्थिति का इस आधार पर विरोध किया कि उससे न तो नागरिक का ही निर्माण होता था और न मनुष्य का ही। तत्कालीन परिस्थितियों में, पहले की अपेक्षा दूसरे के लिए प्रयत्न करना अधिक अच्छा समझा; किन्तु उसके बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो आदर्श रूप से उच्च नागरिक के निर्माण की ओर संकेत करते हैं; और जिनसे यह व्यक्त होता है कि 'यमिली' में स्पष्ट किया हुआ, उसका स्वयं का प्रयत्न, केवल जितना उस समय में हो सकता था, उसमें सर्वोत्तम तत्कालीन प्रयोग करना था।

के अधीन व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए सैनिक सुरक्षा तथा वाणिज्य में अंतर्राष्ट्रीय सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करने के संघर्ष, दोनों में ही सामाजिक क्षमता में भी उसी प्रकार की अधीनता निहित समझी गई। शैक्षणिक प्रक्रिया को वैयक्तिक विकास के स्थान पर प्रायः अनुशासनिक प्रशिक्षण ही समझा गया। चूँकि, व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के रूप में संस्कृति का आदर्श अब भी चला आ रहा था, इसलिए शिक्षा-दर्शन ने दोनों विचारों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। समन्वय ने राज्य के 'सुघटित' स्वरूप की धारणा का रूप धारण कर लिया। व्यक्ति अपने पृथक् रूप में कुछ भी नहीं है। केवल व्यवस्थित संस्थाओं के उद्देश्यों और अर्थों को आत्ममात् कर लेने पर ही वह वास्तविक व्यक्तित्व को प्राप्त कर पाता है। जो उसको राजनैतिक अधिकार की अधीनता तथा अपने से बड़ों की आज्ञाओं पर अपने को उत्सर्ग कर देने की माँग प्रतीत होती है, वह वास्तव में राज्य में अभिव्यक्त वस्तुनिष्ठ विवेक को अपना बनाना अर्थात् उसके सचमुच विवेकपूर्ण बन पाने का एकमात्र रूप है। विकास की धारणा, जिसे हमने संस्थात्मक भाववाद की विशिष्टता के रूप में देखा है, (जैसे हीगेल के दर्शन में) केवल व्यक्तित्व की पूर्ण प्राप्ति तथा स्थिति संस्थाओं के प्रति पूरी-पूरी 'अनुशासनिक' अधीनता के भावों का समन्वय करने का ठीक ऐसा ही सचेष्ट प्रयत्न है।

शिक्षा-दर्शन के रूपांतर के विस्तार को, जो जर्मनी की उस पीढ़ी में हुआ, जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए नेपोलियन के विरुद्ध संघर्ष करने में लगी थी, कांट से प्राप्त किया जा सकता है, जिसने बड़ी सफलता-पूर्वक पूर्वकालीन वैयक्तिक मानवतावादी आदर्श को व्यक्त किया है। अपनी शिक्षा-शास्त्र की पुस्तक में, जिसमें उसके अठारहवीं शताब्दी के उत्तरकालीन वर्षों में दिए गए भाषण संगृहीत हैं, उसने शिक्षा की परिभाषा को उस प्रक्रिया के रूप में दिया है, जिससे 'मनुष्य मनुष्य बनता है।' मानव-जाति का इतिहास प्रकृति के निहित रूप में प्रारंभ होता है—'मनुष्य' के रूप में नहीं, जो विवेक का प्राणी है, जबकि प्रकृति केवल मूलप्रवृत्तियों तथा स्वाभाविक इच्छाओं को ही प्रस्तुत करती है। प्रकृति केवल ऐसे अंकुर प्रदान करती है, जिन्हें शिक्षा को विकसित करना तथा पूर्ण बनाना है। वास्तविक रूप से मानवीय जीवन की विशेषता यह है कि मनुष्य को अपने ऐच्छिक प्रयत्नों द्वारा अपना स्वयं का निर्माण करना होता है, उसे अपने आप को सत्य रूप से नैतिक, विवेकशील तथा स्वतंत्र प्राणी बनाना होता है। यह सृजनात्मक प्रयत्न मद्धिम प्रगतिशाली पीढ़ियों की शैक्षणिक क्रियाओं द्वारा

अग्रसर किया जाता है। इसकी प्रगति उन मनुष्यों पर निर्भर है, जो अपने उत्तराधिकारियों को तात्कालिक परिस्थितियों के लिए नहीं, अपितु भविष्य की सुंदरतर मानवता को संभव बनाने के लिए शिक्षित करने का सचेष्ट प्रयत्न करते हैं। किन्तु, इसमें एक बहुत बड़ी आपत्ति है। प्रत्येक पीढ़ी अपने बालकों को शिक्षा के उचित लक्ष्य (मानवता के रूप में सर्वोत्तम संभव मानवता की प्रगति) ध्यान में रखने के बजाय वर्तमान संसार के साथ जीवन बिता सकने के लिए शिक्षा देती है। माता-पिता अपने बच्चों को इसलिए शिक्षित करते हैं कि वे सफल जीवन बिता सकें। राजा लोग अपनी प्रजा को अपने स्वयं के प्रयोजनों का साधन बनाने के लिए शिक्षा देते हैं।

तो फिर मानवता की उन्नति के लिए शिक्षा का संचालन कौन करे? हमें निश्चय ही स्वकीय शक्ति वाले प्रबुद्ध व्यक्तियों के प्रयत्न पर निर्भर होना पड़ेगा। "समस्त संस्कृति स्वकीय व्यक्तियों से प्रारंभ होती है, और उन्हीं से बाहर की ओर फैलती है। केवल विस्तृत दृष्टिकोण वाले ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्नों द्वारा ही, जो भावी उन्नत स्थिति के आदर्श समझ सकते हैं, मानव-स्वभाव का अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर प्रगति करना संभव हो सकता है। शासक केवल ऐसे प्रशिक्षण में अभिरुचि लेते हैं, जो उनकी प्रजा को उनकी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के अधिक अच्छे उपकरण बनाएगी।" स्वकीय रूप से संचालित विद्यालयों को शासकों से प्रदान होने वाली राजकीय आर्थिक सहायता से भी काफी सतर्कतापूर्वक दूर रखना चाहिए। क्योंकि, जो कुछ मानवता के लिए सर्वोत्तम है, उसके बजाय शासकों की अपने स्वयं के राष्ट्र के कल्याण की अभिरुचि उनसे अपनी योजना की पूर्ति कराएगी ; क्योंकि वे विद्यालयों के लिए धन देते हैं। हमने विचारधारा में, अट्ठारहवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी विश्वबंधुत्व की भावना के विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया है। स्वकीय व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का तादात्म्य, मानवता के उद्देश्यों तथा उन्नति के भाव के साथ स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त हमें इसका बहुत ही भय है कि इन भावों की प्राप्ति पर राज्य-संचालित तथा राज्य-नियंत्रित शिक्षा का अवरोधक प्रभाव पड़ेगा। किन्तु, इस समय के बाद ४० वर्षों से कुछ कम ही वर्षों में कांट के दार्शनिक उत्तराधिकारी फिक्टे तथा हीगेल ने इस भाव का विस्तार किया कि राज्य का प्रमुख कार्य शैक्षणिक है ; अर्थात् विशेष रूप से, जर्मनी का पुनर्निर्माण ऐसी शिक्षा से ही हो सकता है, जो राज्य की अभिरुचियों के लिए संचालित हो तथा आवश्यक रूप में स्वकीय व्यक्ति, यदि वह स्वेच्छापूर्वक राजकीय संस्थाओं

तथा नियमों के शैक्षणिक अनुशासन को न स्वीकार करे, अहंवादी, अविवेकपूर्ण प्राणी तथा अपनी परिस्थितियों तथा वासनाओं का दास होता है। इस भावना में जर्मनी, प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक की सार्वजनिक, समष्टि तथा अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था को चलाने वाला, तथा समस्त स्वकीय शैक्षणिक उपक्रमों को, पूर्ण रूप से राजकीय नियंत्रण तथा देख-भाल के अधीन कर देने वाला पहला देश था।

इस संक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन से दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए। पहली तो यह कि स्वतंत्र रूप से लेने पर, अथवा अपने संदर्भ से पृथक्, ऐसे पद जैसे 'शिक्षा की वैयक्तिक तथा सामाजिक धारणा' नितांत अर्थहीन हैं। प्लेटो का आदर्श ऐसी शिक्षा का था, जो वैयक्तिक प्राप्ति तथा सामाजिक संगति और स्थायित्व का समीकरण कर देगी। उसकी स्थिति ने उसके आदर्श को स्तर-विभाजित वर्गों में व्यवस्थित समाज की धारणा को स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के शिक्षा-दर्शन का रूप बड़ा ही व्यक्तिवादी था ; परन्तु यह रूप बड़े ही सुंदर तथा उदार सामाजिक आदर्श से प्रोत्साहित था। यह आदर्श ऐसे समाज का निर्माण था, जिसकी व्यवस्था में मानवता ही आ जाएगी तथा जो मानव-जाति की अनिश्चित पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। प्रारंभिक उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी के भाववादी दर्शन ने पुनः संस्कृत व्यक्तित्व के स्वतंत्र तथा पूर्ण विकास के आदर्श के साथ सामाजिक अनुशासन तथा राजनैतिक अधीनता का समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसने राष्ट्रीय राज्य को एक ओर तो स्वकीय व्यक्तित्व तथा दूसरी ओर मानवता की प्राप्ति के बीच का मध्यवर्ती बनाया। परिणाम-स्वरूप, इस अनुप्राणित करने वाले सिद्धांत को उतने ही सत्य के साथ, 'व्यक्तित्व की समस्त शक्तियों का सम विकास' की प्राचीन पदावली अथवा 'सामाजिक क्षमता' की अधिक नवीन शब्द-व्यंजना, दोनों में व्यक्त कर सकना संभव है। यह सभी कुछ उस कथन की पुष्टि करता है, जो इस अध्याय के प्रारंभ में आया है। जब तक हम इसका स्वरूप निश्चित न कर लें कि हमारे मन में किस प्रकार का समाज है, तब तक सामाजिक प्रक्रिया तथा क्रिया के रूप में शिक्षा की धारणा का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता।

ये विचार दूसरे निष्कर्ष के लिए रास्ता खोज देते हैं। प्रजातंत्रात्मक समाज में उसके लिए शिक्षा की एक मौलिक समस्या, राष्ट्रवादी तथा अधिक विस्तृत सामाजिक उद्देश्य के विरोध द्वारा उत्पन्न होती है। पूर्वकालीन

विश्व-मैत्रीय तथा मानवतावादी धारणा का दोष यह था कि वह अस्पष्ट थी तथा उसमें प्रबंध को चलाने के साधनों तथा कार्यान्वित करने के अंगों का अभाव था। यूरोप में, और विशेषकर महाद्वीपीय राज्यों में, मानव-कल्याण तथा प्रगति के लिए शिक्षा की आवश्यकता का नवीन भाव राष्ट्रीय अभिरुचियों द्वारा दबा दिया गया तथा ऐसा कार्य करने की ओर लगा दिया गया, जिसका सामाजिक उद्देश्य निश्चित रूप से संकुचित तथा आत्मवादी था। शिक्षा के सामाजिक तथा राष्ट्रीय उद्देश्य को एक कर दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक उद्देश्य का अर्थ बड़ा ही अस्पष्ट-सा हो गया।

यह संभ्रम मानव-संपर्क की वर्तमान स्थिति के अनुरूप है। एक ओर तो विज्ञान, वाणिज्य तथा कला, राष्ट्रीय सीमाओं से पार जा रहे हैं। वे अधिकांश रूप से गुण तथा विधि में अंतर्राष्ट्रीय हैं। उनमें विभिन्न देशों के निवासियों की पारस्परिक निर्भरता तथा उनका सहयोग समाविष्ट है। साथ ही राष्ट्रीय संप्रभुता के भाव को राजनीति में कभी भी इतना बल नहीं मिला था, जितना वर्तमान काल में मिला है। प्रत्येक राष्ट्र में अपने पड़ोसी राष्ट्रों के लिए छिपे हुए विरोध तथा दबी हुई युद्ध-भावना है। प्रत्येक अपनी अभिरुचियों का चरम निर्णायक है तथा असंदिग्ध रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक में ऐसी अभिरुचियाँ हैं, जो पूर्ण रूप से उसी की हैं। इसमें संदेह करने का अर्थ राष्ट्रीय संप्रभुता के भाव में ही संदेह करना है, जिसे राजनैतिक अभ्यास तथा राजनीति-शास्त्र के प्राथमिक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। साहचर्यपूर्ण तथा पारस्परिक सहयोग पर आधारित सामाजिक जीवन के विस्तृत क्षेत्र तथा एकान्तिक एवं परस्पर विरोधी कार्यों तथा तात्पर्यों के बीच की यह असंगति 'शिक्षा सिद्धांत में सामाजिकता' के कार्य तथा शिक्षा के परीक्षण की स्पष्टतम धारणा प्रस्तुत करती है।

क्या किसी शिक्षा-प्रणाली के लिए यह सम्भव है कि किसी राष्ट्रीय सरकार द्वारा संचालित होने पर भी शिक्षा-प्रक्रिया-संबंधी उसके सामाजिक उद्देश्यों पर किसी भी प्रकार का अवरोध या दबाव न पड़े और वह विकृत होने से पूरी तरह बच जाय? आन्तरिक रूप से प्रश्न वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न उन प्रवृत्तियों का सामना करने का है, जिन्होंने समाज को वर्गों में विभक्त कर दिया है, जिनमें से कुछ दूसरों की उच्च संस्कृति के लिए उपकरण-मात्र बन गए हैं। बाह्य रूप से प्रश्न राष्ट्रभक्ति तथा देशभक्ति के साथ राष्ट्र-संबंधी राजनैतिक सीमाओं को भूल कर उन वस्तुओं के प्रति अपनी भक्ति-भावना को लगाना है, जो सामान्य लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत होकर लोगों को संगठित करती

हैं। प्रस्तुत समस्या के किसी भी पक्ष को नात्स्यात्मक साधनों को अपना कर नहीं सुलझाया जा सकता। केवल यही इतना देख लेना काफी नहीं है कि समाज के किसी भी वर्ग का शोषण करने के लिए दूसरे वर्ग द्वारा शिक्षा का उपयोग उपकरण के रूप में नहीं किया जा रहा है। विद्यालय की सुविधाएँ इतनी पर्याप्त मात्रा में तथा निपुणतापूर्वक मिलनी चाहिए, कि जिससे केवल नाम-मात्र को ही नहीं; बल्कि वास्तविक अर्थों में आर्थिक असमानता दूर हो और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपने भावी जीवन के निर्माण का समान अवसर मिले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल पर्याप्त मात्रा में प्रशासन द्वारा दी जाने वाली विद्यालय-सम्बन्धी सुविधाओं तथा परिवारों को दी जाने वाली ऐसी सहायताओं से ही काम नहीं चलेगा, जिससे बच्चे उनका उपयोग कर सकें, बल्कि परंपरागत सांस्कृतिक आदर्शों, परंपरागत अध्ययन-विषयों, और परंपरागत अध्यापन तथा अनुशासन-प्रणालियों में भी ऐसे सुधारों की आवश्यकता है, जिससे बच्चों पर शिक्षा-सम्बन्धी प्रभाव तब तक बना रहे, जब तक वे स्वयं अपने स्वतन्त्र आर्थिक तथा सामाजिक जीवन का निर्माण करने में सक्षम न हो जायँ। इस आदर्श का कार्यान्वय दूर दिखाई पड़ सकता है, लेकिन शिक्षा का प्रजातान्त्रिक आदर्श, जब तक जनता की शिक्षा प्रणाली में अधिकाधिक स्थान प्राप्त न करता जाय, तब तक हास्यास्पद दुःखद परिश्रम ही बना रहता है।

जहाँ तक एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ के सम्बन्धों का प्रश्न है, उपर्युक्त सिद्धान्त ही लागू होता है। केवल युद्ध की विभीषिकाओं का शिक्षण तथा उन बातों की उपेक्षा ही पर्याप्त नहीं है, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा वैमनस्य का उद्दीपन होता है। उन बातों पर भी जोर देना आवश्यक है, जो भौगोलिक सीमाओं की बिना कोई परवाह किए, लोगों को मानवीय कार्यों तथा लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आपस में बाँधती हैं। उन्नत तथा समयानुकूल राष्ट्रीय संप्रभुता से अधिक पूर्ण, स्वतंत्र तथा फलोत्पादक मानव-सम्पर्क तथा साहचर्य का संस्कार मन में क्रियाशीलरूप में स्थापित करना चाहिए। यदि शिक्षा-दर्शन की दृष्टि से ये संप्रयोग दुरूह जान पड़ें, तो इससे यही पता चलता है कि पूर्व विवेचित शिक्षा-सम्बन्धी विचार का अर्थ ठीक तरह से समझा नहीं जा सका है। यह निष्कर्ष शिक्षा-सम्बन्धी इस विचार के साथ सम्बद्ध है कि यह सामाजिक लक्ष्यों की दिशा में प्रगतिशील विकास की ओर व्यक्ति की शक्तियों का विमोचन है। अन्यथा शिक्षा-सम्बन्धी एक प्रजातान्त्रिक मानदण्ड का संप्रयोग अनिश्चयात्मक ढंग से ही किया जा सकता है।

अध्याय का सारांश

चूँकि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और संसार में अनेक सामाजिक समुदाय हैं ; अतः शिक्षा-सम्बन्धी आलोचना तथा निर्माण के लिए एक विशिष्ट सामाजिक आदर्श ही लागू होता है। दो चुने हुए चरम विन्दु, जिनसे एक विशेष प्रकार के सामाजिक जीवन का मूल्यांकन किया जाता है, उस सीमा-रेखा का निर्माण करते हैं, जिसे ध्यान में रख कर इसके सदस्य सम्पूर्ण समुदाय के हित-चिंतन में सहयोग प्रदान करते और जिसे ध्यान में रख कर यह समुदाय अन्य समुदायों के साथ व्यवहार करता है। दूसरे शब्दों में एक अवांछनीय समुदाय वह है, जो आन्तरिक तथा वाह्य रूप से अनुभवों के मुक्त आदान-प्रदान में बाधा उपस्थित करता है। ऐसा ही समाज प्रजातान्त्रिक है, जो अपनी अच्छी चीजों में अपने समस्त सदस्यों को बराबर का हिस्सा देता है और जो साहचर्यपूर्ण जीवन के विभिन्न स्वरूपों के माध्यम से अपनी संस्थाओं के नमनशील पुनर्समायोजन की व्यवस्था रखता है। ऐसे सामाजिक समुदाय में ऐसी शिक्षा का होना अनिवार्य है, जो व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्धों तथा नियन्त्रणों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करती है तथा मन में ऐसी आदतों का निर्माण करती है, जिनसे सामाजिक परिवर्तनों को बिना किसी व्यवधान के अंगीकार किया जा सके।

इस दृष्टिकोण से शिक्षा-सम्बन्धी तीन विशिष्ट ऐतिहासिक दर्शनों पर विचार किया जा चुका है। प्लेटो का शिक्षा-दर्शन पूर्व उल्लिखित दर्शन के समान आदर्श रखने वाला था ; किन्तु व्यक्ति के स्थान पर एक वर्ग को सामाजिक इकाई मान कर, इसके क्रियात्मक रूप में समन्वय उपस्थित किया गया है। अठारहवीं शताब्दी के जागरण के तथाकथित व्यक्तिवाद में समाज की धारणा के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानवता को ले लिया गया था और उसकी प्रगति में व्यक्ति को एक अंग के रूप में माना गया था। जैसा कि इसके प्रकृति का सहारा लेने से, अपने आदर्श के विस्तार के लिए इसमें माध्यम का अभाव स्पष्ट हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के संघबद्ध दर्शनों ने राष्ट्रीय राज्य को माध्यम बना कर इस अभाव की पूर्ति की थी ; किन्तु ऐसा करने में उसने उसी राजनैतिक इकाई के सदस्यों के लिए सामाजिक लक्ष्य की धारणा को संकुचित कर दिया और व्यक्ति की संघ की अधीनता की भावना को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया।

८

शिक्षा के उद्देश्य

उद्देश्य का स्वरूप

प्रजातंत्रात्मक समाज में शिक्षा का जो तात्पर्य है, उसके सम्बन्ध में किए गए विवेचन का परिणाम पिछले अध्यायों में दिए शिक्षा-वृतान्त में प्रायः निहित ही है। चूँकि यह माना जा चुका है कि शिक्षा का उद्देश्य, व्यक्ति को आत्म-शिक्षण को चलाते रहने के योग्य बनाना, अथवा ज्ञानार्जन का लक्ष्य तथा परिणाम विकास की क्रमागत क्षमता उत्पन्न करना है। फिर भी, इस विचार को समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर लागू नहीं किया जा सकता। इसे केवल वहीं लागू किया जा सकता है, जहाँ व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क सम्भव है, तथा जहाँ विभिन्न प्रकार की रुचियों के अनेक उद्दीपनों, सामाजिक संस्थाओं तथा आदतों में पुनर्निर्माण का पर्याप्त अवसर रहता है। प्रजातन्त्रात्मक समाज का अर्थ यही है, अतएव शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें प्रशिक्षात्मक प्रक्रिया से परे, किसी ऐसे साध्य की खोज नहीं करनी पड़ेगी, जिसके अधीन शिक्षा हो। हमारी धारणा ऐसा करने से हमें रोकती है। यहाँ हमारा सम्बन्ध उस विरोध से है, जो उद्देश्य को शिक्षा-प्रक्रिया––जिसमें वे कार्यान्वित होते हैं––में ही वर्तमान होने तथा उससे बाह्य स्थित होने में है। उद्देश्य बाह्य तभी हो सकते हैं, जब कि सामाजिक सम्बन्ध उचित रूप से संतुलित नहीं होते। चूँकि उस दशा में पूर्ण समाज के कुछ अंशों के उद्देश्य किसी बाह्य शक्ति द्वारा निर्धारित किए गए होंगे, अतः उनके उद्देश्य उनके अपने अनुभवों के स्वतंत्र विकास से उद्भूत न होंगे, बल्कि उनके नाम-मात्र के लक्ष्य अपने निज के नहीं, अपितु दूसरों के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के साधन-मात्र होंगे।

पहले तो हमें उस उद्देश्य की परिभाषा दे लेना है, जो बाह्य न होकर प्रक्रिया के अन्तर्गत ही निहित है। हम परिभाषा को केवल परिणाम-मात्र तथा साध्य में अन्तर दिखा कर स्पष्ट करेंगे। शक्ति के समस्त प्रयोगों के कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य होते हैं। तूफानी हवा मरुस्थल की रेत को उड़ा देती है और कणों की दशा में परिवर्तन उपस्थित कर देती है। यह एक परिणाम या प्रभाव है, साध्य

नहीं ; क्योंकि अन्त में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो पूर्वकालीन क्रिया की पूर्ति करे। यहां केवल स्थानीय परिवर्तन ही परिणाम है। इस क्रिया से उत्पन्न परिणाम किसी भी दूसरी दशा की तरह है, अर्थात् न अच्छा है न बुरा। अतएव, ऐसा कोई आधार नहीं, जिससे पूर्व-दशा को प्रारम्भ और अन्तिम को परिणाम के रूप में माना जा सके, अथवा बीच की क्रिया को निर्माण अथवा पूर्णता की संज्ञा दी जा सके।

उदाहरण के लिए मधुमक्खियों के क्रिया-कलापों की तुलना हवा द्वारा उड़ाए जाकर रेत में हुए परिवर्तनों से कीजिए। मधुमक्खियों की क्रिया से उत्पन्न परिणाम को साध्य केवल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्व-नियोजित है, या ज्ञानपूर्वक अभीष्ट था, बल्कि इसलिए कि वह पूर्व-क्रिया को पूर्ण बनाता है। जब मधुमक्खियाँ पराग एकत्रित करतीं, मोम बनातीं अथवा कोष्ठों का निर्माण करती हैं, तो उनका प्रत्येक कार्य आगे होने वाली क्रिया का पूर्व सोपान होता है। जब कोष्ठों का निर्माण पूरा हो जाता है, तो रानी मक्खी अंडे देती है। जब अंडे दिए जा चुकते हैं, तो मधुमक्खियाँ उन्हें आवश्यक तापक्रम पर सेती हैं। जब अंडे फूटते हैं, तो मधुमक्खियाँ नवजात शिशुओं को तब तक पालती-पोसती हैं, जब तक वे स्वयं अपनी देख-भाल करने योग्य नहीं हो जाते। हम इन तथ्यों से इतने परिचित हैं, कि जीवन तथा मूलप्रवृत्तियों को आश्चर्यजनक कह कर टाल देते हैं। यही कारण है कि हम इस घटना के विशेष महत्त्व, अर्थात् प्रत्येक तत्त्व के अवसरोचित स्थान और क्रम को नहीं समझ पाते, कि कैसे एक घटना आगे आने वाली घटना में सहायक सिद्ध होती है और अगली घटना अपने से पहले हुई घटना से प्राप्त उपलब्धि का उपयोग अपने बाद की घटना में सहायता पहुँचाने के लिए करती है और यह क्रिया चलते-चलते अन्त में सार-रूप ग्रहण करके अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के रूप में अपना अस्तित्व समर्पित कर देती है।

चूँकि उद्देश्य हमेशा परिणाम से सम्बन्धित होते हैं, अतः उद्देश्यों का प्रश्न उठने पर सब से पहले आवश्यकता यह जानने की होती है, कि प्रस्तुत कार्य में आन्तरिक निरन्तरता है या नहीं। कहीं यह काल-क्रम से एक दूसरे के बाद की गई क्रियाओं का योग-मात्र तो नहीं। शिक्षा के उद्देश्य के विषय में यह कहना गलत है कि बालक का प्रत्येक व्यवहार शिक्षक-द्वारा निर्देशित होता है तथा दिए हुए पाठ तथा शिक्षक का निर्देश ही उसकी क्रिया के क्रम का कारण है। मनमानी तथा क्रमहीन क्रिया को स्वाभाविक आत्म-प्रकाशन के रूप में स्वीकार कर लेना भी उद्देश्य के लिए घातक है। उद्देश्य में ऐसी

सुव्यवस्थित तथा सतत क्रिया का संकेत निहित है, जिसके क्रम में प्रक्रिया क्रमशः पूर्णता की ओर अग्रसर होती जाती है। क्रिया के समय-विस्तार तथा समय-क्रम के भीतर उसके वर्द्धमान विकास में, उद्देश्य का अन्त अथवा सम्भाव्य परिणाम की प्रगति का पूर्व-ज्ञान है। यदि मधुमक्खियों को अपनी क्रिया के फल का पूर्व-ज्ञान होता, काल्पनिक पूर्व-दृष्टि से वे यदि अपने साध्य को देख सकतीं, तो उन्हें उद्देश्य के प्रधान तत्त्व की प्राप्ति होती। अतएव उस दशा में, जहाँ परिणामों में पूर्व-दृष्टि सम्भव न हो, अथवा व्यक्ति वर्तमान क्रिया के परिणाम की कल्पना न कर सकता हो, वहाँ शिक्षा अथवा अन्य किसी कार्य के उद्देश्य की चर्चा करना निरर्थक है।

दूसरी ओर पूर्वज्ञात परिणाम के रूप में उद्देश्य, क्रिया को दिशा-निर्देश प्रदान करता है। यह सिर्फ किसी दर्शक का व्यर्थ विचार ही नहीं है; बल्कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उठाए गए हर कदम को प्रभावित करता है। पूर्व-दृष्टि तीन प्रकार से कार्य करती है। पहले यह प्रस्तुत परिस्थितियों का सतर्क निरीक्षण करके यह पता लगाती है कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कौन-कौन-से साधन उपलब्ध हैं तथा मार्ग में कौन-कौन-सी बाधाएँ हैं। दूसरे यह साधनों के प्रयोग को उचित क्रम प्रदान करती है, जिससे मितव्ययी चुनाव तथा प्रबन्ध सहज हो जाता है। और तीसरे इसके द्वारा विकल्पों का निर्णय संभव हो जाता है। यदि हम एक या दूसरी विधि से कार्य करने के परिणामों का पूर्व-ज्ञान प्राप्त कर सकें, तो हम दोनों विधियों की तुलना कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। और साथ ही इसका भी निर्णय कर सकते हैं कि उनमें से कौन-सी वांछनीय है और कौन-सी अवांछनीय। यदि हम जान जायें कि स्थिर जल से मच्छर उत्पन्न होते हैं और वे बीमारी फैलाते हैं, तो हम उसकी अवांछनीयता के पूर्व-ज्ञान के कारण, उसे दूर करने का प्रयत्न कर सकते हैं। चूँकि हम सिर्फ बौद्धिक द्रष्टा के रूप में ही होने वाले परिणाम का पूर्व-ज्ञान नहीं प्राप्त करते; क्योंकि उस परिणाम को उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया में हम स्वयं हाथ बटाते हैं; अतः एक या दूसरा परिणाम प्राप्त करने में हम स्वयं सम्बन्धित रहते हैं।

निःसन्देह ये तीनों बातें एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। हम वर्तमान परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके ही होने वाले परिणाम का निश्चित पूर्व-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और परिणाम का महत्त्व ही निरीक्षण के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। हमारा निरीक्षण जितना गहन होगा, परिस्थितियों तथा कठिनाइयों के उतने ही विविधतापूर्ण चित्र हमें दिखाई पड़ेंगे और उतने ही

अधिक विकल्प भी उपस्थित होंगे, जिनमें से कोई एक हमें अपनाना होगा। दूसरी ओर जितनी ही अधिक सम्भव परिस्थितियों तथा क्रिया के विकल्पों का ज्ञान होगा, चुनी हुई क्रिया उतनी ही अधिक सार्थक तथा संयत होगी। जहाँ केवल एक ही परिणाम सोचा गया है और मस्तिष्क को अन्य किसी सम्भव परिणाम का ज्ञान नहीं हो सकता, वहाँ सम्बन्धित क्रिया का अर्थ सीमित होगा। व्यक्ति को केवल लक्ष्य-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ना रहता है। कभी-कभी ऐसी संकुचित विधि सफल भी सिद्ध हो जाती है ; लेकिन यदि बीच में अप्रत्याशित बाधाएँ आ पड़ें, तो व्यक्ति के पास वे सम्भव साधन नहीं मौजूद रहते, जो परिस्थितियों का विस्तृत सिंहावलोकन करके मार्ग निर्दिष्ट करने पर होते हैं। वह शीघ्र ही आवश्यक पुनर्समायोजन नहीं कर पाता।

निष्कर्ष यह निकला कि सोद्देश्य क्रिया एक विवेकपूर्ण व्यवहार है। किसी क्रिया के परिणाम का पूर्व-ज्ञान हमें वह आधार प्रदान करता है, जहाँ से हम वस्तुओं तथा अपनी शक्तियों का निरीक्षण करके उचित मार्ग चुन सकते हैं तथा अपनी क्रिया का क्रम निर्धारित कर सकते हैं। इन क्रियाओं के करने का ही अर्थ विवेक है, क्योंकि विवेक, तथ्यों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के निरीक्षण से नियंत्रित सचेतन, वांछित तथा साभिप्राय क्रिया है। किसी कार्य के संपादन का विवेक, भावी सम्भावनाओं का ज्ञान है, यह उसे प्राप्त करने की योजना है; यह योजना के कार्यान्वयन के साधनों तथा मार्ग की बाधाओं पर ध्यान देना है, अथवा यदि यह कार्य को पूरा करने का दृढ़ निश्चय है, केवल अनिश्चित आकांक्षा मात्र नहीं, तो यह एक ऐसी योजना है, जो कार्य के साधक तथा बाधक दोनों प्रकार के तत्त्वों पर सम्यक् विचार करती है। विवेक, वर्तमान परिस्थितियों का भावी तथा भावी परिणामों का वर्तमान परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित कराने वाली शक्ति है। यही विशेषताएँ उद्देश्य या प्रयोजन के अस्तित्व का अर्थ देती हैं। कोई मनुष्य अपनी क्रिया के सम्भव परिणाम तथा अपने ध्येय को न जानने के अनुपात में ही मूर्ख, अंधा, अविवेकी अथवा मंदबुद्धि कहा जाता है। यदि कोई केवल अपने भाग्य पर भरोसा करता है, या अपनी शक्तियों तथा वास्तविक परिस्थितियों से तटस्थ रह कर कोई योजना बनाता है, तो वह भी बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। विचार की ऐसी कमी, भावना को ही सम्भावित घटना का मानदण्ड मान लेती है। बुद्धिमानी तो इस बात में है, कि किसी क्रिया की योजना बनाने से पूर्व, ठहरकर हम पूरी तरह आगा-पीछा सोच लें।

सोद्देश्य तथा बुद्धिमत्तापूर्ण क्रिया का तादात्म्य दिखा देना, इसके महत्त्व

तथा अनुभव में इसके उपयोग को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। भाववाचक संज्ञा 'चेतना' को एक मूर्त तत्त्व समझने के हम आदी हो गए हैं। हम भूल जाते हैं कि यह 'चेतन' विशेषण से उद्भूत है। चेतन होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि हमारी स्थिति किस लिए है। चेतन होने का अर्थ क्रिया की ऐच्छिक तथा सचेष्ट योजना की विशेषताओं की अभिव्यक्ति है। चेतना कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो हमारे पास मूर्त रूप में मौजूद है, जो हमारे चारों ओर की वस्तुओं को देखती तथा भौतिक वस्तुओं पर अपनी छाप छोड़ती है। यह किसी क्रिया की सप्रयोजनता का गुण है, क्योंकि क्रिया उद्देश्य से निर्देश ग्रहण करती है, अर्थात् सोद्देश्य क्रिया सार्थक क्रिया है, यान्त्रिक नहीं। इसमें एक विशिष्ट 'अर्थ' होता है तथा किसी कार्य के करने का निश्चित ध्येय।

सदुद्देश्यों के मानदण्ड

अपने इस विवेचन के निष्कर्ष को हम उद्देश्य-निर्धारण के मानदण्ड के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। १—स्वीकार किया गया उद्देश्य वर्तमान परिस्थितियों की ही उत्पत्ति होनी चाहिए। परिस्थिति के प्रस्तुत साधन तथा बाधाओं और तात्कालिक क्रिया के विचार पर ही इसे आधारित होना चाहिए। हमारी क्रियाओं के उचित साध्य के नैतिक तथा प्रशिक्षात्मक सिद्धान्त प्रायः इस नियम का उल्लंघन करते हैं। वे उद्देश्य की स्थिति हमारी क्रिया से बाहर देखते हैं। इनके अनुसार साध्य साधन से परे है, जैसे उसका उद्गम किसी बाह्य शक्ति में स्थित है। इस वहिर्गत उद्देश्य की प्राप्ति ही हमारी क्रियाओं की समस्या है। वह ऐसी वस्तु है, जिसके लिए हमें कार्य करना है। कुछ भी हो, प्रत्येक दशा में ऐसे उद्देश्य हमारी बुद्धि को परिसीमित कर देते हैं। वे विवेकपूर्ण, पूर्व-दृष्टि-निरीक्षण तथा अनेक सम्भव विकल्पों में से उपयुक्त के चुनाव के प्रतीक नहीं। वे बुद्धि को परिसीमित कर देते हैं, क्योंकि पहले ही से गढ़े होने के कारण किसी बाह्य अधिकारी शक्ति द्वारा वे बरबस लाद दिए जाते हैं। ऐसी दशा में बुद्धि का कार्य केवल साधनों का यान्त्रिक चुनाव-मात्र रह जाता है।

२—उपर्युक्त कथन का यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि उद्देश्य का निर्माण, उसे कार्यान्वित करने के प्रयत्न के पूर्व भी पूरी तरह किया जा सकता है। इस भावना में कुछ परिवर्तन करना होगा। उद्देश्य पहले केवल एक प्रयोगात्मक रूप-रेखा है। कार्यान्वित करने के प्रयत्न में इसके महत्त्व की परीक्षा होती है, यदि क्रिया का सफल निर्देशन करने में यह खरा उतरे और किसी अतिरिक्त वस्तु की आवश्यकता न पड़े। क्योंकि, इसका कार्य आगे बढ़ने के लिए लक्ष्य प्रदान करना है और कभी-कभी तो इसके लिए संकेत-मात्र ही पर्याप्त होता है। लेकिन, प्रायः, कम-से-कम जटिल परिस्थितियों में इन पर कार्य करने पर ऐसी दशाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की गई रहती। इसके कारण मौलिक उद्देश्य में परिवर्तन करना पड़ता है। इसमें कुछ

और नई बातें जोड़ी तथा घटाई जाती हैं ; अतएव उद्देश्य को नमनीय होना चाहिए, अर्थात् इसे परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए परिवर्तनीय होना चाहिए। व्यवहार-प्रक्रिया के बाहर से निर्मित उद्देश्य सदैव अनमनीय होता है। बाह्य रूप से सन्निविष्ट होने के कारण, वास्तविक परिस्थितियों से इसका क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-सम्पादन-काल की घटनाएँ न तो इसे सम्पुष्ट करती हैं और न मिथ्या सिद्ध करतीं अथवा परिवर्तित ही करती हैं। ऐसे उद्देश्य को केवल हठधर्मी ही कहा जा सकता है। समायोजन की कमी के कारण उत्पन्न इसकी असफलताओं का कारण परिस्थितियों की विकृति को समझा जाता है। ऐसा करते हुए इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया जाता कि यह उद्देश्य ही वर्तमान परिस्थितियों के लिए उचित नहीं है। उचित उद्देश्य का महत्त्व इस तथ्य में है कि इसका उपयोग हम परिस्थितियों को बदलने में करने के लिए समर्थ हों। परिस्थितियों को इस प्रकार प्रयुक्त करने की विधि यह है कि उनमें वांछित परिवर्तन उपस्थित किया जा सके। वह किसान भी, जो चीजों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है, उतनी ही बड़ी भूल करता है, जितनी कि मिट्टी, जलवायु इत्यादि पर विचार किए बिना ही योजना बनाने वाला दूसरा किसान। शिक्षा के दूरस्थ, बाह्य तथा अमूर्त उद्देश्य का एक दोष यह है कि इसका कार्यरूप में अव्यावहारिक होना ही तात्कालिक परिस्थितियों पर आकस्मिक खींच-तान की प्रतिक्रिया का रूप धारण कर सकता है। उचित उद्देश्य बालकों के ज्ञान के तात्कालिक स्तर का पूर्ण पर्यावलोकन करता है तथा एक परीक्षात्मक योजना बनाकर सदैव उसे दृष्टि में रखता है और परिस्थितियों के विकास के साथ ही उसका परिष्कार भी करता जाता है। संक्षेप में उद्देश्य प्रयोगात्मक होता है तथा जैसे-जैसे व्यवहार में उसकी परीक्षा होती जाती है, वैसे-वैसे निरन्तर विकसित होता जाता है।

३—उद्देश्य में क्रिया की भावना होनी चाहिए। 'लक्ष्य' शब्द अधिक व्यंजक है, क्योंकि यह किसी प्रक्रिया के अन्त या निष्कर्ष का द्योतक है। किसी क्रिया की परिभाषा देने की एकमात्र विधि इसके अन्तिम निष्कर्ष का स्पष्टीकरण कर देना है। उदाहरण के लिए गोली चलाने में निशाने पर लगी वस्तु ही लक्ष्य होती है ; किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि लक्ष्य केवल एक चिह्न, एक संकेत-मात्र है, जिसके द्वारा की जाने वाली क्रिया को एक विशिष्ट रूप दिया जाता है। वास्तव में यहाँ लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्यवेध उद्देश्य है। लक्ष्य को ध्यान में रखकर निशाना लगाया जाता है ; लेकिन बंदूक पर भी दृष्टि

रखना आवश्यक है। सोचे गए अनेक ध्येय क्रिया को निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार यदि कोई एक खरगोश का लक्ष्य करता है, तो वह उसे गोली मारना चाहता है। गोली मारना एक क्रिया है। अथवा यदि वह खरगोश इस व्यक्ति का लक्ष्य है, तो वह उसकी क्रिया से परे नहीं हो सकता। यह उसकी क्रिया का एक अंग है, चाहे वह खरगोश को खाना चाहता हो, या अपनी निशानेबाजी के लिए ऐसा करना चाहता हो ; दोनों ही दशाओं में उसका कुछ क्रियात्मक अर्थ है। केवल वस्तु नहीं, बल्कि वस्तु के साथ क्रिया, उसका लक्ष्य है। वस्तु, सफलतापूर्वक क्रिया को संचालित रखने के लिए सक्रिय साध्य का एक अंग है।

इस प्रकार उद्देश्य क्रिया को प्रेरित करता है, ताकि वह चलती रहे। दूसरी ओर जो उद्देश्य वाह्यारोपित रहता है, वह निष्क्रियात्मक होता है। यह सदैव स्थिर रहता है, जिसे प्राप्त करना पड़ता है। यदि इस प्रकार की विचारधारा अपनाई जाय, तो क्रिया किसी ऐसी अन्य वस्तु को प्राप्त करने का साधन-मात्र बन कर रह जाती है, जो क्रिया से बाहर की चीज है। इस प्रकार क्रिया का अपना स्वयं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। उद्देश्य की अपेक्षा यह केवल एक ऐसी आवश्यकता भर बन कर रह जाती है, जिसे टाला नहीं जा सकता। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इसमें से होकर गुजरना जरूरी है। दूसरे शब्दों में उद्देश्य को वाह्य समझ लेने का अर्थ साध्य और साधन को परस्पर भिन्न समझना है, जब कि क्रिया में ही विकास पाने वाला उद्देश्य उसके निर्देश की योजना के रूप में साध्य और साधन दोनों है। अन्तर केवल सुविधा के लिए कर लिया जाता है। प्रत्येक साधन, जब तक हम उसे प्राप्त न कर लें, एक सामयिक साध्य है। प्रत्येक साध्य, प्राप्त हो जाने के बाद, क्रिया को आगे बढ़ाने का एक साधन बन जाता है। यह क्रिया की भावी दिशा और वर्तमान निर्देश का स्वरूप निर्धारित करता है ; अतः साधन से साध्य का अलगाव क्रिया के महत्त्व को कम कर देता है और इसका महत्त्व एक क्रीतदास के बराबर रह जाता है, जिसे इच्छा होने पर व्यक्ति त्याग भी सकता है। एक किसान को अपनी खेती चलाने के लिए पौदों तथा जानवरों का प्रयोग करना पड़ता है। वह उन्हें वास्तव में चाहता है अथवा अपनी वांछित वस्तु प्राप्त करने के लिए उन्हें केवल साधन रूप में प्रयोग में लाता है, इन दोनों भावों में बड़ा अन्तर है। यदि वह उन्हें चाहता है, तो क्रिया का प्रत्येक अंग महत्त्वपूर्ण है ; प्रत्येक दशा अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। उसे प्रत्येक दशा में अपने साध्य की प्राप्ति का अनुभव होता है। वांछित अन्त, ध्येय अथवा लक्ष्य केवल दूर दृष्टि की वस्तु है, जो

उसकी क्रिया को पूर्ण रूप से तथा सफलतापूर्वक आगे बढ़ाती है। यदि वह भावी परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात नहीं करता, तो वह अपने आपको प्रगतिशून्य पाएगा। प्रक्रिया की प्रत्येक आंशिक स्थिति में उद्देश्य निश्चित रूप से 'साधन' का कार्य करता है।

शिक्षण के क्षेत्र में संप्रयोग

शिक्षा के उद्देश्यों में कोई विशेष बात नहीं होती। वे भी किसी निर्दिष्ट व्यापार के उद्देश्यों की ही भाँति होते हैं। शिक्षक को भी किसान की ही तरह कुछ करना रहता है। वह भी कुछ साधनों का उपयोग करता तथा कुछ बाधाओं को मार्ग से हटाता है। किसान की परिस्थितियों का भी, चाहे वे साधक हों या बाधक, उसके प्रयोजन से परे अपना एक निज का रूप तथा कार्य होता है। खेतों में बीज अंकुरित होते हैं, वर्षा होती है, सूर्य चमकता है, कीड़े-मकोड़े अपना जीवन-यापन करते हैं, मनोहारी ऋतु-परिवर्तन होते हैं। कृषक का ध्येय केवल इन भिन्न-भिन्न दशाओं का सम्यक् उपयोग करना है। वह इनकी शक्तियों तथा अपनी क्रियाओं को विरोध में न रखकर, एक साथ प्रयोग में लाता है। पौदों के विकास के लिए विशिष्ट प्रकार की भूमि तथा जलवायु की इन परिस्थितियों के सम्बन्ध से परे कृषक का कृषि-उद्योग निरर्थक है। उसका प्रयोजन केवल अपनी शक्तियों तथा इन परिस्थितियों के सम्बन्ध के परिणाम का पूर्व-ज्ञान है। इस पूर्व-ज्ञान का उपयोग वह प्रतिदिन अपनी क्रिया के निर्देश के लिए करता है। सम्भव परिणामों की पूर्व-दृष्टि, प्रयुक्त वस्तुओं के स्वरूप-निरीक्षण तथा की जाने वाली क्रियाओं के एक निश्चित क्रम की योजना का निर्माण करती है।

ठीक यही बात शिक्षकों के लिए भी लागू होती है, चाहे वे माता-पिता हों अथवा अध्यापक। अध्यापक का बालकों के विकास के लिए अपने उद्देश्यों को उन पर लादना उतना ही बुरा है, जितना माता-पिता का बिना बालक की मनोदशा पर ध्यान दिए अपने आदर्शों का प्रयोग। उद्देश्य का अर्थ, कृषि तथा शिक्षा दोनों में ही, निरीक्षण, पूर्व-दृष्टि तथा कार्य-सम्पादन में आवश्यक व्यवस्था करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है। किसी भी वस्तु का महत्त्व तभी है, जब कि वह निरीक्षण, प्रवरण तथा क्षण-प्रतिक्षण कार्य सम्पादन के योजना-निर्माण में सहायक सिद्ध हो। यदि यह व्यक्ति के सामान्य दृष्टिकोण में बाधक है (जैसा कि वाह्य होने पर यह निश्चय ही होगा), तो हानिकर होगी।

शिक्षा का अपने-आप में कोई उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि शिक्षा एक अमूर्त भाव है, अतः इसके लिए अपने-आप उद्देश्य-निर्माण कैसे संभव हो सकता है। वास्तव में व्यक्ति, माता-पिता तथा अध्यापक आदि ही इसके उद्देश्य का निर्माण करते हैं, यही कारण है कि उनके प्रयोजन अनेक होते हैं। ये प्रत्येक बालक के लिए मित्र होते हैं तथा शिक्षक के अनुभव के विकास तथा बालक की आयु-वृद्धि के साथ बदलते रहते हैं। परम प्रामाणिक उद्देश्य भी केवल सिद्धान्त के रूप में लाभकारी होने की अपेक्षा हानिकारक अधिक होते हैं। उनसे ऐसा आभास होता है कि वे उद्देश्य नहीं, बल्कि शिक्षकों के लिए सुझाव-मात्र हैं, कि वे कैसे निरीक्षण करें, कैसे भावी परिस्थितियों पर दृष्टि रक्खें तथा अपनी वास्तविक परिस्थितियों को निर्देशित करने के लिए वे कौन-सा मार्ग अपनाएँ। जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने लिखा है—"शिक्षा के वास्तविक अभ्यास में, सचमुच, बच्चों को स्न्यूथ[1] की कहानियों के बजाय स्काट के उपन्यास पढ़ाना, लड़कियों को सिलाई सिखाना, जॉन[2] की दूसरों को पीट बैठने की आदत छुड़ाना, कक्षा को औषधि-विज्ञान पढ़ाना आदि लाखों ही उद्देश्य के उदाहरण हैं।"

इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम शिक्षा के अच्छे उद्देश्य के विशिष्ट गुणों का वर्णन करेंगे : १—शिक्षा के उद्देश्य का आधार, शिक्षार्थी की आंतरिक क्रियाएँ तथा आवश्यकताएँ (जिनमें सहज भौतिक शक्तियाँ तथा आदतें भी सम्मिलित हैं) होनी चाहिए। तैयारी के रूप में उद्देश्य, वर्तमान विकृत शक्तियों को दूर कर, किसी दूरस्थ लक्ष्य की प्राप्ति या उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के योग्य बनाता है। प्रायः वयस्क जनों को रुचने वाले विचारों को, शिक्षार्थी की शक्तियों पर विचार किए बिना ही, उद्देश्य के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। कभी ऐसे सामान्य उद्देश्य भी स्वीकार कर लिए जाते हैं, जो बालक की विशिष्ट शक्तियों तथा आवश्यकताओं के प्रति उदासीन होते हैं। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा एक विशेष देश तथा काल की होती है। बड़ों के विस्तृत ज्ञान का अध्ययन बालकों की योग्यताओं तथा कमजोरियों के मूल्यांकन में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार बड़ों की कलात्मक शक्तियाँ बच्चों की विशिष्ट मनोवृत्तियों की शक्ति-सीमा निर्धारित करती हैं कि वे क्या करने में समर्थ हो सकती हैं। यदि हमें वयस्क जनों की

---

१ स्न्यूथ : घटिया किस्म की कहानियाँ लिखने वाला अमरीकी लेखक।

२ जॉन : बालक-विशेष।

क्रियाओं के प्रतिफलों का ज्ञान न होता, तो हम बालक के रेखाचित्र खींचने, किसी वस्तु को देखकर उसका चित्र बनाने, रंग भरने आदि क्रियाओं के महत्त्व को निश्चित रूप से न समझ पाते। इसी प्रकार यदि वयस्कों के पास भाषा-जैसी वस्तु न होती, तो बालक की, तुतलाकर बोलने का प्रयास करने की मनोवृत्ति का महत्त्व हम न आंक पाते। बड़ों की उपलब्धियों के संदर्भ में बच्चों तथा युवकों के कार्यों को रखना और उनका सिंहावलोकन करना एक बात है और उन्हें शिक्षार्थियों की वास्तविक क्रियाओं पर ध्यान दिए बिना उन्हें निश्चित उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लेना दूसरी बात। दोनों बातों में पर्याप्त अन्तर है।

२—उद्देश्य ऐसा होना चाहिए कि उसे शिक्षा पाने वालों की क्रियाओं की सहयोगी विधि का रूप देकर कार्य-रूप में परिणत किया जा सके। इसे ऐसे वातावरण का संकेत करना चाहिए, जिसमें उनकी शक्तियों को उन्मुक्त तथा संगठित किया जा सके। जब तक इसके आधार पर विशिष्ट कार्य-प्रणालियों का निर्माण नहीं होता और जब तक ये कार्य-प्रणालियाँ उद्देश्यों का परीक्षण, संशोधन तथा परिवर्द्धन नहीं करतीं, तब तक कार्य-विधि का कोई महत्त्व नहीं होता। ऐसी दशा में शिक्षा के विशिष्ट व्यवसाय में उद्देश्य सहायक होने के बजाय परिस्थितियों के निरीक्षण तथा निर्माण के साधारण निर्णय में बाधा डालता है। यह पूर्व-निश्चित ध्येय की प्राप्ति में सहायक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी का बहिष्कार कर देता है। प्रत्येक परिदृढ़ उद्देश्य अनमनीय रूप प्रदान किए गए होने के कारण वास्तविक परिस्थितियों पर विशेष ध्यान नहीं दे पाता। चाहे जैसे भी हो, यदि इसके निश्चित रूप को लागू होना ही है, तो अनावश्यक विवरण में पड़ने से क्या लाभ !

वाह्य रूप से निर्धारित 'लक्ष्य' की बुराइयों की जड़ बड़ी गहराई तक होती है। अध्यापक उन्हें अन्य उच्च अधिकारियों से प्राप्त करते हैं और ये उच्च अधिकारीगण इन्हें समुदाय में प्रचलित तथ्यों से ग्रहण करते हैं। अध्यापक उन्हें बालकों पर लाद देते हैं। इसका सर्वप्रथम परिणाम यह होता है कि अध्यापक की बुद्धि स्वतन्त्र नहीं रह पाती ; बल्कि उसे ऊपर से प्राप्त उद्देश्यों को स्वीकार करना पड़ता है। अध्यापक व्यक्तिगत रूप से उच्च अधिकारियों के प्रभाव, पाठ्य-पुस्तकों, पाठन-विधियों तथा निर्धारित पाठ्य-क्रमों आदि के बन्धनों से बहुत कम इतने स्वतन्त्र रह पाते हैं कि शिक्षार्थियों के मस्तिष्क तथा विषय-सामग्री का अध्ययन कर सकें। अध्यापक के अनुभव के प्रति यह अविश्वास, शिष्यों के प्रतिचार में विश्वासहीनता के रूप में परावर्तित होता

है। अपने उद्देश्यों को प्राप्त करते समय बच्चों पर दुहरी-तिहरी बाह्य शक्तियों का बोझ लदा होता है ; अतएव उनके अपने समय के सहज अनुभवों से प्राप्त उद्देश्यों तथा उन पर लादे गए उद्देश्यों—जिनके अनुसार उन्हें शिक्षा दी जाती है—के बीच द्वन्द्व के कारण, वे हमेशा परिश्रांत रहते हैं। जब तक विकास पाने वाले प्रत्येक अनुभव के वास्तविक महत्त्व के लोकतन्त्रात्मक मानदण्ड को नहीं स्वीकार किया जायगा, तब तक बाह्य उद्देश्यों के समायोजन की माँग से हम बौद्धिक रूप से हमेशा परिश्रांत रहेंगे।

३—अध्यापकों को सामान्य तथा चरम समझे जाने वाले उद्देश्यों से बचना चाहिए। प्रत्येक क्रिया, विशिष्ट-से-विशिष्ट होने पर भी वास्तव में अपने अनन्त सम्बन्धों के कारण हमें अनेक वस्तुओं की ओर ले जाती है। हमारे लिए इन सम्बन्धों के प्रति अधिक सजग करने वाला कोई भी सामान्य विचार कभी भी अतिसामान्य नहीं हो सकता। किंतु, सामान्य का अर्थ 'अस्पष्ट' अथवा 'विशिष्ट प्रसंगों के परे' भी होता है। और इस प्रकार की अस्पष्टता में दूरी की भावना सन्निहित है, जो हमें पुनः अध्यापन तथा अध्यापन के किसी बाह्य साध्य की प्राप्ति के लिए तैयार करने के साधन के रूप में स्वीकार करने की ओर संकेत करती है। शाब्दिक रूप में शिक्षा स्वयं ही अपनी उपलब्धि है, अतः कोई अध्ययन अथवा अनुशासन यदि स्वयं अपने-आप में ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, तो उसे प्रशिक्षात्मक कदापि नहीं कहा जा सकता। वास्तविक सामान्य उद्देश्य दृष्टिकोण को विस्तृत करता है। यह व्यक्ति को अधिक-से-अधिक प्रतिफलों (संबंधों) पर दृष्टिपात करने के लिए प्रेरित करता है। इसका अर्थ है कि साधनों का और अधिक विस्तृत तथा नमनीय निरीक्षण किया जाय। उदाहरणार्थ, व्यक्ति जितनी ही अधिक परस्पर क्रियाशील शक्तियों का अध्ययन करेगा, उसके तात्कालिक साधन उतने ही विस्तृत होंगे। उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के उतने ही अधिक मार्ग तथा प्रस्थान-स्थल दिखाई देंगे। संभाव्य भावी प्रतिफलों के विषय में उसका ज्ञान जितना ही विस्तृत होगा, उसकी क्रिया उतने ही कम विकल्पों के बंधन में फँसेगी। यदि किसी का ज्ञान पर्याप्त विस्तृत है, तो वह कहीं से भी प्रारंभ करके अपनी क्रिया को सफलतापूर्वक निरंतर सँभाले रह सकता है।

सामान्य अथवा व्यापक उद्देश्य पद के अर्थ को वर्तमान क्रियाओं के क्षेत्र के पर्यावलोकन-मात्र के अर्थ में ग्रहण कर लेने के पश्चात् हम आज के शिक्षा-संबंधी सिद्धान्तों में प्रचलित कतिपय वृहत्तर उद्देश्यों पर विचार करेंगे और देखेंगे कि वे उन विभिन्न तात्कालिक उद्देश्यों पर, जिनसे शिक्षा का हमेशा स्थूल

सम्बन्ध रहता है, क्या प्रभाव डालते हैं। हमारा विश्वास है (जैसा कि पूर्व कथित बातों से सिद्ध होता है) कि उनमें प्रवरण की आवश्यकता नहीं, अथवा उन्हें प्रतिद्वंद्वी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब हम वास्तविक रूप से क्रिया करते हैं, तो हमें समय-विशेष के लिए एक विशिष्ट कार्य का प्रवरण करना पड़ता है ; लेकिन कितने ही व्यापक उद्देश्य बिना प्रतिद्वंद्विता के कार्य कर सकते हैं, क्योंकि वे एक ही विषय को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने के रूप हैं। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में विभिन्न पर्वत-शृंगों पर आरोहण नहीं कर सकता ; किंतु विभिन्न शृंगों पर आरोहण के विचार परस्पर अनुपूरक होते हैं, वे असंगत तथा प्रतिद्वंद्वी नहीं होते। या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी उद्देश्य का एक कथन कुछ प्रश्नों तथा परीक्षणों की ओर संकेत कर सकता है और दूसरा कथन दूसरे प्रश्न-समूह तथा तद्विषयक परीक्षणों की ओर। एक कथन दूसरे के द्वारा अवमानित बात की पुष्टि करेगा। जिस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता के लिए अनेक परिकल्पनाएँ सहायक सिद्ध होती हैं, उसी प्रकार शिक्षक के लिए अनेक प्रकार के कथित उद्देश्य भी सहायक सिद्ध होते हैं।

अध्याय का सारांश

उद्देश्य में किसी भी ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम परिव्याप्त होता है, जिससे ज्ञान संभव है, तथा जो वर्तमान निरीक्षण एवं कार्य-विधि के प्रवरण को निश्चित करने में एक हेतु बना दी गई हो—यह सूचित करता है कि क्रिया विवेकपूर्ण हो गई है। विशिष्ट रूप से इसका अर्थ विशेष परिस्थिति में विभिन्न विधियों से कार्य करने के वैकल्पिक परिणामों में पूर्व-दृष्टि तथा इस पूर्वज्ञान का प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण तथा प्रयोग में उपयोग करना है। वास्तविक उद्देश्य, इसीलिए, किसी कार्य की प्रक्रिया पर बाह्य-रूप से लादे गए उद्देश्य से भिन्न होता है। बाह्य उद्देश्य स्थिर तथा अनमनीय होता है। यह परिस्थिति-विशेष में विवेक का उद्दीपन नहीं ; बल्कि किसी कार्य-विशेष के संपादन के लिए बाहर से दिया गया क्रम है। वर्तमान क्रियाओं से इसका सीधा संबंध नहीं होता ; बल्कि यह दूरस्थ तथा लक्ष्य-प्राप्ति के साधन से अलग स्थित होता है। यह किसी स्वतन्त्र, अच्छी तथा संतुलित क्रिया को निर्देशित करने के बजाय उसे सीमित कर देता है। शिक्षा के क्षेत्र में इन बाह्य उद्देश्यों के लादे जाने का चलन ही दूरस्थ भावी जीवन की तैयारी के प्रस्ताव पर जोर दिए जाने तथा अध्यापक और विद्यार्थी की क्रियाओं को यान्त्रिक गुलाम बनाने के लिए उत्तरदाई है।

९

उद्देश्य के रूप में स्वाभाविक विकास तथा सामाजिक क्षमता

उद्देश्यदात्री के रूप में प्रकृति

हमने अभी देखा है कि शिक्षा का कोई ऐसा उद्देश्य निश्चित करने का प्रयत्न व्यर्थ है, जो सभी उद्देश्यों से सर्वोपरि कोई अन्तिम उद्देश्य हो। हमने यह देख लिया है कि चूँकि सामान्य उद्देश्य केवल ऐसे विभिन्न दृष्टिकोण हैं, जिनसे हम वर्तमान परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर सकते हैं तथा उनकी संभावनाओं का अनुमान लगा सकते हैं; इसलिए वे अनेक हो सकते हैं, जो एक दूसरे के लिए असंगत नहीं होंगे। वस्तुतः समय-समय पर अनेक उद्देश्यों का उल्लेख हो चुका है। उन सभी का अपना स्थानीय महत्त्व है; क्योंकि उद्देश्य की घोषणा, एक विशिष्ट समय और विशेष बात पर बल दिया जाना है। और उन बातों पर बल नहीं दिया जाता, जो स्वयं पर्याप्त सशक्त हैं, या जिन पर बल देने की आवश्यकता नहीं होती। सम्भवतः हम सम-सामयिक परिस्थितियों की आवश्यकता तथा दोषों के आधार पर ही अपने कथन का निर्माण करते हैं। बिना व्यक्त-कथन के ही हम अच्छी या अधिकांश रूप में अच्छी बातों को ज्यों-की-त्यों ठीक होने की कल्पना कर लेते हैं और उपयुक्त परिवर्तन के रूप में व्यक्त उद्देश्य बना लेते हैं; इसलिए यदि यह कहा गया कि प्रत्येक पीढ़ी अथवा युग अपने समय में कम-से-कम प्रचलित बातों पर सचेतन रूप से बल देता है, तो कोई विरोधाभास न होगा। अधिकारियों के प्रभुत्व-काल में वैयक्तिक स्वतंत्रता की माँग के लिए प्रतिचार होगा और अव्यवस्थित वैयक्तिक क्रियाओं पर सामाजिक नियंत्रण के रूप में शिक्षा का उद्देश्य विकसित होगा।

वास्तविक अन्तर्निहित अभ्यास तथा सचेतन कथित उद्देश्य एक दूसरे को संतुलित कर लेते हैं। विभिन्न युगों में, पूर्णजीवन, भाषा के अध्ययन की सुन्दरतर विधियाँ, शब्दों के स्थान पर वस्तुओं को स्थानापन्न बनाना, नागरिक योग्यता, आत्म-संस्कार, सौंदर्यानुभूति, उपयोगिता आदि जैसे अनेक उद्देश्य काम में लाए गए हैं। निम्नांकित विवेचन में तीन ऐसे कथनों को लिया गया है, जिन्होंने आधुनिक विचारधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। पिछले

अध्यायों में प्रासंगिक रूप से कुछ अन्य उद्देश्यों पर प्रकाश डाला जा चुका है, शेष पर ज्ञान तथा अध्ययन के महत्त्व के आधार पर आगे विचार किया जायगा। हम इस विचारधारा को लेकर विवेचन प्रारम्भ करेंगे कि शिक्षा प्रकृति के अनुकूल विकास की एक प्रक्रिया है। उक्त कथन रूसो का है, जिसके अनुसार प्राकृतिक तथा सामाजिक विचारधारा में विरोध नहीं है। इसके पश्चात् हम उस विचारधारा की विरोधी विचारधारा 'सामाजिक क्षमता' पर विचार करेंगे, जो सामाजिक को प्राकृतिक के विरोधी के रूप में स्वीकार करती है।

१—शिक्षा-सुधारकों ने मध्यकालीन विधि की कृत्रिमता तथा रूढ़िवादिता से तंग आकर प्रकृति के मापदण्ड की पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया। यह स्वीकार कर लिया गया कि प्रकृति, विकास के नियम तथा लक्ष्य प्रदान करती है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसका अनुसरण करें तथा उसके नियमों के साथ सामंजस्य स्थापित करें। इस विचारधारा का विधायक महत्त्व यह है कि यह उन उद्देश्यों की त्रुटियों के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान देती है, जो शिक्षार्थी की प्राकृतिक शक्तियों का आदर नहीं करते। इसकी कमजोरी यह है कि बड़ी आसानी से 'भौतिक' को 'सामान्य' के रूप में प्राकृतिक समझ लिया जाता है। प्रयुक्ति तथा पूर्व-दृष्टि में विवेक के निर्माणात्मक महत्त्व को छोड़ दिया जाता है। हमें इसके लिए केवल परंपरागत विधि से बाहर, प्रकृति को कार्य करने का अवसर देना है। चूँकि रूसो से अधिक अच्छे रूप में अन्य किसी ने इस सिद्धान्त के सत्यासत्य का विवेचन नहीं किया है; अतः हम रूसो के ही विचारों का उल्लेख करेंगे।

उसका कथन है—"शिक्षा हम तीन स्रोतों—प्रकृति, व्यक्ति तथा वस्तुओं—से ग्रहण करते हैं।" प्रकृति की शिक्षा हमारे अंगों तथा शक्तियों का स्वाभाविक विकास है। मनुष्यों द्वारा हम इस विकास के उपयोग की शिक्षा पाते हैं। आस-पास की वस्तुओं से वैयक्तिक अनुभव प्राप्त करना, वस्तुओं द्वारा शिक्षा है। जब इन तीनों प्रकार की शिक्षाओं की समन्वित अभिव्यक्ति होती है और वह एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करती है, तो मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। यहाँ यदि यह पूछा जाय कि यह लक्ष्य क्या है, तो उत्तर होगा कि 'प्रकृति'। चूँकि तीनों ही प्रकार की शिक्षाओं की संगति उनकी पूर्णता के लिए आवश्यक है, अतः एक प्रकार की शिक्षा, जो हमारे नियंत्रण से परे है, हमें अन्य दो का स्वरूप निर्धारित करने में सहायता पहुँचाती है। इसके बाद वह प्रकृति की परिभाषा, जन्मजात शक्तियों तथा संस्कारों के रूप में देता

है—"क्योंकि वे परिष्कार के पूर्व से आदतों के नियमन तथा दूसरों के प्रभाव के कारण वर्तमान रहती हैं।"

रूसो के शब्दों का सूक्ष्म अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। इसमें जहाँ शिक्षा के मौलिक तथ्य निहित हैं, वहीं वे अद्भुत ढंग से व्यास-शैली में व्यक्त किए गए हैं। उसके पहले ही वाक्यों में जो कुछ कहा गया है, उसे और अधिक स्पष्ट करना असंभव है। प्रशिक्षात्मक विकास के ये तीन अवयव हैं—(क) हमारे शारीरिक अंगों का स्वाभाविक स्वरूप तथा उनका प्रक्रियात्मक कार्य-व्यापार; (ख) दूसरे व्यक्तियों के प्रभावों का इन अंगों की क्रिया में उपयोग; (ग) वातावरण में उनकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया। निश्चय ही यह कथन पूरी विचारधारा की आधार-भूमि है। रूसो के दो अन्य प्रस्ताव भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—(१) व्यक्ति का वास्तविक विकास, शिक्षा के तीनों अवयवों की संगति तथा सहयोग में ही संभव होता है तथा (२) संगति को संभव बनाने के लिए अंगों की स्वाभाविक क्रियाएँ मौलिक होने के कारण आधार-शिलाएँ हैं।

यह जानने के लिए कि रूसो इन तीनों तत्त्वों को, जिनका किसी भी एक के प्रशिक्षात्मक विकास में परस्पर सहायक होना अनिवार्य है, अवयवी नहीं मानता; बल्कि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र साधन मानता है। अधिक ध्यान देने या उसके कथनों द्वारा स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। विशेष रूप से रूसो का यह निश्चित विश्वास है कि जन्मजात अंगों तथा मनःशक्तियों में स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक विकास होता है। उसका विचार है कि विकास की क्रिया इनके प्रयोग-विशेष से निरपेक्ष होने पर भी चलती रहती है। सामाजिक सम्पर्क से उत्पन्न शिक्षा को इसी पृथक् विकास की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। जन्मजात क्रियाओं के अपने-आप में कार्य-रत रहने, अर्थात् उन्हें बिना परिवर्तित या प्रयुक्त किए, और यह कल्पना करने में बड़ा अन्तर है कि बिना प्रयोग के भी उनमें ऐसा सहज विकास होता है, जो प्रयोग द्वारा प्राप्त शिक्षा का मानदण्ड है। पहले ही उदाहरण को लें, तो भाषा सीखने की प्रक्रिया, वास्तविक प्रशिक्षात्मक उत्पत्ति का एक अच्छा क्रियात्मक नमूना है। इसका प्रारंभ वाक्-उपकरणों तथा श्रवणेन्द्रियों आदि की जन्मजात क्रियाओं से ही होता है। लेकिन, यह मानना गलत है कि उनका अपना स्वतन्त्र विकास होता है। अथवा उन्हें यदि अपने-आप पर छोड़ दिया जाय, तो वे सफलतापूर्वक बातचीत का विकास कर लेंगी। रूसो के कथन का शाब्दिक अर्थ है कि बड़ों को शिशु की तुतलाहट तथा शब्दों को केवल वास्तविक भाषा के श्रीगणेश के रूप में ही नहीं

दुहराना चाहिए, क्योंकि वह तो है ही, बल्कि भाषा के नियामक अथवा भाषा की हर शिक्षा के मानदण्ड के रूप में ग्रहण करना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रूसो शिक्षा में इस परम वांछित सुधार का प्रतिपादन करने में सही था। उसका विश्वास है कि अंगों की बनावट तथा क्रियाएँ ही उनके प्रयोग की शिक्षा के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। यह तो ठीक है, लेकिन यह कहना कि वे केवल विकास की परिस्थितियाँ तथा साधन ही नहीं, बल्कि साध्य और साधन दोनों प्रदान करती हैं, ठीक नहीं कहा जा सकता। वास्तविक बात यह है कि जन्मजात क्रियाएँ, अनियन्त्रित तथा स्वतन्त्र क्रिया की आस्था से, उचित उपयोग द्वारा विकसित होती हैं। सामाजिक माध्यम का कार्य, जैसा कि हम देख चुके हैं, शक्तियों के अच्छे-से-अच्छे सम्भावित उपयोग द्वारा उनके विकास को निर्देश देना है। मूल-प्रवृत्यात्मक क्रियाओं को स्वतः वर्ती, इस अर्थ में कहा जा सकता है कि अंग कुछ विशेष क्रियाओं को अधिक सफलता तथा सुगमतापूर्वक संचालित होने का अवसर देते हैं। इन शक्तियों का स्वाभाविक रूप इतना प्रबल होता है कि उनको हम बिना परिभ्रष्ट, विकासावरुद्ध तथा दमित किए, दूसरे रूप में नहीं ला सकते। लेकिन, इन क्रियाओं के स्वाभाविक, सामान्य विकास का विचार एक रूढ़ि-मात्र है। प्रत्येक शिक्षा में प्रकृतिप्रदत्त जन्मजात शक्तियाँ, प्रारंभिक तथा अन्तिम शक्ति प्रदान करती हैं; लेकिन वे इससे साध्य अथवा उद्देश्य का निर्माण नहीं करतीं। हर शिक्षा का प्रारंभ, अपरिष्कृत शक्तियों से होता है। लेकिन, शिक्षा ग्रहण करना, अपरिष्कृत शक्तियों का उत्प्लावन-मात्र नहीं है। रूसो के विरोधी विचार का कारण यह है कि उसने प्रकृति और ईश्वर में तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उसके अनुसार मौलिक शक्तियाँ पूर्णरूप से सद् हैं; क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से एक बुद्धिमान तथा अच्छे सृष्टिकर्ता द्वारा निर्मित हैं। एक प्राचीन किंवदन्ती को साधारण भाषा में रख कर कहा जा सकता है कि ईश्वर ने ही मौलिक मानव-अंगों तथा शक्तियों का निर्माण किया है, मनुष्य उनके विशिष्ट उपयोगों का निर्माण करता है; अतएव शक्तियों तथा अंगों का विकास वह प्रतिमान प्रदान करता है, जिसकी अधीनता, मानवीय उपयोगों को स्वीकार करनी पड़ती है। जब हम उन शक्तियों के विशिष्ट उपयोग का निर्णय करने का प्रयास करते हैं, तब हमें ईश्वरीय योजना में हस्तक्षेप करना पड़ता है। सामाजिक व्यवस्था का प्रकृतिरूपी ईश्वरीय सृष्टि के कार्यों में हस्तक्षेप करना ही व्यक्तियों को परिभ्रष्ट करने का मुख्य कारण है। रूसो का प्राकृतिक शक्तियों के मूल

रूप से सद् होने पर बल देना, मानव-स्वभाव को जन्मजात शक्तियों से पूर्णतः वंचित करने की तत्कालीन विचारधारा के प्रति प्रतिक्रिया है। बालकों की अभिरुचियों तथा शक्तियों पर विचार करने की विशिष्ट परम्परा पर इसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। लेकिन, यह कहना कदाचित् बहुत अनिवार्य नहीं है कि आदिम प्रवृत्तियाँ अपने-आप में न सद् होती हैं न असद् ; बल्कि उन विशिष्ट प्रयोजनों के कारण, जिनके लिए उनका प्रयोग होता है, वे अच्छी या बुरी बन जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य प्रवृत्तियों के लिए कुछ प्रवृत्तियों की उपेक्षा, दमन तथा अपरिपक्व परिशोधन बहुत-सी बुराइयों का कारण हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हमें उन्हें स्वतःप्रवर्तित विकास के लिए छोड़ देना चाहिए, अपितु उनके उचित संघटन के विकास के लिए वातावरण उपस्थित करना ही हमारा कर्तव्य है।

रूसो के कथन में निहित वास्तविक तत्त्वों पर विचार करने से, हम देखते हैं कि प्राकृतिक विकास का उद्देश्य प्रचलित अभ्यास की अनेक बुराइयों को दूर करने के उपाय तथा अनेक विशिष्ट, वांछनीय लक्ष्य प्रदान करना है।

१—उद्देश्य के रूप में स्वाभाविक विकास, शारीरिक अंगों तथा शक्ति एवं स्वास्थ्य की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह उद्देश्य माता-पिता तथा शिक्षकों से कहता है कि स्वास्थ्य को लक्ष्य बनाओ ; क्योंकि शारीरिक शक्ति पर ध्यान दिए बिना सामान्य विकास संभव नहीं। यद्यपि यह काफी स्पष्ट तथा साधारण तथ्य है, लेकिन इसको अगर अभ्यास में आवश्यक महत्त्व दिया जाय, तो यह हमारे अनेक प्रशिक्षात्मक अभ्यासों में स्वतः क्रान्ति उत्पन्न कर देगा। 'प्रकृति' वास्तव में एक अस्पष्ट तथा आलंकारिक पद है, लेकिन इससे हमें शिक्षा मिलती है कि शिक्षात्मक क्षमता कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं और जब तक हमें इन परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान न हो, तथा हम अपने अभ्यासों को इनके अनुकूल बनाना न सीख लें, तब तक सर्वोत्तम तथा परमादर्श उद्देश्य असफल ही सिद्ध होंगे, या फिर फलीभूत न होकर केवल सैद्धान्तिक तथा भावनात्मक ही रह जाएँगे।

२—स्वाभाविक विकास का उद्देश्य प्राकृतिक प्रगतिशीलता को मान्यता प्रदान करना है। रूसो के शब्दों में—"बालक सदैव प्रगतिशील होते हैं, अप्रगतिशील जीवन हानिकर है।" उसका यह कथन कि "प्रकृति का लक्ष्य मस्तिष्क के उपयोग के पूर्व शरीर को शक्तिशाली बनाना है" शायद ही तथ्य को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ है ; लेकिन यदि इसका यह अर्थ

है कि प्रकृति का उद्देश्य (काव्यात्मक अर्थ में) विशेष रूप से शरीर की मांसपेशियों के व्यायाम द्वारा मस्तिष्क को विकसित करना है, तो उसके कथन में अवश्य ही असत्यात्मक तथ्य निहित है। दूसरे शब्दों में प्रकृति के अनुकरण का अर्थ वास्तव में, अन्वेषण, वस्तुओं के प्रयोग तथा खेल-कूद में शारीरिक अंगों द्वारा प्रतिपादित कार्य के महत्त्व को स्वीकार करना है।

२—यह उद्देश्य बालकों के व्यक्तिगत भेद को स्वीकार करता है। कोई भी जन्मजात शक्तियों के सिद्धान्त को बिना यह स्वीकार किए कि ये शक्तियाँ विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होती हैं, प्रतिपादित नहीं कर सकता। विशेष रूप से अन्तर केवल उनकी तीव्रता में ही नहीं ; बल्कि उनके गुणों तथा व्यवस्था में होता है। जैसा कि रूसो ने कहा है—"प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट स्वभाव लेकर जन्मता है..." हम इस विभेद पर ध्यान दिए बिना ही विभिन्न प्रकृति के बालकों को एक ही कार्य में लगा देते हैं और उनकी शिक्षा उनकी विशिष्ट रुचि को नष्ट कर देती है तथा सभी को एक शुष्क एकरूपता के साँचे में ढाल देती है ; अतएव प्रकृति की इस वास्तविक देन के विकास को अवरुद्ध करने में अपने प्रयत्न को व्यर्थ नष्ट करने के पश्चात् हम देखते हैं कि एक ओर तो उसकी स्थानापन्न तेजस्विता नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर उन प्राकृतिक योग्यताओं को भी पुनः प्राप्त नहीं कर पाते, जिनका हम दमन कर चुके होते हैं।

अन्ततोगत्वा प्रकृति का अनुसरण करने का अर्थ, रुचि तथा आकांक्षाओं की उत्पत्ति, विकास तथा ह्रास पर सम्यक् ध्यान देना है। शक्तियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक क्रम-मुक्त होकर फलती-फूलती हैं, उनमें जीवन का चतुर्स्तरीय सम-विकास-क्रम नहीं होता। हमें समय पर उचित अवसर का उपयोग कर ही लेना चाहिए। प्रत्येक शक्ति के प्रस्फुरण-काल का विशेष महत्त्व होता है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि जितने ही भिन्न-भिन्न रूपों में शैशवावस्था की मनोवृत्तियों का प्रयोग किया जाता है, उनके उतने ही मौलिक संस्कार बनते हैं तथा वे शक्तियों की विभिन्न दिशाओं को सम्बद्ध करते हैं, और जो बाद में चलकर व्यक्त होते हैं। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के प्रशिक्षात्मक महत्त्व पर, उपयोगी कला के विकास से भिन्न रूप में, रूसो के बाद, पेस्टालॉजी तथा फ्रॉबेल द्वारा बल दिए जाने के कारण, विकास के प्राकृतिक सिद्धान्त को ऐतिहासिक महत्त्व मिल गया है। क्रम-मुक्त विकास तथा इसके महत्त्व का परिचय नाड़ी-मण्डल के विकास का अध्ययन करने वाले एक विद्वान् के इस कथन से मिलता

है—"विकास के क्रम में, शारीरिक और मानसिक रूप से एकांगीपन होता है ; क्योंकि विकास कभी सामान्य नहीं होता, बल्कि कभी एक वस्तु का होता है, तो कभी दूसरी वस्तु का.....वे विधियां, जो इस प्राकृतिक निधि की अनेक विभिन्नताओं की उपस्थिति में, विकास की स्वाभाविक असमानताओं के गतिशील महत्त्व को समझेंगी तथा अस्पष्ट छटनी की बजाय विषमता को अधिक महत्त्व देकर उन्हें उपयोग में लाएंगी, अधिक निकट से शारीरिक परिवर्तनों का अनुसरण करेंगी और इस प्रकार अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगी।"[1]

नियंत्रण की अवस्था में, स्वाभाविक मनोवृत्तियों का निरीक्षण दुस्तर होता है। वे बालक के सहज कथनों तथा कार्यों में सर्वाधिक सहज रूप में अपने को व्यक्त करती हैं, अर्थात् उन क्रियाओं में, जिन्हें करने के लिए वह बाध्य नहीं होता, तथा जहां उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उसका निरीक्षण किया जा रहा है—इसका यह अर्थ तो नहीं है कि सभी प्रवृत्तियां स्वाभाविक होने के कारण वांछनीय ही होती हैं ; किन्तु यह अवश्य है कि वे निश्चित रूप से क्रियाशील रहती हैं और उन पर ध्यान देना आवश्यक है। हमें वांछनीय प्रवृत्तियों को क्रियाशील रखने के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी क्रिया, अन्य प्रवृत्तियों द्वारा अपनाई गई दिशा को नियंत्रित करेगी और इस प्रकार उनको निष्क्रिय-सा कर देगी, क्योंकि उनसे कोई भी उपलब्धि संभव नहीं होती। बहुत-सी ऐसी मनोवृत्तियां, जो अपने अभ्युदय से माता-पिता को व्यग्र कर देती हैं, प्रायः अल्प-जीवी होती हैं। और कभी-कभी उन पर विशेष ध्यान देना, बालक के ध्यान को उन्हीं पर केन्द्रित कर देता है। सभी दशाओं में वयस-प्राप्त लोग बड़ी आसानी से अपनी आदतों तथा आकांक्षों को प्रतिमान मान बैठते हैं और बालक द्वारा की गई, उनके अपने पथ से अलग हटने की प्रत्येक चेष्टा को असद् समझ कर दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वह कृत्रिमता, प्रकृति के अनुसरण का सिद्धान्त जिसका विरोध करता है, प्रत्यक्ष रूप से बालकों को बड़ों के मानदण्डों के अनुकूल बनाने के प्रयत्न का प्रतिफल है।

निष्कर्ष स्वरूप हम देखते हैं कि प्रकृति के अनुसरण का प्रारम्भिक इतिहास, दो ऐसे अवयवों को एक साथ जोड़ देता है, जिनमें आपस में कोई समवाय-सम्बन्ध नहीं होता। रूसो के समय के पूर्व के शिक्षा-सुधारक, शिक्षा को असीमित शक्ति-सम्पन्न समझ कर, इसके महत्त्व को बढ़ावा देने का प्रयत्न

---

१ डोनल्डसन : "ग्रोथ ऑफ़ ब्रेन"

करते थे और जातियों तथा एक ही जाति के समुदायों तथा व्यक्तियों में भेद का कारण, उनकी शिक्षा, क्रिया तथा अभ्यास के भेद को समझते थे। क्रियात्मक उपयोग के लिए उन सबों में, मौलिक रूप से एक ही मन, विवेक तथा बुद्धि है। मन की इस विशिष्ट अनुरूपता का अर्थ सब की वास्तविक समानता, तथा सब को एक ही स्तर पर लाने की संभावना है। इस विचारधारा के प्रतिरोध में प्रस्तुत किए गए प्रकृति के अनुसरण के सिद्धान्त में, मन तथा इसकी शक्तियों को कम सविधिक तथा अमूर्त रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें मन की पर्यवेक्षण, स्मृति, तथा साधारणीकरण की अमूर्त शक्तियों के बजाय विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों, चेष्टाओं तथा दैहिक क्षमताओं को स्थानापन्न किया गया है। प्राणि-शास्त्र, शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के आधुनिक विकास ने भी, प्रकृति के अनुसरण के सिद्धान्त के इस अंश की पुष्टि की है ; अतएव इसका यह अर्थ निकला कि यद्यपि प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा परिवर्तन, परिष्कार तथा पोषण का महत्त्व बहुत अधिक है, फिर भी, प्रकृति अथवा स्वयं-प्राप्त शक्तियाँ ही इसकी आधार-शिलाएँ हैं, अर्थात् वे ही इसकी परम साधन हैं।

दूसरी ओर प्रकृति के अनुसरण का सिद्धान्त एक राजनीतिक रूढ़ि था। इसका अर्थ तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं, परंपराओं तथा आदर्शों के प्रति विद्रोह था। "सृष्टि-कर्ता के हाथों से प्राप्त प्रत्येक वस्तु सद् ही है।" रूसो के इस कथन का महत्त्व उसी वाक्य के अन्तिम अंश "मनुष्य के हाथों में आकर प्रत्येक वस्तु विकृत हो जाती है।" के विरोध में ही स्पष्ट होता है। वह आगे कहता है—"प्राकृतिक मानव का परम महत्त्व है। वह स्वयं एक इकाई तथा पूर्णांक है, उसका अपने तथा अपने साथियों से ही सम्बन्ध है। सभ्य-मानव एक आपेक्षिक इकाई, एक भिन्न का अंश है, जिसका मूल्य इसके हर अर्थात् सम्पूर्ण समाज के सम्बन्ध पर आधारित है। वे अच्छी सामाजिक संस्थाएँ नहीं हैं, जो मनुष्य को अस्वाभाविक बनाती हैं।"[1] वर्तमान संगठित सामाजिक जीवन के कृत्रिम तथा हानिकर स्वरूप की विचारधारा पर ही उसने

---

१ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रूसो के मन में एक ऐसे नितांत भिन्न प्रकार के समाज की परिकल्पना थी, जो भ्रातृ-भावना-प्रधान समाज था और जिसका उद्देश्य प्रत्येक सदस्य के हितों के अनुरूप था, जिसे वह वर्तमान समाज की दशा से उतना अच्छा समझता था, जितना यह प्राकृतिक समाज की दशा से बुरा है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि प्रकृति केवल विकास का प्रारम्भ करने वाली शक्तियां ही नहीं प्रदान करती ; बल्कि इसकी योजना तथा लक्ष्य का निर्धारण भी करती है। बहुत अंशों तक यह सत्य है कि कुसंस्थाएँ तथा बुरे रीति-रिवाज, ऐसी दूषित शिक्षा प्रदान करने में प्राय: यांत्रिक रूप से कार्य करते हैं और फल यह होता है कि इसे दूर करने में विद्यालय की सर्वोत्तम शिक्षा भी समर्थ नहीं होती। लेकिन, इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि शिक्षा वातावरण से परे हो ; बल्कि ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना है, जिसमें जन्म-जात शक्तियों का सुन्दरतर प्रयोग किया जा सके।

उद्देश्य के रूप में सामाजिक क्षमता

यह विचार, जिसने प्रकृति को वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य तथा समाज को दूषित शिक्षा का उद्देश्य सिद्ध किया, निःसन्देह विरोध को न रोक सका। विरोधी विचार पर बल दिए जाने के परिणाम-स्वरूप, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि शिक्षा का उद्देश्य वह प्रदान करना है, जिसे 'प्राप्त कराने' में प्रकृति असमर्थ है—अर्थात्, व्यक्ति को सामाजिक नियंत्रण का अभ्यासी बनना है अथवा प्राकृतिक शक्तियों को सामाजिक नियमों के अधीन रखना है। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक क्षमता के सिद्धान्त का महत्त्व, विशेष कर उन बातों के विरोध में निहित है, जिनमें प्राकृतिक विकास का सिद्धान्त हमें ले गया था। और इसका दुष्प्रयोग तब होता है, जब यह प्राकृतिक विकास के सिद्धान्त के अच्छे तत्त्वों को भी अवमानित करता है। वास्तव में, शक्ति अथवा क्षमता के विकास का अर्थ प्राप्त करने के लिए हमें सामूहिक जीवन की उपलब्धियों तथा प्रक्रियाओं पर ध्यान देना होगा। यह समझना ठीक नहीं है कि हमें क्षमता प्राप्त करने के लिए उपयोग के बजाय अधीनता स्वीकार करनी होगी। इस सिद्धान्त की पर्याप्त वास्तविक अभिव्यक्ति तभी संभव है, जब हम यह स्वीकार करें, कि सामाजिक क्षमता निषेधात्मक निरोध से नहीं; बल्कि व्यक्ति की जन्मजात शक्तियों के सामाजिक व्यापारों में विधेयात्मक प्रयोग द्वारा प्राप्त होती है।

१—विशिष्ट उद्देश्यों में व्यक्त होने पर सामाजिक क्षमता, औद्योगिक कार्य-कुशलता का अर्थ देती है। जीवन-निर्वाह के साधनों के अभाव में मनुष्य का जीवित रहना संभव नहीं। वे विधियाँ, जिनमें ये साधन लगाए जाते हैं अथवा प्रयुक्त होते हैं, मनुष्य के पारस्परिक संबंध पर अत्यधिक प्रभाव डालती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपना तथा अपने आश्रित बाल-बच्चों का भरण-पोषण करने भर को कमाई नहीं कर पाता, तो वह दूसरों की क्रिया पर आश्रित एक परोपजीवी है। उसमें जीवन के सर्वाधिक शिक्षात्मक अनुभवों की कमी

है। यदि वह औद्योगिक उत्पत्ति की वस्तुओं के उचित प्रयोग में प्रशिक्षित नहीं है, तो इस बात का बहुत खतरा है कि वह अपने को भ्रष्ट कर सकता है तथा अपनी सम्पत्ति से दूसरों को हानि पहुँचा सकता है। शिक्षा की कोई भी योजना इन मौलिक विचारों की उपेक्षा नहीं करती। फिर भी ऊँचे तथा अधिक आध्यात्मिक आदर्शों के नाम पर, उच्च शिक्षा-व्यवस्थाओं ने बहुधा इनकी उपेक्षा ही नहीं की है, वल्कि तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते हुए, शिक्षा-संबंध के स्तर से निम्नकोटि का समझा है। अभिजात-तन्त्र से प्रजातन्त्र के परिवर्तन के साथ यह स्वाभाविक है कि ऐसी शिक्षा को महत्त्व दिया जाय, जिसका परिणाम संसार में आर्थिक सफलता प्राप्त करना तथा आर्थिक साधनों को आडम्बर तथा विलासिता में प्रयुक्त करने के वजाय उन्हें अधिक उपयोगी रूपों में प्रयोग करना हो।

इस लक्ष्य पर वल देने से भय इस वात का है कि वर्तमान आर्थिक दशाएँ तथा प्रतिमान, अन्तिम मान लिए जाएँगे। एक प्रजातन्त्रात्मक मापदण्ड की माँग है कि हम प्रवरण तथा उसके अनुसार जीवन-निर्माण की क्षमता के स्तर की शक्ति का विकास करें। जब लोगों को पहले ही से ऐसी निश्चित औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाने का प्रयत्न किया जाता है, जो शिक्षा-सम्बन्धी मौलिक शक्तियों के आधार पर नहीं; बल्कि माता-पिता की सम्पत्ति अथवा सामाजिक पदमान के आधार पर चुनी गई होती हैं, तो इस नियम का उल्लंघन होता है। वस्तुतः, वर्तमान युग में उद्योग, नवीन आविष्कारों के विकास के साथ-साथ शीघ्र तथा आकस्मिक रूप से परिवर्तित हो जाता है। नवीन उद्योगों की उत्पत्ति होती है तथा पुराने उद्योगों में क्रान्ति होती है। परिणाम-स्वरूप, योग्यता के परम विशिष्ट रूप के लिए शिक्षा अपने निज के प्रयोजन का ही हनन कर देती है। जब व्यवसाय अपनी प्रणालियों को बदल देता है, तो ऐसे व्यक्ति पीछे रह जाते हैं और उनमें नवीन परिस्थिति के समायोजन की उतनी भी योग्यता नहीं रह जाती, जितनी उनमें कम निश्चित शिक्षा पाने पर रहती। लेकिन, सब से वड़ी वात तो यह है कि समाज के वर्तमान औद्योगिक स्वरूप में किसी भी काल के समाज की तरह अनेक विषमताएँ हैं। उन्नतिशील शिक्षा का उद्देश्य है कि वह अनुचित सुविधा तथा सुयोग देने और अन्यायपूर्ण ढंग से वंचित रखने की परम्परा को प्रोत्साहन न देकर, उसे परिष्कृत करे। यदि सामाजिक नियंत्रण का अर्थ वैयक्तिक क्रियाओं को सामूहिक शासन के अधीन कर देना है, तो भय है कि औद्योगिक शिक्षा में अभिजातवर्गीय विचारों का ही

प्रभुत्व रहेगा। आर्थिक सुयोगों का अन्तर, व्यक्तियों की भावी क्रियाओं पर शासन करता है। इस प्रकार प्लेटो की योजना के दोषों का, उसकी प्रवरण की विवेकपूर्ण विधि के बिना ही, अचेतन रूप से पुनर्जागरण होता है।

२—नागरिक क्षमता अथवा अच्छी नागरिकता : औद्योगिक कुशलता को अच्छी नागरिकता की क्षमता से पृथक् करना निरंकुशता है; किन्तु 'नागरिक योग्यता' पद अनेक ऐसे गुणों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है, जो 'व्यावसायिक योग्यता' से भी कम स्पष्ट हैं। ये गुण उन तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं, जो व्यक्ति को राजनैतिक अर्थ में अधिक अच्छा, नागरिक बनाते हैं। यह मनुष्य को समझने तथा उनका विवेकपूर्ण मूल्यांकन करने और नियमों के बनाने तथा उनका पालन करने की योग्यता को व्यक्त करता है। नागरिक-क्षमता के उद्देश्य में कम-से-कम यह गुण तो है ही कि यह हमें मात्र मानसिक शक्तियों की शिक्षा के भाव से बचाता है। यह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि शक्ति का किसी-न-किसी क्रिया से आपेक्षिक सम्बन्ध होना आवश्यक है और दूसरों के सम्बन्ध से सम्बन्धित कार्य ही ऐसे कार्य हैं, जिनका करना परम आवश्यक है।

यहाँ भी हमें उद्देश्य को संकुचित अर्थ में लेने से बचना चाहिए। इसका नियत अर्थ से अधिक भाव लेना कभी-कभी वैज्ञानिक आविष्कारों की उपेक्षा कर सकता है। जब कि विश्लेषण करने पर इस तथ्य का पता लगता है कि सामाजिक उन्नति वैज्ञानिक आविष्कारों पर ही निर्भर है। विज्ञान-प्रधान व्यक्ति को सामाजिक क्षमता-विहीन एक सैद्धान्तिक स्वप्न-दर्शी के रूप में भी लिया जा सकता है। इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक क्षमता का अर्थ, अनुभव के आदान-प्रदान में भाग लेने की योग्यता-मात्र है—न इससे अधिक, न कम। इसमें वे सभी बातें सम्मिलित हैं, जो किसी के अपने अनुभव को दूसरों के लिए उसे उनके महत्त्वपूर्ण अनुभवों में हाथ बटाने के योग्य बनाती हैं। कलात्मक सृजन तथा उससे आनन्द-प्राप्ति, मनोरंजन की क्षमता, अवकाश का सार्थक उपयोग, आदि नागरिकता से सम्बद्ध, परम्परागत तथ्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

सर्वाधिक विस्तृत अर्थ में, सामाजिक क्षमता, मन को सामाजिक बनाने के उस भाव से कम नहीं है, जो क्रियात्मक रूप से अनुभवों को आदान-प्रदान के अधिक योग्य बनाने में कार्य करता है और सामाजिक स्तरों की विषमताओं के बंधन को तोड़ कर, व्यक्तियों को, परोपकार के योग्य बनाता है। जब

सामाजिक क्षमता केवल बाह्य चेष्टाओं द्वारा की गई सेवा तक ही सीमित हो जाती है, तब इसका मुख्य तत्त्व—विवेकशील सहानुभूति अथवा सद्भावना—इससे दूर हो जाता है, क्योंकि सहानुभूति एक वांछनीय गुण के रूप में केवल भाव-संवेग से बढ़ कर है। यह मनुष्यों के सर्वनिष्ठ गुणों की उपलब्धि की कल्पना और इन्हें उससे अलग करने वाले तत्त्वों के प्रति विद्रोह है। जिसे कभी-कभी पर-हितैषी रुचि कहा जाता है, वह आत्म-हित का भाव छिपाए रहती है। यह सम्बन्ध लोगों को इस योग्य बनाता है कि वे अपने, रुचि के अनुकूल, हित की प्राप्ति कर सकें। सामाजिक योग्यता तथा समाज-सेवा भी हितों की विभिन्नता न स्वीकार करने तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपना अभीष्ट प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देने की सामाजिक उपयोगिता में विश्वास जगाती है।

उद्देश्य के रूप में संस्कृति

साामाजिक क्षमता की सांस्कृतिक उद्देश्य के साथ संगति है अथवा नहीं, इस पर ध्यान देना हमें इन विचारों की ओर उन्मुख करता है । संस्कृति का अर्थ कम-से-कम एक ऐसी वस्तु है, जिसको सुधारा गया हो, पकाया गया हो । यह अपरिष्कृत तथा अपरिपक्व की विलोमार्थी है। यदि 'प्राकृतिक' का अर्थ 'अपरिपक्वता' है, तो यह प्राकृतिक विकास की भी विरोधी है। संस्कृति, वैयक्तिक होती है । यह विचार, कला तथा विस्तृत मानव-कल्याण की भावना के ज्ञान की उपार्जित निधि है। जब क्रिया के विस्तृत अर्थ तथा इसकी मुख्य भावना का परित्याग कर, इसे संकुचित अर्थों में सामाजिक क्षमता के अनुरूप समझा जाता है, तब संस्कृति, सामाजिक क्षमता की भी विरोधी है । चाहे उसे संस्कृति कहिए अथवा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, परिणाम सामाजिक क्षमता के अनुरूप ही होगा, यदि व्यक्ति को अद्वितीय समझा जाय ; क्योंकि यदि व्यक्ति में कुछ विशेषता न हो, तो वह व्यक्ति नहीं रह जायगा । मध्यम या साधारण, वैयक्तिक का विलोमार्थी है । जब कभी भी विशिष्ट गुण विकसित किए जाते हैं, तब परिणाम व्यक्तित्व का अन्तर होता है । इसके साथ ही समाज-सेवा की अधिक संभावनाओं का जन्म होता है, जो भौतिक खाद्य-सामग्री की मात्रा-जैसी पूर्ति से परे है । बिना विशिष्ट वैयक्तिक गुणों वाले व्यक्तियों के किसी ऐसे समाज का निर्माण कैसे हो सकता है, जिसकी सेवा की जाय ?

वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दिए जाने तथा सामाजिक क्षमता में विरोध का कारण सामन्तवादी समाज का मनुष्यों में निम्न तथा उच्च वर्गों का विभाजन है। ऐसा माना गया है कि उच्च वर्ग के लोगों को, अपने को मानव के रूप में विकसित करने का समय तथा सुअवसर मिलता है। निम्नवर्ग केवल वाह्य उत्पादन में योगदान देने तक ही सीमित है। यदि भावी प्रजातन्त्रात्मक समाज में उत्पत्ति तथा उत्पादन से सम्बन्धित नागरिक क्षमता को उद्देश्य के रूप में ग्रहण किया जायगा, तो इसका यह अर्थ

होगा कि, अभिजातवर्गीय समाज में विशेषरूप से अपनाए गए, जन-साधारण को निम्नकोटि का समझने के दृष्टिकोण को स्वीकार किया जायगा तथा उसका पालन किया जायगा। लेकिन, यदि प्रजातंत्र में कुछ नैतिकता तथा आदर्श हैं, तो सभी को समाज की ओर दृष्टि फेरनी होगी और सब को अपनी विशिष्ट शक्तियों के विकास का अवसर देना होगा। शिक्षा के इन दो उद्देश्यों का पृथक्ककरण प्रजातंत्र के लिए घातक है। 'क्षमता' का संकुचित अर्थ लेना, इसके वास्तविक महत्त्व को भुला देना है।

क्षमता के उद्देश्य को भी (अन्य उद्देश्यों की भाँति) अनुभव की प्रक्रिया में ही सम्मिलित करना होगा। जब इसका मूल्यांकन विशिष्ट महत्त्वपूर्ण अनुभव के बजाय, प्रकट वाह्य उत्पादनों के आधार पर किया जायगा, तब निश्चित रूप से परिणाम भौतिकवादी होगा। सक्षम व्यक्तित्व के अति विकास से उत्पन्न, खाद्य-वस्तुओं का उत्पादन, शिक्षा की उप-उत्पत्ति है। यह ऐसी उपलब्धि है, जिसकी उत्पत्ति अपरिहार्य तथा परमावश्यक है, फिर भी यह एक उप-उत्पत्ति ही है। वाह्य उद्देश्य स्वीकार करने से, प्रतिक्रिया-स्वरूप संस्कृति के उस ललित अर्थ को बल मिलेगा, जो इसे पूर्णतः आंतरिक मानता है। और पूर्णरूप से आंतरिक व्यक्तित्व को पूर्ण करने की धारणा, सामाजिक विभाजन का निश्चत लक्षण है। आंतरिक वही है, जिसका दूसरों से संबंध न हो। दूसरे शब्दों में जो स्वतन्त्र तथा पूर्णरूप से सामाजिक आदान-प्रदान में न आ सके। जिसे आध्यात्मिक संस्कृति कहते हैं, वह प्रायः निरर्थक सिद्ध हुई है और उसमें सदैव कुछ सड़े-गले तत्त्वों का समावेश रहा है। इसका कारण केवल यही है कि यह समझा गया है कि मनुष्य इसे पूर्ण तथा आंतरिक रूप से प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप, दूसरों के संबंध तथा सम्पर्क के स्वतंत्र आदान-प्रदान में ही व्यक्त होता है। यह दूसरों के लिए उत्पादित-सामग्रियों की पूर्ति करते रहने तथा केवल परिष्कार एवं संस्कार के अर्थ में ही ली गई संस्कृति, दोनों से श्रेष्ठ है।

कृषक, चिकित्सक, अध्यापक अथवा विद्यार्थी, कोई भी व्यक्ति जो यह नहीं समझता कि दूसरों को महत्त्व देने के परिणामों का प्रतिफल, समवाय रूप से महत्त्वपूर्ण अनुभव की प्रक्रिया का सहगामी है, उसकी माँग को नहीं समझ सकता। फिर ऐसा क्यों सोचा जाता है, कि मनुष्य को दूसरों की भलाई के लिए अपने हितों के बलिदान, अथवा अपने निज के साध्य के लिए दूसरों के हितों के बलिदान में से एक को ही—चाहे वह अपनी आत्मा की रक्षा के लिए या आंतरिक आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व-निर्माण के लिए—चुनना होगा।

प्रायः होता यह है कि इनमें से एक भी ठीक से संभव नहीं हो पाता। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर, हम दोनों ही विचारों में आवश्यक परिवर्तन करते हैं। मनुष्य बारी-बारी से दोनों ही मार्गों का अनुसरण करता है। इससे बढ़ कर कोई दुःखद बात नहीं है कि संसार के माने हुए आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारों ने सदैव आत्म-बलिदान तथा आध्यात्मिक आत्मपूर्णता के इन दो आदर्शों पर विशेष बल दिया है। जीवन के इस द्वैतवादी विभाजन को दूर करने का प्रयास उनमें नहीं हुआ है। इस द्वैतवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें उखाड़ फेंकना सरल नहीं है। इस कारण वर्तमान समय में शिक्षा का विशेष कार्य, ऐसे उद्देश्य के रूप में कार्य करना है, जिसमें सामाजिक क्षमता तथा वैयक्तिक संस्कृति में विरोध न होकर अनुरूपता है।

अध्याय का सारांश

सामान्य अथवा विस्तृत उद्देश्य, शिक्षा की विशिष्ट समस्याओं का सिंहावलोकन करने के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। परिणाम-स्वरूप, किसी महान् लक्ष्य के कथन की विधि के महत्त्व की परीक्षा इसी में है कि वह दूसरे उद्देश्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रणालियों के साथ आसानी से सफलता-पूर्वक सामंजस्य स्थापित कर सकता है या नहीं। हमने इस मापदंड को तीन सामान्य उद्देश्यों पर लागू किया है—प्रकृति के अनुकूल विकास, सामाजिक-क्षमता तथा संस्कृति अथवा वैयक्तिक मानसिक उन्नति। प्रत्येक दशा में हमने देखा कि आंशिक रूप से ग्रहण किए जाने पर इन उद्देश्यों में संघर्ष अर्थात् पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्राकृतिक विकास का आंशिक कथन, आदिम शक्तियों के कथित स्वतःप्रवर्तित विकास को पूर्ण साध्य के रूप में स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण से वह प्रशिक्षण, जो उन्हें दूसरों के लिए उपयोगी बनाता है, एक अस्वाभाविक निरोध है। जो शिक्षा उन्हें सचेष्ट प्रशिक्षण द्वारा परिष्कृत करने का प्रयास करती है, दूषित है। लेकिन, यदि हम यह जान जायें कि स्वाभाविक क्रिया में वे जन्मजात क्रियाएँ हैं, जो केवल उन्हीं उपयोगों में विकास पाती हैं, जिनमें वे प्रशिक्षित होती हैं, तो संघर्ष नहीं रह जाता। इसी प्रकार, सामाजिक क्षमता, जिसे दूसरों की बाह्य सेवा के अर्थ में लिया जाता है, निश्चय ही अनुभव को विकसित करने के उद्देश्य का विरोध करेगी। और मन के आंतरिक परिष्कार के रूप में संस्कृति, सामाजिक संस्कारों की विरोधी है। लेकिन, सामाजिक क्षमता का अर्थ, शिक्षा के प्रयोजन के रूप में, सामूहिक अथवा सहयोगी क्रियाओं में

स्वतन्त्रतापूर्वक पूरी तरह भाग लेने की शक्ति उत्पन्न करना है। यह बिना संस्कृति के असंभव है तथा यह स्वयं संस्कार के लिए लाभकारी है, क्योंकि बिना शिक्षा ग्रहण किए, बिना विस्तृत दृष्टिकोण अपनाए, अथवा बिना विस्तृत ज्ञान प्राप्त किए--जिससे वह अन्यथा अनभिज्ञ रह जाता—दूसरों से सम्पर्क-स्थापन में हाथ नहीं बटा सकता। कदाचित, संस्कृति की इससे और अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि 'संस्कृति किसी के अर्थ-ज्ञान की परिशुद्धि तथा इसके क्षेत्र को निरंतर विस्तृत करती रहने वाली शक्ति है।'

१०

अभिरुचि तथा अनुशासन

उक्त पदों का अर्थ

क्रियात्मक रूप से भाग लेने वाले, अर्थात् कर्ता तथा द्रष्टा के दृष्टिकोणों का अन्तर हम देख चुके हैं। द्रष्टा, होने वाले कार्य के प्रति उदासीन होता है, अर्थात् उसके लिए एक परिणाम का उतना ही महत्व है, जितना कि दूसरे का ; क्योंकि उसका कार्य दोनों का अवलोकन-मात्र है। कर्ता का, प्रत्येक घटित होनेवाली क्रिया से परिनिष्ठित सम्बन्ध होता है, अर्थात् इसका प्रतिफल उसके लिए बड़े महत्व का होता है। घटनाचक्र में ही उसके भाग्य का निर्णय निहित है। वर्तमान घटनाओं पर वह भरसक प्रभाव डालने की कोशिश करता है। द्रष्टा का दृष्टिकोण, जेल में बंद उस कैदी की तरह है, जो खिड़की से बाहर होती हुई वर्षा का केवल निरीक्षण करता है, और कर्त्ता उस व्यक्ति की तरह है, जिसने दूसरे दिन बाहर जाने की योजना बनाई है, जो वर्षा के जारी रहने से बिगड़ जायगी। निश्चय ही उसकी वर्तमान प्रतिक्रियाएँ दूसरे दिन के मौसम पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं, लेकिन वह इतना तो कर ही सकता है कि स्वयं अपनी प्रस्तावित पिकनिक को स्थगित कर दे। यदि कोई व्यक्ति किसी गाड़ी को अपनी ओर आती हुई देखता है, जो उसके ऊपर चढ़ जाएगी, तो यदि वह उसकी गति को नहीं रोक सकता, तो समय रहते परिणाम का प्रतिभान हो जाने पर, रास्ते से हट तो सकता ही है। अनेक अन्य उदाहरणों में वह और भी प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप कर सकता है। किसी घटनाचक्र में भाग लेने वाले व्यक्ति का दुहरा दृष्टिकोण होता है। एक तो भावी परिणामों के प्रति एक चिंता-सी होती है, दूसरे बुरे परिणामों से बचने और अच्छे परिणामों की प्राप्ति निश्चित करने के लिए, क्रिया करने की मनोवृत्ति होती है।

इस दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए चिंता तथा 'अभिरुचि' शब्द हैं। ये शब्द संकेत करते हैं कि व्यक्ति, वस्तु में समवायी संभावनाओं से निश्चित रूप से सम्बद्ध है, अर्थात् उसे इसका सदैव ध्यान बना रहता है कि वे उसके लिए क्या करने जा रही हैं तथा अपनी आशाओं तथा पूर्व-दृष्टि के आधार पर वह

वस्तुओं को अन्य दिशाओं की अपेक्षा एक विशिष्ट दिशा की ओर लगाने के लिए क्रिया करने को इच्छुक रहता है। अभिरुचि तथा उद्देश्य, चिंता तथा प्रयोजन, निश्चित रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं। उद्देश्य, ध्येय, लक्ष्य आदि उस परिणाम के प्रतीक हैं, जिनकी वांछा की जाती है तथा जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाता है। इसमें चिंता तथा एकाग्र उत्सुकता की वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ निहित होती हैं। अभिरुचि, अनुराग, चिंता, आशय आदि शब्द, व्यक्ति की नियति तथा संभाव्य फल-प्राप्ति के लिए क्रिया करने की क्रियाशील इच्छा तथा उसके नियति पर पड़ने वाले पूर्व-अनुमानित प्रभावों पर बल देते हैं। वस्तुनिष्ठ परिवर्तनों को वे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते हैं। अंतर केवल बल देने का है। जो भाव एक प्रकार के शब्दों में अन्तर्निहित रहता है, दूसरे शब्दों में व्यक्त हो जाता है। जिसकी हम पूर्व-कल्पना करते हैं, वह वस्तुनिष्ठ तथा अवैयक्तिक होती है, जैसे कल की वर्षा अथवा दब जाने की संभावना। लेकिन, क्रियाशील व्यक्तियों में, जो परिणामों के प्रति उदासीन रहने के बजाय उनमें भाग लेते हैं, वैयक्तिक प्रतिचार होता है। काल्पनिक रूप से पूर्व-दृष्ट अंतर वर्तमान में भी अन्तर उत्पन्न करता है, जो चिंता तथा प्रयत्न में व्यक्त होता है। जहाँ अनुराग, प्रयोजन, चिंता तथा आशय आदि शब्द वैयक्तिक अधिमान की मनोवृत्ति को व्यक्त करते हैं, वहीं वे वस्तुओं तथा उनके पूर्व-ज्ञान की ओर भी संकेत करते हैं। हम वस्तुनिष्ठ पूर्व-दृष्टि को, बौद्धिक तथा वैयक्तिक चिंता को, संवेगात्मक तथा इच्छाकृत कह सकते हैं; किन्तु इन दशाओं में तात्त्विक भेद किया जा सकता है।

यदि वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ अपने-आप में क्रिया कर सकतीं, तो यह विभेद संभव हो सकता था, लेकिन वे सदैव परिनिष्ठित घटना के प्रतिचार-स्वरूप होती हैं। वे उसके एक अंग के रूप में होती हैं। उनकी सफल अथवा असफल अभिव्यक्ति, अन्य परिवर्तनों के साथ हुई प्रतिक्रिया पर निर्भर है। जीवन-क्रियाएँ, वातावरण के परिवर्तनों के सम्बन्ध में ही प्रतिफलित अथवा असफल होती हैं। वस्तुतः वे इन परिवर्तनों से सम्बद्ध रहती हैं। इच्छाएँ, संवेग और अनुराग, हमारे आस-पास की वस्तुओं तथा व्यक्तियों के क्रिया-कलापों से सम्बद्ध, हमारी अपनी क्रियाओं के विभिन्न रूप हैं। वस्तुनिष्ठ और अवैयक्तिक क्षेत्र से पृथक्, केवल वैयक्तिक अथवा आत्मनिष्ठ क्षेत्र का संकेत करने के बजाय, वे ऐसी पृथक् अवस्था के अभाव के द्योतक हैं। वे इसके विश्वसनीय प्रमाण देते हैं कि वस्तुनिष्ठ परिवर्तन, व्यक्ति की क्रियाओं से परे नहीं हैं। और व्यक्ति की प्रगति तथा हित का, वस्तुओं तथा मनुष्यों की गति से, निश्चित सम्बन्ध है। अभिरुचि तथा

आशय का अर्थ है कि व्यक्ति तथा विश्व एक विकासशील परिस्थिति में परस्पर संलग्न हैं।

अभिरुचि शब्द, अपने प्रचलित अर्थ में—(१) क्रियात्मक विकास की सम्पूर्ण दशा (२) वांछित तथा पूर्व-द्रष्ट वस्तुनिष्ठ परिणामों एवं (३) वैयक्तिक संवेगात्मक मान को व्यक्त करता है। (१) व्यवसाय, संलग्नता, अनुसंधान, व्यापार, प्रायः अभिरुचि से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की राजनीति, अथवा पत्रकारिता, अथवा लोकोपकार, पुरातत्त्व अथवा जापानी चित्रकला के नमूने इकट्ठे करने, या अधिकोष-विज्ञान में अभिरुचि है। (२) अभिरुचि से हम यह भी अर्थ लेते हैं कि वस्तु-विशेष, किन केन्द्र-विन्दुओं पर किसी व्यक्ति को संस्पर्श करती या संलग्न बनाती है, अर्थात् वे केन्द्र-विन्दु जहाँ से वह उसे प्रभावित करती है, जैसे न्यायालय में अपना स्थान बनाने के लिए, कुछ वैधानिक कार्यवाहियों में व्यक्ति को अपनी अभिरुचि दिखानी पड़ती है। उसे यह दिखाना होता है कि प्रस्तावित कार्यवाही उसके मामलों से सम्बन्धित है। किसी व्यापार का निष्क्रिय भागीदार, यद्यपि उसमें सक्रिय रूप से भाग नहीं लेता, फिर भी उसमें उसकी अभिरुचि इसलिए होती है, क्योंकि उसकी समृद्धि अथवा ह्रास से उसके अपने लाभ तथा दाय पर प्रभाव पड़ता है। (३) जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति इस या उस वस्तु में अभिरुचि रखता है, तो हम प्रत्यक्ष रूप से उसकी वैयक्तिक मनोवृत्ति पर बल देते हैं। किसी वस्तु से अभिरुचि रखने का अर्थ, उसमें लिप्त होने, आवेष्ठित होने तथा निर्देशित होने से है। किसी वस्तु में रुचि लेने का अर्थ, उसके विषय में सतर्क होना, चिंतित होना तथा ध्यान देना है। वस्तु-विशेष में अभिरुचि रखनेवाले व्यक्ति के बारे में हम कह सकते हैं कि उसने अपने-आपको उसमें खो दिया है और उसमें पा लिया है। ये दोनों पद किसी वस्तु-विशेष में आत्मनिमग्नता के द्योतक हैं।

जब हम शिक्षा में अभिरुचि के स्थान को अवमूल्यनात्मक अर्थ में ग्रहण करते हैं, तब इसका यह अर्थ होगा कि कथित अर्थों में दूसरा अर्थ पहले अतिरंजित किया जाता है। और फिर उसे औरों से अलग कर लेते हैं। अभिरुचि का अर्थ, केवल यह समझा जाता है कि किसी वस्तु का वैयक्तिक हानि-लाभ, सफलता-विफलता पर क्या प्रभाव है। कार्य के वस्तुनिष्ठ विकास से पृथक् कर के यह केवल सुख-दुःख की वैयक्तिक दशाओं के अर्थ में ली जाती है। प्रशिक्षात्मक रूप से यह होता है कि अभिरुचि को महत्त्व देना, भौतिक वस्तुओं को कुछ मोहकता प्रदान करना है, जिनके प्रति हम अन्यथा उदासीन रह जाते। यह

परिसुख का उत्कोच देकर हमारा प्रयास तथा ध्यान प्राप्त करना है। इस प्रणाली को सस्ती शिक्षा या गया-बीता शिक्षा-सिद्धांत[1] के नाम से ठीक ही लांछित किया गया है।

लेकिन यह आपत्ति इस तथ्य (धारणा) पर आधारित है कि उपार्जनीय कौशल के रूप तथा शिक्षा की विषय-सामग्री, अपने-आप अभिरुचि के कारण नहीं हैं, अर्थात् उन्हें शिक्षार्थियों की सामान्य क्रियाओं में अप्रासंगिक समझा जाता है। अभिरुचि के सिद्धांत में दोष निकालना इसका उपचार नहीं है; बल्कि वर्तमान शक्तियों से सम्बन्धित वस्तुओं तथा क्रियाओं के रूपों की खोज करना है। क्रिया को कार्य में लगाना तथा ठीक प्रकार से निरंतर चलाते रहने के रूप में, इस साधन का कार्य ही, इसकी देन है। यदि साधन इस रूप में कार्य करता है, तो इसे रुचिकर बनाने के लिए अन्य साधनों की खोज करने अथवा बाधा डालने वाले कुछ स्वेच्छाचारी प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं।

'अभिरुचि' (Interest) शब्द का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ 'मध्यस्थ' है— जो दो अन्यथा दूरस्थ वस्तुओं को जोड़ता है। शिक्षा में यह पूरी की गई दूरी, समय-सूचक अर्थ में समझी जा सकती है। किसी प्रक्रिया के परिपक्व होने में समय लगता है। यह इतना प्रत्यक्ष तथ्य है कि हम इसे स्पष्ट करने का बहुत कम प्रयत्न करते हैं। हम इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते, कि विकास में प्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था तथा पूर्णता के समय के बीच एक रास्ता तय करना पड़ता है और बीच में कुछ घटनाएँ घटती हैं। शिक्षा में बालक की वर्तमान शक्तियाँ आरम्भिक अवस्थान हैं तथा अध्यापक का उद्देश्य दूरस्थ सीमा। दोनों के बीच में 'साधन' स्थित है—ये माध्यमिक दशाएँ हैं, ये प्रतिपादित होने वाली क्रियाएँ हैं, दूर की जाने वाली बाधाएँ हैं, ये उपयोग में आने वाले उपकरण हैं। केवल इन्हीं के माध्यम से समय के वास्तविक अर्थ में प्रारम्भिक क्रियाएँ, सन्तोषजनक पूर्णता प्राप्त कर सकेंगी।

ये माध्यमिक दशाएँ ही 'अभिरुचि' हैं, क्योंकि प्रमुख रूप से, वर्तमान क्रियाओं का पूर्व-दृष्ट तथा वांछित लक्ष्य के रूप में विकास, इन्हीं पर निर्भर है। वर्तमान प्रवृत्तियों के उपार्जन का साधन होना, कर्ता तथा उसके साध्य का मध्यस्थ होना, अभिरुचि का विषय होना आदि, एक ही वस्तु के विभिन्न नाम हैं। जब सामग्री को रुचिकर बनाना होता है, तो यह अर्थ होता है कि

---

१ Soup-Kitchen : Theory of Education.

वर्तमान रूप में, इसमें वर्तमान शक्तियों तथा प्रयोजन के सम्बन्ध का अभाव है और यदि सम्बन्ध है भी, तो यह दृष्टिगोचर नहीं होता। स्थित सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा रुचि उत्पन्न करना उचित है ; किन्तु बाह्य अथवा कृत्रिम साधनों द्वारा रुचि उत्पन्न करना ठीक नहीं। इसी के लिए शिक्षा में अभिरुचि के सिद्धांत की कटु आलोचना की गई है।

यहाँ तक तो हम 'अभिरुचि' पद का अर्थ स्पष्ट करते रहे। अब अनुशासन शब्द को लीजिए। जब किसी क्रिया में समय लगता है, जब इसके प्रारम्भ तथा अंत के बीच अनेक साधन तथा बाधाएँ होती हैं, तब विवेक तथा संकल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है। यह स्पष्ट है कि संकल्प-शक्ति का साधारण अर्थ, कठिनाइयों तथा विरोधी प्रलोभनों के होते हुए भी, क्रिया को नियोजित मार्ग पर, दृढ़तापूर्वक लगाए रखने की ऐच्छिक सचेतन मनोवृत्ति है। प्रबल संकल्प-शक्ति का मनुष्य, प्रचलित अर्थ में, वह मनुष्य है, जो चुने हुए लक्ष्य को प्राप्त करने में हताश नहीं होता तथा डगमगाता नहीं। उसकी योग्यताएँ निष्पादक होती हैं, अर्थात् वह दृढ़तापूर्वक तथा सशक्त रूप से अपने उद्देश्यों के निष्पादन अथवा प्राप्ति के प्रयत्न में क्रियाशील रहता है।

संकल्प-शक्ति के दो मुख्य अवयव हैं। एक का संबंध परिणामों की पूर्व-दृष्टि से है तथा दूसरे का पूर्व-द्रष्ट फल द्वारा व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव की गहराई से। १—वैसे हठ भी दृढ़ होता है ; किन्तु यह संकल्प की शक्ति नहीं है। हठ केवल पाशविक जड़ता अथवा असंवेदनशीलता है। व्यक्ति काम को इसलिए करता जाता है कि उसने उसे प्रारम्भ कर दिया है, इसलिए नहीं कि उसका कोई प्रकट, विवेक-सम्मत प्रयोजन है। हठी व्यक्ति सामान्यतः अपने प्रस्तावित साध्य को नहीं जानता (यद्यपि उसे इसका पूरा ज्ञान नहीं भी हो सकता है।), उसमें यह भावना होती है कि यदि वह इसका पूर्व-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न भी करे, तो वह अधिक महत्त्व की बात न होगी। हठ, वर्तमान उद्देश्य की आलोचना की अनिच्छा में, साध्य-प्राप्ति के लिए साधनों के प्रयोग में, शक्ति-प्रयोग तथा दृढ़ता की अपेक्षा, अधिक प्रकट होता है। वास्तविक निष्पादक मनुष्य तो वह है, जो अपने उद्देश्यों पर विचार करता है और अपनी क्रिया के परिणाम के भावों को यथासंभव प्रत्यक्ष तथा पूर्ण बनाता है। ऐसे मनुष्य, जिन्हें हम निर्बल संकल्प-शक्ति वाले अथवा आत्मासक्त कहते हैं, अपने कार्यों के परिणामों के संबंध में सदैव अपने को धोखा देते हैं। वे किसी मनोवांछित अंश को ले लेते हैं तथा अन्य सभी सहायक परिस्थितियों की

उपेक्षा करते हैं। जब वे कोई कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, तो ऐसे अवांछनीय परिणाम, जिनकी वे उपेक्षा किए रहते हैं, व्यक्त होने लगते हैं। ऐसा होने पर वे साहस खो देते हैं अथवा अपने सदुद्देश्य की प्राप्ति में दुर्भाग्य को असफलता का कारण बतला कर, कार्य की दूसरी विधि अपनाते हैं। यह निश्चित है कि सबल तथा निर्बल संकल्प-शक्ति में मुख्य अंतर मानसिक है। यह परिणामों पर विचार करने की दृढ़ता तथा पूर्णता की मात्रा पर आधारित है।

२—वास्तव में मानसिक रूप से परिणामों की खोज की जाती है। लेकिन, केवल अन्वेषण द्वारा प्राप्त उनका पूर्व-ज्ञान अपने-आप मनुष्य को क्रिया-रत करने में समर्थ नहीं। वे उत्सुकता के आदर्श तथा लक्ष्य-मात्र हैं—उन्हें प्राप्त करने की प्रबल इच्छा नहीं भी हो सकती। यह यदि अति बौद्धिकता नहीं है, तो एकांगी विवेकशीलता अवश्य है। प्रस्तावित क्रियाओं के परिणामों पर विचार करते समय मनुष्य इनका प्रवरण कर लेता है। तंतुओं की शिथिलता, उन्हें प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को कार्य-रत करने में बाधा डालती है। और अधिकांश लोग अप्रत्याशित तथा अपूर्व-द्रष्ट बाधाओं के आ जाने अथवा अन्य कार्यों के प्रलोभनों के कारण एक कार्य के प्रस्तावित मार्ग को छोड़ कर, प्रत्यक्ष रूप से अधिक सरल कार्य की ओर स्वभावतः ही मुड़ जाते हैं।

जो मनुष्य अपने कार्यों पर विचार करने तथा उन्हें ऐच्छिक रूप से पूरा करने में सक्षम होता है, अर्थात् जो एक अनुशासित व्यक्ति होता है, उसकी इस योग्यता में ध्यान को दूसरी ओर आकर्षित करने वाले तत्त्वों, घबराहट तथा बाधाओं की उपस्थिति में भी विवेकपूर्वक चुने गए कार्य में दृढ़तापूर्वक निरन्तर लगे रहने की शक्ति जोड़ दीजिए, आपको अनुशासन का मूल तत्त्व मिल जायगा। अनुशासन का अर्थ नियंत्रित शक्ति तथा प्राप्त साधनों को, किए जाने वाले कार्य में, निरंतर प्रयुक्त करने की क्षमता है। चाहे सेना के अर्थ में लीजिए या मन के अर्थ में, अपने कर्तव्य का ज्ञान तथा आवश्यक साधनों के उपयोग द्वारा इसे पूरा करने में संलग्न रहना ही अनुशासित होना है। अनुशासन अभावात्मक होता है। साहस बनाए रखना, मन की प्रवृत्ति का नियंत्रण, आज्ञाकारिता, इच्छाओं का दमन करना, किसी सहायक से कोई कठिन कार्य करवाना आदि बातें जब कर्त्तव्य-ज्ञान तथा उसकी पूर्ति में दृढ़ता उत्पन्न करती हैं, तब तो वे अनुशासन हैं, अन्यथा नहीं।

अभिरुचि तथा अनुशासन परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के परिपोषक हैं। इस बात के स्पष्टीकरण पर बहुत अधिक बल देने की विशेष

आवश्यकता नहीं। (१) प्रशिक्षित शक्ति की अधिक मानसिक दशा—किए जाने वाले कार्यों के परिणाम में निहित फल का ज्ञान—भी अभिरुचि के बिना संभव नहीं। बिना अभिरुचि के विचार शिथिल तथा उथला होगा। माता-पिता तथा शिक्षकों की यह शिकायत ठीक ही होती है कि "बालक सुनना अथवा समझना नहीं चाहते।" उनका मन विषय में विशेषतः इसलिए नहीं लगता कि वह उनके मन को स्पर्श नहीं कर पाता, अर्थात् यह उनके प्रयोजन से अलग रहता है। ऐसी स्थिति को दूर किया जाना चाहिए। लेकिन, सुधार उन विधियों से नहीं किया जाना चाहिए, जो उदासीनता तथा अरुचि की भावना जगाएँ। ध्यान न देने के लिए दण्ड देना भी—बालक को यह समझाने की कि अमुक बात पूर्णरूप से निष्प्रयोजन नहीं है—एक विधि है। आगे चल कर इसका मूल्य इससे आँका जाना है कि यह केवल वयस्क जनों द्वारा वांछित विधि से कार्य करने की भौतिक प्रेरणा-मात्र उत्पन्न करता है, अथवा इसके कारण बालक 'विचार करता है', अर्थात् अपने कार्यों का चिंतन करता है तथा उन्हें उद्देश्य से अनुप्राणित करता है। (२) यह तो और भी स्पष्ट है कि निष्पादक दृढ़ता के लिए, अभिरुचि आवश्यक है। नियोक्ता कभी भी ऐसे मजदूरों को काम पर नहीं लगाता, जिनकी कार्य में रुचि न हो। यदि कोई किसी चिकित्सक या प्रवक्ता को अपने कार्य में लगाता है, तो यह कभी नहीं होता कि वह उन्हें केवल अनुगृहीत करने के लिए कार्य में लगाए; बल्कि सत्य तो यह है कि व्यक्ति को उसे स्वयं उनके कार्य की अपेक्षा होती है। उसकी उनमें अभिरुचि है। अभिरुचि उस शक्ति की गहराई की मापक है, अथवा वह गहराई है, जो पूर्व-द्रष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है।

शिक्षा में अभिरुचि के भाव का महत्त्व

सप्रयोजन अनुभव में आने वाली वस्तुओं की उत्प्रेरक शक्ति अभिरुचि है। वस्तुतः प्रशिक्षात्मक विकास में अभिरुचि का क्रियात्मक महत्त्व यह है कि इसके कारण व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बालक, अपनी-अपनी विशिष्ट क्षमताओं की आवश्यकताओं तथा अधिमानों के आधार पर विचार करता है। जो 'अभिरुचि' के महत्त्व को समझता है, यह कभी नहीं मान सकता कि उन सभी बालकों के मन--केवल इसलिए कि वे एक ही अध्यापक से तथा एक ही पाठ्य-पुस्तक से शिक्षा ग्रहण करते हैं—एक ही रूप से कार्य करते हैं। एक ही साधन के विशिष्ट प्रभाव में, मनोवृत्तियां, दृष्टिकोण तथा प्रतिचार भिन्न होते हैं। यह प्रभाव भी भूतकाल के अनुभव, प्राकृतिक-क्षमता, जीवन-योजना आदि भिन्न होने के कारण, भिन्न-भिन्न होते हैं। लेकिन, अभिरुचि के तत्त्व, शिक्षा-दर्शन को, अनेक महत्त्वपूर्ण विचार प्रदान करते हैं। ठीक रूप से समझने पर ये हमें, भूतकाल के अप्रचलित दार्शनिक विचार, विषय-सामग्री तथा मन की गलत धारणाओं से बचाते हैं। ये धारणाएं आदेश तथा अनुशासन के कार्य पर अत्यन्त निरोधात्मक प्रभाव डालती हैं। साधारणतः मस्तिष्क संसार की ज्ञेय वस्तुओं तथा तथ्यों पर लगता है। इसे एकांत में स्थित एक वस्तु के रूप में समझा जाता है। मानसिक दशाएं तथा क्रियाएं स्वतन्त्र रूप से स्थित हैं। ज्ञान को, मस्तिष्क का ज्ञेय वस्तुओं पर बाह्य संप्रयोग, अथवा इस बाह्य विषय-सामग्री द्वारा मस्तिष्क पर अंकित छापों का परिणाम अथवा इन दोनों क्रियाओं के संयोग से समुत्पन्न वृत्ति के अर्थ में लिया जाता है। विषय-सामग्री को तब पूर्ण समझा जाता है। यह ज्ञेय वस्तु है। इसी की शिक्षा प्राप्त करनी है, वह चाहे मन के ऐच्छिक संप्रयोग द्वारा हो अथवा इनके द्वारा मस्तिष्क पर अंकित छापों द्वारा।

अभिरुचि-सम्बन्धी तथ्यों के ज्ञान से यह पता चलता है कि ये धारणाएँ काल्पनिक हैं। मन, अनुभव में वर्तमान उद्दीपनों के प्रतिचार की योग्यता के

रूप में प्रकट होता है। वस्तुएँ तथा ज्ञात विषय-सामग्री वही है, जिसका हमारे पूर्व-द्रष्ट कार्य-क्रम से सम्बन्ध है। वह इसकी सहायक भी होती है और बाधक भी। ये कथन इतने सविविक हैं कि सहज बोधगम्य नहीं हैं। निम्न उदाहरण उनके महत्त्व को स्पष्ट कर देगा।

मान लीजिए आप टाइपराइटर से लिख रहे हैं। यदि आपने पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ली है, तो आप द्वारा डाली गई आदत के अनुसार शारीरिक क्रिया परिचालित होती रहेगी तथा आपका मन विषय पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र रहेगा। अब कल्पना कीजिए कि आप कुशल नहीं हैं, अथवा यदि आप कुशल हैं भी, तो यन्त्र ठीक काम नहीं कर रहा है, तो आपको बुद्धि का उपयोग करना होगा। आप यन्त्र के बटनों को अप्रत्याशित रूप से दबाने की कभी भी इच्छा नहीं करते तथा उनके किसी अनिश्चित परिणाम को प्राप्त करना नहीं चाहते। आप कुछ शब्दों को एक सार्थक भाव व्यक्त करने के लिए विशेष क्रम से अंकित करना चाहते हैं। आपको यन्त्र के बटनों पर, जो अंकित कर चुके हैं उस पर, अपनी क्रियाओं पर तथा यन्त्र की क्रिया, सभी पर एक साथ ध्यान देना पड़ेगा। आपका ध्यान सभी अथवा किसी क्रिया-विशेष में निरपेक्ष तथा विविध रूपों में विभक्त नहीं होगा। यह आपके कार्य-व्यापार की प्रगति पर प्रभाव डालने वाले तत्त्वों पर केन्द्रित रहेगा। आपकी दृष्टि आगे की ओर होगी तथा प्रयोजन के वर्तमान तथ्यों पर ध्यान देना होगा, क्योंकि वे वांछित फल-प्राप्ति में सहायक हैं। आपको देखना होगा कि आपके साधन क्या हैं, कौन-कौन-सी दशाएँ आपके लिए उपलब्ध हैं तथा आपकी कठिनाइयाँ और बाधाएँ कौन-कौन-सी हैं। यह पूर्व-दृष्टि तथा इस पूर्वज्ञान से संबन्धित सिंहावलोकन ही मन का निर्माण करते हैं। वे क्रियाएँ, जिनमें इस प्रकार परिणाम का पूर्व-ज्ञान नहीं होता तथा जिनमें साधन तथा बाधाओं का परीक्षण नहीं होता, आदतों के अन्तर्गत भी नहीं आतीं ; अतएव अंधी होती हैं। किसी भी दशा में ये विचार पूर्ण नहीं हैं। मनोवांछित ध्येय का अस्पष्ट तथा अनिश्चित रहना, तथा इसकी प्राप्ति की परिस्थितियों के परीक्षण के प्रति उदासीन रहना, इसी के अनुपात में अविवेकशीलता अथवा आंशिक रूप से विवेकपूर्ण होना है।

यदि हम इस दशा पर भी विचार करें, जहाँ मन यंत्र के भौतिक प्रयोग से नहीं, बल्कि मनोवांछित लेखन से सम्बन्धित रहता है, तो परिणाम वही होगा। यहाँ क्रियाएँ एक क्रमागत प्रक्रिया के रूप में होंगी, अर्थात् प्रत्येक क्रिया एक विषय के विकास को ध्यान में रखकर चुनी जायगी। चूँकि व्यक्ति एक निश्चित

अनुच्छेद का टंकण करता है, अतः उसकी क्रिया विचारपूर्ण है। वह वर्तमान तथ्यों तथा भावों के विभिन्न निष्कर्षों की पूर्व-दृष्टि में सतर्क रहता है। साथ ही प्राप्य निष्कर्षों से सम्बन्धित विषय-सामग्री को ध्यान में रखने के लिए क्रमशः बार-बार निरीक्षण तथा अनुस्मरण करना पड़ता है। मनोवृत्ति का प्रयोजन यह देखना होता है कि क्या होने जा रहा है तथा उद्देश्य की प्राप्ति की ओर अभी तक के कार्यों से कहाँ तक पहुँच पाए हैं। यदि हम संभावित भावी परिणामों पर आधारित निर्देश को निकाल दें, तो वर्तमान व्यवहार में विवेक शेष न रह जायगा। उन परिस्थितियों की, जिन पर सफलता निर्भर करती है, यदि केवल कल्पना की जाय और उन पर ध्यान न दिया जाय, तो परिणाम आत्म-प्रवंचन होगा और यह विचार, व्यर्थ तथा निष्फल सिद्ध होगा।

यदि यह उदाहरण ठीक है, तो मन को अपने-आप में ही पूर्ण नहीं कहा जा सकता। यह किसी विवेक-पूर्वक निर्दिष्ट क्रिया-क्रम को दिया गया नाम है। इसमें उद्देश्यों तथा लक्ष्यों का विचार निहित है तथा यह क्रिया-क्रम, लक्ष्य-प्राप्ति के लिए चुने गए साधनों पर आधारित है। 'विवेक' एक विशिष्ट प्रकार का 'स्वत्व' नहीं है, जिसे व्यक्ति अपने पास रखता है, बल्कि कोई मनुष्य विवेकशील इसलिए है कि उसकी क्रियाओं में ऊपर कही गई विशेषताएँ हैं। वे क्रियाएँ जिनमें वह संलग्न है (चाहे वे विवेकपूर्ण हों या नहीं) पूर्ण रूप से उसकी सम्पत्ति नहीं हैं, बल्कि ये वे बातें हैं, जिनमें वह स्वयं हाथ बटाता अथवा संलग्न होता है। अन्य वस्तुएँ तथा दूसरी वस्तुओं के स्वतंत्र परिवर्तन और अन्य व्यक्ति भी इनमें सहयोग देते अथवा बाधा डालते हैं। व्यक्ति का कार्य, किसी घटना-चक्र में प्रारम्भिक हो सकता है, लेकिन प्रतिफल, उसके प्रतिचार तथा अन्य साधनों द्वारा प्रदान की गई शक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है। अगर हम मन को लक्ष्य-प्राप्ति में संलग्न अनेक तत्त्वों में से केवल एक तत्त्व के रूप में नहीं लेते हैं, तो हमारी धारणा निरर्थक सिद्ध होगी।

इस प्रकार प्रशिक्षण की समस्या यह है कि हम यह पता लगाएँ कि वे साधन क्या हैं, जो व्यक्ति को किसी ऐसी क्रिया-विशेष में संलग्न करेंगे, जिसका एक उद्देश्य होगा अथवा जिसका एक तात्कालिक लक्ष्य होगा, या जिसमें उसकी अभिरुचि होगी और जिसमें साधन, व्यायाम के उपादानों के रूप में कार्य न करके, उद्देश्य-प्राप्ति की आवश्यक दशाओं के रूप में होंगे। पूर्वकथित सर्वाधिक अनुशासन के सिद्धांत के दोषों को इसे 'विशिष्ट अनुशासन' के सिद्धांत का रूप देकर दूर नहीं किया जा सकता, बल्कि 'मन' के अर्थ तथा इसके प्रशिक्षण की प्रचलित

धारणा में परिष्कार करना होगा। इसका उपाय यह है कि खेल अथवा उपयोगी व्यवसाय के रूप में ऐसी क्रियाओं की खोज की जाय, जिनमें बालक की अभिरुचि हो, जिसके प्रतिफल में उसका प्रयोजन निहित हो तथा जिन्हें बिना विचार किए और निरीक्षण तथा अनुस्मरण की सामग्री के प्रवरण में निर्णय का प्रयोग किए, नहीं किया जा सकता। संक्षेप में, मन के प्रशिक्षण की चिरप्रचलित धारणा के दोष का मूल यह है कि इस बात पर विचार नहीं किया गया कि वस्तुओं के भावी परिणामों की ओर प्रगति होती है ; इस क्रिया में व्यक्ति भाग लेता है और इसके निर्देश में निरीक्षण, कल्पना तथा स्मृति कार्य करती है। यह मन को अपने-आप में पूर्ण समझता है, जो वर्तमान सामग्री पर सीधे संप्रयुक्त होने के लिए तैयार रहता है।

ऐतिहासिक प्रयोग में इस भूल ने दो प्रकार से कार्य किया है। एक तो इसने परंपरागत अध्ययन तथा शिक्षा-विधियों पर पर्दा डालकर, उन्हें विचारपूर्ण आलोचना तथा संशोधन से बचाया है। 'अनुशासनिक' समझ कर इन पर विचार नहीं किया गया है। यह दिखा देना ही कि वे जीवन के किसी काम की नहीं हैं, अथवा 'आत्मा' के उपार्जन में सहायक नहीं होती हैं, पर्याप्त नहीं समझा गया। उनका अनुशासनिक होना ही प्रत्येक प्रश्न को रोक देता तथा प्रत्येक सन्देह को दबा देता था। यह विचार ही विवेकपूर्ण तर्क-वितर्क के क्षेत्र से अलग हटा दिया गया। इसकी अपनी प्रकृति ही ऐसी थी कि दोषारोपण को रोका न जा सका, अनुशासन को वास्तविक तथ्य के रूप में प्रस्तुत नहीं समझा जाता था, अतः बालक शिथिल संप्रयोग में बड़े होते थे और विवेकपूर्ण आत्मनिर्देश की शक्ति खो बैठते थे। दोष, अध्ययन अथवा शिक्षण-पद्धति का न होकर उन्हीं का होता था। उनकी असफलता ही इसका प्रमाण है कि उन्हें और अनुशासन की आवश्यकता है। अतः यह कहा गया कि इस अनुशासन को संभव बनाने के लिए प्राचीन विधियों को कायम रक्खा जाय। उत्तरदायित्व शिक्षक पर से हटा कर शिक्षार्थी के कंधों पर लाद दिया गया ; क्योंकि सामग्री का यथेष्ट परीक्षण नहीं किया गया। यह दिखाया जाना उचित नहीं समझा गया कि वे किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती हैं, अथवा किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक नहीं होतीं। इसका निर्माण सामान्य अनुशासन को ध्यान में रखकर किया गया था। यदि यह असफल होती थीं, तो इसका कारण यह समझा जाता था कि व्यक्ति स्वयं अनुशासित बनना नहीं चाहता।

दूसरी ओर यह भावना, अनुशासन को उपलब्धि की निर्णायक शक्ति के रूप

में न लेकर, निषेधात्मक समझती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, संकल्प का अर्थ भविष्य का विचार, संभाव्य प्रतिफलों का उपार्जन तथा कार्य करने की विधि के संभाव्य परिणामों की प्रत्यक्ष तथा व्यापक पूर्व-दृष्टि एवं पूर्व-द्रष्ट प्रतिफलों का ज्ञान है। जब मन को ऐसी शक्तियों से सम्पन्न समझा जाता है, जो वर्तमान सामग्री में संप्रयुक्त होती हैं, तब परिणाम यह होता है कि संकल्प अथवा प्रयत्न को केवल क्रिया-मात्र समझा जाता है। व्यक्ति-विशेष किसी कार्य में भाग ले भी सकता है और नहीं भी ले सकता है। विषय-सामग्री जितनी ही नीरस होगी, व्यक्ति की आदतों तथा अधिमानों से उसका उतना ही कम सम्बन्ध होगा और मन को उस पर लगाए जाने की उतनी ही अधिक माँग होगी, अतएव 'संकल्प शक्ति' का 'अनुशासन' भी उतना ही अधिक होगा। सामग्री पर इसलिए ध्यान देना कि व्यक्ति उस कार्य से सम्बन्धित है, उसमें उसकी अभिरुचि है, इस विचार से—'अनुशासित' नहीं समझा जाता, चाहे परिणाम सर्जना-शक्ति में वांछित वृद्धि ही क्यों न करे। केवल संप्रयोग के लिए संप्रयोग, अथवा प्रशिक्षण के लिए संप्रयोग ही, 'अनुशासनात्मक' है। विषय-सामग्री के मनोनुकूल न होने पर, अनुशासन के प्रादुर्भाव की अधिक सम्भावना है, क्योंकि तब अनुशासन के महत्त्व अथवा कर्तव्य-पालन के अतिरिक्त कोई दूसरा उद्देश्य नहीं होता। परिणाम, शाब्दिक रूप से एक अमरीकी व्यंग्यकार के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–"जब तक कि बालक स्वयं न चाहे, आपकी शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं होता।"

जिस प्रकार यह विचार 'मन को' लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वस्तुओं के प्रयोग को, क्रियाओं से अलग समझता है, उसी प्रकार दूसरा विचार, शिक्षा की विषय-सामग्री को पृथक् रूप से ग्रहण करता है। शिक्षा की परम्परागत योजना में, विषय-सामग्री, अध्ययन की जाने वाली वस्तु समझी जाती थी, अर्थात् यह समझा जाता था कि इतनी बातों का अध्ययन करना है। अध्ययन की अनेक शाखाओं की विभिन्न स्वतन्त्र शाखाएँ हैं। प्रत्येक के नियोजन-सिद्धान्त—अपने आप में पूर्ण हैं। इतिहास ऐसे तत्त्वों का एक समूह है, बीजगणित दूसरा, भूगोल तीसरा। इसी प्रकार पाठ्यक्रम के समस्त विषय निर्धारित होते हैं। इन विषयों की अपनी पूर्व-निश्चित स्थिति है। उनका मन से सम्बन्ध, उसी शिक्षा तक सीमित है, जो वे प्रदान करते हैं। परम्परागत अभ्यास भी इसी विचार के अनुकूल हैं। इसमें विद्यालय के वार्षिक, मासिक तथा दैनिक कार्य-क्रम में अध्ययन-सामग्री बँटी रहती है। इसमें प्रत्येक परस्पर पृथक् होती है तथा प्रत्येक को कम-से-कम शिक्षा के प्रयोजनार्थ अपने-आप में पूर्ण समझा जाता है।

आगे चल कर एक अध्याय में शिक्षा की विषय-सामग्री पर विचार किया गया है। यहाँ केवल परम्परागत सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जायगा कि बुद्धि, अभिरुचि के क्रियात्मक निर्देश को कार्यान्वित करने में, वस्तुओं द्वारा दिए गए सहयोग का अध्ययन करती है। व्यक्ति-विशेष, फल-प्राप्ति के लिए प्रयोग किए जाने पर उत्पन्न क्रिया के रूप में, टाइप-राइटर का अध्ययन करता है। यही प्रत्येक तथ्य अथवा सत्य के अध्ययन के लिए सही है। यह अध्ययन का, अर्थात् अन्वेषण तथा विचार का, विषय तब बनता है, जब यह उस घटना-चक्र को पूर्ण करने में 'हेतु' बनता है, जिसमें व्यक्ति संलग्न रहता है, अथवा जिसके परिणाम से वह प्रभावित होता है। संख्याएँ केवल संख्या होने के कारण, गणित के रूप में हमारे अध्ययन की विषय नहीं हैं; बल्कि इसलिए हैं कि वे उस विश्व के गुणों तथा सम्बन्धों को व्यक्त करती हैं, जिसमें हम कार्य करते हैं तथा वे वह हेतु हैं, जिन पर हमारे प्रयोजन की पूर्ति निर्भर है। इसीलिए हम उनका अध्ययन करते हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से कहने पर यह सूत्र-नियम अत्यन्त अमूर्त लग सकता है; किन्तु विस्तार करने पर इसका अर्थ होता है कि सीखने अथवा अध्ययन का कार्य, बालकों को अध्ययन के लिए केवल पाठ की मात्रा में, कृत्रिम तथा अप्रभावशील सिद्ध होता है। बालक अपनी सप्रयोजन क्रियाओं को फलवती बनाने में लगे रहने पर जितना ही संख्यात्मक सत्य का महत्त्व स्वीकार करता है, अध्ययन उतना ही प्रभावोत्पादक होता है। शिक्षा में अभिरुचि के वास्तविक सिद्धान्त का मुख्य तत्त्व यह है कि प्रत्येक वस्तु अथवा विषय का, सप्रयोजन-क्रिया की वृद्धि से उक्त प्रकार का निश्चित् सम्बन्ध होता है।

प्रस्तुत समस्या के कुछ सामाजिक पहलू

जहाँ कथित सैद्धान्तिक दोष विद्यालयों के कार्यों में व्यक्त होते हैं, वहीं विद्यालय स्वयं सामाजिक जीवन की दशाओं से उत्पन्न होते हैं। केवल शिक्षकों के सैद्धान्तिक विश्वासों के परिवर्तन-मात्र से ये दोष दूर न होंगे ; लेकिन इसके द्वारा सामाजिक दशाओं के परिष्कार के लिए अधिक प्रभावोत्पादक प्रयत्न अवश्य संभव हो सकेंगे। मनुष्यों की सांसारिक मूल मनोवृत्तियाँ, उनकी क्रियाओं की विशेषताओं तथा विस्तार के अनुसार, निर्मित होती हैं। अभिरुचि का आदर्श, कलात्मक मनोवृत्ति का स्वरूप निश्चित करता है। कला न केवल आन्तरिक है और न केवल वाह्य ; यह न केवल मानसिक ही है, न केवल भौतिक ही। प्रत्येक अन्य कार्य-व्यापार की तरह यह भी विश्व में परिवर्तन उपस्थित करती है। कुछ क्रियाओं द्वारा उत्पन्न ये परिवर्तन (ये क्रियाएँ यान्त्रिक कही जा सकती हैं) वाह्य होते हैं। वे केवल वस्तुओं के स्थान-परिवर्तन तक सीमित हैं। इनके द्वारा विवेक अथवा संवेगों में कोई वृद्धि नहीं होती। इनका विचारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्य क्रियाएँ जीवन-निर्वाह में सहायक सिद्ध होती हैं। साथ ही ये जीवन के वाह्य अलंकरण तथा प्रदर्शनों पर भी प्रभाव डालती हैं। हमारी अनेक वर्तमान सामाजिक, औद्योगिक तथा राजनैतिक क्रियाएँ, इन्हीं दोनों विभागों के अन्तर्गत आती हैं। न इनमें संलग्न व्यक्तियों में ही और न उन व्यक्तियों में, जिन पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, अपने कार्यों में पूर्ण तथा स्वतन्त्र अभिरुचि रखने की क्षमता होती है। या तो व्यक्ति-विशेष के किसी कार्य के करने में किसी विशेष प्रयोजन के न होने के कारण, अथवा इसके उद्देश्य का स्वरूप अत्यन्त संकुचित तथा बँधा होने के कारण, बुद्धि पूर्ण रूप से संलग्न नहीं हो पाती। वही दशाएँ अधिकांश लोगों को आत्म-परावर्तित होने के लिए विवश करती हैं। वे मनोभावों तथा कल्पनाओं की आन्तरिक क्रिया में शरण लेते हैं। उनमें सौन्दर्यानुभूति होती है, लेकिन कलात्मकता नहीं ; क्योंकि उनकी भावनाएँ तथा विचार, परिस्थितियों को परिवर्तित करने की विधि न

होकर, अपने ही ऊपर क्रिया करते हैं। उनका मानसिक जीवन, भाव-प्रधान हो जाता है। वे आन्तरिक दृश्यों का आनन्द लेते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान भी जीवन की कठिन परिस्थितियों से बचने के लिए एक शरण-स्थल है। यह केवल विश्व के साथ भविष्य में व्यवहार करने के लिए अपनी क्रियाओं को पुनर्नियोजित तथा व्यवस्थित करने के लिए किया गया एक अस्थाई अथवा सामयिक पलायन नहीं है। कला शब्द ही वस्तुओं में विशिष्ट परिवर्तन करने तथा उन्हें मन के लिए अधिक महत्वपूर्ण बनाने के बजाय, भावनात्मक क्रियाओं तथा मनमौजी कल्पनाओं के उद्दीपन से सम्बन्धित हो जाता है। व्यावहारिक व्यक्तियों तथा सैद्धान्तिक अथवा सांस्कृतिक व्यक्तियों का पारस्परिक विरोध तथा बिलगाव और ललितकला का, औद्योगिक कला से पृथक् किया जाना, इस दशा का परिचायक है। इस प्रकार अभिरुचि तथा मन को या तो संकुचित बना दिया जाता है, अथवा विकृत कर दिया जाता है। पहले के एक अध्याय में कहे गए, क्षमता तथा संस्कृति के एकांगी अर्थ की तुलना कीजिए।

जब तक समाज अवकाशोपभोगी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग में विभक्त रहेगा, इस दशा का होना अवश्यंभावी है। वस्तुओं के साथ निष्प्रयुक्त रूप से कार्य करते-करते, बुद्धि कुंठित हो जाती है तथा व्यवसाय के अनुशासन से मुक्त मनुष्यों की बुद्धि विलासप्रिय तथा मृदु हो जाती है। साथ ही अधिकांश लोगों को अभी आर्थिक स्वतन्त्रता भी नहीं प्राप्त है। उनके क्रिया-कलाप परिस्थितियों की मांग तथा संयोगों से नियंत्रित होते हैं। वे वातावरण की आवश्यकताओं तथा साधनों से प्रतिक्रिया करने वाली, उनकी अपनी ही शक्तियों के स्वाभाविक प्रकट रूप नहीं हैं। हमारी आर्थिक दशाओं ने अधिकांश मनुष्यों को दास बना रक्खा है। परिणाम-स्वरूप व्यावहारिक परिस्थितियों से नियन्त्रित व्यक्तियों की बुद्धि, स्वतन्त्र नहीं है। मानवीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विश्व को वशीभूत करने में स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील होने के बजाय, यह दूसरे मनुष्यों की उद्देश्य-प्राप्ति में लगी रहती है। दूसरों के उद्देश्य, जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक हैं, वे अमानवीय हैं।

यह दशा हमारी ऐतिहासिक प्रशिक्षात्मक परम्परा की बहुत-सी बातों की विवेचना करने में सहायक है। यह विद्यालय-प्रणाली के विभिन्न अंगों में व्यक्त उद्देश्यों के विरोध, प्राथमिक शिक्षा के संकुचित उपयोगितावादी स्वरूप तथा उच्चतम शिक्षा के संकुचित रूप से अनुशासनिक अथवा सांस्कृतिक होने पर प्रकाश डालती है। इसी कारण, जब तक ज्ञान सिद्धान्त-प्रधान, शास्त्रीय, अव्यावहारिक

तथा व्यावसायिक रूप से विशिष्टता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक बौद्धिक बातों को पृथक् रखने की मनोवृत्ति देखी जाती है। और इसी कारण यह अत्यन्त प्रचलित विश्वास बन गया है कि उदार-शिक्षा, जीवन के विभिन्न व्यवसायों के लिए महत्त्वपूर्ण शिक्षा की विरोधी है।

लेकिन यह वर्तमान शिक्षा की विशिष्ट समस्या का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक होती है। विद्यालय पूर्वकालीन सामाजिक दशा के आदर्शों से शीघ्र छुटकारा नहीं पा सकता। किन्तु, इसे मानसिक तथा संवेगात्मक संस्कारों के निर्माण द्वारा उन दशाओं का सुधार करना चाहिए। यहीं अभिरुचि तथा अनुशासन का सब से अधिक महत्त्व है। वे व्यक्ति ही अव्यावहारिक, शास्त्रीय तथा एकांतिक ज्ञान और कठिन, संकुचित तथा व्यावहारिक अभ्यास की द्विविधा से छुटकारा पा सकते हैं, जिनकी सप्रयोजन व्यवसायों में (चाहे स्कूल में अथवा कार्य-क्षेत्र में) वस्तुओं तथा तथ्यों का प्रयोग करते-करते, अभिरुचि विकसित तथा बुद्धि प्रशिक्षित हो चुकी है। सामाजिक दशा के सुधार के लिए आवश्यक है कि शिक्षा को इस प्रकार संगठित किया जाय कि कोई कार्य करने में प्राकृतिक क्रियाशील प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप से सहयोग हो, तथा इस पर भी ध्यान दिया जाय कि कार्य करने के लिए, परीक्षण, ज्ञानार्जन, तथा सर्जनात्मक कल्पना की भी आवश्यकता पड़ती है। बिना बुद्धि के उपयोग के बाह्य कार्यों में कुशलता उत्पन्न करने वाले शारीरिक व्यायामों तथा ज्ञान को अपने-आप में ही पूर्ण समझ कर, मानसिक ज्ञान-भण्डार की वृद्धि करने की विचारधाराओं को अनिश्चित रूप से स्वीकार कर लेना, समाज की वर्तमान दशा को अन्तिम समझ लेना है। इसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य उसी को बनाए रखना हो जाता है। यदि शिक्षा को यह स्वीकार किया जाय, कि प्रशिक्षण सप्रयोजन क्रियाओं को पूर्ण करने से उत्पन्न होता है, तो प्रगति अत्यन्त मन्द होगी। इस रूप में शिक्षा केवल आंशिक रूप से ही प्राप्त की जा सकती है। एक बार में हम केवल एक ही सीढ़ी चढ़ सकते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम नाम-मात्र के लिए एक शिक्षा-दर्शन को मान्यता दें और अभ्यास में अपने को किसी दूसरे के साथ लगा दें। यह पुनर्संगठन के कार्य को साहसपूर्वक समझने तथा दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित करने का आह्वान है।

अध्याय का सारांश

अभिरुचि तथा अनुशासन सोद्देश्य क्रिया के परस्पर सम्बन्धी अवयव हैं। अभिरुचि का अर्थ है कि व्यक्ति उन वस्तुओं से तादात्म्य स्थापित करता है,

जो उसकी क्रिया के स्वरूप को निश्चित करतीं तथा उसके उद्देश्य की प्राप्ति में साधक अथवा बाधक के रूप में आती हैं। किसी भी सोद्देश्य क्रिया में पूर्वकालिक अपूर्ण अवस्था तथा भावी पूर्ण-दशा के अन्तर का ज्ञान निहित रहता है। इसमें अनेक माध्यमिक सोपान भी होते हैं। अभिरुचि होने का अर्थ है कि वस्तुएँ पृथक्-पृथक् न रह कर, इस प्रकार के क्रमागत विकास के रूप में प्रयुक्त हों। कार्य की वर्तमान अपूर्व दशा तथा वांछित कार्य-पूर्ति के बीच का समयांतर, परिवर्तन के प्रयत्न को सुनियंत्रित करता है। इसके लिए सतत ध्यान तथा दृढ़ता की आवश्यकता है। इसी मनोवृत्ति का व्यावहारिक रूप संकल्प है। अनुशासन अथवा सतत ध्यान देने की शक्ति का विकास इसका फल है।

शिक्षा-सिद्धान्त में इस विचारधारा का दुहरा महत्त्व है। एक ओर तो यह हमें इस दूषित धारणा से बचाती है कि मन तथा मानसिक स्थितियाँ अपने-आप में पूर्ण हैं, जो ज्ञान की उत्पत्ति के लिए, प्राप्त वस्तुओं तथा विषयों पर संप्रयुक्त होती हैं। इससे प्रकट होता है कि मन और किसी क्रिया-क्रम में विवेकपूर्ण अथवा सप्रयोजन संलग्नता अनुरूप हैं ; अतएव मन को विकसित तथा प्रशिक्षित करना, ऐसे वातावरण की सृष्टि करना है, जो इस क्रिया को कार्य-संलग्न करे। दूसरी ओर यह हमें इस विचार से बचाती है कि विषय-सामग्री अपन-आप में कोई पृथक् वस्तु तथा क्रिया से स्वतन्त्र है—यह स्पष्ट कर देती है कि किसी क्रमागत ऐच्छिक सोद्देश्य क्रिया-क्रम में साधन अथवा बाधा के रूप में आने वाली वस्तुएँ, विचार तथा सिद्धान्त ही, अध्ययन की विषय-सामग्री हैं। विकासमान क्रिया-क्रम, जिसकी अवस्थाएँ तथा परिणाम ज्ञात होते हैं, एक ओर स्वतन्त्र मन और दूसरी ओर वस्तु अथवा तथ्य-जगत् समझे जाने वाले, दोनों भावों का संयुक्त रूप हैं।

११

अनुभव तथा विचार

अनुभव का स्वरूप

अनुभव के स्वरूप को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसमें क्रियाशील तत्त्वों तथा स्थिर तत्त्वों का विलक्षण संयोग है। क्रियाशील अंश में अनुभव प्रयत्न है—जिसका निकटवर्ती शब्द 'प्रयोग' है—और स्थिर अवयव 'परिवर्तन' है। जब हम किसी वस्तु का अनुभव करते हैं, तब हम उस पर क्रिया करते हैं, और उसका परिणाम हमारे ऊपर प्रभाव डालता है, फलस्वरूप हममें एक परिवर्तन होता है। हम वस्तु के प्रति कुछ क्रिया करते हैं और बदले में उसकी भी हमारे ऊपर प्रतिक्रिया होती है। यही वह विलक्षण योग है। इन्हीं दोनों अवयवों का सम्बन्ध अनुभव के महत्त्व अथवा सफलता का मापदण्ड है। क्रियामात्र ही अनुभव नहीं है। यह केन्द्रापसारी, विकीरक तथा विकेन्द्रक होता है। प्रयत्न के रूप में अनुभव एक परिवर्तन उत्पन्न करता है ; लेकिन यदि इसका, विनिमय में प्राप्त फलों से सचेतन सम्बन्ध न हो, तो परिवर्तन एक अर्थहीन संक्रमण-मात्र होगा। जब क्रिया परिणाम उत्पन्न करती है और जब क्रिया द्वारा उद्भूत परिवर्तन, हम में परिवर्तन उत्पन्न करता है, तब 'प्रवाह' महत्त्व ग्रहण कर लेता है। हम कुछ सीख जाते हैं। बालक का आग की लपट में उँगली डाल देना मात्र, क्रिया नहीं है। जब क्रिया का, बालक की उँगली में होने वाली जलन तथा पीड़ा से सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब यह अनुभव बन जाता है। उँगली का लपट में पड़ना, जलना मात्र है। यदि इसका ज्ञान न हो कि, यह किसी अन्य क्रिया का परिणाम है, तो यह लकड़ी के जलने की तरह एक भौतिक परिवर्तन मात्र होगा।

अंधी तथा चंचल मनोवृत्तियाँ शीघ्रतापूर्वक एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर जाती रहती हैं। इस क्रिया में प्रत्येक वस्तु अस्पष्ट होती है। इससे कोई ऐसा विकास नहीं होता, जिसे अनुभव कहा जा सके। दूसरी ओर बहुत-सी ऐसी घटनाएँ सुख-दुख के रूप में होती हैं, जिनका हम अपनी पूर्व क्रियाओं से सम्बन्ध नहीं स्थापित करते। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, वे सांयोगिक घटनाएँ मात्र हैं। ऐसे अनुभवों का पूर्व अथवा पश्चात् से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता, न कोई

दृष्टिकोण होता है, न कोई पुनर्स्मरण ही ; अतएव इनका कोई विशिष्ट अर्थ भी नहीं होता। हमें कोई ऐसी उपलब्धि नहीं होती, जो भावी घटनाओं की पूर्व-दृष्टि में सहायक हो, न भावी परिस्थिति के समायोजन की योग्यता में लाभ होता है और न नियंत्रण में ही कोई वृद्धि। केवल कहने के लिए ही इसे अनुभव कहा जा सकता है। 'अनुभव से ज्ञान' प्राप्त करने का अर्थ वस्तुओं के प्रति की गई क्रिया तथा परिणाम-स्वरूप सुखी अथवा दुखी होने में पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करने की क्रिया है। ऐसी परिस्थितियों में कार्य करने का अर्थ प्रयत्न करना, अर्थात् विश्व पर उसका स्वरूप ज्ञात करने के लिए 'प्रयोग' करना है। परिवर्तन, शिक्षा अर्थात वस्तुओं के सम्बन्ध के अन्वेषण का रूप धारण कर लेता है।

इससे शिक्षा के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं : १—अनुभव प्रथमतः एक क्रियाशील-निष्क्रिय कार्य-व्यापार है। यह मौलिक रूप से ज्ञान नहीं है ; किन्तु (२) अनुभव के मूल्य की माप, उन सम्बन्धों अथवा क्रमों के ज्ञान में निहित है, जिनकी ओर यह ले जाता है। यह वहीं तक ज्ञान है, जहाँ तक संचय है, अथवा कोई वस्तु है, अर्थात् जहाँ तक इसका कुछ अर्थ है। विद्यालयों में, शिक्षार्थियों को अत्यधिक परम्परागत अर्थों में सैद्धान्तिक द्रष्टा के रूप में ज्ञान ग्रहण करता हुआ समझा जाता है। व्यक्तियों के मन को बुद्धि की शक्ति के सीधे प्रयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना जाता है। 'शिष्य' शब्द का अर्थ ही, सफल अनुभव की प्राप्ति में संलग्न व्यक्ति नहीं ; बल्कि सीधे ज्ञान को आत्मसात करने वाला हो गया है। मन अथवा चेतना को, क्रिया के भौतिक अंगों से पृथक् कर लिया जाता है। मन को शुद्ध रूप से बौद्धिक अथवा ज्ञानात्मक समझा जाता है, तथा अंगों को व्यर्थ हस्तक्षेप करने वाला भौतिक अवयव क्रिया और उसके परिणाम-स्वरूप परिवर्तन में—जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है—स्थित घनिष्ठ एकता भंग हो जाती है। बदले में हम दो चीजें पाते हैं, एक ओर केवल शारीरिक क्रियाएँ और दूसरी ओर आत्मिक क्रिया द्वारा सीधे अर्थ का ज्ञान।

'मन' तथा 'शरीर' के इस द्वैतवाद के दूषित परिणामों को ठीक-ठीक स्पष्ट करना यहाँ संभव नहीं। उनके वर्णन में जो कुछ कहा जाय कम है। अधिक महत्त्वपूर्ण परिणामों में से कुछ जो विशिष्ट हैं, यहाँ गिनाए जा सकते हैं—(अ) आंशिक रूप से शारीरिक क्रियाएँ केवल हस्तक्षेप करने वाली समझी जाती हैं। इनका मानसिक क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए ये केवल ध्यान को भंग करने वाली समझी जाती हैं। यह ऐसा दोष है, जिसे स्वीकार करके संतोष करना पड़ता है। चूँकि शिष्य शरीरधारी होता है ; अतः विद्यालय में मन के साथ

शरीर भी लेकर आता है। और शरीर शक्ति का स्रोत है, इसके भी कुछ कार्य हैं; लेकिन इसकी क्रियाएँ, वस्तु-व्यवसाय में महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करने वाली न होने के कारण, हेय समझी जाती हैं। वे शिष्यों को उस पाठ से दूर करती हैं, जिसमें उसके मन को संलग्न रहना चाहिए। वे शरारतों की कारण होती हैं। विद्यालयों में 'अनुशासन की समस्या' का मुख्य कारण यह है कि अध्यापक को अधिकांश समय प्राय: शारीरिक क्रियाओं को दबाने में व्यय करना पड़ता है; क्योंकि वे मन को अध्ययन-सामग्री से दूसरी ओर खींचती हैं। भौतिक शान्ति के लिए, अर्थात् चुप रहने, उठने-बैठने तथा व्यवहार की स्थाई अनुरूपता तथा सचेष्ट अभिरुचि के मनोभावों के यान्त्रिक उद्दीपन के लिए पारितोषिक दिया जाता है। अध्यापक का कार्य, बालक को इन अंशों की पूर्ति के लिए उत्प्रेरित करना है। अगर वे इस पथ से हटते हैं, तो उन्हें दण्ड दिया जाता है।

अध्यापक तथा विद्यार्थियों में उत्पन्न स्नायु-शिथिलता तथा थकान का कारण, शारीरिक क्रिया को अर्थ-ज्ञान से पृथक् करने की अस्वाभाविक स्थिति है। असंवेद्य उदासीनता तथा थकान के दौरे बारी-बारी से आते हैं। बालक की उपेक्षित शारीरिक शक्ति, क्रिया के व्यवस्थित मार्ग को न पाने के कारण, क्या तथा कैसे का ज्ञान खोते हुए, अर्थहीन उद्दंडता के रूप में फूट निकलती है अथवा निरर्थक बेवकूफी के रूप में व्यक्त होती है। ये दोनों ही व्यापार सहज बाल-क्रीड़ाओं से अत्यन्त भिन्न हैं। शारीरिक रूप से क्रियाशील बालक, अशांत तथा उच्छृंखल बन जाते हैं। अधिक निष्क्रिय अथवा कथित नैतिक या धर्मपरायण बालक अपनी शक्तियों को विधेयात्मक रूप से सृजनात्मक योजना बनाने तथा उसके निष्पादन में लगाने के बजाय, निषेधात्मक रूप से मूल प्रवृत्तियों तथा क्रियाशील स्वाभाविक मनोवृत्तियों के दमन में लगाते हैं। इस प्रकार उन्हें, शारीरिक शक्तियों के महत्त्वपूर्ण तथा उचित प्रयोग के उत्तरदायित्व की शिक्षा नहीं मिलती, बल्कि उन्हें स्वतंत्र रूप से कार्य करने से रोकने के कर्तव्य की शिक्षा मिलती है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यूनानी शिक्षा की असाधारण सफलताओं का कारण यह था कि यह गलत धारणाओं के आधार पर किए गए मन तथा शरीर के अलगाव के भ्रम में नहीं पड़ी। (ब) मन के संप्रयोग द्वारा सीखे जाने वाले पाठों में भी, कुछ शारीरिक क्रियाओं का प्रयोग करना ही पड़ता है। पुस्तक, मानचित्र, श्यामपट तथा शिक्षक के कथन का अर्थ ग्रहण करने के लिए, इन्द्रियों का—विशेष रूप से आँख और कान का—प्रयोग करना ही पड़ता है। होठों तथा वाक्-अंगों एवं हाथों का उपयोग, संचित अनुभव को वाणी या लेख के रूप में पुनः व्यक्त करने

के लिए करना ही होगा। इन्द्रियों को ऐसी नलिकाओं के रूप में लिया जाता है, जिनमें होकर वाह्यजगत् से सूचना, संक्रमित होकर 'मन' तक पहुँचती है। उन्हें ज्ञान का द्वार या झरोखा कहा गया है। आँखों को पुस्तक पर तथा कानों को अध्यापक के शब्दों की ओर लगाए रहना, मानसिक ज्ञान का रहस्यमय साधन है। कुछ भी हो, पढ़ने लिखने तथा चित्र खींचने में (जो कि विद्यालय के मुख्य कला-विषय हैं) मांसपेशियों तथा तंतुओं के प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। आन्तरिक ज्ञान के व्यतिकरण में पुनः बाहर लाने के लिए, नलिकाओं के रूप में कार्य करने के लिए, उसी प्रकार आँख, हाथ तथा वाक्-अंगों के तन्तुओं को प्रशिक्षित करना पड़ता है ; क्योंकि मांसपेशियों के एक ही विधि से बार-बार प्रयोग करने पर उनमें पुनरुक्ति की यान्त्रिक गति स्थाई रूप से आ जाती है ।

प्रकट परिणाम यह होता है कि शारीरिक क्रियाएँ, जिन्हें कुछ-न-कुछ कार्य में लाना ही पड़ता है, यान्त्रिक रूप से प्रयोग में आती हैं, यद्यपि मानसिक क्रिया में शरीर साधारणतः बाधक होता है और विघ्न डालता रहता है ; क्योंकि इन्द्रियाँ तथा मांसपेशियाँ प्रशिक्षात्मक अनुभव की प्राप्ति में आंगिक कार्यकर्ता के रूप में नहीं प्रयुक्त होतीं ; बल्कि मन के वाह्य प्रवेश-द्वार तथा निकास-द्वार के रूप में व्यवहृत होती हैं। विद्यालय में जाने से पूर्व, बालक अपने हाथ, आँख तथा कान आदि से शिक्षा ग्रहण करता है ; क्योंकि वे उस प्रक्रिया के अंग हैं, जिनके द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है। पतंग उड़ाते समय बालक को अपनी दृष्टि पतंग पर रखनी पड़ती है तथा हाथ पर धागे के विभिन्न दबावों पर ध्यान देना होता है। उसकी इन्द्रियाँ ज्ञान के झरोखे इसलिए नहीं हैं कि वाह्य तथ्य तथा किसी प्रकार 'मस्तिष्क' तक पहुँच जाते हैं ; बल्कि इसलिए कि वे सप्रयोजन-क्रिया में प्रयुक्त होते हैं। देखी अथवा स्पर्श की गई वस्तुओं के गुण क्रिया पर प्रभाव डालते हैं और सतर्कतापूर्वक उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, अर्थात् उनका एक अर्थ होता है। लेकिन जब बालकों से, बिना अर्थ पर ध्यान दिए, पुनः लिखने अथवा पढ़ने के लिए शब्दों का रूप देखने में आँख का प्रयोग करने की आशा की जाती है, तो अर्जित प्रशिक्षण, केवल अलग से इन्द्रियों तथा मांसपेशियों का ही होता है। यह किसी कार्य का प्रयोजन से ऐसा पृथक्करण है, जिसके कारण वह यान्त्रिक बन जाता है। सामान्यतः अध्यापक बालकों को अभिव्यक्ति के साथ इस प्रकार पढ़ने का आदेश देते हैं कि विषय का अर्थ स्पष्ट हो जाय; लेकिन यदि उन्होंने मौलिक रूप से केवल संवेदना-जन्य चेष्टात्मक प्रक्रिया

ही, अर्थात् रूपों को पहचान कर—जिस ध्वनि के वे प्रतीक हैं उसे पुनः उत्पन्न करने की योग्यता—ऐसी विधियों से प्राप्त की गई होतीं, जिनमें अर्थ पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, तो केवल यान्त्रिक आदत का ही निर्माण हुआ होता और इसके द्वारा बाद को विवेकपूर्वक पढ़ना कठिन हो जाता। वाक्-अंगों को पृथक् यान्त्रिक रूप से अपने-आप क्रिया करने का ही प्रशिक्षण प्राप्त है—अर्थ स्वेच्छापूर्वक उनसे बाँधा नहीं जा सकता। चित्रांकन, गाना तथा लिखना उसी प्रकार यान्त्रिक रूप से सिखाया जा सकता है; क्योंकि हम एक बार फिर कहते हैं कि कोई भी रूप, जो शारीरिक क्रिया को इस प्रकार संकुचित कर दे कि शरीर, मन अर्थात् अर्थ-ज्ञान से पृथक् हो जाय, यांत्रिक होगा। गणित की उच्च शाखाओं में भी, जब गणना की निपुणता पर अनावश्यक बल दिया जाता है और विज्ञान में, जब प्रयोगशाला की क्रियाएँ अपने ही लिए की जाती हैं, तो यही दोष आ जाता है।

२—बौद्धिक पक्ष में 'मन' का वस्तुओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय से पृथक्करण, आन्तरिक तथा वाह्य सम्बन्धों के मूल्य पर, वस्तुओं पर अधिक बल देता है। 'प्रत्ययों' तथा 'भावों' को भी 'निर्णय' से पृथक् करना तो अत्यन्त साधारण बात है। 'निर्णय', 'प्रत्यक्ष' तथा 'भावों' के बाद उनकी तुलना से उत्पन्न होता है। ऐसा निश्चित रूप से कहा जाता है कि 'मन', सम्बन्धों से परे वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करता है; अर्थात् वह उनके सम्बन्धों (पहले आने वाली तथा बाद में आने वाली वस्तुओं के) से पृथक् उनके 'भावों' का निर्माण करता है। उसके बाद, उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध अथवा समानता को अभिव्यक्ति प्रदान करने के हेतु, निर्णय अथवा विचार, 'ज्ञान' के पृथक् विषयों को जोड़ता है। वास्तव में प्रत्येक भाव तथा प्रत्येक मानस-प्रत्यक्ष, किसी वस्तु के उपयोग, कारण, रूप आदि की भावना है। हम वास्तव में कुर्सी का ज्ञान नहीं प्राप्त करते अथवा उसके पृथक् गुणों का अन्वेषण तथा परिगणन कर उसका भाव नहीं ग्रहण करते; बल्कि इन गुणों का प्रयोजन से, जिसके कारण कुर्सी, कुर्सी है, मेज नहीं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अथवा इसका अन्य कुर्सियों के प्रकारों से अन्तर स्पष्ट करते हैं, अथवा यह जिस 'काल' विशेष का प्रतिनिधित्व करती है, उससे इसके गुणों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किसी गाड़ी के भागों के योग-मात्र से, गाड़ी का स्वरूप नहीं स्पष्ट होता; बल्कि इन भागों के विशिष्ट सम्बन्ध के कारण ही गाड़ी का निर्माण होता है। यह सम्बन्ध, केवल भौतिक संस्थिति-मात्र नहीं है, इसका सम्बन्ध उन जानवरों से भी है, जो इसे खींचते हैं

तथा उन वस्तुओं से है, जो इस पर ढोई जाती हैं और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं से भी। निर्णय, प्रत्यक्षीकरण में भी कार्य करता है, अन्यथा मानस-प्रत्यक्ष, केवल संवेदनात्मक उत्तेजना मात्र अथवा जैसा कि परिचित वस्तुओं के विषय में होता है, पहले के निर्णयों की प्रत्यभिज्ञा-मात्र रह जायगा।

शब्द, जो कि भावों के लिए झरोखे हैं, प्रायः भावों के लिए व्यवहार में लाए जाते हैं। मानसिक-क्रिया को विश्व के सक्रिय सम्बन्ध से, कोई कार्य करने से और कार्य को परिवर्तित वस्तुओं से सम्बद्ध करने से, जैसे-जैसे पृथक् करते जाते हैं, शब्द तथा संकेत वैसे-वैसे भावों का स्थान ग्रहण करते जाते हैं। चूँकि इसमें किसी-न-किसी अर्थ की प्रत्यभिज्ञा होती है, यह प्रतिस्थापना अत्यन्त सूक्ष्म होती है। लेकिन, हम बड़ी सरलता से, न्यूनतम अर्थ से सन्तुष्ट हो रहना तथा यह जानने में असफल होना कि महत्त्व प्रदान करने वाले सम्बन्धों का हमारा प्रत्यक्षीकरण कितना सीमित है, सीख जाते हैं। हम एक प्रकार के अर्ध-प्रत्यक्ष कृत्रिम भाव के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें इस बात का ज्ञान नहीं रह जाता कि हमारा मानसिक कार्य कितना अर्ध-मृत है तथा यदि हम 'भावों' का निर्माण ऐसे सजीव अनुभव की परिस्थितियों में करते, जिनमें हमें निर्णय का प्रयोग करना पड़े, अर्थात् वस्तुओं का सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़े, तो हमारे पर्यवेक्षण तथा 'भाव' अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत होंगे।

इस सिद्धान्त के बारे में लोगों में मतभेद नहीं है। सभी यह स्वीकार करते हैं, चूँकि सम्बन्धों का यह विवेक वास्तविक रूप से बौद्धिक होता है, इसीलिए प्रशिक्षात्मक विषय है। यदि यह कल्पना की जाय कि बिना अनुभव के भी, अर्थात् उस सामूहिक प्रयत्न तथा परिवर्तन के बिना, जिसके बारे में हम कह चुके हैं, सम्बन्धों का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, तो परिणाम असफलता होगा। यह मान लिया जाता है कि 'मन' यदि ध्यान दे, तो उन्हें समझ सकता है तथा यह ध्यान स्वेच्छा से परिस्थितियों की उपेक्षा करके दिया जा सकता है। इसीलिए अर्द्ध-पर्यवेक्षणों, शाब्दिक भावों, प्लावन तथा अर्द्ध-अनुभूत ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिससे विश्व की आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत अधिक सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा थोड़ा भी अनुभव इसलिए अच्छा समझा जाता है कि केवल अनुभव में ही किसी सिद्धान्त के जीवन्त महत्त्व की पुष्टि होती है। अनुभव (छोटा अनुभव भी) सिद्धान्त की (बौद्धिक अन्तर्वस्तु) किसी भी मात्रा का प्रजनन कर सकता है, अथवा अपने में धारण कर सकता है; लेकिन अनुभव से पृथक् कोई भी सिद्धान्त, सिद्धान्त के रूप में भी नहीं समझा जा सकता।

यह केवल शाब्दिक सूत्र, विचार अथवा वास्तविक परिकल्पना संभव करने के संकेत-से प्रतीत होते हैं, जो कि अनावश्यक तथा असंभव हैं। अपनी शिक्षा के कारण ही हम, प्रश्नों को हल करने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं, और ऐसा समझा जाता है कि ये ही भाव हैं। यह प्रश्नों को हल करना, प्रत्यक्षीकरण को इस प्रकार अस्पष्ट कर देता है कि हम इसमें निहित कठिनाई का अनुभव ही नहीं कर पाते।

अनुभव में चिन्तन

विचार अथवा चिन्तन, जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि व्यक्त रूप से नहीं, तो मौलिक रूप से, हम क्या करने का प्रयत्न करते हैं, और परिणाम क्या होता है, इन दो बातों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेक है। कोई भी अनुभव तब तक सार्थक नहीं माना जा सकता, जब तक उसके पीछे विचार का कोई-न-कोई तत्त्व न हो। हम चिन्तन की विभिन्न मात्रा के अनुसार दो अलग तरह के अनुभवों की भिन्नता दिखा सकते हैं। हमारे सभी अनुभवों में प्रयत्न का अंश होता है—मनोविज्ञान-शास्त्री इसे 'प्रयत्न और भूल' की विधि कहते हैं। हम कुछ करते हैं और जब असफल हो जाते हैं, तो दूसरा कुछ करते हैं, इस प्रकार तब तक प्रयत्न करते जाते हैं, जब तक किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती, जो हमें सफल बनाती है। तब हम उस विधि को बाद के कार्यों में, एक नियम के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। बहुत-से अनुभवों में इस 'प्रयत्न' और 'असफलता' अथवा सफल कार्य-प्रणाली के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। हम देखते हैं कि एक विशेष प्रकार की कार्य-विधि तथा कुछ निश्चित परिणामों में परस्पर सम्बन्ध होता है। लेकिन, हम यह नहीं देखते कि ये कैसे 'सम्बन्धित' हैं। हम सम्बन्ध की सूक्ष्मताओं को नहीं देखते और बीच की शृंखलाएँ अज्ञात रह जाती हैं। हमारा विवेक अत्यन्त अपरिष्कृत होता है। दूसरी दशाओं में हम, और अधिक पर्यवेक्षण करते हैं। हम विश्लेषण द्वारा यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि बीच में क्या है, जो उन्हें 'कारण-कार्य' और क्रिया तथा फल के रूप में सम्बद्ध करता है। इस अन्तर्दृष्टि का विस्तार, पूर्व-दृष्टि को अधिक परिशुद्ध तथा व्यापक बनाता है। प्रयत्न तथा भूल की विधि पर आधारित कार्य, परिस्थितियों के अधीन होता है। उनमें परिवर्तन हो जाने के कारण ऐसा भी हो सकता है कि किया जाने वाला कार्य, प्रत्याशित विधि से पूर्ण न हो सके। लेकिन यदि हम यह जानते हैं कि परिणाम किस बात पर निर्भर करता है, तो हम यह जानने का प्रयास कर सकते हैं कि आवश्यक परिस्थितियाँ वर्तमान

हैं या नहीं। यह विधि हमारे क्रियात्मक नियन्त्रण में वृद्धि करती है, क्योंकि यदि कुछ परिस्थितियाँ वर्तमान नहीं हैं और हम उनकी पूर्ति करने का प्रयत्न कर सकते हैं, अथवा यदि वे ऐसी हैं कि अवांछित परिणाम भी उत्पन्न करें, तो हम कतिपय व्यर्थ कारणों को हटा कर प्रयत्न में मितव्ययता ला सकते हैं।

अपनी क्रियाओं तथा उनके परिणामों के विस्तृत सम्बन्धों की खोज में अनुभव के निहित विचार व्यक्त हो जाते हैं। इसकी मात्रा बढ़ जाती है, अतएव इसका आपेक्षिक महत्त्व भी दूसरा हो जाता है, और इसीलिए अनुभव के गुण भी परिवर्तित हो जाते हैं। यह परिवर्तन इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि हम इस प्रकार के अनुभव को चिन्तनात्मक, या पूर्णरूपेण चिन्तनात्मक कह सकते हैं। स्वेच्छापूर्वक विचार के इस अंश का उपार्जन विचार-क्रिया को एक विशेष प्रकार के अनुभव का रूप दे देता है। विचार-क्रिया, दूसरे शब्दों में हमारी क्रियाओं तथा उनसे उद्भूत फलों के विशिष्ट सम्बन्धों के अन्वेषण का सचेष्ट प्रयत्न है, ताकि दोनों एक क्रम में आ जायें। उनका पृथक्करण तथा परिणाम-स्वरूप उनका आकस्मिक रूप से सहगामी होने की भावना का परित्याग कर दिया जाता है। उनके स्थान पर एक एकीकृत, विकासमान स्थिति की प्रतिष्ठा की जाती है। घटना को अब हम समझ लेते हैं और इसकी विवेचना हो जाती है। यह न्याय-संगत रूप से स्पष्ट हो जाता है कि कोई घटना उसी प्रकार से घटित होनी चाहिए, जिस प्रकार वह हो रही है।

विचार-क्रिया इस प्रकार अनुभव के विवेकपूर्ण तत्त्व के व्यक्त रूप की समानार्थी है। यह अनुभव की सोद्देश्य-क्रिया को संभव बनाती है। यह हमारे उद्देश्य रखने का आधार है। जैसे ही कोई शिशु 'आशा' करने लगता है, वह किसी वर्तमान घटना को भावी परिणाम के संकेत के रूप में उपयोग करता है। वह, कितना ही साधारण रूप में क्यों न हो, इस समय निर्णयकर्ता होता है। चूँकि वह किसी एक वस्तु को किसी अन्य वस्तु के प्रमाण के रूप में ग्रहण करता है, अतः उसे सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा होती है। कोई भी भावी विकास कितना ही विस्तृत क्यों न हो, अनुमान की इस साधारण-क्रिया का विस्तार तथा परिशोधन-मात्र है। बुद्धिमान-से-बुद्धिमान व्यक्ति, केवल घटित होती हुई घटनाओं का अधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म निरीक्षण भर कर सकता है, और अधिक सतर्कतापूर्वक उनमें से उन अवयवों को चुनता है, जो किसी भावी वस्तु की ओर संकेत करते हैं। विचारपूर्ण कार्य के विलोमार्थी कार्य, कार्यक्रम-निबद्ध, स्वच्छन्द कार्य हैं। कार्यक्रम-निबद्ध कार्य, परंपरागत कार्यों को पूर्ण रूप से

स्वीकार करते हैं तथा विशिष्ट कार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ध्यान नहीं देते। स्वच्छन्द अथवा मनमौजी कार्य, क्षणिक आचरण को ही महत्त्व का मापदण्ड मान लेते हैं तथा हमारे वैयक्तिक कार्य के वातावरण की शक्तियों के सम्बन्धों की उपेक्षा करते हैं। ये कहते हैं—"वस्तुओं का स्वरूप वही होता है, जैसा कि किसी क्षण-विशेष में हम उन्हें स्वीकार करते हैं।" और कार्य कहता है कि "जैसा कि हम अतीत काल से वस्तुओं को पाते आए हैं; उन्हें वैसा ही रहने दिया जाय।" और इस प्रकार दोनों ही वर्तमान कार्य से उत्पन्न होने वाले भावी परिणामों के लिए उत्तरदायी होना नहीं चाहते। चिन्तन, ऐसे ही उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है।

विचारने की किसी भी प्रक्रिया का आदि-बिन्दु कोई भी वर्तमान कार्य, अपनी अपूर्ण या असम्पन्न अवस्था में ही होता है। शाब्दिक रूप से इसका अर्थ, क्या होने जा रहा है अथवा इसका क्या परिणाम होगा, इसी में निहित है। यदि ऐसा लिखा हुआ है कि संसार युद्ध-रत सेनाओं के शोर-गुल से भरा हुआ है—इस युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले के लिए, यह स्पष्ट रहता है कि तात्कालिक क्षण की बात ही प्रधान-विषय है, वही इस या उस घटना का भावी परिणाम है, वह कम-से-कम उस क्षण के लिए प्रधान-विषय से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। घटने वाली घटनाओं पर ही उसका भाग्य निर्भर रहता है। लेकिन, एक निरपेक्ष देश के द्रष्टा के लिए भी, आगे उठाए गए हर कदम, भागने, आगे बढ़ने या पीछे हटने का महत्त्व, इसके परिणामों में निहित होता है। प्राप्त समाचारों पर 'विचार' करने का अर्थ, परिणाम के विषय में क्या संभव है अथवा क्या अनुमान लगाया जा सकता है, इस संकेत को समझने का प्रयत्न करना है। दिमाग को इधर-उधर की बीती-बिताई, ऊल-जलूल बातों से भर देना, विचार करना नहीं है। यह अपने को एक अंकन-यन्त्र के रूप में परिवर्तित कर देना है। वर्तमान घटना पर विचार करना, क्या हो सकता है; किन्तु जो अभी है नहीं, उस पर इसका क्या प्रभाव होगा, इसे जानने का प्रयत्न करना है। स्थान के अन्तर के बजाय, यदि समय की दूरी पर हम विचार करें, तो भी चिन्तनात्मक अनुभव भिन्न नहीं होगा। कल्पना कीजिए कि कोई आगे चल कर होने वाला इतिहासकार किसी बीते हुए युद्ध का वर्णन कर रहा है। हमारी परिकल्पना के आधार पर घटना भूतकाल की है; किन्तु यदि वह समय के क्रम को कायम न रक्खे, तो घटना का विवेकपूर्ण वर्णन नहीं कर सकता। प्रत्येक घटना का अर्थ, जैसा कि वह लेता है, उसका भविष्य

क्या था, इसी में निहित होता है, यद्यपि इतिहासकार के लिए यह भावी घटना नहीं है। इसे अपने-आप में एक पूर्ण स्थिति समझना, इसको अविचारपूर्ण ढंग से ग्रहण करना है।

चिन्तन में, विषय से प्रयोजन भी सम्बद्ध होता है। यह एक प्रकार का अपने भाग्य का घटनाओं के परिणाम के साथ, नाटकीय ढंग से ही सही, तादात्म्य स्थापित करना है। युद्ध में, सेनापति अथवा साधारण सैनिक या युद्ध-रत देशों के नागरिक के विचारों के लिए उद्दीपन, प्रत्यक्ष तथा आवश्यक होता है। निरपेक्ष जनों के लिए यह अप्रत्यक्ष तथा कल्पना पर निर्भर होता है। लेकिन, मानव-स्वभाव का प्रत्यक्ष पक्षपात इसका प्रमाण है कि हम एक संभावित घटना-क्रम के साथ तादात्म्य स्थापित करने की तथा दूसरे को अस्वीकृत कर देने की प्रबल मनोवृत्ति रखते हैं। यदि हम प्रत्यक्ष कार्य में कोई पक्ष नहीं ले सकते हैं, अपनी थोड़ी-बहुत शक्ति को अन्तिम परिणाम को निश्चित करने में नहीं लगा सकते हैं, तो हम संवेगात्मक रूप से पक्ष ग्रहण करते हैं। जो पूर्ण रूपेण परिणाम से उदासीन होते हैं, वे इस पर कुछ भी विचार नहीं करते कि क्या हो रहा है। वर्तमान घटना के परिणाम में भाग लेने के भाव पर विचार करने की क्रिया के निर्भर होने के कारण, विचार के एक मुख्य विरोधाभास का जन्म होता है। यद्यपि इसका जन्म ही पक्षपात में है; किन्तु अपना कार्य पूरा करने के लिए इसे एक प्रकार की पृथक् निष्पक्षता प्राप्त करनी होती है। वह सेनापति जो अपनी इच्छाओं तथा आशाओं के माध्यम से ही वर्तमान परिस्थिति का निरीक्षण करे तथा अर्थ लगाए, उसके विचार का परिणाम अवश्य ही भ्रान्तिपूर्ण तथा गलत होगा। यद्यपि आशाएँ तथा भय एक निरपेक्ष देश के द्रष्टा के लिए युद्ध को विचारपूर्ण ढंग से समझने के लिए मुख्य साधन हैं, फिर भी जहाँ तक उसके अपने अभिमान, उसके निरीक्षण तथा अनुमान के विषय को परिवर्तित कर देंगे, उसका विचार करना भी प्रभाव-हीन होगा। चिन्तन का अवसर तात्कालिक घटना में वैयक्तिक रूप से भाग लेने में है तथा चिन्तन का मूल्य अपने-आप को विषय से निरपेक्ष रखने में। इन दोनों तथ्यों को एक ही साथ स्वीकार करने में कोई असंगति नहीं है। यह निरपेक्षता प्राप्त करने की, लगभग दुर्लंघ्य बाधा, इस बात का प्रमाण है कि विचार-क्रिया का जन्म उन परिस्थितियों में होता है, जहाँ विचार-क्रम, घटना-क्रम का एक वास्तविक अंश होता है तथा उसके परिणाम पर प्रभाव डालता है। केवल धीरे-धीरे तथा सामाजिक सहानुभूतियों की उत्पत्ति के द्वारा दृष्टिकोण के विस्तृत होने के साथ-साथ ही विचार-क्रिया इतनी

विकसित होनी है कि अपनी अभिरुचि से परे की वस्तु को भी, अपने में समाविष्ट कर सके। यह तथ्य शिक्षा के लिए बड़े महत्त्व का है।

यह कहना कि विचार करने की क्रिया, उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में होती है, जो चल रही हो तथा अपूर्ण हों, प्रकट करता है कि 'विचार' तभी होता है, जब विषय अनिश्चित, संदेहात्मक तथा संभाव्य होते हैं। केवल वही निश्चित होता है, जो समाप्त हो गया होता है, या पूर्ण हो गया होता है। चिन्तन में सदैव असमंजस होता है। विचार का लक्ष्य किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता करना है; जो कुछ उपलब्ध हो, उसके आधार पर संभव इति की योजना बनाना है। इस विशेषता के साथ-ही-साथ अनेक अन्य तथ्य भी प्राप्त होते हैं। चूँकि वह परिस्थिति, जिसमें विचार होता है, संदेहात्मकता होती है। विचार की क्रिया में अन्वेषण, जाँच तथा वस्तुओं की गहराई में जाना होता है। अन्वेषण की क्रिया के लिए उपलब्धि सदैव निमित्त मात्र तथा गौण होती है। यह किसी ऐसी वस्तु की खोज करना है, जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। हम कभी-कभी ऐसा कहते हैं, जैसे "मौलिक अनुसंधान" केवल वैज्ञानिक अथवा कम-से-कम उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों का प्राधिकार है। लेकिन, प्रत्येक चिन्तन, अनुसंधान है तथा प्रत्येक अनुसंधान उस व्यक्ति के लिए, जो उसमें निमग्न होता है, आदिम तथा मौलिक ही होता है—चाहे संसार के अन्य सभी व्यक्ति उसके विषय में पहले से ही निश्चित क्यों न हों, जिसकी वह खोज कर रहा है।

इसका अर्थ यह हुआ कि चिन्तन में भय भी वर्तमान होता है। निश्चयात्मकता का आश्वासन पहले से ही नहीं दिया जा सकता। अज्ञात का आक्रमण एक साहसिक कार्य के रूप में होता है, जिसका हम पहले ही से निश्चय नहीं कर सकते। विचार के निष्कर्ष, जब तक घटनाओं द्वारा पुष्ट न किए जायें, प्रायः केवल प्रयोगात्मक तथा परिकल्पित ही होंगे। वास्तव में अन्धविश्वासी बन कर उनकी निश्चितता की बात कहना, न्याय-संगत नहीं है। यूनानियों ने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक यह प्रश्न उठाया था कि "हम सीख कैसे सकते हैं?" क्योंकि या तो हम जिसकी खोज में हैं, उसे पहले से ही जानते हैं, या फिर उसे नहीं जानते हैं, तब दोनों में से किसी भी दशा में सीखना संभव नहीं; पहले विकल्प में इसलिए कि हम पहले ही से जानते हैं और दूसरे में इसलिए कि हम यही नहीं जानते कि किस वस्तु की खोज कर रहे हैं। अकस्मात् पा जाने पर हम यह भी नहीं कह सकते कि यह वही वस्तु है, जिसकी हम खोज कर रहे थे। यह द्विविधा सीखने अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए कोई व्यवस्था नहीं करती; बल्कि यह

कल्पना कर लेती है कि या तो पूर्ण-ज्ञान संभव है, या पूर्ण अज्ञान। कुछ भी हो अनुसंधान अथवा विचार का यह अस्पष्ट रूप अवश्य ही होता है। यूनानी द्विविधा ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया था कि परिकल्पित निष्कर्ष, तथा प्रयोगात्मक परिणाम भी संभव हैं। इस परिस्थिति की आपत्तियों से यह संकेत अवश्य मिलता है कि द्विविधा से बचने का उपाय है—हम उनके आधार पर प्रयत्न करते हैं, या तो सफल होते हैं, उस दशा में हमें इसका ज्ञान है कि हम जिसकी खोज में थे, वह वस्तु प्राप्त हो गई है; अन्यथा स्थिति और भी अन्धकारमय तथा भ्रान्तिपूर्ण हो जाती है—उस दशा में हमें ज्ञात होता है कि हम अब भी अज्ञान में ही हैं। प्रयोगात्मक का अर्थ है प्रयत्नशील, अर्थात् अस्थाई रूप से अपनी विधि की परीक्षा करना। अपने-आप यूनानियों का तर्क, रूपात्मक न्याय का अत्यन्त सुन्दर अंग है। लेकिन, यह भी सत्य है कि जब ज्ञान तथा अज्ञान में पूर्ण पार्थक्य स्वीकार किया जायगा, तब विज्ञान का केवल मन्द तथा आकस्मिक विकास ही संभव होगा। आविष्कार तथा अनुसंधान की व्यवस्थित वृद्धि तभी प्रारंभ हुई, जब मनुष्यों को यह ज्ञात हुआ कि प्रशिक्षात्मक विचारों में, कार्य का पथ-प्रदर्शन करने के लिए परिकल्पनाएँ बनाकर, अनुसन्धान के प्रयोजनार्थ हम द्विविधा का उपयोग कर सकते हैं। इन प्रयोगात्मक विचारों का विकास, निर्देशक-परिकल्पना की पुष्टि कर सकता है, उसे असत्य सिद्ध कर सकता है अथवा परिष्कृत कर सकता है। यूनानियों ने ज्ञान को शिक्षा से अधिक समझा वर्तमान विज्ञान, प्राप्त ज्ञान को सीखने अथवा अनुसन्धान का साधन मानता है।

पहले लिए गए उदाहरण को फिर लीजिए। नेतृत्व करने वाला सेनापति, अपने कार्यों को पूरे निश्चय अथवा पूर्ण अज्ञान पर आधारित नहीं कर सकता। उसके पास सूचनाओं की एक निश्चित मात्रा होती है, जो हम सोचते हैं कि, न्याय-संगत तथा विश्वसनीय होती है। तत्पश्चात् वह संभव गति-विधि का अनुमान लगाता है और इस प्रकार प्राप्त दशाओं के तथ्य-मात्र को वह अर्थ प्रदान करता है। उसका अनुमान फिर भी लगभग संदिग्ध, अतएव परिकल्पना पर ही आधारित होता है। लेकिन वह इसके आधार पर कार्य को आगे बढ़ाता है। वह कार्य-विधि तथा परिस्थिति से निबटने की प्रणाली की योजना बनाता है। एक प्रकार से कार्य करने से सीधे जो परिणाम निकलते हैं, वे उसके चिन्तन का मूल्य व्यक्त करते हैं। जो कुछ वह पहले से जानता है, उसके सीखने में काम आता है और महत्त्व रखता है। लेकिन, क्या यही कथन निरपेक्ष देश के यथासाध्य चिन्तन के आधार पर घटना-क्रम को समझने वाले व्यक्ति के लिए

भी लागू होता है ? वाह्य रूप में तो संभव हो सकता है ; किन्तु अन्तर्वस्तुओं में नहीं । यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि वर्तमान तथ्यों द्वारा निर्देशित भावी घटनाओं के अनुमान, जिनके द्वारा वह असंबद्ध विषयों के समूह को अर्थ प्रदान करने की चेष्टा करता है, युद्ध में काम आने वाली विधि का आधार नहीं हो सकता। यह उसकी समस्या नहीं है ; किन्तु जहाँ तक यह सक्रिय रूप से विचार करता है, तथा केवल निष्क्रिय रूप से घटना-क्रम का अनुकरण नहीं करता, उसके प्रयोगात्मक अनुमान, उसकी परिस्थिति के लिए उपयुक्त कार्य-विधि के रूप में होंगे। वह कुछ भावी क्रियाओं की पूर्व-कल्पना कर सकता है तथा सतर्कता-पूर्वक देखेगा कि वैसा होता है या नहीं । जहाँ तक वह बौद्धिक रूप से सम्बन्धित है, अथवा चिन्तन-शील है, वह सक्रिय रूप से परिणाम की खोज में रहेगा, कुछ ऐसे कदम उठाएगा, जो यद्यपि वास्तविक युद्ध पर तो प्रभाव नहीं डालेंगे ; किन्तु उसकी भावी क्रियाओं को कुछ अंशों में अवश्य ही परिवर्तित करेंगे। अन्यथा, बाद में उसके यह कहने में कि " मैंने ऐसा कहा था न ! " कोई बौद्धिक विशेषता न रह जायगी—यह किसी पूर्व चिन्तन की परीक्षा अथवा पुष्टीकरण न करेगा ; बल्कि एक संवेगात्मक सन्तोष देने वाले आकस्मिक संयोग की ही अभिव्यक्ति करेगा—और यह एक बहुत बड़ा आत्म-प्रवंचन होगा ।

इस दशा की तुलना उस ज्योतिषी से की जा सकती है, जिसने वर्तमान तथ्यों के आधार पर एक भावी ग्रहण का अनुमान लगाया है, अथवा उसका पूर्वज्ञान प्राप्त किया है। यह संभावना चाहे जितनी गणित-पुष्ट क्यों न हो ; किन्तु अनुमान परिकल्पित ही है, अर्थात् संदिग्ध विषय-मात्र है[1]। पूर्व अनुमानित ग्रहण की तिथि तथा स्थिति की परिकल्पना, भावी आचरण की विधि का साधन बन जाती है। यन्त्र सुव्यवस्थित रूप से रख लिए जाते हैं ; संभवतः भूमंडल के किसी दूरस्थ भाग पर जाया जाता है। कुछ भी हो, कुछ ऐसे सक्रिय कदम उठाए जाते हैं, जो कतिपय भौतिक परिस्थितियों में वास्तविक परिवर्तन उपस्थित करते हैं। इस प्रकार उठाए गए कदमों तथा उनसे उत्पन्न परिस्थितियों के परिष्कार से परे, विचार-क्रिया की परिणति नहीं होती। यह स्थगित ही रह जाती है । ज्ञान

---

१ यह विज्ञान के लिए परमावश्यक है कि लोग, अनेक दशाओं की संभावना तथा संभाव्य अशुद्धियों का अनुमान लगा सकें ; किन्तु इससे वर्तमान कथन के तथ्यों में कोई परिवर्तन नहीं होता, बल्कि यह उन्हें अधिक सूक्ष्मरूप से परिष्कृत करता है ।

अथवा पूर्व प्राप्त ज्ञान, विचार-क्रिया पर नियंत्रण रखता तथा इसे फलवती बनाता है।

चिन्तनात्मक अनुभव के बारे में इतना कहा जा सकता है—(१) इनमें असमंजस, परिभ्रान्ति तथा द्विविधा होती है, क्योंकि व्यक्ति-विशेष एक ऐसी अपूर्ण स्थिति में होता है, जिसका पूरा स्वरूप निश्चित नहीं हो चुका होता। (२) ये काल्पनिक पूर्व-दृष्टि हैं, प्राप्त तत्वों का प्रयोगात्मक विवेचन हैं, जिन्हें कतिपय परिणामों पर प्रभाव डालने की विशेषता प्रदान की गई है। (३) ये संभाव्य परिणामों के ऐसे सतर्क सिंहावलोकन (परीक्षण, निरीक्षण, छान-बीन तथा विश्लेषण हैं) जो समस्या को निश्चित तथा स्पष्ट करने वाले हैं। (४) ये प्रयोगात्मक परिकल्पना को अधिक परिशुद्ध तथा संगत बनाने वाले प्रतिफल में प्राप्त विस्तृत विचार हैं ; क्योंकि ये तथ्यों के अधिक विस्तृत रूप से परिचित होते हैं। (५) ये व्यक्ति-विशेष की प्रस्तावित परिकल्पना को कार्य की योजना का स्वरूप प्रदान करते हैं, जो परिस्थिति की वर्तमान स्थिति पर लागू की जाती है, जिसके कारण पूर्व-द्रष्ट वांछित फल की प्राप्ति के लिए वह कुछ प्रकट कार्य करता है और इस प्रक्रिया में पूर्व-कल्पना की परीक्षा करता है। यह तीसरे या चौथे, उठाए गए कदमों की ऐसी सीमा तथा परिशुद्धि है, जो "प्रयत्न तथा भूल" के स्तर के ऊपर, एक विशिष्ट चिन्तनात्मक अनुभव का प्रतीक है। ये स्वयं 'विचार-क्रिया' को अनुभव के रूप में बदल देते हैं। कुछ भी हो, हम पूर्ण रूप से कभी भी 'प्रयत्न तथा भूल' की स्थिति के बाहर नहीं जा सकते। हमारे समस्त, अधिक विस्तृत तथा विवेकपूर्वक संगत विचारों को, संसार में प्रयुक्त होकर अपनी पुष्टि करने की आवश्यकता होती है। और चूँकि यह समस्त सम्बन्धों का प्रयोग कभी भी नहीं कर सकता ; अतः यह कभी भी पूर्ण शुद्धि के साथ सभी परिणामों को अपने अन्तर्गत नहीं ला सकता। फिर भी परिस्थितियों का विचारपूर्ण सिंहावलोकन इतना सतर्क होता है तथा परिणामों की पूर्व-कल्पना इतनी नियंत्रित होती है कि हमें चिन्तनात्मक अनुभव को, कार्य के 'प्रयत्न तथा भूल' के रूपों से पृथक्, विशेष स्थान देने का अधिकार है।

अध्याय का सारांश

अनुभव में विचार का स्थान निर्धारित करते समय हमने सर्व-प्रथम यह देखा कि अनुभव, कार्य करने अथवा प्रयत्न करने का किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध होता है, जो परिणाम-स्वरूप परिवर्तित होती है। यदि हम क्रियाशील प्रयत्न

के पक्ष को निष्क्रिय परिवर्तन के पक्ष से पृथक् कर दें, तो अनुभव का जीवन्त अर्थ ही नष्ट हो जायगा। विचार करना, जो कुछ किया जाता है तथा उसके परिणामों के सम्बन्ध का शुद्ध तथा ऐच्छिक संस्थापन है। यह केवल सम्बन्धों की ही नहीं, उनकी सूक्ष्मताओं की भी खोज करता है। यह उनकी संयोजक शृंखलाओं को स्पष्ट सम्बन्धों के रूप में व्यक्त करता है। विचार का उद्दीपन तब होता है, जब हम किसी किए गए अथवा किए जाने वाले कार्य के महत्त्व का स्वरूप निर्धारित करने की इच्छा करते हैं। तब हम परिणामों की पूर्व कल्पना करते हैं। इसका अर्थ होता है कि जैसी परिस्थिति इस समय है, या तो वास्तविक रूप से या हमारे लिए अपूर्ण है, अतः अनिश्चित है। परिणामों के प्रेक्षण का अर्थ प्रस्तावित अथवा प्रयोगात्मक हल है। इस परिकल्पना को पूर्ण करने के लिए वर्तमान परिस्थितियों का सूक्ष्म परीक्षण तथा परिकल्पना के भावों को विकसित करना होगा। इस क्रिया को तर्क करना कहते हैं। तत्पश्चात् दिए गए हल, भाव अथवा सिद्धान्त पर कार्य करके उसकी परीक्षा करनी होगी। यदि यह कुछ परिणाम तथा कुछ निश्चित परिवर्तन उपस्थित करता है, तो इसे युक्तियुक्त स्वीकार किया जाता है, अन्यथा इसका परिष्कार करके, पुनः परीक्षण किया जाता है। विचार में ये सभी सोपान सम्मिलित हैं—समस्या का भाव, परिस्थितियों का सर्वेक्षण, निर्दिष्ट हल का प्रस्तुतिकरण तथा उसका तर्कपूर्ण संपादन और क्रियात्मक प्रायोगिक परीक्षण। चूँकि विचार का परिणाम ज्ञान है; अतः अन्ततोगत्वा ज्ञान का महत्त्व इसके विचार में उपयोग के अधीन है। चूँकि हम ऐसे संसार में नहीं, जो स्थायित्व और सम्पूर्णता प्राप्त कर चुका हो; बल्कि ऐसे संसार में रहते हैं, जो गतिशील है, अतः हमारा मुख्य कार्य प्रत्याशित होता है तथा पूर्वानुचिंतन (विचार से पृथक् प्रत्येक ज्ञान अनुचिंतन ही होता है) का महत्त्व इसी में है कि वह हमारे भावी आचरण को दृढ़ता, सुरक्षा तथा उर्वरता प्रदान करता है।

१२

शिक्षा में विचार-क्रिया

विधि के मुख्य तत्त्व

इसमें कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप से किसी को सन्देह नहीं है कि विद्यालय में विचार करने की सुन्दर आदतों का विकास करना कितना महत्त्वपूर्ण है। लेकिन इस तथ्य के अतिरिक्त कि इसके महत्त्व को अभ्यास में उतना नहीं स्वीकार किया जाता, जितना सिद्धान्त में, यह भी होता है कि सैद्धान्तिक रूप से भी इसे उचित महत्त्व नहीं दिया जाता कि विद्यालय को बालकों में, जहाँ तक मन का सम्बन्ध है (अर्थात् कुछ विशिष्ट मांसपेशियों में योग्यता उत्पन्न करने के अतिरिक्त) विचार करने की योग्यता उत्पन्न करना चाहिए। शिक्षा का विभिन्न लक्ष्यों में बाँट दिया जाना, जैसे कुशलता की प्राप्ति (लेखन, पठन, चित्रांकन, सस्वर-पाठ, वर्तनी तथा उच्चारण करने में), ज्ञान का उपार्जन (इतिहास, भूगोल आदि में) तथा विचार करने का अभ्यास ही इसका मापदण्ड है कि कितने अप्रभावशाली ढंग से तीनों की पूर्ति होगी। विचार करना, जो कार्य-क्षमता की वृद्धि तथा अपने और विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से सम्बद्ध नहीं है, कुछ चिन्तन के प्रकार का विषय है। विचार के अतिरिक्त उपार्जित कौशल, उस प्रयोजन के किसी भाव से, जिसके लिए उनका प्रयोग किया जाता है, सम्बद्ध नहीं है। परिणाम-स्वरूप यह मनुष्य को यांत्रिक आदतों तथा उन लोगों के नियंत्रण का दास बना देता है, जिन्हें इसका ज्ञान होता है कि उन्हें क्या करना है तथा जो अपने प्राप्ति के साधनों के प्रति अधिक जागरूक नहीं रहते। विवेकपूर्ण कार्य से अलग कर देने पर ज्ञान निर्जीव, मन को विकृत करने वाला तथा भारस्वरूप हो जाता है। चूँकि यह ज्ञान का तथा उसके माध्यम से अहंकार के विष का उद्दीपक है ; अतः यह वृद्धि के लालित्य के भावी विकास में मुख्य रूप से बाधक है। प्रशिक्षण तथा ज्ञानोपार्जन की विधियों में प्रभावशाली सुधार करने का मुख्य मार्ग, उन परिस्थितियों पर केन्द्रित करना है, जो विचार को व्यवस्थित करतीं, विकसित करतीं तथा उसका परीक्षण करती हैं। विचार-क्रिया, बौद्धिक ज्ञान-प्राप्ति की विधि है। यह ऐसा सीखना है, जिसमें मस्तिष्क का उपयोग तथा परिष्कार

होता है। हम विचार-विधि के बारे में बहुत कुछ सत्य बातें कहते हैं; लेकिन यह भूल जाते हैं कि 'विधि' के विषय में मुख्य बात जो ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि विचार एक विधि—विभिन्न मार्गों पर जाने वाले विवेकपूर्ण अनुभव को प्राप्त करने की विधि है।

१—उस विकासशील अनुभव का, जिसे हम विचार कहते हैं, प्रथम सोपान 'अनुभव' है। यह कथन एक अनावश्यक पुनरुक्ति-सा प्रतीत होता है। इसे होना भी चाहिए, किन्तु दुर्भाग्यवश यह है नहीं। दूसरी ओर, प्रायः विचार को दार्शनिक सिद्धान्त तथा शैक्षणिक अभ्यास दोनों में ही, अनुभव से परे तथा पृथक् रूप से उपार्जित और विकसित होने वाला समझा जाता है। अनुभव को तब इन्द्रियों तथा आकांक्षाओं तक ही सीमित कर दिया जाता है। इसीलिए बहुधा, विशुद्ध गणित, विशेष रूप से विचार के विषय के रूप में (क्योंकि इसका भौतिक सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं होता) तथा संप्रयुक्त गणित में, जिसका केवल उपयोगात्मक महत्त्व ही होता है, मानसिक नहीं, विशिष्ट विभेद किया जाता है।

यदि हम साधारण रूप से कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रशिक्षात्मक प्रणालियों की मौलिक अशुद्धि यह है कि वे कल्पना कर लेती हैं कि अनुभव बालकों में पहले ही से वर्तमान रहता है। यहाँ वास्तविक व्यावहारिक परिस्थितियों को विचार के प्रारम्भिक स्तर के रूप में समझने पर बल दिया जायगा। यह अर्थ, अनुभव का अर्थ, पिछले अध्याय में दिए गए भाव का होगा, जिसमें व्यक्ति-विशेष को कुछ करना तथा प्रत्यक्ष रूप से उसके द्वारा बदले में प्रभावित होना पड़ता है। इसकी अशुद्धि यह है कि हम यह कल्पना कर लेते हैं कि हम प्रत्यक्ष रूप से किसी परिस्थिति का अनुभव किए बिना ही, गणित, भूगोल अथवा अन्य किसी विषय की पहले ही से तैयार विषय-सामग्री से शिक्षा प्रारंभ कर सकते हैं। किंडरगार्टन तथा मॉन्टीसरी विधियाँ भी बिना 'समय नष्ट किए' बौद्धिक विभेद प्राप्त करने के लिए इतनी आतुर रहती हैं कि वे अनुभव की परिचित वस्तुओं को उठाने-धरने, प्रयोग करने की कम परवाह करती हैं, तथा बालकों को तुरन्त ऐसी सामग्री के प्रयोग में लगाती हैं, जो वयस्कजनों द्वारा बनाए गए बौद्धिक विभेदों को व्यक्त करती हैं; किन्तु किसी भी आयु में नवीन सामग्री के सम्बन्ध का प्रथम स्तर 'प्रयत्न तथा भूल' ही के प्रकार का होगा। व्यक्ति-विशेष को, वास्तविक रूप से, खेल अथवा कार्य में, अपनी मनोवृत्यात्मक क्रियाओं की पूर्ति में, नवीन सामग्री के साथ, कुछ करने का प्रयत्न करना पड़ेगा, तत्पश्चात अपनी

शक्ति तथा प्रयुक्त सामग्री की पारस्परिक क्रिया का अवलोकन करना होगा। जब कोई बालक कुछ टुकड़ों से कोई वस्तु बनाना प्रारम्भ करता है अथवा कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में अपरिचित वस्तुओं के साथ प्रयोग करता है, तो ठीक यही घटना घटित होती है।

अतएव विद्यालय में किसी विषय को पढ़ाने का प्रथम प्रयास, यदि केवल शाब्दिक ज्ञान नहीं ; बल्कि विचार उत्पन्न करना है, तो यथासंभव मध्यकालीन प्रणाली का उपयोग नहीं होना चाहिए। अनुभव अथवा व्यावहारिक परिस्थिति को भलीभाँति समझने के लिए, हमें मन में विद्यालय के बाहर की परिस्थिति तथा ऐसे बाहरी व्यवसायों की उत्पत्ति करनी होगी, जिनमें अभिरुचि वर्तमान रहती है तथा जो दैनिक जीवन की क्रिया में संलग्न करते हैं। और सर्वाधिक शिक्षा में निश्चित रूप से सफल विधियों का सतर्क परीक्षण––चाहे वे गणित की शिक्षा की हों या पढ़ना सीखने की; चाहे भूगोल के अध्ययन की हों अथवा भौतिक-शास्त्र या विदेशी भाषा सीखने की हों––यह व्यक्त कर देगा कि वे अपनी क्षमता के लिए इस तथ्य पर निर्भर हैं कि वे उस प्रकार की परिस्थितियों की ओर ले जाती हैं और जो विद्यालय से बाहर साधारण जीवन में चिन्तन का कारण बनती हैं। ये बालकों को कुछ करने के लिए देती हैं, अध्ययन करने के लिए नहीं, तथा यह क्रिया ऐसे स्वभाव की होती है, जिसमें विचार करने अथवा ऐच्छिक रूप से सम्बन्धों का अन्वेषण करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप में शिक्षा का जन्म होता है।

उत्पन्न की गई परिस्थिति इस प्रकार की होनी चाहिए कि विचार को उद्दीप्त कर सके। इसका यह अर्थ होता है कि इसे ऐसी क्रिया का निर्देश करने वाली होनी चाहिए, जो न तो क्रम-नियंत्रित हो न स्वच्छंद तथा मनमौजी। दूसरे शब्दों में कोई नवीन (अतः अनिश्चित तथा सम्भाव्य) वस्तु प्रस्तुत की जाय, फिर भी वह वर्तमान आदतों से पर्याप्त रूप से सम्बन्धित तथ्य उपस्थित करे, जो प्रभावोत्पादक प्रतिचार उत्पन्न कर सकें। प्रभावोत्पादक प्रतिचार का अर्थ है, जो प्रभावोत्पादक प्रतिचार उत्पन्न करे, केवल अस्पष्ट क्रिया नहीं, जिसमें प्रतिफलों का क्रिया के साथ, मानसिक रूप से सम्बन्ध न स्थापित किया जा सके ; अतएव शिक्षा की उत्पत्ति के लिए प्रस्तावित परिस्थिति अथवा अनुभव के बारे में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि इसमें समस्या का कौन-सा गुण होता है ?

पहले तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे कि विद्यालयों की सामान्य प्रणालियाँ

हमारे अनुकूल हैं। विद्यालय के कार्य का मुख्य अंश, समस्याएँ प्रदान करना, प्रश्न उपस्थित करना, कार्य विभाजन तथा बाधाओं की वृद्धि करना आदि है। किन्तु, वास्तविक तथा उद्दीप्त अथवा कृत्रिम समस्याओं में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। निम्नांकित प्रश्न इस पृथक्करण में सहायक हो सकते हैं—(क) क्या समस्या के 'अतिरिक्त' भी और कुछ है? क्या प्रश्न, वैयक्तिक अनुभव की किसी परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से अपनी व्यंजना करता है? अथवा यह कोई पृथक् तथ्य है, जो किसी विद्यालय के विषय में शिक्षा प्रदान करने के प्रयोजन के लिए ही समस्या है। क्या यह इस प्रकार का प्रयत्न है, जो विद्यालय के बाहर भी निरीक्षण की प्रवृत्ति उद्दीप्त करेगा तथा प्रयोग में संलग्न करेगा? (ख) क्या यह शिक्षार्थी की अपनी समस्या है? अथवा पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्यापक की समस्या है और बालक के लिए केवल इसलिए समस्या बन गई है कि इसे हल किए बिना वह आवश्यक अंक नहीं प्राप्त कर सकता अथवा कक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता या अध्यापक का समर्थन नहीं प्राप्त कर सकता? वैसे ये दोनों प्रश्न एक दूसरे के भावों से सम्बन्धित हैं। दोनों एक ही स्थान पर पहुँचने के दो मार्ग हैं। क्या अनुभव एक ऐसे स्वभाव का वैयक्तिक तथ्य है, जो समवाय रूप से निहित सम्बन्धों के पर्यवेक्षण को उद्दीप्त कर सकता तथा निर्देश दे सकता एवं अनुशासन और इसके परीक्षण की ओर ले जाता है। अथवा यह बाह्य रूप से लादा गया है तथा केवल बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही बालक की समस्या है?

ऐसे प्रश्न हमें यह निश्चित करने के लिए कि प्रचलित अभ्यास चिन्तनात्मक आदतों के विकास के कहाँ तक अनुकूल हैं, कुछ देर विचार करने के लिए रोकेंगे। एक साधारण विद्यालय-कक्ष के भौतिक उपकरण तथा प्रबन्ध, जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के विरोधी होते हैं। जीवन में बाधा उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के समान, वहाँ कौन-सी वस्तु होती है? वहाँ की लगभग प्रत्येक वस्तु, सुनने, पढ़ने तथा सुने-पढ़े गए तथ्यों को पुनः प्रस्तुत करने के पुरस्कारों की साक्षी है। ऐसी परिस्थितियों तथा घर या खेल के मैदान में जीवन के साधारण उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए वस्तुओं तथा व्यक्ति के साथ सक्रिय सम्पर्कों में कितना अन्तर है—इसके कथन में शायद ही अत्युक्ति की सम्भावना हो। इनके अधिकांश की तुलना तो विद्यालय के बाहर किसी बालक या बालिका के (मन में) पुस्तक पढ़ने अथवा दूसरों से बातचीत करते समय उठे प्रश्नों से भी नहीं की जा सकती। किसी ने भी पूर्ण रूप से इसकी व्याख्या नहीं की है

कि बालकों में विद्यालय से बाहर इतने अधिक प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति क्यों होती है (कि यदि उन्हें थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिल जाता है, तो वे वयस्कजनों को परेशान कर डालते हैं) तथा पाठशाला के पाठों की विषय-सामग्री के प्रति उत्सुकता के प्रदर्शन का स्पष्ट अभाव क्यों होता है। इस विलक्षण विरोध का चिन्तन इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालेगा कि कहाँ तक पाठशाला की परम्परागत परिस्थितियाँ ऐसे अनुभव का प्रसंग उपस्थित करती हैं, जिनमें समस्याएँ स्वयं अपने-आप को व्यक्त करें। अध्यापक अपने प्रशिक्षण के वैयक्तिक कौशल में कितना ही सुधार क्यों न कर ले, लेकिन उससे इस परिस्थिति के दोष दूर नहीं होंगे। अधिक वास्तविक प्रसाधन-सामग्री, उपकरण तथा कार्य करने के अधिक अवसर, इसकी पूर्ति के लिए प्रदान करने होंगे। जब बालक कार्य कर रहा होता है तथा क्रिया-क्रम में उपस्थित बातों पर तर्क कर रहा होता है, तब प्रशिक्षण के उदासीन रूपों में भी, यह होता है कि बालकों की पूछताछ स्वत: प्रवृत्त तथा बहुमुखी होती है और दिए गए हल के प्रस्ताव विभिन्न तथा चातुर्यपूर्ण होते हैं।

अतएव वास्तविक समस्याओं को उत्पन्न करने वाली सामग्री तथा व्यवसायों की अनुपस्थिति के कारण, शिक्षार्थी की समस्याएँ उसकी अपनी नहीं होतीं, अथवा केवल शिक्षार्थी के रूप में ही उसकी होती हैं, मनुष्य के रूप में नहीं। इसीलिए पाठशाला-कक्ष से परे, उनके व्यवहार द्वारा उत्पन्न योग्यताएँ, जीवन के मामलों में ले जाई जाने पर व्यर्थ सिद्ध होती हैं। यह अत्यन्त सोचनीय बात है। विद्यार्थी के सामने समस्या होती है ; किन्तु यह अध्यापक द्वारा रक्खी गई विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। अध्यापक जो चाहता है, इसकी खोज करना उसकी समस्या है—अर्थात् पाठ सुनाने, परीक्षा अथवा बाह्य प्रदर्शनों में क्या करने पर अध्यापक प्रसन्न होगा। विषय-सामग्री के साथ उसका सम्बन्ध सीधा नहीं रह जाता। विचार के अवसर तथा उसकी सामग्री स्वयं गणित अथवा इतिहास-भूगोल में नहीं, बल्कि उस सामग्री को कौशल के साथ अध्यापक के अनुकूल बनाने में होती है। विद्यार्थी अध्ययन करता है ; किन्तु अचेतन रूप से उसके लिए उसके अध्ययन के विषय केवल अध्ययन-मात्र नहीं ; बल्कि विद्यालय-व्यवस्था तथा पाठशाला के अधिकारियों की परम्पराएँ तथा मानदण्ड हैं। इस प्रकार जाग्रत किए गए विचार, अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी कृत्रिम तथा एकांगी ही होंगे। अपने बुरे-से-बुरे रूप में, विद्यार्थी की समस्या पाठशाला के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं है ; बल्कि यह है कि वह कैसे उनकी पूर्ति करता हुआ

प्रतीत हो अथवा किस प्रकार बिना अधिक चेष्टा किए पाठशाला का जीवन बिता दे, अर्थात् कैसे उनकी पूर्ति के निकटतम रूप को प्राप्त कर ले। इस प्रकार प्रस्तुत किए गए निर्णय, चरित्र के वांछनीय तत्त्व नहीं हैं। यदि ये कथन, विद्यालय विधियों के अत्यन्त विकृत रूप प्रस्तुत करते हैं, तो यह तो है ही कि अतिशयोक्ति उदाहरण की बात स्पष्ट करने का काम करती है। ऐसे प्रयत्नों की आवश्यकता है, जिसमें बालक सक्रिय रूप से भाग लेकर, सामग्री का, प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रयोग करें। इसके लिए ऐसी वास्तविक परिस्थितियों की सृष्टि करनी होगी, जो सर्वसामान्य समस्याओं को जन्म दे सकें।

२——उपस्थित, विशिष्ट कठिनाई का सामना करने के लिए आवश्यक भाव प्रदान करने के लिए, तथ्य वर्तमान होने चाहिए। 'विकासशील' विधि का पालन करते हुए अध्यापकगण, कभी-कभी बालकों को अपने-आप विचार करके निष्कर्ष निकालने को कहते हैं, जैसे कि वे अपने मन से ही हल का सूत्र निकाल सकते हैं। विचार-क्रिया के साधन विचार नहीं हैं; बल्कि कार्य, तथ्य, घटनाएँ तथा वस्तुओं के सम्बन्ध हैं। दूसरे शब्दों में, प्रभावोत्पादक रूप से विचार करने के लिए, व्यक्ति के पास ऐसे अनुभवों का होना आवश्यक है, जो उपस्थित कठिनाइयों का सामना करने के साधन जुटा सकें। कठिनाई, विचार-क्रिया की अत्यावश्यक उद्दीपन है; किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी कठिनाइयाँ विचार जाग्रत कर सकें। कभी-कभी वे इतनी दुर्दम्य होती हैं, कि विचार को दबा देती हैं, और व्यक्ति को हतोत्साह कर देती हैं। असमंजस में डालने वाली परिस्थिति अवश्य ही पहले पार की गई परिस्थितियों से पर्याप्त समानता रखने वाली होनी चाहिए, ताकि शिक्षार्थियों में इसका सामना करने के लिए, साधनों का नियंत्रण वर्तमान रहे। निर्देशन-कला का अधिकांश, नई समस्याओं की कठिनाइयों को इतनी बड़ी बना सकने में है, कि वे विचार उत्पन्न कर सकें और इतनी छोटी रखने में है, कि उनमें नवीन तत्त्वों के कारण उत्पन्न सम्भ्रांति के साथ-साथ कुछ ऐसे प्रदीप्त बिन्दु भी हों, जो सहायक सुझाव उत्पन्न कर सकें।

एक अर्थ में तो इस तथ्य के प्रति लोग उदासीन ही होते हैं, कि किन मनोवैज्ञानिक साधनों द्वारा चिन्तन की विषय-सामग्री प्रदान की जा सकती है। स्मृति, निरीक्षण, पठन, संक्रमण, सभी सामग्री प्रदान करने वाले स्रोत हैं। इनमें से प्रत्येक से प्राप्त होने वाला अनुपात, वर्तमान समस्या-विशेष के विशिष्ट गुणों पर निर्भर है। यदि बालक इन्द्रियों के सम्पर्क में आई वस्तुओं से इतना परिचित है, कि वह स्वतन्त्र रूप से तथ्यों का प्रत्याह्वान कर सकता है, तो उनके निरीक्षण

पर बल देना मूर्खता है। इन्द्रियों के सम्पर्क में आई वस्तुओं पर, अनावश्यक तथा अपंग बना देने वाली निर्भरता उत्पन्न करना सम्भव है। कोई भी अपने चारों ओर ऐसी वस्तुओं का अजायबघर नहीं लिए रह सकता, जिनके गुण विचार-क्रिया में सहायक हों। सुप्रशिक्षित मन वह है, जिसके पीछे अधिक-से-अधिक साधन हों तथा जो भूतकाल के अनुभवों के लाभदायक अंशों का पता लगा सकता हो। दूसरी ओर, किसी परिचित वस्तु के भी गुण अथवा सम्बन्ध पहले दृष्टि से ओझल रह सकते हैं और वे ही ऐसे तथ्य हो सकते हैं, जो प्रश्न को सुलझाने में सहायक हों। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष-निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। यही सिद्धान्त एक ओर तो निरीक्षण तथा दूसरी ओर पढ़ने तथा 'बताने' के लिए किए जाने वाले प्रयोग पर भी लागू होता है। प्रत्यक्ष निरीक्षण स्वभावतः अधिक सजीव तथा विशद होता है; लेकिन इसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। कुछ भी हो, यह शिक्षा का आवश्यक अंश है कि व्यक्ति को, दूसरों के अनुभवों के उपयोग द्वारा, अपने तात्कालिक वैयक्तिक अनुभवों की संकीर्णता की पूर्ति करने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए। तथ्यों के लिए दूसरों पर अत्यधिक निर्भर करने (चाहे वे पढ़ने से प्राप्त हों अथवा लिखने से) के महत्व को घटाना है। इन सभी बातों में सबसे अधिक आपत्तिजनक तो यह संभावना है कि दूसरे, पुस्तकें तथा अध्यापक, ऐसी सामग्री प्रदान करने के बजाय, जिन्हें विद्यार्थी को स्वयं अनुकूल बनाकर प्राप्त प्रश्न पर संप्रयुक्त करना पड़े, सुलझा-सुलझाया हल प्रदान करें।

यह कहने में कोई असंगति नहीं है कि पाठशालाओं में, दूसरों द्वारा आवश्यकता से अधिक तथा कम, दोनों ही प्रकार के ज्ञान प्रदान किए जाते हैं। स्मरण करके सुनाने तथा परीक्षा में पुनर्प्रस्तुतिकरण के प्रयोजनार्थ, सूचनाओं का संचय तथा संग्रह, आवश्यकता से अधिक किया जाता है। सूचना के भाव में 'ज्ञान' का अर्थ, आगामी अनुसंधान, अन्वेषण अथवा और अधिक बातों के सीखने में काम आने वाली सम्पत्ति या आवश्यक सामग्री है। बहुधा इसे स्वयं लक्ष्य मान लिया जाता है और तब उद्देश्य, इसे अधिक-से-अधिक मात्रा में संचित करना तथा आवश्यकता पड़ने पर प्रदर्शित करना रह जाता है। ज्ञान के इस निष्क्रिय, निर्जीव एकत्रीकरण का आदर्श, शिक्षात्मक विकास का शत्रु है। यह केवल विचार करने के अवसरों को अप्रयुक्त ही नहीं छोड़ देता; बल्कि विचार-क्रिया को भी स्फूर्तिहीन बना देता है। कोई भी व्यक्ति, अनेक ऊँची-नीची पहाड़ियों के कारण, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर मकान नहीं बना सकता। ऐसे विद्यार्थी, जिन्होंने अपने मस्तिष्क में अनेक प्रकार की सामग्री का संग्रह कर लिया है, और उन्हें कभी

मानसिक प्रयोग में नहीं ले आएँ हैं, जब विचार करने का प्रयत्न करेंगे, तो अवश्य ही कठिनाई का अनुभव करेंगे। उनमें उचित तत्त्वों के चुनाव का अभ्यास नहीं होता और न उनके लिए कोई निश्चित मापदण्ड ही होता है ; बल्कि प्रत्येक वस्तु एक ही निर्जीव, निष्क्रिय स्तर पर रहती है। दूसरी ओर यह भी सन्देहजनक है कि यदि सूचनाएँ, वास्तविक रूप से, विद्यार्थियों के अपने प्रयोजनों की पूर्ति के प्रयोग में आकर ही अनुभव में कार्य करती है, तो साधारण रूप से प्राप्त साधनों की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

३—विचार-क्रिया में तथ्यों, सामग्री तथा पूर्व प्राप्त ज्ञान के साथ, भाव संकेतों, अनुमानों, परिकल्पित अर्थों, कल्पनाओं, प्रयोगात्मक व्याख्याओं, अर्थात् भावों का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सतर्क पर्यवेक्षण तथा पुनर्स्मरण, दिए गए तत्त्व को निर्धारित करते हैं ; यह पहले से ही वर्तमान और निश्चित रहता है। जो उपस्थित नहीं होता, उसकी पूर्ति ये नहीं कर सकते। ये प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते, केवल उसका अर्थ स्पष्ट करते, उसकी परिभाषा देते तथा स्थान निर्धारित करते हैं। इस प्रयोजन के लिए प्रेक्षण, अन्वेषण, चातुर्य तथा युक्ति का प्रयोग होता है। विचार-सामग्री से, विचार-संकेत जाग्रत होते हैं, और इन संकेतों के औचित्य को हम सामग्री के सम्बन्ध से ही प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन, ये संकेत तथ्यों के बाहर होते हुए भी, अनुभव के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं। ये संभाव्य परिणामों की भविष्यवाणी करते तथा भावी कार्यों के विषय में पूर्व सूचनाएँ देते हैं, तथ्यों (पूर्वकृत बातों) के विषय में नहीं। अनुमान सदैव अज्ञात तक पहुँचने तथा ज्ञात से आगे जाने का प्रयत्न है।

इस अर्थ में विचार (कोई वस्तु जैसी है नहीं ; लेकिन उससे जैसा संकेत मिलता है) सृजनात्मक (नवीनोन्मुख) होता है। इसमें अन्वेषणात्मक शक्ति होती है। जो कुछ संकेत मिलता है, वह सचमुच किसी-न-किसी संदर्भ में परिचित होता है। नवीनता तथा अन्वेषणात्मक युक्ति, उस नवीन प्रकाश से सम्बन्धित है, जिसमें इसे देखा जाता है तथा उन विभिन्न प्रयोगों में निहित हैं, जिनमें इसे काम में लाया जाता है। जब न्यूटन ने अपने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का विचार किया था, तब उसके 'विचार' का सृजनात्मक अंश उसकी सामग्री में नहीं था। यह सामग्री तो पूर्वपरिचित थी और उनमें से बहुत-सी चीजें अत्यन्त साधारण थीं, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, मात्रा, दूरी, भार तथा संख्याओं के वर्ग इत्यादि। ये मौलिक भाव न थे ; बल्कि निश्चित तथ्य थे। उसकी मौलिकता इन परिचित वस्तुओं का अपरिचित संदर्भ में प्रयोग करने में है। यह प्रत्येक विलक्षण वैज्ञानिक-अन्वेषण,

प्रत्येक बड़े आविष्कार, प्रत्येक प्रशंसनीय कलात्मक कृति के लिए सत्य है। केवल मूर्ख लोग ही सृजनात्मक मौलिकता को असाधारण तथा कल्पना-प्रधान समझते हैं; उनसे इतर लोग समझते हैं, कि इसका महत्त्व दैनिक जीवन की वस्तुओं को, इस प्रकार प्रयोग में लाने में है, जो दूसरों को नहीं सूझा था। इसकी निर्माण-सामग्री नहीं; बल्कि उसका प्रयोग नवीन होता है।

इससे शैक्षणिक निष्कर्ष यह निकलता है, कि सभी विचार, भावी भावों के प्रेक्षण में मौलिक होते हैं; क्योंकि ये पूर्व-ज्ञात नहीं होते। तीन वर्ष का शिशु, जब यह खोज निकालता है कि टुकड़ों का (लकड़ी के) क्या बन सकता है अथवा छः वर्ष का बालक जब यह पता लगा लेता है कि यदि पाँच पैसे और पाँच पैसे एक साथ रख दिए जाएँ, तो कुल कितने पैसे होंगे, तो वास्तव में वह एक आविष्कार करता है, यद्यपि संसार का प्रत्येक व्यक्ति उन बातों को जानता है। इससे अनुभव की सच्ची वृद्धि होती है। अन्य तत्त्व यांत्रिक रूप से जुड़ नहीं जाते; बल्कि नए गुणों के समावेश के कारण अनुभव की सम्पत्ति में वृद्धि होती है। छोटे शिशुओं की सहज प्रवृत्ति, सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण की ओर इसी कारण आकर्षित होती है कि वह इसमें बौद्धिक मौलिकता देखता है। जिस आनन्द का अनुभव बालक स्वयं करते हैं, वह मानसिक विधायकता—यदि हम शब्दों को बिना भ्रांति के प्रयोग कर सकें, तो सृजनात्मकता—का आनन्द है।

इससे शिक्षा-सम्बन्धी जो सीख मैं निकालना चाहता हूँ, वह यह नहीं है कि यदि विद्यालय की परिस्थितियाँ दूसरों के द्वारा दिए गए ज्ञान के संग्रह में नहीं; बल्कि आविष्कार के अर्थ में, ज्ञान प्राप्ति में सहायक होंगी, तो अध्यापक का कार्य बहुत कम रहेगा, और न यह कि तब शिशु तथा बालकों को भी वैयक्तिक रूप से बौद्धिक सृजन का आनन्द दिया जा सके। वैसे ये बातें भी सत्य तथा आवश्यक हैं; लेकिन वह सीख यह है कि कोई भाव अथवा कोई विचार, भाव के रूप में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति तक नहीं पहुँचाया जा सकता—जब यह बताया जाता है, तो जिसे बताया जाता है उसके लिए, यह भाव न होकर एक और प्रदत्त तथ्य होता है। यह संक्रमण, दूसरे व्यक्ति को प्रश्न को समझने के लिए उद्दीप्त कर सकता है, ताकि वह स्वयं इस पर 'भाव' के रूप में विचार कर सके, अथवा विचार किए जाने पर सचेष्ट प्रयत्न को दबा कर, उसमें बौद्धिक अभिरुचि उत्पन्न कर सकता है। लेकिन, इससे वह जो कुछ सीखता है, उसे 'भाव' नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत की गई समस्या के लिए, वह स्वयं परिस्थितियों के साथ संघर्ष करके, इसके हल के मार्गों को

खोज कर प्राप्त करने में ही विचार करता है। जब माता-पिता अथवा अध्यापक ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं, जो विचार-क्रिया को उद्दीप्त करती हैं तथा स्वयं शिक्षार्थी के साथ सहयोगी बनकर या सामूहिक अनुभव में हाथ बटाकर, उसकी क्रियाओं के सहानुभूतिपूर्ण द्रष्टा का दृष्टिकोण अपना चुकें, तो शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए, जो कुछ दूसरे कर सकते हैं, वह हो चुका। शेष शिक्षार्थी को स्वयं करना होगा ; क्योंकि उससे उसी का सीधा सम्बन्ध है। यदि वह अपनी समस्या के हल का उपाय नहीं निकाल सकता (अकेले नहीं ; बल्कि अध्यापक तथा अन्य शिक्षार्थियों के सहयोग से) तथा अपना रास्ता नहीं खोज सकता, तो वह कुछ सीखेगा नहीं, चाहे किसी प्रश्न का शत-प्रतिशत सही उत्तर वह क्यों न सुना दे। हम सहस्रों बने बनाए 'भाव' दे सकते हैं, और देते ही हैं ; लेकिन हम यह देखने का कष्ट नहीं उठाते कि शिक्षार्थी ऐसी परिस्थिति में संलग्न है अथवा नहीं, जो क्रियाओं को जन्म देती तथा संभालती है और भावों अर्थात् प्रत्यक्षीकृत अर्थों अथवा सम्बन्धों को निर्धारित करती है। इसका यह अर्थ नहीं कि शिक्षक को केवल दूर खड़ा रहकर देखते भर रहना है। तैयार विषय-सामग्री देकर, यह देखना कि वह कितनी शुद्धि के साथ दुहराया जाता है, इस विधि के अतिरिक्त दूसरा विकल्प निष्क्रियता नहीं ; बल्कि क्रिया में भाग लेना तथा सहयोग देना है। इस तरह क्रिया में भाग लेते समय शिक्षक भी एक शिक्षार्थी बन जाता है और शिक्षार्थी अज्ञात रूप से शिक्षक बन जाता है। दोनों ही ओर से जितनी ही कम जागरुकता होगी, अर्थात् न शिक्षा देने में ही जागरूकता हो और न शिक्षा ग्रहण करने में ही, उतना ही अच्छा होगा।

जैसा कि हम देख चुके हैं, चाहे साधारण अनुमान हों अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्त, भाव सदैव संभव हलों की पूर्व-दृष्टि होते हैं। ये किसी क्रिया तथा इसके परिणाम के उस क्रम अथवा सम्बन्ध के पूर्व ज्ञान हैं, जो अभी तक स्वयं व्यक्त नहीं हुए हैं ; इसलिए उन पर कार्य करके उनकी परीक्षा की जाती है। वे भावी निरीक्षणों अनुस्मरणों तथा प्रयोगों को व्यवस्थित और निर्देशित करते हैं। वे शिक्षा के मध्य भाग हैं, अन्तिम नहीं। हमने देखा है कि सभी शिक्षा-सुधारकों ने, परम्परागत शिक्षा की निष्क्रियता की कटु आलोचना की है। वे बाहर से ज्ञान उँड़ेलने और जलशोषक की तरह उसे आत्मसात् करने के विरोधी हैं। उन्होंने सामग्री के साथ प्रयत्न-पर-प्रयत्न करने का घोर विरोध किया है ; लेकिन यह सरल नहीं है कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकें, जो प्राप्त 'भावों' को ऐसे अनुभव के अनुरूप बना सकें, जो हमारे वातावरण के सम्पर्क

को विस्तृत तथा स्पष्ट करता है। क्रिया, यानी आत्म-क्रिया भी प्रायः बड़ी आसानी से मानसिक अर्थात् मस्तिष्क तक ही सीमित अथवा केवल वाक्-अंगों द्वारा व्यक्त होने वाली समझी जाती है।

अध्ययन में प्राप्त भावों को संप्रयुक्त करने की आवश्यकता, सभी सफल शिक्षा-प्रणालियों द्वारा स्वीकार की जाती है। ये संप्रयोग के अभ्यास, कभी-कभी जो कुछ सीखा जा चुका है, उसे स्थाई बनने वाली अथवा इसके प्रयोग में अधिक क्रियात्मक कौशल प्राप्त करने के लिए अपनाई गई युक्तियाँ हैं। ये परिणाम सत्य हैं, अतः इनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। लेकिन अध्ययन, प्राप्त सामग्री के संप्रयोग का, अभ्यास में, प्राथमिक गुण होना चाहिए। हम पहले ही देख चुके हैं कि विचार, केवल विचार के रूप में अपूर्ण होते हैं। अधिक-से-अधिक वे प्रयोगात्मक होते हैं, वे सुझाव तथा संकेत मात्र हैं। अनुभव की परिस्थितियों के साथ व्यवहार करने के वे दृष्टिकोण तथा विधियां हैं। ऐसी विधियों के प्रयोग में बिना आए, उनमें पूर्ण अर्थ तथा सत्य नहीं आता। केवल संप्रयोग ही उनकी परीक्षा करता तथा केवल परीक्षण ही उन्हें पूर्ण अर्थ तथा सत्यता का भाव प्रदान करता है। प्रयोग में न आने पर वे, अपने एक विलक्षण संसार में अलग ही रह जाते हैं। यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि क्या उन दर्शनों (जिनका अध्याय १० अनुच्छेद २ में वर्णन किया गया है) का जन्म, जो मन को पृथक् समझते तथा इसे 'संसार' के विरोधी अर्थ में लेते हैं, इस तथ्य से नहीं हुआ है, कि चिन्तन-प्रधान तथा सिद्धान्तवादी मनुष्यों ने, भावों का एक वृहत् भण्डार सँजोया, जिस पर कार्य करने और परीक्षण का अवसर समाज ने नहीं दिया। परिणाम-स्वरूप उन लोगों को अपने विचारों को ही उनका लक्ष्य समझ कर, उन्हीं तक सीमित रहना पड़ा है।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि विद्यालय में जो कुछ शिक्षा मिलती है, उसमें एक विलक्षण प्रकार की कृत्रिमता होती है। यह कह सकना तो कठिन है, कि बहुत-से विद्यार्थी सचेतन रूप से विषय-सामग्री को असत्य समझते हैं; लेकिन निश्चय ही वे इसमें उतना सत्य नहीं पाते, जितना उनके जीवन्त अनुभव की विषय-सामग्री में होता है। वे इससे उस प्रकार की वास्तविकता की आशा न करना सीख जाते हैं। वे इसे स्मरण करके सुनाने, पढ़ने तथा परीक्षाओं के प्रयोजन के लिए ही सत्य समझने के आदी हो जाते हैं। निश्चय ही, दैनिक जीवन के अनुभव के लिए, ये निष्क्रिय सिद्ध होते हैं। इसके दो दूषित प्रभाव हैं। एक तो साधारण अनुभव उतना सम्पन्न नहीं हो पाता, जितना इसे होना चाहिए, अर्थात्

यह विद्यालय की शिक्षा से उर्वर नहीं बनता। दूसरे अर्द्ध स्पष्ट तथा अधकचरी सामग्री को स्वीकार करने तथा उसका आदी हो जाने के कारण उत्पन्न मनोभाव विचार की शक्ति तथा क्षमता को क्षीण कर देता है।

विचार के प्रभावोत्पादक विकास के लिए आवश्यक, विधेयात्मक कार्यों का सुझाव देने के लिए ही, यहाँ निषेधात्मक पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। जहाँ पाठशाला में, प्रयोगशालाएँ, दुकानें तथा उद्यान हैं, जहाँ नाट्य-रूपान्तर, नाटक, एकांकी तथा खेल आदि का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होता है, वहाँ जीवन की परिस्थितियों को पुनरुत्पन्न करने तथा विकासशील अनुभवों को संप्रयुक्त करने का "अवसर रहता है", भाव पृथक् नहीं रहते, उनका कोई अलग द्वीप नहीं होता। वे जीवन के सामान्य क्रम को सम्पन्न बनाते तथा अनुप्राणित करते हैं। ज्ञान, अपनी क्रिया द्वारा तथा क्रिया के निर्देश में स्थान प्राप्त करने के कारण अधिक सजीव हो जाता है।

"अवसर रहता है" इस वाक्यांश का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। उनका लाभ नहीं भी उठाया जा सकता। संभव है कि श्रम-शक्ति तथा निर्माणात्मक क्रियाओं का शारीरिक निपुणता मात्र प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में, केवल भौतिक विधि से प्रयोग किया जाय, अथवा उन्हें पूर्ण रूप से केवल 'उपयोगितावादी' अर्थात् धन-सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। 'सांस्कृतिक' शिक्षा के पोषकों की यह धारणा, कि ऐसी क्रियाएँ केवल भौतिक अथवा व्यावसायिक होती हैं, स्वयं ऐसे दर्शन का परिणाम है, जो मन को अनुभव के दिशा-निर्देश से पृथक् समझता है। इसीलिए वस्तुओं पर तथा उनके साथ क्रिया करने से भी, वह पृथक् ही होता है। जब 'मानसिक' का स्वयं 'आत्म-पूर्ण' पृथक् संसार स्वीकार किया जाता है, तो दूसरी ओर शारीरिक गतियों तथा क्रियाओं को भी उसी प्रकार का समझना पड़ता है। उन्हें अधिक-से-अधिक मन का वाह्य सहगामी समझा जा सकता है। वे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा वाह्य सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए आवश्यक हो सकती हैं; लेकिन उनके लिए मन में कोई निश्चित स्थान नहीं है तथा वे विचार की पूर्ति में भी कोई अपरिहार्य कार्य नहीं करती हैं। इसीलिए उदार शिक्षा में उनके लिए कोई स्थान नहीं है (अर्थात् ऐसी शिक्षा, जिसका सम्बन्ध मन की अभिरुचियों से है)। यदि वे उसमें आती भी हैं, तो जन-साधारण की भौतिक आवश्यकताओं के लिए एक छूट के रूप में ही आती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि श्रेष्ठ जनों की शिक्षा पर भी इसे प्रभाव डालने दिया जाय। मन

को पृथक् करने की मनोवृत्ति से, स्वाभाविक रूप से, यह निष्कर्ष निकलता है ; लेकिन जैसे ही हमें 'मन' के वास्तविक स्वरूप, अर्थात अनुभव के विकास के प्रयोजनात्मक तथा निर्देशक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, यह धारणा नष्ट हो जाती है।

यह आवश्यक है कि सभी शिक्षण-संस्थाएँ, इस प्रकार सुसज्जित हों, कि विद्यार्थियों को महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के प्रति, विशिष्ट प्रकार की सक्रिय कार्य-विधि में, भावों तथा सूचनाओं को प्राप्त करने तथा उनके परीक्षण का अवसर मिल सके। समस्त सामाजिक परिस्थितियों को विद्यालय में, इस प्रकार उपस्थित करने में, बड़ा समय लगेगा ; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं, कि अध्यापकगण पाठशाला के ज्ञान को पृथक् कर देने वाली प्राचीन विधि को ही अपनाए रहें। प्रत्येक विषय को पढ़ने या स्मरण करके सुनाने में, पाठ की विषय-सामग्री तथा दैनिक जीवन के अधिक विस्तृत तथा सीधे अनुभव में, पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर रहता है। कक्षा की शिक्षा तीन प्रकार की ही होती है। जो शिक्षा प्रत्येक पाठ को स्वतन्त्र रूप से पूर्ण समझती है, वह अत्यन्त अवांछनीय है। इससे विद्यार्थियों पर, उसी विषय अथवा अध्ययन के अन्य विषयों के पाठों के, प्रस्तुत पाठ से सम्बन्धित तत्त्वों को खोजने का उत्तरदायित्व नहीं रह जाता। बुद्धिमान अध्यापक, सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं, कि विद्यार्थी व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत पाठों को समझने में, पूर्व पाठों का उपयोग करें तथा उस पाठ का अध्ययन, पूर्व प्राप्त ज्ञान पर और अधिक प्रकाश डाले। इसका परिणाम शुभ होता है ; किन्तु पाठशाला, विषय-सामग्री से अब भी पृथक् होती है। बाहरी अनुभव, केवल कुछ आकस्मिक अवसरों को छोड़ कर, अविकसित, अविचारपूर्ण तथा अव्यवस्थित दशा में ही रह जाता है। यह प्रत्यक्ष-निर्देश की अधिक परिशुद्धि तथा व्यापक सामग्री के परिष्कार तथा विकास करने वाले प्रभाव से वंचित रह जाता है। प्रत्यक्ष-निर्देश, दैनिक जीवन के तथ्यों से मिल कर, सत्य के भाव से प्रेरित, तथा वास्तविकताओं से अनुप्राणित नहीं हो पाता। उत्कृष्ट शिक्षा इस पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रभाव डालने की आवश्यकता को सदैव ध्यान में रखती है। यह विद्यार्थियों को ऐसी मनोवृत्ति का आदी बना देती है, कि वे पारस्परिक प्रभाव तथा सम्बन्धों को खोजने में, प्रयत्नशील रहते हैं।

अध्याय का सारांश

जहाँ तक विचार करने की अच्छी आदतों के निर्माण का प्रश्न है, निर्देश

की सभी प्रक्रियाएँ एक हैं। विचार-क्रिया, शैक्षणिक अनुभव की विधि है। अतएव, विधि के मुख्य तत्त्व, चिन्तन के मुख्य तत्वों के अनुरूप होते हैं। वे तत्व ये हैं, कि शिष्य को सर्व-प्रथम अनुभव प्राप्ति के लिए वास्तविक परिस्थिति मिलनी चाहिए। अर्थात् ऐसी सतत् क्रिया होनी चाहिए, जिसमें वह उसी के लिए रुचि रखता हो। दूसरे, विचार के उद्दीपन के लिए परिस्थिति में ही वास्तविक समस्या का विकास होना चाहिए। तीसरे, शिष्य में जानकारी वर्तमान हों तथा इनसे कार्य करने के लिए उसे पर्यवेक्षण करने का अवसर हो। चौथे, हल के सांकेतिक सुझाव उसमें आवें, जिनका क्रमिक विकास करने के लिए, वह उत्तर-दाई हो। पाँचवें, उसे अपने 'भावों' के संप्रयोग तथा परीक्षण का अवसर होना चाहिए, ताकि उनका अर्थ स्पष्ट हो जाय और वह स्वयं उनके सत्य की खोज कर सके।

१३

विधि का स्वरूप

विषय-सामग्री तथा विधि की संकलनात्मकता

विद्यालय के तीन मुख्य तत्व हैं, विषय-सामग्री, विधियाँ तथा प्रबन्ध अथवा व्यवस्थापिका। पिछले दो अध्यायों में हमने विषय-सामग्री तथा विधियों का विवेचन किया है। अब हम उन पर अलग-अलग विचार करके, उनके स्वरूप की व्याख्या करेंगे। सबसे पहले हम 'विधि' पर विचार करेंगे ; क्योंकि उसका पिछले अध्याय से निकट सम्बन्ध है। इस पर विचार करने से पहले, हम अपने सिद्धान्त के अन्तर्निहित तत्त्वों को व्यक्त करेंगे, कि विषय-सामग्री और विधि में क्या सम्बन्ध है। 'मन' तथा वस्तुओं और मानव-संसार को दो विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त करने के विचार—जिसे दार्शनिक शब्दावली में द्वैतवाद कहते हैं—से यह निष्कर्ष निकलता है, कि शिक्षा की विषय-सामग्री तथा विधि, पृथक् विषय हैं। इसमें विषय-सामग्री, प्रकृति तथा मानव-संसार के सिद्धान्तों और तथ्यों का बना-बनाया व्यवस्थित वर्गीकरण है। पूर्व-प्राप्त विषय-सामग्री को, मन के सामने लाने तथा उस पर छाप डालने के सर्वोत्तम ढंगों पर विचार करना, अथवा 'मन' को सामग्री पर, इसके संग्रहण तथा प्राप्ति को सहज बनाने के लिए, संप्रयुक्त करने के ढंगों पर विचार करना, विधि के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। कम-से-कम सिद्धान्त में, अपने-आप में स्थित मन के विज्ञान से, शिक्षा-विधियों का एक पूर्ण सिद्धान्त निकाला जा सकता है। इसके लिए उन विषयों के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, जिन पर विधि संप्रयुक्त होगी। चूँकि अधिकांश लोग, जिन्हें वास्तव में विषय-सामग्री की विभिन्न शाखाओं का ज्ञान होता है, इन विधियों से पूर्णरूप से अनभिज्ञ होते हैं, इसीलिए यह स्थिति, संकेत करती है, कि ज्ञान-प्राप्ति में मन की विधियों के विज्ञान के रूप में शिक्षा-शास्त्र निरर्थक है। यह अध्यापक के, विषय के व्यापक तथा शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता को छिपाने के लिए डाला गया पर्दा है।

लेकिन, चूँकि विचार-क्रिया, विषय-सामग्री की पूर्ति की ओर निर्देशित गति है और मन प्रक्रिया का ऐच्छिक तथा साभिप्राय पक्ष है, अतः इन्हें इस

प्रकार विभक्त करने की धारणा गलत है। किसी विज्ञान का विषय व्यवस्थित होना है, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है, कि इस पर बुद्धि का प्रयोग किया जा चुका होता है अथवा यह वैधिक होता है। ज्ञान की एक व्यवस्थित शाखा के रूप में प्राणि-शास्त्र जीवधारियों के विषय में हमारे ज्ञान के अस्पष्ट तथा अस्त-व्यस्त तथ्यों का सतर्क परीक्षण, ऐच्छिक पूर्ति तथा निरीक्षण, स्मृति एवं भावी अन्वेषण में सहायक प्रबन्ध कर लेने के बाद उन्हें व्यक्त करता है। अध्यापन का आरंभ-बिन्दु प्रदान करने के बजाय, वे पूर्ति के द्योतक हैं। विधि का अर्थ, विषय-सामग्री का वह प्रबंध है, जो प्रयोग में इसे सर्वाधिक प्रभावशाली बना देता है। विधि कभी भी सामग्री से बाहर नहीं होती।

विषय-सामग्री के प्रयोक्ता के दृष्टिकोण से देखने पर, विधि का स्वरूप कैसा है? हम फिर कह सकते हैं, कि यह बाह्य नहीं है। यह केवल सामग्री का प्रभावशाली प्रयोग है—प्रभावशाली प्रयोग का अर्थ यह है, कि यह सामग्री को कम-से-कम समय तथा शक्ति के व्यय से प्रयोजन-सिद्धि के कार्य में नियोजित करती है। हम काम करने के ढंग को अलग स्थान देने का विधान कर सकते हैं; किन्तु इसकी स्थिति, सामग्री के साथ कार्य करने में ही है। 'विधि', विषय-सामग्री की विलोमार्थी नहीं है। यह, विषय-सामग्री का, वांछित परिणाम की ओर, प्रभावपूर्ण निर्देश है। यह अटकल-पच्चू तथा त्रुटिपूर्ण कार्य, अर्थात् त्रुटिपूर्ण ढंग से कार्य करने की विलोमार्थी है।

यह एक औपचारिक कथन है कि विधि विषय-सामग्री की, लक्ष्यों की ओर निर्देशित, गति है। निम्न उदाहरण, इसके आन्तरिक रूप को स्पष्ट कर देगा। प्रत्येक कलाकार का कार्य करने का अपना निजी ढंग, अर्थात् शिल्प-विधि होती है। पियानो बजाना, ऊट-पटांग ढंग से उसके पर्दों पर अंगुली चलाना नहीं है। यह उन्हें एक व्यवस्थित ढंग से प्रयोग करता है। यह व्यवस्था, पियानो पर क्रिया करने से पूर्व, संगीतज्ञ के मस्तिष्क अथवा हाथों में तैयार हालत में स्थित नहीं रहती। व्यवस्था, कार्य के उस संस्कार में होती है, जो पियानो, हाथ तथा मस्तिष्क का, वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए बजाने वाला प्रयोग करता है। यह पियानो की, उसके वाद्य-यन्त्र के प्रयोजन को पूर्ण करने की निर्देशित क्रिया है। ठीक यही बात, 'शैक्षणिक' विधियों के बारे में भी सही है। अन्तर केवल इतना ही है, कि पियानो केवल एक निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए, पहले ही से बनाया गया यन्त्र है, जब कि अध्ययन के विषय को अनेक प्रकार के उपयोग में लिया जा सकता है। लेकिन यदि हम पियानो से उत्पन्न होने वाली

अनेक प्रकार की संगीत-ध्वनियों और विभिन्न प्रकार की संगीत-ध्वनियाँ प्राप्त करने के लिए अपनाई गई शिल्प-विधियों पर विचार करें, तो यह उदाहरण इस संदर्भ में भी लागू हो सकता है। कुछ भी हो, विधि, किसी सामग्री को लक्ष्य-विशेष की प्राप्ति के प्रयोग में ले आने का, प्रभावपूर्ण ढंग है।

अनुभव की धारणा पर एक बार पुनः विचार करके, हम इन विचारों को सामान्य धारणा के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। अनुभव एक प्रक्रिया है, जिसमें किसी प्रयत्न तथा किसी परिवर्तन के संबंध का प्रत्यक्षीकरण होता है। इस प्रक्रिया को नियंत्रित करने के प्रयत्न से परे, विषय-सामग्री तथा विधि में कोई अन्तर नहीं है। उसमें एक ऐसी क्रिया होती है, जिसमें व्यक्ति जो कुछ करता है तथा वातावरण जो कुछ करता है—दोनों ही सम्मिलित हैं। एक अच्छे पियानो बजाने वाले के लिए, जो उसे बजाने में पूर्ण निपुण हो, अपने तथा पियानो के योग में अन्तर देखने का कोई अवसर नहीं होता। सुव्यवस्थित तथा सहज रूप से होने वाले किसी भी कार्य में—जैसे स्केटिंग, वार्तालाप करने, संगीत सुनने, अथवा प्राकृतिक दृश्य का आनन्द लेने में, व्यक्ति की विधि तथा विषय-सामग्री के पार्थक्य की, कोई चेतना नहीं होती। पूरी अभिरुचि के साथ तन्मय होकर खेलना तथा कार्य करना, दोनों एक ही घटना हैं।

जब हम अनुभव प्राप्त करने के बजाय उस पर विचार करते हैं, तब अपरिहार्य रूप से अपने दृष्टिकोण तथा उन वस्तुओं में, जिनकी ओर हम अपनी मनोवृत्ति को लगाते हैं, अन्तर पाते हैं। जब कोई व्यक्ति खाने की क्रिया कर रहा होता है, तब वह कोई वस्तु खा रहा होता है; लेकिन वह अपने कार्य को 'खाने' और 'खाद्य-वस्तु' में विभाजित नहीं करता। किन्तु, यदि वह अपने कार्य का वैज्ञानिक विश्लेषण करे, तो यह विभेद उसका पहला कदम होगा। एक ओर तो वह खाद्य-वस्तु के गुणों का परीक्षण करेगा और दूसरी ओर मनुष्य की खाने तथा पचाने की क्रिया का। अनुभव पर इस प्रकार विचार करने से, हम 'क्या' अनुभव करते हैं (अनुभूत वस्तु) तथा हम 'कैसे' अनुभव प्राप्त करते हैं (अनुभव-क्रिया) में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। जब हम इस अन्तर को नाम देते हैं, तो 'विषय-सामग्री' तथा 'विधि' को पदों के रूप में प्राप्त करते हैं। एक ओर तो देखे गए, सुने गए, प्यार किए गए, घृणा किए गए तथा कल्पना किए गए तथ्य हैं और दूसरी ओर देखने, सुनने, प्यार करने, घृणा करने तथा कल्पना करने आदि के कार्य।

यह विभेद इतना स्वाभाविक तथा कुछ प्रयोजनों के लिए इतना आवश्यक

हैं, कि हम इसे केवल विचार का नहीं ; बल्कि वास्तविक रूप से स्थित विभेद समझने के आदी हो गए हैं। इसके बाद फिर हम 'आत्मा' तथा वातावरण, अथवा विश्व में भी विभाग कर देते हैं। यह पृथक्करण ही विषय-सामग्री तथा विधि के द्वैतवाद का मूल है। हम यह मान लेते हैं कि ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि ऐसे तथ्य हैं, जो पृथक् रूप से मन अथवा आत्मा में होते हैं और तब ये स्वतन्त्र विषय-सामग्री के संदर्भ में लाए जा सकते हैं। हम यह मान लेते हैं, कि मन अथवा आत्मा से संबंधित पृथक् तथ्यों के—वस्तुओं की क्रियाशील शक्ति के रूपों से अलग—अपने क्रिया करने के नियम हैं। इन नियमों को विधि का विधायक माना जाता है। ऐसा करना, यह कल्पना करने से कम मूर्खतापूर्ण नहीं है, कि मनुष्य बिना किसी खाद्य-सामग्री का प्रयोग किए ही 'खाते' हैं ; अथवा जबड़े, गले के तन्तु तथा आमाशय की पाचन-क्रियाएँ आदि उसी सामग्री के कारण यह सब हैं, जो इन्हें क्रियाशील बनाती हैं। जिस प्रकार मनुष्य के ये अंग, उस विश्व के अभिन्न अंश हैं, जिसमें विषय-सामग्री स्थित है, ठीक उसी प्रकार, देखने, सुनने, प्रेम करने तथा कल्पना आदि करने की शक्तियाँ भी वास्तविक रूप से विश्व की विषय-सामग्री से जुड़ी हुई हैं। वे कार्य करने के लिए वस्तुओं पर नियोजित स्वतन्त्र-क्रियाएँ होने की अपेक्षा, अधिक सत्य रूप से, वातावरण के अनुभव में प्रवेश करने तथा कार्य करने के ढंग हैं। संक्षेप में अनुभव, मन तथा विश्व, व्यक्ति तथा वस्तु और विधि तथा विषय-सामग्री का योग मात्र नहीं है, अपितु अनेक (शाब्दिक रूप से अगणित) शक्तियों की एक मात्र, सतत, पारस्परिक क्रिया है।

अनुभव की गतिशील एकता की दिशा अथवा मार्ग पर नियंत्रण रखने के प्रयोजन से, हम मानसिक रूप से 'क्या' और 'कैसे' में अन्तर कर लेते हैं। यद्यपि वास्तव में टहलने, खाने और पढ़ने से परे कोई टहलने, खाने और पढ़ने का ढंग नहीं है, फिर भी क्रिया के कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो अधिक प्रभावशाली नियंत्रण के मूलमन्त्र हैं। विशेष ध्यान देने पर ये तत्त्व, प्रत्यक्षीकरण में अधिक व्यक्त हो जाते हैं (यदि कुछ समय के लिए अन्य अंगों पर ध्यान न दिया जाय तो)। अनुभव 'कैसे' होता है, इसका भाव प्राप्त कर लेने पर, हमें इसका संकेत मिलता है कि अनुभव को अधिक सफलतापूर्वक आगे बढ़ाने के लिए कौन-कौन-से अवयव प्राप्त किए जायें तथा किन्हें परिष्कृत किया जाय। यह इस भाव का केवल व्यापक कथन है, कि यदि कोई मनुष्य बहुत-से पौदों की वृद्धि का परीक्षण करता है, जिनमें कुछ तो ठीक तौर से बढ़ते हैं, कुछ

कम और कुछ बिल्कुल नहीं बढ़ते, तो वह यह समझ जाने में समर्थ हो सकता है कि किसी पौदे के सफल विकास के लिए आवश्यक, विशिष्ट परिस्थितियाँ क्या हैं। इन्हीं परिस्थितियों का व्यवस्थित क्रम में कथन, इनकी वृद्धि की विधि, ढंग अथवा रूप होगा। पौदे की वृद्धि तथा अनुभव के उत्तरोत्तर विकास में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही दशाओं में, इनकी सर्वोत्तम प्रगति के निश्चित तत्त्वों को जान पाना, सहज नहीं है ; किन्तु इसकी सफलता तथा असफलता की दशाओं का अध्ययन तथा उनकी सूक्ष्म एवं व्यापक तुलना, कारणों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती है। जब हम इन कारणों को एक क्रम में रख लेते हैं, तो हमें कार्य-व्यापार की विधि अथवा शिल्प की उपलब्धि हो जाती है।

विधि तथा विषय-सामग्री को पृथक् कर देने के कारण, शिक्षा में उत्पन्न कुछ दोषों पर विचार कर लेने से, बात और भी स्पष्ट हो जायगी : १— पहली बात तो यह है, कि इससे अनुभव की वास्तविक परिस्थितियों की अवहेलना होती है (जिसका वर्णन हम कर चुके हैं)। बिना विशिष्ट परिस्थितियों के अध्ययन के, विधि का अन्वेषण नहीं हो सकता। वास्तव में जो कुछ घटित होता है, उसके पर्यवेक्षण द्वारा, भविष्य में उसे अच्छी तरह से सम्पादित करने के लक्ष्य को दृष्टिकोण में रख कर ही, 'विधि' का निर्माण होता है ; लेकिन आदेश तथा अनुशासन में बच्चों तथा किशोरों को प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम ऐसे सामान्य अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता है, जिससे शिक्षक-गण विधि अथवा विकास का सर्वोत्तम क्रम प्राप्त कर सकें। अनुभव इतनी निरोधित परिस्थितियों में प्राप्त होते हैं, कि वे उनके फलीभूत होने के साधारण क्रम पर या तो बहुत कम प्रकाश डालते हैं, या बिल्कुल ही नहीं डालते। 'विधियाँ' अध्यापकों के अपने विचारपूर्ण पर्यवेक्षण का परिणाम होने के बजाय, उनको अधिकारियों द्वारा प्रदान की जाती हैं। यही कारण है, कि उनमें यान्त्रिक एकरूपता होती है और वे सभी व्यक्तियों के लिए एक-सी मान ली जाती हैं। यदि नमनीय वैयक्तिक अनुभव, ऐसा वातावरण उत्पन्न करने से विकसित होता है, जो खेल अथवा कार्य में निर्देशित कार्य-व्यापार करवाता है, तो कथित विधियाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होंगी ; क्योंकि यह निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति में आचरण के विशिष्ट ढंग होते हैं।

२—दूसरे, विधियों को विषय-सामग्री से पृथक् समझ लेने की धारणा ही, अभिरुचि तथा अनुशासन की पूर्व-कथित दूषित धारणा के लिए उत्तरदाई है। जब सामग्री को व्यवस्थित करने के प्रभावपूर्ण ढंग को सामग्री से पृथक्,

पहले ही से तैयार समझा जायगा, तो कल्पना से उत्पन्न सम्बन्ध के अभाव की पूर्ति के केवल तीन भाग हो सकते हैं—पहला तो उत्तेजना के उपयोग द्वारा प्रसन्नता का उद्रेक करना तथा संवेदना जगाना है। दूसरा, ध्यान न देने के फल को दुःखद बना देना है। हम बाह्य विषय-सामग्री से संबंध स्थापित करने की प्रेरणा देने के लिए, 'हानि की धमकी' का सहारा ले सकते हैं, या फिर व्यक्ति से बिना किसी कारण ही प्रयत्न करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से निवेदन किया जा सकता है। हम संकल्प-शक्ति को तात्कालिक प्रयास पर निर्भर कर सकते हैं। अभ्यास में यह विधि तभी प्रभावोत्पादक होती है, जब कि यह अवांछनीय परिणामों के भय से प्रेरित हो।

३—तीसरे, ज्ञान-प्राप्ति के कार्य को अपने-आप में प्रत्यक्ष तथा सचेतन साध्य समझा जाता है। साधारण परिस्थितियों में ज्ञान, विषय-सामग्री के साथ किए गए कार्य-व्यापार का पुरस्कार तथा उपलब्धि है। बच्चे सचेतन रूप से टहलना अथवा बोलना सीखने के लिए, प्रयत्न नहीं करते हैं। व्यक्ति दूसरों के सम्पर्क में आने पर अपनी आदान-प्रदान की चेष्टाओं को अधिकपूर्ण रूप से व्यक्त करता और अपनी प्रत्यक्ष क्रियाओं के परिणामों से शिक्षा ग्रहण करता है। बालक को सिखाने की, जैसे पढ़ना सिखाने की, अच्छी विधियाँ भी इसी मार्ग का अनुसरण करती हैं। वे उसके ध्यान को इस तथ्य पर नहीं स्थिर करतीं कि उसे कुछ सीखना है, और उसके दृष्टिकोण को आत्मचेतन तथा नियोजित नहीं बनातीं; बल्कि उसकी अपनी क्रियाओं को मात्र कार्य-संलग्न कर देती हैं। वह इसी संलग्नता की प्रक्रिया में सीखता है। संख्या अथवा अन्य विषयों का प्रयोग करने वाली अन्य अधिक सफल विधियों के लिए भी, यही सत्य है; लेकिन जब विषय-सामग्री का प्रयोग, इस प्रकार नहीं होता कि वह अन्तःवृत्तियों तथा आदतों एवं महत्त्वपूर्ण परिणामों तक आगे ले जाय, तो केवल 'कुछ' सीखा जाता है। शिष्य का इसके प्रति, केवल इसे सीख लेने का दृष्टिकोण होता है। सतर्क तथा एकाग्र प्रतिचार के लिए इससे और अधिक प्रतिकूल परिस्थिति का मिलना कठिन है। सामने के आक्रमण, युद्ध की अपेक्षा शिक्षा में अधिक घातक सिद्ध होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं, कि बालकों को पाठों में नियोजित करने के लिए अज्ञात रूप से विमोहित किया जाय; बल्कि यह मतलब है, कि वे इनमें वास्तविक कारणों अथवा लक्ष्यों के कारण संलग्न हों, केवल 'कुछ' सीखने के लिए नहीं। ऐसा तभी हो सकता है, जब कि शिष्य, अनुभव की पूर्ति में विषय-सामग्री के स्थान को जानें।

४—चौथे, मस्तिष्क तथा सामग्री के पृथक्करण की धारणा के प्रभाव के कारण, विधि एक शुष्क कार्य-क्रम मात्र बन जाती है। इसमें यांत्रिक रूप से दिए गए कार्य-क्रम को सम्पन्न करना होता है। गिनाया नहीं जा सकता, कि कितने विद्यार्थियों को विभिन्न विद्यालय-कक्षों में गणित अथवा व्याकरण के पाठ सुनाने के लिए उक्त विधि के नियमानुकूल कितने पूर्वनिर्दिष्ट शाब्दिक सूत्रों को रटना पड़ता है। अपने पाठ्य-विषयों को प्रत्यक्ष रूप से समझने, अच्छी विधियों को अपनाकर प्रयोग करने तथा तदुद्भूत परिणामों में विभेद करना सीखने को प्रोत्साहन देने के बजाय, यह मान लिया जाता है, कि अनुसरण करने की एक निश्चित विधि है। साथ ही इसकी भी कल्पना कर ली जाती है, कि यदि बालक अपने कथनों तथा व्याख्याओं को एक निश्चित 'विश्लेशण' के रूप में व्यक्त करें, तो उनकी मानसिक आदतें, समय के अन्दर स्थायित्व प्राप्त कर लेंगी। कोई भी और दूसरी बात ऐसी नहीं है, जिसके कारण शिक्षा-सिद्धान्त इतने अपयश का भागी हुआ हो, जितना कि इसे, अध्यापकों द्वारा शिक्षा में अनुसरण करने के लिए नुस्खे तथा नमूने देना मात्र मान लेना है। निष्कर्ष-प्राप्ति के लिए सामग्री के व्यवस्थापन के, चाहे जिस भी ढंग को स्वीकार किया जाय; किन्तु समस्याओं को सुलझाने में नम्यता तथा प्रेरणा, किसी भी विधि के विशिष्ट गुण होते हैं। मन को सप्रयोजन क्रिया से पृथक् करने वाले किसी भी सिद्धान्त के अपरिहार्य परिणाम, दृढ़, अनम्य, यांत्रिक शुष्कता है।

वैयक्तिक तथा सामान्य विधि

संक्षेप में शिक्षा-विधि, लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, विवेकपूर्वक निर्देशित, कार्य को करने का कलात्मक ढंग है ; किन्तु ललित-कला का अभ्यास, केवल तात्कालिक प्रेरणा का विषय नहीं है। भूतकाल के सफल कलाकारों की क्रियाओं तथा उनके परिणामों का अध्ययन आवश्यक होता है। साधारणतः, सदैव कोई विशेष परम्परा अथवा कोई विशेष कला-संप्रदाय, कार्य प्रारम्भ करने वालों पर प्रभाव डालता है तथा बहुधा उन्हें अपने अंग का अंश बना लेता है। प्रत्येक शाखा में कलाकारों की विधियाँ, सामग्रियों तथा उपकरणों के पर्याप्त ज्ञान पर निर्भर करती हैं। चित्रकार के लिए अंकन-पट, रंगों, तूलिकाओं तथा अपने सभी उपकरणों के प्रयोग की शिल्प-विधि का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए, वस्तुनिष्ठ सामग्री पर दृढ़ तथा एकाग्र रूप से ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। कलाकार यह जानने के लिए कि क्या सफल होता है और क्या असफल, अपने स्वयं के प्रयत्नों का अध्ययन करता है। प्रत्येक कला की कार्यवाही, इस धारणा को बाधित करती है, कि क्या पूर्वनिश्चित नियमों के अनुसरण तथा जन्मजात देनों के विश्वास और तात्कालिक प्रेरणा तथा अनिर्देशित 'श्रम' के युग्मों के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प संभव नहीं है ?

भूतकाल में प्रचलित शिल्प-साधनों, अपने सर्वोत्तम परिणामों की निश्चित प्राप्ति के ढंगों का ज्ञान ही 'सामान्य-विधि' की सामग्री है। परिणामों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त स्थाई विधियों का एक वर्द्धमान निकाय वर्तमान है। यह भूतकाल के अनुभव तथा बौद्धिक विश्लेषण द्वारा पुष्ट हो चुका है ; लेकिन व्यक्ति, संकट के समय इसकी उपेक्षा करता है। जैसा कि आदतों के निर्माण का विवेचन करते समय स्पष्ट किया जा चुका है, कि यह भय सदैव बना रहता है, कि ये विधियाँ कहीं यांत्रिक तथा अनम्य न बन जायें। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, ये कर्त्ता की प्रस्तुत शक्तियाँ होने के बजाय, उसकी नियंत्रक बन जायेंगी ; लेकिन यह भी सत्य है, कि प्रत्येक नवीनता-प्रवर्तक, जो कुछ

स्थाई उपलब्धि प्राप्त करता है तथा जिसका कार्य केवल क्षणिक, सामयिक उत्तेजना की लहर-मात्र उत्पन्न करना नहीं होता, शास्त्रीय विधियों का उससे अधिक प्रयोग करना है, जितना उन्हें स्वयं अथवा आलोचकों को प्रतीत होता है। वह उन्हें नए उपयोगों में लगाता है और एक सीमा तक उन्हें रूपान्तरित भी करता है।

शिक्षा की अपनी सामान्य विधियाँ भी हैं। यदि उपर्युक्त कथन, अध्यापक के लिए अधिक व्यक्त रूप में लागू होता प्रतीत होता है, तो बालक के लिए भी वे तथ्य उतने ही सही हैं। उसकी शिक्षा का अधिकांश, उन विधियों में योग्यता प्राप्त करना है, जो दूसरों के अनुभव के माध्यम द्वारा 'ज्ञानोपलब्धि'[1] में सर्वाधिक सक्षम समझी गई हैं। यही बालक की शिक्षा का मुख्यांश है। ये सामान्य विधियाँ, किसी भी तरह, वैयक्तिक प्रेरणा तथा मौलिकता, अर्थात् कार्य करने के व्यक्तिगत ढंगों की विरोधी नहीं हैं; बल्कि उन्हें और भी दृढ़ बनाती हैं, क्योंकि निर्धारित नियम तथा सर्वाधिक सामान्य विधि में भी मौलिक अन्तर है, निर्धारित नियम कार्य करने का प्रत्यक्ष पथ-प्रदर्शक है तथा सामान्य विधि, अप्रत्यक्ष रूप से साध्यों तथा साधनों का ज्ञान प्रदान करने में सहायक होती हैं। अथवा यह कहा जा सकता है, कि ये बुद्धि के माध्यम से कार्य करती हैं, बाहर से लादे गए नियमों के अनुकूल बनने के माध्यम से नहीं। अत्यन्त सक्षम ढंग से प्रतिष्ठित शिल्प-विधि का प्रयोग करने की योग्यता भी, किसी कलात्मक कृति को संगति नहीं प्रदान कर सकती; क्योंकि संगति एक अनुप्राणित करने वाले भाव पर आधारित है, केवल शिल्प पर नहीं।

यदि दूसरों द्वारा प्रयोग की गई विधियों का ज्ञान, प्रत्यक्ष रूप से यह नहीं बताता, कि हमें क्या करना चाहिए, अथवा हमारे सम्मुख बने-बनाए, आदर्श नहीं प्रस्तुत करता, तो प्रश्न यह उठता है कि यह किस प्रकार कार्य करता है? किसी विधि को बौद्धिक कहने का अर्थ क्या है? इसके लिए किसी चिकित्सक का उदाहरण लीजिए। उसकी व्यवहार-विधि की अपेक्षा, किसी के भी व्यवहार में, रोग-निदान तथा चिकित्सा के पूर्वप्रतिष्ठित विधियों के ज्ञान की, अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु कुछ भी हो, रोगों की दशाएँ केवल समान भर होती हैं, उनमें तादात्म्य नहीं होता। विवेकपूर्वक प्रयोग करने के

---

१ मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक विधियों के नाम से, आगे यह बात स्पष्ट की गई है।

लिए, पूर्व-वर्तमान को, चाहे वह कितना भी प्रामाणिक क्यों न हो, स्थिति-विशेष की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना होगा ; अतएव प्रत्यभिज्ञा प्रणालियाँ, चिकित्सक को इस बात का संकेत देती हैं, कि वह रोग के विषय में कैसे पता लगाए तथा किन उपायों का प्रयोग करे । वे परीक्षण के दृष्टिकोण हैं। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बातों का संकेत देकर, स्थिति-विशेष की विशेषताओं के सिंहावलोकन में मितव्ययिता लाती हैं । चिकित्सक के वैयक्तिक मनोभाव, अपने ढंग (वैयक्तिक विधियाँ), कार्य-प्रणाली के सामान्य सिद्धान्तों के अधीन नहीं होते ; बल्कि उससे निर्देशित होते तथा सुगम बनाए जाते हैं। यह उदाहरण, भूतकाल में उपयोगी पाई गई मनोवैज्ञानिक विधियों तथा औपचारिक युक्तियों के, अध्यापक द्वारा प्राप्त किए गए, ज्ञान का महत्व दिखलाने में भी, काम दे सकता है । यदि वे उसकी अपनी सामान्य बुद्धि के मार्ग में बाधक हैं अथवा यदि वे उसके तथा संबंधित परिस्थिति के बीच, दीवार बन कर खड़ी होती हैं, तो व्यर्थ से भी निम्नतर श्रेणी की होंगी। लेकिन, यदि उनका ज्ञान, उसके अपने विशिष्ट अनुभव के साधनों, कठिनाइयों तथा आवश्यकताओं का रूप निर्धारित करने के लिए सहायक के रूप में प्राप्त किया गया है, तो उनका विधेयात्मक महत्व है । अन्ततः चूँकि सब कुछ उसकी अपनी प्रतिचार-विधि पर आधारित है, अतः अधिकांश इस बात पर निर्भर करता है कि वह दूसरों के अनुभव में आए ज्ञान का अपने प्रतिचार में कहाँ तक उपयोग कर सकता है ।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस कथन का प्रत्येक शब्द, शिष्य की विधि, अर्थात् उसके सीखने के ढंगों पर भी लागू हो सकता है । यह कल्पना करना एक आत्म-प्रवंचन मात्र है, कि विद्यार्थियों को—चाहे वे प्राथमिक पाठशाला के हों, चाहे विश्वविद्यालय के—किसी विषय के अध्ययन तथा उसके विकास में अनुसरण किए जाने के लिए विधियों के आदर्श प्रदान किए जा सकते हैं । इसके परिणाम अत्यन्त शोचनीय होते हैं। किसी भी दशा में व्यक्ति को, अपनी प्रतिक्रिया करनी चाहिए। उन्हीं के समान, दशाओं में दूसरों द्वारा (विशेष रूप से विशेषज्ञों द्वारा) प्रयोग की गई आदर्श अथवा सामान्य विधियों के संकेत, उसी सीमा तक लाभप्रद अथवा हानिकर हैं, क्रमशः जहाँ तक वे उसकी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को अधिक विवेकपूर्ण बनाते हैं, अथवा उसे अपने निर्णय के अभ्यास को छोड़ देने की प्रेरणा देते हैं ।

यदि विचार की मौलिकता के बारे में, पहले जो कुछ कहा जा चुका है, वह अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है तथा जितना सामान्य मानव-स्वभाव की

शक्तियाँ स्वीकार करती हैं, शिक्षा की आवश्यकता उससे अधिक समझी जाती है, तो इसका कारण यह है, कि हम एक अन्ध विश्वास के शिकार हैं। हमने यह मान लिया है, कि एक सामान्य मन है, उसी के अनुकूल एक बौद्धिक विधि भी स्वीकार कर ली है, जो सभी के लिए एक होगी। इसके बाद हम व्यक्तियों को उन्हें प्राप्त 'मन की मात्रा' के आधार पर परस्पर भिन्न समझते हैं। साधारण लोगों से, साधारण होने की आशा की जाती है। मौलिकता, केवल असाधारण लोगों में ही मानी जाती है। एक साधारण तथा प्रतिभाशाली विद्यार्थी का मापदण्ड यह है, कि साधारण विद्यार्थी में मौलिकता का अभाव होता है और प्रतिभाशाली में नहीं। किन्तु 'मन' को यह समझने की धारणा सामान्य रूप से एक कल्पना मात्र है। अध्यापक का यह कार्य नहीं है, कि वह एक व्यक्ति की योग्यताओं की दूसरे के साथ तुलना करे। यह उसके कार्य के लिए अनावश्यक है। आवश्यकता तो इस बात की है, कि प्रत्येक व्यक्ति को सार्थक क्रियाओं में अपनी निजी शक्तियों के उपयोग का अवसर मिले। 'मन' में व्यक्तिगत विधि तथा मौलिकता (ये लगभग विनिमय-साध्य पद हैं, अर्थात् लगभग समानार्थी हैं), सोद्देश्य अथवा निर्देशित कार्य के गुण का अर्थ निहित है। यदि हम विश्वास करें, तो परम्परागत मापदण्ड से भी, जितनी अब तक विकसित हुई है, उससे अधिक मौलिकता प्राप्त कर सकते हैं। एक ही प्रकार की, कथित सामान्य विधि को सब पर लादने से, केवल अत्यन्त असाधारण को छोड़ कर, अन्य सभी मध्यम श्रेणी के बन जाते हैं। और जन-साधारण से भिन्न होने को ही मौलिकता का मापदण्ड मान लेना, उनमें सनक और मन-मौजीपन उत्पन्न कर देना है। इस प्रकार हम बहुतों के विशिष्ट गुणों का गला घोंट देते हैं तथा कतिपय अपवादों के अतिरिक्त (जैसे डार्विन) अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों में एक अवगुण का सूत्रपात कर देते हैं।

वैयक्तिक विधि की विशेषताएँ

ज्ञानार्जन की विधि की सर्वाधिक सामान्य विशेषताओं का वर्णन हम 'विचार' वाले अध्याय में कर चुके हैं। वे चिन्तनात्मक परिस्थिति के गुण हैं, जैसे—समस्या, आंकड़ों का संग्रह तथा उनका विश्लेषण, प्रेक्षण तथा सुझावों (संकेतों) का विकास अथवा भाव, प्रयोगात्मक संप्रयोग और परीक्षण तथा तज्जन्य निष्कर्ष अथवा निर्णय। किसी व्यक्ति की विधि के विशिष्ट तत्त्व अथवा किसी समस्या के सुलझाने के ढंग, वास्तविक रूप से उसकी जन्मजात मनोवृत्तियों तथा उपार्जित आदतों एवं अभिरुचियों में ही मिलते हैं। एक व्यक्ति की विधि दूसरे व्यक्ति की विधि से भिन्न होगी (और वास्तविक रूप से भिन्न होगी); क्योंकि उनकी मूल-प्रवृत्यात्मक शक्तियाँ, भिन्न होंगी तथा उनके भूतकालीन अनुभव एवं अधिमान भिन्न-भिन्न होंगे। जिन्होंने इन बातों का अध्ययन कर लिया है, उनके पास ऐसा ज्ञान होता है, जो अध्यापकों को विभिन्न बालकों के प्रतिचारों को समझने में सहायक होता है। वह उन्हें इन प्रतिचारों का, अधिक क्षमता की ओर पथ-प्रदर्शन करने में सहायता करेगा। बालकों का अध्ययन, मनोविज्ञान तथा सामाजिक वातावरण का ज्ञान, अध्यापन के वैयक्तिक ज्ञान की वृद्धि तथा पूर्ति करते हैं; किन्तु विधियाँ व्यक्ति के वैयक्तिक सम्बन्ध-स्थापन, विषय की गहराई तक पहुँच तथा समस्या को सुलझाने के ढंग हैं। कोई भी तालिका, सम्पूर्ण रूप से उनके रूप-रंग को प्रस्तुत नहीं कर सकती। कुछ ऐसी प्रमुख मनोवृत्तियों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जो विषय-सामग्री को प्रभावपूर्ण बौद्धिक ढंगों से प्रयोग में लाने के लिए आवश्यक हैं। इनमें से प्रत्यक्षता, उदार वृत्ति, एकनिष्ठता (अथवा अनन्यता) तथा उत्तरदायित्व परमावश्यक है।

१—प्रत्यक्षता के अर्थ को अस्त्यात्मक पदों के बजाय, नास्त्यात्मक पदों में व्यक्त करना सरल है। आत्म-चेतना, आकुलता तथा नियोजन, इसे धमकाने वाले शत्रु हैं। वे निर्दिष्ट करते हैं, कि व्यक्ति का विषय-सामग्री से तात्कालिक संबंध नहीं है; बल्कि कोई ऐसी बात बीच में आ गई है, जो सम्बन्ध को

उपसमस्याओं से जोड़ देती है। आत्म-चेता व्यक्ति, आंशिक रूप से तो अपनी समस्या पर और आंशिक रूप से इस पर विचार करता है कि उसके कृत्यों के बारे में लोग क्या सोचते हैं। शक्ति के दूसरी ओर लग जाने के कारण, बल का ह्रास और भावों की संभ्रान्ति उत्पन्न होती है। कोई मनोवृत्ति रखने का अर्थ, अपनी मनोवृत्ति के प्रति चेतन होना कदापि नहीं है। मनोवृत्ति स्वाभाविक, सहज तथा साधारण होती है। यह व्यक्ति तथा वस्तु के अनन्य संबंध का द्योतन करती है। मनोवृत्ति की चेतना का असामान्य होना, आवश्यक नहीं है। यह कभी-कभी गलत दृष्टिकोण को सुधारने तथा प्रयुक्त साधनों की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करने का सरलतम मार्ग है ; जैसे गोल्फ खेलने वालों, पियानो बजाने वालों तथा जनता में भाषण देने वालों को समय-समय पर अपनी स्थिति तथा चेष्टाओं पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। लेकिन, यह आवश्यकता सामयिक तथा अस्थाई होती है। जब इसका प्रभाव होता है, तब व्यक्ति अपने विषय में, क्या करना चाहिए, इस पर विचार करता है तथा अपने-आप को साध्य की प्राप्ति के साधनों में से एक साधन समझता है—जैसा कि टेनिस खेलने वाला, गेंद की शक्ति के अनुपात के अनुसार प्रभावपूर्ण वार करने के लिए सजगता का अनुभव करता है। असामान्य दशाओं में, व्यक्ति अपने को कार्य के साधनों का अंग नहीं ; बल्कि एक पृथक् वस्तु समझता है, जैसा कि खिलाड़ी कोई मनोवृत्ति, देखने वाले लोगों पर इसके द्वारा पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रख कर प्रदर्शित करता है, अथवा अपनी गतिविधि से उत्पन्न होने वाले बुरे प्रभावों के भय के कारण परेशान हो जाता है।

प्रत्यक्षता से व्यक्त होने वाले भाव के लिए, विश्वास, अच्छा पद है ; किन्तु इसका अर्थ आत्म-विश्वास से नहीं लिया जाना चाहिए, जो कि आत्म-चेतना अथवा 'धृष्टता' का एक रूप है। विश्वास, कोई अपनी मनोवृत्ति के बारे में क्या सोचता अथवा अनुभव करता है, इसके लिए दिया गया नाम है। यह प्रतिबिम्ब नहीं है। यह उस आर्जव का द्योतक है, जिसके साथ मनुष्य को जो कुछ करना रहता है, उस तक जाता है। विश्वास मनुष्य की अपनी शक्तियों की सामर्थ्य का सचेतन भरोसा नहीं, अपितु परिस्थिति की संभावनाओं की अचेतन निष्ठा है। यह परिस्थिति की आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ होने का द्योतक है।

विद्यार्थियों को इस तथ्य के प्रति सचेतन बनाने की आपत्तियों का हम निर्देश कर चुके हैं, कि वे अध्ययन कर रहे अथवा सीख रहे होते हैं। जितना

ही वे इस प्रकार सजग होंगे, उतना ही उनका सीखना, सीखना नहीं होगा। उनकी मनोवृत्ति विभाजित तथा जटिल होती जाती है। अध्यापक की जो विधियाँ, बालक के ध्यान को—उसे क्या करना है, इससे हटा कर, वह क्या कर रहा है, इस मनोवृत्ति की ओर लगाती हैं, वे चिन्ता तथा क्रिया की प्रत्यक्षता को निर्बल बना देती हैं। इन विधियों पर जोर देने से बालक में आगा-पीछा करने, निरुद्देश्य होकर इधर-उधर ताकने, कार्य-विधि के लिए विषय-सामग्री द्वारा दिए गए संकेत के बजाय और कहीं से संकेत पाने की आशा करने की, स्थाई मनोवृत्ति बन जाती है। उस विश्वास के स्थान पर, जिससे बालक (तथा शिक्षा के प्रभाव से बचे वयस्कजन भी) परिस्थितियों का सामना करता है, बाह्य संकेतों तथा निर्देशों पर निर्भर करने की मनोवृत्ति का जन्म होता है, जो कि अनिश्चितता तथा विभ्रम की दशा है।

२—उदारवृत्ति, पक्षपात, अभिरुचि की स्थिति का सहगामी है, क्योंकि इसका अर्थ किसी क्रिया में भाग लेना, हाथ बटाना या पक्ष ग्रहण करना है। वैसे यह हर दिशा से प्राप्त होने वाले संकेतों तथा संगत सूचनाओं का स्वागत करने वाली मनोवृत्ति का कारण है। उद्देश्यों के अध्याय में यह दिखाया गया था, कि पूर्व दृष्ट लक्ष्य, परिवर्तनशील परिस्थिति के विकास के अंग हैं। वे कार्य की दिशा का नियंत्रण करने वाले साधन हैं। वे परिस्थिति के अधीन होते हैं, अतः परिस्थितियाँ उनके अधीन नहीं होतीं। वे, ऐसे अंत के अर्थ में प्रयुक्त लक्ष्य नहीं हैं, जिनके लिए हर वस्तु परिष्कृत तथा बलिदान की जाय। वे किसी परिस्थिति के विकास का पथ-प्रदर्शन करने वाले पूर्वद्रष्ट 'साधन' हैं। लक्ष्य, संधान का भावी गंतव्य नहीं, बल्कि वर्तमान संधान को केन्द्रित करने वाला अवयव है। मन की उदार वृत्ति का अर्थ, मन की प्रस्तुत परिस्थिति पर प्रकाश डालने वाले तथा इस या उस विधि से कार्य करने के परिणामों को निर्धारित करने में सहायता करने वाले, किसी भी, अथवा प्रत्येक विचार को सुगमतापूर्वक स्वीकार करने की योग्यता है। अपरिवर्तनीय निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति की क्षमता, संकुचित दृष्टिकोण के मनुष्य में भी हो सकती है। लेकिन, बौद्धिक विकास का अर्थ है, मानसिक क्षितिज का निरन्तर विस्तार तथा परिणाम स्वरूप नवीन प्रयोजनों तथा प्रतिचारों का निर्माण; अतः अज्ञात दृष्टिकोणों का स्वागत करने की मनोवृत्ति, अर्थात् तत्कालीन प्रयोजनों को परिष्कृत करने वाले विचारों को ग्रहण करने की क्रियाशील इच्छा के बिना ये असंभव हैं। विकास की क्षमता को बनाए रखने की शक्ति, ऐसी ही मानसिक उदार हृदयता का फल

है। शिक्षा के हठधर्मी तथा पक्षपातपूर्ण पूर्व-संस्कारों का सब से बड़ा दोष यह है कि वे विकास को रोक देते हैं, मन में नए उद्दीपनों का प्रवेश बन्द कर देते हैं। उदारवृत्ति का भाव, लड़कपन की मनोवृत्ति का अवधारण है तथा अनुदार भाव का अर्थ, अकालिक मानसिक वृद्धावस्था है।

प्रणाली की एकरूपता कायम रखने तथा शीघ्र बाह्य परिणाम प्राप्त करने की अमर्यादित (अत्यधिक) आकांक्षाएँ, उदारवृत्ति के वे प्रबल शत्रु हैं, जिनका विद्यालय के वातावरण में सामना करना पड़ता है। जो अध्यापक, प्रश्न हल करने में विभिन्न विषयों को अपनाने के लिए बालकों को प्रोत्साहित नहीं करता तथा अनुमति नहीं देता, वह उन पर बौद्धिक बंधन डाल देता है। अर्थात्, उनके दृष्टिकोण को अपने मन द्वारा अनुमोदित एक मात्र मार्ग तक ही सीमित कर देता है। विधि की अनम्यता के प्रति इतनी निष्ठा का प्रधान कारण, संभवतः यह है कि यह द्रुत परिशुद्धि के साथ नापी जा सकने वाली तथा शुद्ध परिणाम उत्पन्न करने वाली प्रतीत होती है। 'उत्तर' प्राप्त करने का उत्साह ही यांत्रिक तथा अनन्य विधियों के प्रति उत्साह दिखाए जाने का कारण है। बाध्य करने तथा अधिक दबाव डालने का मूल भी यही है। इसका परिणाम भी सतर्क तथा विभिन्न बौद्धिक अभिरुचियों पर ऐसा ही पड़ता है।

उदार भावना तथा भाव-शून्यता में भेद है। यह लिख कर टाँग देना कि "आपका स्वागत है, सीधे चले आइए, घर में कोई नहीं है।" आतिथ्य की सहृदय भावना का समानार्थी नहीं है ; किन्तु उदारवृत्ति में एक प्रकार की स्थिरता अवश्य है। इसमें अनुभवों को संचित होने, पुंजीभूत होकर परिपक्व बनने देने की तत्परता होती है, जो विकास के लिए आवश्यक है। परिणाम (बाह्य उत्तर अथवा हल) शीघ्रता से प्राप्त किए जा सकते हैं ; किन्तु प्रक्रियाएँ बरबस नहीं लादी जा सकतीं। वे प्रौढ़ बनने के लिए अपना समय लेती हैं। यदि सभी अध्यापक यह स्वीकार कर लें, कि शिक्षात्मक वृद्धि का मापक शुद्ध उत्तरों की उत्पत्ति नहीं ; बल्कि मानसिक प्रक्रिया के गुण हैं, तो शिक्षण में एक क्रान्ति-सी हो जाय।

३—'एकनिष्ठता' जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है, 'प्रत्यक्षता' के अन्तर्गत जो कुछ कहा गया है, उसका बहुत कुछ इस पर लागू होता है। लेकिन, यहाँ इस शब्द का अर्थ अभिरुचि की पूर्णता, प्रयोजन की एकता, ऐसे दबे हुए ; किन्तु प्रभावशाली भावी उद्देश्यों का अभाव है, जिनका कथित उद्देश्य छिपा हुआ है। यह मानसिक न्याय-निष्ठता का समानार्थी है। आत्मसात्करण, तन्मयता

तथा विषय-सामग्री के साथ अपने स्वयं के सम्बन्ध इसके पोषक हैं। विभाजित अभिरुचि तथा टालमटोल की प्रवृत्ति, इसे नष्ट कर देती है।

बौद्धिक न्याय-निष्ठा, ईमानदारी तथा निष्कपटता, वास्तव में सचेतन प्रयोजन के विषय नहीं, अपितु क्रियाशील प्रतिचार के गुण हैं। उनकी प्राप्ति निस्संदेह सचेतन उद्देश्य से पोषित होती है; किन्तु उसमें आत्म-प्रवंचन की बड़ी सहज संभावना है। आकांक्षाएँ अविलम्ब होती हैं। जब दूसरों की इच्छाएँ तथा माँगें उनके प्रत्यक्ष व्यक्तीकरण को रोकती हैं, तो वे अचेतना की गहराइयों में बड़ी सरलता से चली जाती हैं। पूर्ण समर्पण तथा दूसरों द्वारा वांछित कार्य-विधि को पूरी तरह से अपना लेना असंभव है; इससे ऐच्छिक विद्रोह तथा दूसरों को धोखा देने के ऐच्छिक प्रयत्न उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु साधारणतः, परिणाम अभिरुचि की विभ्रान्त तथा बँटी हुई स्थिति है, जिसमें मनुष्य किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। उसे दो स्वामियों की सेवा एक साथ करनी पड़ती है। सामाजिक मूल प्रवृत्तियाँ, दूसरों की प्रशंसा तथा अनुमोदन प्राप्त करने की प्रबल इच्छा, सामाजिक प्रशिक्षण, कर्तव्य तथा अधिकार की सामान्य भावना, दंड का अनुभव, सभी अन्यमनस्क रूप से "पाठ पर ध्यान देने" अथवा अन्य वांछित कार्यों की ओर प्रयत्न करने की ओर इंगित करते हैं। जो स्नेहालु होते हैं, वे वही करने की इच्छा करते हैं, जिसकी उनसे आशा की जाती है। सचेतन रूप से शिष्य यह सोचता है कि वह वांछित कार्य ही कर रहा है; किन्तु इससे उसकी अपनी आकांक्षाएँ नष्ट नहीं हो जातीं। केवल उनकी प्रकट अभिव्यक्ति दब जाती है। इच्छा के विरोधी तत्त्वों पर ध्यान देने के लिए किया गया अतिश्रम, अत्यन्त अरुचिकर होता है। सचेतन इच्छाओं के बजाय, छिपी हुई अचेतन आकांक्षाएँ, विचार की मुख्य गति तथा गम्भीर संवेगात्मक प्रतिचारों को निर्धारित करती हैं। मन, नाममात्र के विषय से हट कर, वास्तविक रूप से अधिक मनोवांछित विषय में जा लगता है। परिणाम यह होता है कि ध्यान, इच्छा की दशा की द्वैतता के कारण, व्यवस्थित रूप से विभक्त हो जाता है।

विद्यालय में, अथवा बाह्य रूप से ऐसे कार्यों में लगे रहने की तात्कालिक अवस्था में, जिसमें उसकी आकांक्षाएँ तथा प्रयोजन नहीं संलग्न रहते, ध्यान की विभक्ति-वृत्ति अथवा द्वैत-बुद्धि, कितनी प्रचलित है, इसे समझने के लिए अपने पूर्व अनुभवों का प्रत्याह्वान करना होगा। हम इसके इतने आदी हो गए हैं कि हम इसकी आवश्यकता को अधिकांश रूप से स्वीकृत समझ लेते हैं। वैसे बहुत अंशों में यह आवश्यक हो भी सकती है; लेकिन यदि ऐसा है, तो

इसके दूपित वौद्धिक परिणामों का सामना करना और भी आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति, 'सचेष्ट' रूप से किसी तथ्य पर ध्यान देने का प्रयत्न करता है, तब उस समय की उपस्थित विचार-शक्ति का कार्य उपयोग है; क्योंकि, अचेतन रूप से उसकी कल्पना स्वभावतः अधिक वांछित तथ्यों में लगी रहती है। इस आत्म-प्रवंचन की आदत तथा इसके सहगामी सत्य के विभ्रान्त भाव का पोषण, मानसिक क्रिया की क्षमता को और भी सूक्ष्म तथा स्थाई रूप से पंगु बना देने वाला है। सत्य का यह दुहरा प्रतिमान (एक तो अपनी निजी तथा लगभग छिपी हुई अभिरुचियों के लिए और दूसरा सामाजिक रूप से स्वीकृत सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए), हम में से बहुतों के मानसिक कार्यों की न्याय-निष्ठता तथा पूर्णता में बाधक है। सचेतन विचार तथा ध्यान एवं मनोवृत्यात्मक अंधी अनुरक्ति तथा आकांक्षाओं का विच्छेद, और भी गंभीर तथ्य है। आदेश की सामग्री के साथ किया गया चिन्तनात्मक व्यवहार, अघमना तथा निरोधित होता है, अतः इसमें ध्यान भटकता रहता है। चूंकि जिन विषयों में ध्यान भटकता है, वे मान्यताहीन होते हैं, अतः बौद्धिक रूप से अनुचित समझे जाते हैं। उनका आदान-प्रदान, परोक्ष होता है। इससे भी बुरा यह है कि गंभीरतम प्रयोजन तथा कल्पना के परम मनोवृत्यानुकूल उपक्रम (क्योंकि वे आकांक्षाओं की प्रियतम वस्तुओं के केन्द्र हैं), आकस्मिक तथा परोक्ष होते हैं। वे अस्वीकार्य विधियों से ही, कार्य में व्यक्त होते हैं। परिणामों के विचार द्वारा परिशोधित न होने के कारण, वे पतन की ओर ले जाने वाले होते हैं।

विचार के मान्य, जन-साधारण तथा सामाजिक रूप से उत्तरदायी कार्यों, और उसकी निजी कुव्यवस्थित तथा दमित क्रियाओं में, मन के इस विभाजन को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियों को विद्यालय के वातावरण में खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। जिसे कभी-कभी 'कठोर अनुशासन' कहा जाता है, अर्थात् बाह्य दमनात्मक दबाव में, यह मनोवृत्ति होती है। कार्य से इतर, बाह्य रूप से पुरस्कार देकर प्रेरणा देने का भी, यही परिणाम होता है। विद्यालय के अध्ययन को केवल 'प्रस्तावना' समझ कर जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी दिशा की ओर ले जाने वाला होता है। चूंकि लक्ष्य, शिष्य की वर्तमान पहुँच से परे होते हैं, अतः दिए गए कार्य की ओर तात्कालिक ध्यान आकर्षित करने के लिए, अन्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है। कतिपय प्रतिचार तो बन जाते हैं; किन्तु असन्तुष्ट आकांक्षाओं तथा अनुरक्तियों को, कोई अन्य निकास-मार्ग मिलना चाहिए। विचार के प्रयोग से बिलकुल संबंध न रखकर,

अर्थात् जिनका यांत्रिक कार्य-क्षमता उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता, स्वतन्त्र कार्य-कुशलता उत्पन्न करने के लिए अपनाए गए शारीरिक व्यायाम पर अत्यधिक बल दिया जाना, कुछ कम हानिकर नहीं है। प्रकृति, मानसिक शून्यता की विरोधी है। जब विचार तथा संवेग, तात्कालिक क्रिया में निकास नहीं पाते, तब अध्यापक उनकी क्रियाओं के बारे में क्या कल्पना करते हैं? क्या केवल अस्थायी रूप से उनका स्थगन हो जाता है, अथवा वे उस क्षण-विशेष के लिए कठिन-साध्य बना दिए जाते हैं ? कुछ भी हो, उनका उन्मूलन नहीं होता, वे स्थगित नहीं किए जाते और केवल तात्कालिक कार्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त, उनका दमन भी नहीं होता। वे अपनी निजी, अव्यवस्थित तथा अनुशासनहीन कार्य-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार, मानसिक प्रतिक्रिया में जो कुछ भी जन्मजात, स्वतःप्रवृत्त तथा जीवन्त होता है, वह अप्रयुक्त तथा अपरीक्षित ही रह जाता है। तथा निर्मित आदतें ऐसी होती हैं, कि जन-साधारण के तथा सर्वमान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन गुणों का न्यूनतम उपयोग संभव है।

उत्तरदायित्व

मानसिक मनोवृत्ति के तत्त्व के रूप में, उत्तरदायित्व का अर्थ, किसी भी उठाए गए कदम के संभाव्य प्रतिफलों पर पूर्व विचार करने तथा ऐच्छिक रूप से उन्हें स्वीकार करने की धारणा है। स्वीकार करने का भाव, उन पर ध्यान देना, कार्य करने में उन्हें मान्यता देना है, केवल शाब्दिक स्वीकृति नहीं। 'भाव' जैसा कि हम देख चुके हैं, असमंजसपूर्ण स्थिति का हल निकालने के वास्तविक दृष्टिकोण तथा विधियां हैं ; प्रतिचारों पर प्रभाव डालने वाले प्रयोगात्मक पूर्व-अनुमान हैं। जब कार्य की भावी अवस्थाओं का, केवल सरसरी निगाह से धरातलीय सिंहावलोकन किया जाता है, तब किसी प्रस्तावित सुझाव के सत्य अथवा कथन के तात्पर्य पर विचार किए बिना ही, उसे स्वीकार कर लेना, बड़ा सहज है, तब पर्यवेक्षण तथा अनुस्मरण, विश्वास तथा स्वीकृति, बाह्य रूप से प्राप्त सामग्री की सहज मौन सहमति के, नाम मात्र बन जाते हैं।

आदेश में, कम-से-कम तथ्य तथा सत्य रखना अच्छा होगा—अर्थात् काल्पनिक रूप से कम-से-कम वस्तुएँ स्वीकार की जायें। तथ्यों तथा पूर्व-द्रष्ट परिणामों के कारण होने वाले भावी आचरण के स्वरूप से आत्मा का तादात्म्य स्थापित किया जाय, तो यह सरल हो जायगा। पाठशाला के विषयों की अनावश्यक जटिलताओं तथा अध्ययन के विषयों और पाठों की संश्लिष्टता के स्थायी रूप से दूषित परिणाम, चिन्ता, तंतुकीय अतिश्रम तथा अस्पष्ट ज्ञान नहीं हैं (यद्यपि ये भी गंभीर हैं), वरन् वास्तविक रूप से जानने अथवा किसी बात में विश्वास करने में, क्या-क्या आवश्यक है, इसे स्पष्ट रूप से समझने की असफलता है। मानसिक उत्तरदायित्व का अर्थ, इस सम्बन्ध के, परिदृढ़ मानदण्ड हैं। अर्जित तथा उपलब्ध बातों पर कार्य करने तथा उन्हें समझने के अभ्यास में ही, इन मानदण्डों का निर्माण होता है।

इस प्रकार, बौद्धिक अध्यवसाय अथवा संपूर्णता, इस मनोवृत्ति का दूसरा नाम है। एक प्रकार का अध्यवसाय, केवल भौतिक होता है, जिसमें किसी

विषय की सूक्ष्मताओं पर यान्त्रिक तथा पूर्ण रूप से अभ्यास किया जाता है। मानसिक अध्यवसाय का अर्थ, किसी तथ्य के अन्तर्निहित तत्वों का पारदर्शी ज्ञान है। यह असंबद्ध विस्तार-समूह के प्रदर्शन पर नहीं, बल्कि प्रयोजन की एकता पर निर्भर है। विस्तार, इसके अधीन होते हैं। यह ध्यान में नहीं व्यक्त होता, चाहे वह वाह्य रूप से लादे गए तथा निर्देशित कार्य के सोपानों के लिए कितना ही अन्तःकरणानुयायी क्यों न हो।

अध्याय का सारांश

विधि, अनुभव की विषय-सामग्री के सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तथा फलोत्पादक रूप से विकसित होने के ढंग हैं। इसीलिए इसका निर्माण उन अनुभवों की गति के पर्यवेक्षण से होता है, जिनमें प्रयुक्त सामग्री तथा वैयक्तिक दृष्टिकोण एवं आचार में कोई सचेतन अन्तर नहीं होता। विधि को अलग समझने की कल्पना का संबंध, 'मन' तथा 'आत्मा' को वस्तु-जगत् से पृथक् करने की धारणा से है। यह आदेश तथा सीखने की क्रिया को रूपात्मक, यांत्रिक, तथा निरोधित बना देती है। जब विधि को वैयक्तिक स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है, तब सफल अनुभव की गति की कतिपय विशेषताओं का ज्ञान, पूर्व अनुभव से प्राप्त ज्ञान-भण्डार तथा समय-समय पर प्रयोग की गई सामग्री की सामान्य समानताओं के आधार पर, प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम व्यक्तियों की मनोवृत्ति के पदों में व्यक्त करना चाहें, तो अच्छी विधि के गुण, आर्जव अथवा प्रत्यक्षता, नम्य बौद्धिक अभिरुचि अथवा सीखने की उदार वृत्ति, प्रयोजन की न्याय निष्ठता तथा अपनी क्रियाओं अर्थात् विचार-क्रियाओं के भी, प्रतिफलों के उत्तरदायित्व की स्वीकृति है।

१४

विषय-सामग्री का स्वरूप

शिक्षक तथा शिक्षार्थी की विषय-सामग्री

जहाँ तक सिद्धान्तों में विषय-सामग्री के स्वरूप का सम्बन्ध है, जो कुछ कहा जा चुका है, वही पर्याप्त है। इसमें किसी परिस्थिति के सप्रयोजन विकास-क्रम में, पर्यवेक्षित, अनुस्मरित, पढ़े तथा बोले गए तथ्य तथा प्रस्तावित भाव सम्मिलित हैं। इस कथन को, विद्यालय की अध्यापन-सामग्री तथा पाठ्य-क्रम का निर्माण करने वाले विषयों के संबंध द्वारा अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। पढ़ने, लिखने, गणित, इतिहास, प्रकृति-अध्ययन, चित्रांकन, गायन, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, आधुनिक तथा विदेशी भाषाओं आदि पर, हमारी परिभाषा लागू करने का क्या अर्थ है ?

हमारे पूर्व-विवेचन में आई हुई दो बातों पर विचार कीजिए। शिक्षा के उपक्रम में, शिक्षक का कार्य, प्रतिचारों को उद्दीप्त तथा शिक्षार्थी की गति का निर्देश करने वाला वातावरण उत्पन्न करना है। अन्तिम विशेषण से यह व्यक्त होता है, कि शिक्षक जो कुछ कर सकता है वह यह है कि वह उद्दीपनों को इस प्रकार परिष्कृत कर दे कि प्रतिचार, यथासंभव निश्चित रूप से वांछित बौद्धिक तथा संवेगात्मक संस्कारों का निर्माण करें। प्रकट है कि, पाठ्य-क्रम के विषय अथवा पाठ्य-सामग्री का इस वातावरण की सृष्टि से निकट संबंध है। दूसरी बात यह है कि निर्मित आदतों को अर्थ प्रदान करने के लिए, सामाजिक वातावरण की आवश्यकता है। अविधिक शिक्षा में, विषय-सामग्री, सीधे सामाजिक संपर्क के क्रोड़ में ले जाती है। यह, सम्बन्धित व्यक्तियों का कार्य तथा कथन है। यह तथ्य, सविधिक अथवा सचेष्ट आदेश की विषय-सामग्री को समझने का सूत्र है। आदिम सामाजिक समुदाय के कार्यों तथा धार्मिक पद्धतियों की सहगामी कहानियों, परम्पराओं, गीतों तथा पूजन-विधियों में एक सम्बन्ध-शृंखला है। वे उन अर्थों के समूह की द्योतक हैं, जो पूर्व-अनुभव में निर्मित हुए हैं। उन्हें समुदाय इतना महत्त्व देता है कि उन्हें अपने सामूहिक जीवन की धारणाएँ समझता है। भोजन करने, शिकार करने, लड़ने-भिड़ने,

संधि करने, कम्बल, मिट्टी के बर्तन, डोलची आदि बनाने, इत्यादि दैनिक व्यवसायों में व्यक्त होने वाले कौशल का अंश होने के कारण, चेतन रूप से, बालक पर उनका प्रभाव डाला जाता है। कभी-कभी तो, उदाहरणार्थ दीक्षा-संस्कारों में, अत्यन्त भावावेगात्मक उत्साह के साथ, उन्हें दीक्षा दी जाती है। समुदाय की पौराणिक कथाओं, किवदन्तियों तथा पवित्र शाब्दिक सूत्रों को चिरस्थाई बनाने के लिए, सीधे अपनी प्रथाओं को संक्रमित करने की अपेक्षा, जानबूझ कर कठोर कष्ट, केवल इसलिए उठाया जाता है कि वे प्रथाओं की तरह साधारण संबंध-प्रक्रिया से नहीं उपार्जित किए जा सकते।

जैसे-जैसे कोई सामाजिक समुदाय, अधिक संश्लिष्ट होता जाता है, उसके अतीतकाल के संचित अनुभव के आदर्श भावों पर निर्भर, उपार्जित कौशल में, वृद्धि होती जाती है। सामाजिक जीवन की वस्तु-सामग्री, शिक्षा के प्रयोजन के लिए, अधिक निश्चयात्मक रूप से सूत्रबद्ध हो जाती है। संभवतः सामाजिक जीवन पर बल देने, परमावश्यक समझे जाने वाले अर्थों को निकालने तथा उन्हें संगत-व्यवस्था के रूप में ढालने का कारण, सामुदायिक जीवन को कायम रखने के लिए, बालक को आदेश दिए जाने की आवश्यकता है। यह प्रवरण, सूत्रबद्ध तथा सुव्यवस्थित करने की क्रिया, एक बार प्रारम्भ हो जाने पर निरन्तर अबाध गति से चलती रहती है। लेखन तथा मुद्रण का आविष्कार, इसे और भी अधिक बल प्रदान करता है। अन्ततः विद्यालय में अध्ययन की जाने वाली विषय-सामग्री का सामाजिक समुदाय की आदतों तथा आदर्शों से सम्बन्ध स्थापित करने वाले 'बंधन', छिप जाते हैं—ढँक जाते हैं। ग्रन्थियाँ इतनी ढीली हो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे थीं ही नहीं। मानो विषय-सामग्री स्वतंत्र रूप से ज्ञान के रूप में वर्तमान थी तथा मानो किसी सामाजिक महत्त्व के बिना ही, इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही ज्ञान प्राप्त करना अध्ययन का कार्य है। हमारे सैद्धान्तिक विवेचन का प्रयोजन, इस परोक्ष संबंध को स्पष्ट करना और विस्तारपूर्वक पाठ्य-क्रम के निर्मायक तत्त्वों के कार्य तथा सामाजिक अन्तर्वस्तु को व्यक्त करना है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के ही दृष्टिकोणों पर विचार करना होगा। शिक्षक के लिए विषय-सामग्री का, शिष्यों के ज्ञान से बहुत अधिक होने का महत्त्व यह है कि यह निश्चित मानदण्ड प्रदान करता है तथा बालक की अस्पष्ट क्रियाओं की संभावनाएँ व्यक्त करता है। (१) पाठशाला की विषय-सामग्री, वर्तमान सामाजिक जीवन के संक्रमण

के लिए वांछित तत्त्वों को विस्तृत रूप से मूर्त पदों में व्यक्त करती है। यह अध्यापक के समक्ष, उत्पन्न की जाने वाली संस्कृति के मूलगत तत्त्वों को व्यवस्थित रूप में रखती है, जिससे वह अर्थ स्पष्ट न रहने पर किए जाने वाले अस्पष्ट प्रयत्नों से, अपने को बचा रखता है। (२) अतीत-काल में क्रियाओं के प्रतिफल-स्वरूप अर्जित 'भावों' का ज्ञान, शिक्षकों को इस योग्य बना देता है कि वे बालक की निष्प्रयोजन तथा संवेगात्मक प्रतीत होने वाली प्रतिक्रियाओं का अर्थ समझ सकें तथा ऐसे उद्दीपन प्रदान कर सकें, जो इन्हें सार्थक बनाने के निर्देश के लिए आवश्यक हैं। शिक्षक को संगीत का जितना अधिक ज्ञान होगा, वह बालक की प्रारम्भिक संगीत-विषयक चेष्टाओं की संभावनाओं को उतना ही अधिक समझ सकेगा। सुव्यवस्थित विषय-सामग्री, उनके अपने ही अनुभव के समान अनुभव, अपने ही अनुभव के संसार के समान संसार, अपनी ही शक्ति तथा आवश्यकताओं के समान शक्ति तथा आवश्यकताओं की द्योतक है। यह पूर्णता अथवा आदर्श, बुद्धिमत्ता का प्रतीक नहीं है, अपितु यह ऐसे नवीन अनुभवों को अग्रसर करने वाली उनकी वर्तमान क्षमता है, जो कम-से-कम कुछ अर्थों में, तत्कालीन ज्ञान तथा कला की वस्तुओं में साकार किए गए अर्जित गुणों से आगे जा सकते हैं।

दूसरे शब्दों में, शिक्षक के दृष्टिकोण से, विभिन्न अध्ययन-विषय, काम में आने वाले साधन तथा पूँजी हैं। बालकों के अनुभवों से उनकी दूरी, केवल प्रातिभासिक नहीं, अपितु वास्तविक है। शिक्षार्थी की विषय-सामग्री इसीलिए सूत्रबद्ध, स्पष्ट तथा व्यवस्थित विषय-सामग्री के अनुरूप न तो होती ही है और न हो ही सकती है, जैसी कि पुस्तकों तथा कला की वस्तुओं में मिलती है। वयस्क जनों की विषय-सामग्री, बालकों की विषय-सामग्री में निहित संभावनाओं का रूप है, उनका तत्कालीन स्वरूप नहीं। यह केवल विशेषज्ञों तथा शिक्षकों के कार्यों में प्रयुक्त होती है, प्रारम्भिक नौसिखुओं तथा विद्यार्थियों की क्रियाओं में नहीं। विद्यार्थी तथा अध्यापक के भिन्न दृष्टिकोणों से, विषय-सामग्री के अन्तर पर ध्यान न देने के कारण ही, पुस्तकों अथवा पूर्व-ज्ञान को प्रकट करने वाले अन्य साधनों के प्रयोग में, अनेक गलतियाँ होती हैं।

मानव-स्वभाव के स्वरूप तथा कार्यों का वास्तविक ज्ञान, केवल इसलिए बहुत आवश्यक है कि विषय-सामग्री के प्रति, शिक्षक की मनोवृत्ति अत्यन्त भिन्न होती है। बालक में अविकसित रूप में जो कुछ अन्तर्निहित होता है, शिक्षक में वह विकसित तथा मूर्त रूप में व्यक्त होता है, अर्थात् बालक जो कुछ

सीखता रहता है, शिक्षक को उसका पहले से ही ज्ञान होता है ; अतएव दोनों की समस्याओं में मौलिक अन्तर है । अध्यापन की प्रत्यक्ष क्रिया में लगे रहने के समय, विषय-सामग्री का ज्ञान, शिक्षक की उँगलियों पर होना चाहिए, और उसका ध्यान, शिष्य की मनोवृत्तियों तथा प्रतिचारों पर । शिष्य की मनोवृत्तियों तथा प्रतिचारों की विषय-सामग्री के साथ होने वाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को समझना उसका काम है, जब कि बालक का मन, अपने ऊपर नहीं ; बल्कि स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत विषय में लगा होना चाहिए । अथवा, यदि हम इसे ही दूसरे रूप में कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि शिक्षक को केवल विषय-सामग्री में ही नहीं संलग्न रहना चाहिए ; बल्कि बालक की वर्तमान आवश्यकताओं तथा शक्तियों के साथ अपने पारस्परिक सम्पर्क में भी भाग लेना चाहिए । अतएव, केवल विद्वत्ता मात्र ही पर्याप्त नहीं है । वास्तव में, विद्वत्ता अथवा विषय-सामग्री के ज्ञान में कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जिन्हें यदि अपने-आप में लिया जाय, तो प्रभावोत्पादक शिक्षा में बाधक सिद्ध होंगी । यह तभी होगा, जब कि अध्यापक स्वाभाविक रूप से बालक के अपने अनुभव में होने वाली विषय-सामग्री की प्रतिक्रिया के विषय में चिन्तित न होंगे । पहले तो उसका ज्ञान, शिष्य के ज्ञान-क्षेत्र से अत्यन्त वृहत् तथा विस्तृत होता है । इसमें ऐसे सिद्धान्त होते हैं, जो अप्रौढ़ शिष्य की समझ तथा अभिरुचि से परे होते हैं । अपने-आप में स्वतः, यह शिष्य के अनुभव के सजीव संसार का प्रतिरूप नहीं होता । ठीक जिस प्रकार ज्योतिष-शास्त्री का मंगल-ग्रह-ज्ञान, शिशु के अपने कमरे के परिचय का प्रतिरूप नहीं है । दूसरे, अर्जित विद्वत्ता की सामग्री को व्यवस्थित करने की विधि, नौसिखुए की विधि से भिन्न होती है । यह तो सत्य नहीं है कि बालक का अनुभव, अव्यवस्थित होता है, अर्थात् उसमें पृथक् अवयव होते हैं, किन्तु यह अभिरुचि के व्यावहारिक केन्द्र-विन्दुओं के सम्बन्ध से, व्यवस्थित होता है । उदाहरणार्थ, बालक का घर, उसके भौगोलिक ज्ञान का व्यवस्थापक केन्द्र है । उसका पास-पड़ोस का टहलना, उसकी दूर की यात्राएँ, उसके मित्रों के वृत्तांत, वे ग्रंथियाँ हैं, जो उसकी सूचना के विषयों को एक सूत्र में बाँधती हैं । किन्तु, भूगोल-शास्त्री का भूगोल, जो इन छोटे-छोटे अनुभवों के भावार्थ को पहले ही विकसित कर चुका होता है, विभिन्न तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर व्यवस्थित होता है ; अपने घर, शारीरिक गतियों तथा मित्रों के सम्बन्धों पर नहीं । प्रशिक्षित हो चुके व्यक्ति के लिए विषय-सामग्री व्यापक, शुद्ध रूप से पारिभाषित तथा तर्कपूर्ण रूप से सुसम्बद्ध होती है । जो

शिक्षा प्राप्त कर चुके होते हैं, उनके लिए यह अस्थायी, आंशिक तथा उसके व्यक्तिगत व्यवसायों से सम्बद्ध होती है।[1] शिक्षा के लिए समस्या यह है कि यह, शिक्षार्थी के अनुभव की प्रगति को विशेषज्ञ के ज्ञान की ओर निर्देशित करती रहे। इसीलिए यह आवश्यक है कि अध्यापक को विषय-सामग्री तथा विद्यार्थी की विशिष्ट आवश्यकताओं और शक्तियों, दोनों का ज्ञान हो।

---

१ चूँकि शिक्षित व्यक्ति भी सदैव शिक्षा ग्रहण करता रहता है ; अतः यह समझ लेना चाहिए कि यह विभेद केवल आपेक्षिक है, निरपेक्ष नहीं। किन्तु, कम-से-कम शिक्षा के प्रारम्भिक सोपान में व्यावहारिक रूप में उसका बड़ा महत्त्व है।

शिक्षार्थी में विषय-सामग्री का विकास

शिक्षार्थी के अनुभव की वृद्धि में, तथ्यों को विकृत किए बिना, तीन पर्याप्त विशिष्ट स्तर बना लेना संभव है। पहली दशा में ज्ञान, विवेकशील योग्यताओं की अन्तर्वस्तु, अर्थात् कार्य-क्षमता के रूप में वर्तमान रहता है। इस प्रकार की विषय-सामग्री अथवा ज्ञात तथ्य, वस्तुओं के परिचय अथवा सम्पर्क में व्यक्त होता है। तत्पश्चात् यह सामग्री क्रमशः धीरे-धीरे, आदान-प्रदान अथवा सूचना द्वारा अर्थ ग्रहण करता तथा अधिक गंभीर बनता है। अन्ततः परिवर्द्धित होकर यह विवेकपूर्वक अथवा तर्कपूर्ण रूप से, व्यवस्थित सामग्री का रूप धारण कर लेता है ; अर्थात् यह ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान बन जाता है, जो आपेक्षिक रूप से विषय के विशेषज्ञ होते हैं।

१—जो ज्ञान सर्व-प्रथम मनुष्यों में आता है तथा जो तात्त्विक रूप से अन्तस्तल में वर्तमान रहता है, 'कैसे किया जाय' का ज्ञान होता है—कैसे टहला, पढ़ा, लिखा, साइकिल पर चढ़ा, मशीन को चलाया, गणित निकाला, घोड़े पर चढ़ा, वस्तुओं अथवा लोगों का प्रबन्ध किया जाय इत्यादि। लक्ष्य के अनुकूल होने वाले मूल प्रवृत्यात्मक कार्यों को, अनौचित्यपूर्ण रूप से, एक चमत्कारिक कार्य समझना, कार्य-साधनों के बौद्धिक नियंत्रण को, ज्ञान समझ लेने की प्रबल मनोवृत्ति का प्रमाण है। ज्ञान की मध्य युगीन धारणा के प्रभाव में आकर—जो कि वैज्ञानिक रूप से सूत्रबद्ध तथ्यों तथा सत्यों के अतिरिक्त, प्रत्येक वस्तु की उपेक्षा करती है—जब शिक्षा यह जानने में असफल हो जाती है कि प्राथमिक अथवा प्रारम्भिक विषय-सामग्री, सदैव ऐसी सक्रिय क्रिया के विषय के रूप में वर्तमान रहती है, जिसमें शरीर का प्रयोग तथा सामग्री का उपयोग सम्मिलित है, तब विषय-सामग्री, शिक्षार्थी की आवश्यकताओं तथा प्रयोजनों से पृथक् हो जाती है। और इस प्रकार, केवल स्मरण कर लेने तथा आवश्यकता पड़ने पर पुनः प्रस्तुत कर देने वाली वस्तु बन जाती है। दूसरी ओर विकास की स्वाभाविक गति की प्रत्यभिज्ञा सदैव, ऐसी परिस्थितियों से प्रारम्भ होती है, जिनमें 'काम करके सीखना' होता है। पाठ्य-क्रम

के प्रारम्भिक सोपान में कलाएँ तथा कार्य-व्यापार रक्खे जाते हैं, क्योंकि वे लक्ष्य-पूर्ति के ज्ञान से सम्बन्धित हैं।

ज्ञान के प्रचलित पर्यायवाची पद सदैव, कार्य करने की योग्यता से सम्बन्ध बनाए रखते हैं, जिसे शास्त्रीय दर्शन नहीं देख पाते। अंग्रेजी के ज्ञान (Ken) और सकना (Can) परस्पर सम्बद्ध पद हैं। ध्यान का अर्थ किसी वस्तु की चिन्ता करना है। जिसमें इसकी अनुरक्ति तथा इसे चाहने, दोनों की ही भावना निहित होती है। 'ध्यान रखने' का अर्थ, आदेशों को कार्यान्वित करना है ; जैसे बच्चा अपनी माँ का ध्यान रखता है, अथवा किसी वस्तु की परवाह करना है ; जैसे माँ अपने शिशु का पालन-पोषण करती है। विवेकपूर्ण तथा औरों का विचार करने वाला होने का अर्थ, दूसरों के स्वत्वों पर विचार करना है। आशंका का अर्थ, अवांछित परिणामों का भय तथा बौद्धिक समझ, दोनों हैं। सद् 'निर्माण' अथवा सद् भावना, परिस्थिति-विशेष में उचित आचरण का ज्ञान है। विवेक बुद्धि, केवल पृथक् करने के लिए विभेद उत्पन्न करना नहीं है, जिसे मात्र बुरे अर्थों में तार्किक कह कर निंदित किया गया है, अपितु क्रिया को दृष्टि में रखकर किसी मामले में अन्तर्दृष्टि रखना है। बुद्धिमत्ता का सम्बन्ध, कभी भी जीवन के उचित निर्देश से पृथक् नहीं रहा है। ज्ञान को कभी भी कृषक, नाविक, व्यापारी, अथवा वेधशाला में प्रयोग करने वाले के जीवन में नहीं, बल्कि केवल शिक्षा में ही मौलिक रूप से कार्य करने से अलग, मात्र सूचनाओं का भण्डार समझा जाता है।

वस्तुओं का विचारपूर्वक प्रयोग करने से, घनिष्ट सम्बन्ध-ज्ञान अथवा परिचय उत्पन्न होता है। उन्हीं वस्तुओं से हम सर्वाधिक परिचित होते हैं, जिनका हम बार-बार प्रयोग करते हैं ; जैसे—कुर्सियाँ, मेजें, कलम, कागज कपड़े, भोजन तथा छुरी-काँटे आदि। 'परिचित' शब्द से व्यक्त होने वाले 'घनिष्ठ' तथा 'संवेगात्मक' भाव के अर्थ में वस्तुओं का ज्ञान, उनके सप्रयोजन प्रयोग से सम्बद्ध होता है। हम वस्तुओं का इतनी बार प्रयोग करते हैं कि उनकी भावी क्रिया अथवा प्रतिक्रिया की पूर्व-कल्पना कर सकते हैं। घनिष्ट परिचय का यही अर्थ होता है। परिचित वस्तु के प्रयोग के लिए हम सदैव तैयार रहते हैं—ये चुपके से हमें चौंका नहीं देतीं अथवा हमारे साथ अप्रत्याशित चालें नहीं चलतीं। इस मनोवृत्ति में सहानुभूति तथा मैत्री और विराम तथा बोध की भावना होती है, जब कि वे वस्तुएँ जिनके हम आदी नहीं होते, अनोखी, अपरिचित, प्रभावहीन, दूरस्थ, अर्थात् 'अमूर्त' होती हैं।

किन्तु हो सकता है कि ज्ञान के इस प्रारम्भिक स्तर का व्यापक कथन, विवेक

को अन्धकारमय बना दे। प्रयोगात्मक रूप से इसमें हमारा वह सारा ज्ञान समाविष्ट है, जो कि इच्छाकृत सविधिक अध्ययन का परिणाम नहीं है। सप्रयोजन कार्यों की रीतियों में, वस्तुओं तथा व्यक्तियों, दोनों के ही प्रति किया गया हमारा संव्यवहार सम्मिलित है। दूसरों के साथ सफल सम्बन्ध बनाए रखने के लिए, आदान-प्रदान के संवेग, तथा संपर्कस्थापन की आदतें अपनानी पड़ती हैं, जिनसे वृहत् सामाजिक ज्ञान-भण्डार की उत्पत्ति होती है। इस पारस्परिक आदान-प्रदान के अंग के रूप में व्यक्ति, दूसरों से बहुत कुछ सीखता है। वे अपने अनुभव तथा दूसरों से सुने हुए अनुभव बताते हैं। जहाँ तक व्यक्ति इन आदान-प्रदानों से सम्बन्ध अथवा अभिरुचि रखता है, यह सामग्री, उसके अपने अनुभव का अंग बन जाती है। दूसरों के साथ का सक्रिय सम्बन्ध, हमारे अपने प्रयोजन का इतना सजीव तथा घनिष्ट अंश है कि उनमें विभेद करना असंभव है। हम यह नहीं कह सकते कि "यहाँ मेरा अनुभव समाप्त हुआ, और यहाँ आपका अनुभव प्रारम्भ हुआ।" जहाँ तक हम किसी सर्वनिष्ठ कार्य के भागीदार हैं, उपक्रम के अपने विशिष्ट भाग के प्रतिफलों के रूप में दूसरों से प्रदान की गई वस्तुएँ, हमारे अपने विशेष कार्य से उत्पन्न अनुभव में तुरन्त घुल-मिल जाती हैं। कान भी अनुभव का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है, जितना कि आँख अथवा हाथ ; आँख अपने क्षेत्र से परे की घटनाओं की सूचनाओं को पढ़ने के काम आती है। स्थान और समय की दृष्टि से दूरस्थ वस्तुएँ भी हमारे कार्य के विषयों पर उतना ही प्रभाव डालती हैं, जितना कि वे वस्तुएँ, जिन्हें हम सूँघ सकते अथवा पकड़ सकते हैं। हमारा उनसे वास्तविक सम्बन्ध होता है तथा परिणाम-स्वरूप उनका कोई भी वर्णन, जो वर्तमान वस्तुओं के संव्यवहार में सहायता करता है, हमारे वैयक्तिक अनुभव के अन्तर्गत ही आता है।

इस प्रकार की विषय-सामग्री को 'सूचना' कहा जाता है। वैयक्तिक कार्यों में संवाद का स्थान, हमें विद्यालय में सूचनात्मक सामग्री के महत्त्व का मूल्यांकन करने का मापदण्ड प्रदान करता है। क्या वह ऐसे प्रश्न से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है, जिससे विद्यार्थी का सम्बन्ध होता है। क्या यह अधिक प्रत्यक्ष परिचयात्मक ज्ञान के सामर्थ्य की वृद्धि करती तथा अर्थों को गंभीर बनाने में सफल होती है? यदि यह इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, तो यह शिक्षात्मक है। यदि विद्यार्थी को पढ़ी अथवा सुनी गई बातों की आवश्यकता न हो, तथा वह इन्हें अपनी किसी परिस्थिति-विशेष में प्रयुक्त न कर सके, तो

इनका कोई महत्त्व नहीं है। अर्थात् इनकी बहुलता में कोई विशेष अच्छाई नहीं है ; किन्तु वास्तविक अभ्यास में, इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना उतना सहज नहीं है, जितना कि उन्हें सिद्धान्त-रूप में व्यक्त करना। आधुनिक काल में पारस्परिक संवाद के क्षेत्र की वृद्धि, आकाश की दूरस्थ वस्तुओं तथा इतिहास की भूतकालीन घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के आविष्कार, सूचनाओं को अंकित करने तथा वितरित करने की मुद्रण-कला-जैसी नवीन युक्तियों की सहजता ने (चाहे वास्तविक तथा निन्दित रूप से), प्रदान की जा सकने वाली वस्तुओं के ज्ञान-भण्डार को अधिक बढ़ा दिया है। इसके दलदल में विद्यार्थी को फँसा देना, उसके प्रत्यक्ष अनुभव में उन्हें क्रियाशील बनाने की अपेक्षा, अत्यन्त सहज है। प्रायः यह एक ऐसे अन्य लोक का निर्माण करती है, जो वैयक्तिक अनुभव के संसार से परे होता है। विद्यार्थी की सम्पूर्ण समस्या, विद्यालय के प्रयोजनों के लिए, और सुनाने तथा उत्तीर्ण होने के 'प्रयोजनों के लिए, अध्ययन करना है। यही दोनों बातें उस अनोखे संसार के मुख्य अंग हैं। सम्भवतः आज-कल अधिकांश लोगों के लिए, शिक्षा शब्द का सर्वाधिक विशिष्ट भाव दूसरों द्वारा निश्चित किए हुए तथ्यों तथा सत्यों का निकाय है ; अर्थात्, पुस्तकालयों की आलमारियों में सजे हुए ढेर-के-ढेर भौगोलिक मानचित्रों, कोषों, इतिहासों, यात्रा-पुस्तकों, वैज्ञानिक ग्रन्थों आदि से प्राप्त होने वाली सामग्री को ही शिक्षा समझा जाता है।

आरोपित की जाने वाली इस विशालकाय ज्ञान-सामग्री ने, अचेतनरूप से, मनुष्य की स्वयं अपने ज्ञान के स्वरूप की धारणा पर, प्रभाव डाला है। प्रायः उन कथनों तथा प्रस्तावनाओं को ही ज्ञान समझ लिया जाता है, जिनमें समस्याओं के सक्रिय प्रयोजन का विषय, अर्थात् ज्ञान, निक्षिप्त होता है। अन्वेषण के प्रतिफल तथा आगामी अन्वेषण के साधन के रूप में, अपने स्थान से स्वतन्त्र ज्ञान के अभिलेख को ही, ज्ञान समझ लिया जाता है। मनुष्य का मन, अपनी पूर्व विजयों के ध्वंसावशेषों द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। अस्त्र-शस्त्र तथा अज्ञात से युद्ध करने की क्रियाएँ नहीं, अपितु ध्वंसावशेष ही, ज्ञान, तथ्य तथा सत्य का अर्थ निर्धारित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

यदि दार्शनिकों तथा नैयायिकों ने, ज्ञान तथा सूचना को व्यक्त करने वाले प्रस्तावों का तादात्म्य स्वीकार किया है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि शिक्षा को लगभग उसी आदर्श ने अधिकृत कर रक्खा है। अध्ययन की विभिन्न शाखाओं में विभक्त सूचना ही अधिकतर अध्ययन के पाठ्य-क्रम में रक्खी

जाती है। प्रत्येक विषय के सम्पूर्ण भण्डार को, क्रमागत, छोटे-छोटे अंशों के रूप में रखने वाले पाठों में, बांट दिया जाता है। सत्रहवीं शताब्दी में यह भण्डार इतना छोटा था कि लोग इसके पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के आदर्श को रख सकते थे। अब यह इतना बढ़ गया है कि किसी एक व्यक्ति के लिए, इन सब का ज्ञान प्राप्त करना, नितान्त असंभव है। किन्तु, शिक्षा का आदर्श उसके अनुकूल परिवर्तित नहीं किया गया है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा की अथवा कम-से-कम एक चुने हुए समूह की सूचना के अल्पज्ञान का उपार्जन ही वह सिद्धान्त है, जिसके द्वारा प्राथमिक पाठशालाओं तथा उच्च विद्यालयों के पाठ्य-क्रम का निर्माण किया जाता है। सरल अंशों को आरंभिक वर्षों में तथा अधिक कठिन अंशों को बाद के वर्षों में पढ़ाया जाता है। शिक्षकों की ये शिकायतें कि शिक्षा, बालकों के चरित्र में नहीं प्रवेश करती तथा उनके आचरण पर प्रभाव नहीं डालती ; याद करने, रटने, तथ्यों को घोंट डालने, सूक्ष्म विभेद तथा नियमों और सिद्धान्तों के अशुद्ध-बोध में अनुरक्ति के विरुद्ध लाए जाने वाले प्रत्याख्यान, सभी इसी विचारधारा के परिणाम हैं। वह ज्ञान, जो प्राचीन या दूसरे लोगों का ज्ञान होता है, सूचना के प्रति यह आपत्ति करता है कि यह केवल शाब्दिक होती है, अथवा केवल शब्दों के माध्यम से ही प्रदान की जाती है, ठीक नहीं है। लेकिन जहां तक प्रदत्त सूचना, शिक्षार्थी के वर्तमान अनुभव में संघटित नहीं की जा सकती, यह केवल शाब्दिक रह जाती है, अर्थात्, शुद्ध ऐन्द्रिक उद्दीपन मात्र बन जाती है, जिसका कोई अर्थ नहीं होता। तब यह केवल यान्त्रिक प्रतिक्रिया, कथनों को दुहराने के लिए वाक्-अंगों का प्रयोग करने की योग्यता, अथवा हाथ से लिखने या गणित निकालने की योग्यता ही उत्पन्न कर सकती है।

अपने में जानकारी रखना, कार्य के लिए सुसज्जित होना है। यह समस्या सुलझाने के लिए तथा उसका हल निकालने की खोज तथा स्वयं हल को और अधिक महत्त्व देने के लिए आवश्यक विषय-सामग्री को अपने अधिकार में रखना है। सूचनात्मक ज्ञान वह साधन है, जिसका सन्देहास्पद परिस्थिति में प्रदत्त, व्यवस्थित, सिद्ध तथा निश्चित सत्य के रूप में सहारा लिया जा सकता है। यह मन के लिए संदेह से आविष्कार तक के मार्ग का पुल है। यह मानसिक मध्यस्थ का कार्य करता है। यह मानव-जाति के पूर्व-अनुभवों के वास्तविक परिणाम को घनीभूत करके उपलब्ध रूप में अंकित करता है, जो नवीन अनुभवों के अर्थ में वृद्धि करता है। जब किसी को यह बताया जाता है कि ब्रूटस ने सीजर को मार डाला था, अथवा एक वर्ष में ३६५ दिन होते हैं, या वृत्त के व्यास

तथा परिधि का अनुपात ३.१४१५ है....तो व्यक्ति, वास्तविक रूप से दूसरों का ज्ञान प्राप्त करता है ; किन्तु उसके लिए तो वह ज्ञान-प्राप्ति का उद्दीपन मात्र है। उसका ज्ञानार्जन तो उसके इस प्रदत्त वस्तु के प्रति किए गए प्रतिचार पर निर्भर है।

विज्ञान अथवा सुव्यवस्थित ज्ञान

विज्ञान, ज्ञान के सर्वाधिक विशिष्ट रूप का नाम है। यह आपेक्षिक रूप से, ज्ञानार्जन के परिशुद्ध प्रतिफल अर्थात् उसकी निष्पत्ति का प्रतीक है, उपलब्धि में जो कुछ असंदिग्ध, निश्चित, परिनिष्ठित तथा निर्णीत होता है, वही ज्ञान है। हम इसके 'द्वारा' विचार करते हैं, इसके 'बारे में' नहीं। सम्मान-सूचक अर्थ में ज्ञान को मत, अनुमान, अटकल, विचार अर्थात् मीमांसा आदि से उच्च श्रेणी का समझा जाता है। ज्ञान में तथ्य निश्चित होते हैं, संदिग्ध नहीं ; लेकिन अनुभव से हमें पता चलता है कि 'विषय-सामग्री' की बौद्धिक निश्चयात्मकता तथा 'हमारी अपनी' निश्चयात्मकता में अन्तर है। हमारी बनावट ही कुछ इस प्रकार की है कि हम विश्वास कर सकें। आशु-विश्वास स्वाभाविक है। अनुशासनहीन मन, असमंजस में पड़ना तथा बौद्धिक आगा-पीछा करना नहीं चाहता। यह निश्चय में रहने का आदी होता है। यह निश्चित तथा व्यवस्थित वस्तुएँ ही पसन्द करता है तथा उन्हें बिना अच्छी तरह परिशुद्ध किए ही ठीक मान लेता है। घनिष्टता, सामान्य ख्याति तथा इच्छानुकूलता ही, सत्य का मापदण्ड मान लिया जाता है। अज्ञान, सामन्य मतों में स्वीकार की गई तथा प्रचलित भूलों का रूप धारण कर लेता है। यह ज्ञानार्जन का अज्ञान से अधिक बड़ा शत्रु है। इस प्रकार सुकरात घोषणा करता है कि अपनी अज्ञता का ज्ञान, विद्वत्ता के प्रभावशाली अनुराग का प्रारम्भ है तथा देकार्ते कहता है कि विज्ञान, सन्देह से उत्पन्न होता है।

हम पहले ही इस तथ्य पर विचार कर चुके हैं कि विषय-सामग्री अथवा तथ्य-संचय तथा 'भावों' को अपना महत्त्व प्राप्त करने के लिए, प्रयोगात्मक रूप से परीक्षित होना पड़ता है। अपने-आप में तो वे केवल प्रयोगात्मक तथा अस्थाई होते हैं। अप्रौढ़ स्वीकृति तथा निश्चित कथन से, हमारे अनुराग तथा स्थगित निर्णय के प्रति हमारी विमुखता, इस बात के प्रतीक हैं कि हम स्वभावतः परीक्षण-प्रक्रिया को छोटी-से-छोटी रखना चाहते हैं। हम केवल धरातलीय तथा

तात्कालिक, अदूरदर्शी संप्रयोगों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। यदि ये व्यवहार में मध्यम संतोष भी देते हैं, तो हम यह कल्पना करके संतोष कर लेते हैं कि हमारी प्रस्तावना पुष्ट हो गई। असफलता की दशा में भी हम अपने आँकड़ों तथा विचारों की अपर्याप्तता तथा अशुद्धियों को दोष नहीं देते ; बल्कि सारा दोष अपने दुर्भाग्य तथा परिस्थितियों की विषमता के सिर मढ़ देते हैं। हम अपनी योजना की अशुद्धि तथा परिस्थितियों के अपूर्ण अन्वेषण (तथा उनके द्वारा पूर्व-परिस्थितियों का परिष्कार करने के लिए तथा बाद की परिस्थितियों के लिए उद्दीपन प्रदान करने वाली सामग्री प्राप्त करने) को दूषित परिणामों के लिए उत्तरदाई नहीं ठहराते, बल्कि दुर्दम्य भाग्य को इनका कारण मानते हैं। ऐसे परिणाम उत्पन्न करने पर भी, अपनी धारणाओं को अपनाए रहने की दृढ़ता के लिए, हम अपने-आप पर गर्व भी करते हैं।

विज्ञान, इन प्राकृतिक-शक्तियों तथा उनसे उत्पन्न बुराइयों से, मानव-जाति की रक्षा करता है। इसमें वे विशिष्ट उपकरण तथा विधियाँ सम्मिलित हैं, जिनका मानव-जाति ने उन परिस्थितियों में चिंतन करने के लिए निर्माण किया है, जिनमें इसकी कार्यवाही तथा परिणामों की परीक्षा की जाती है। यह कृत्रिम (उपार्जित कला) है, स्वाभाविक नहीं ; अर्जित है, जन्मजात नहीं। यही तथ्य, शिक्षा में विज्ञान के अद्वितीय तथा अमूल्य महत्त्व का कारण है। और यही उसके सही प्रयोग न करने पर आपत्ति-जनक परिणामों की उत्पत्ति की धमकी भी देता है। वैज्ञानिक भाव के सूत्रपात के बिना, मनुष्य को वे साधन नहीं प्राप्त हो सकते, जिन्हें मानव-जाति ने अब तक सफल निर्देशित चिन्तन के लिए अपनाया है। इस दशा में, मनुष्य अन्वेषण तथा अध्ययन में केवल सर्वोत्तम उपकरणों का अभाव ही नहीं पाता, अपितु ज्ञान का पूर्व अर्थ समझने में भी असफल होता है ; क्योंकि वह उन गुणों से परिचित नहीं हो पाता, जो अनुज्ञप्त, दृढ़ धारणाओं को साधारण मतों तथा सम्मतियों से पृथक् करते हैं। दूसरी ओर यह तथ्य है कि विज्ञान ने कला-कौशल की अत्यधिक विशिष्ट परिस्थितियों में ज्ञान को पूर्ण बनाया है तथा ऐसे परिणाम उत्पन्न किए हैं, जो अपने-आप में साधारण अनुभव से बहुत दूर हैं। साधारणतः पार्थक्य के इस गुण को 'अमूर्त' अथवा सूक्ष्म पद से व्यक्त किया जाता है। जब यह प्रार्थक्य, शिक्षा में भी दृष्टिगोचर होता है, तब वैज्ञानिक सूचना से बनी-बनाई विषय-सामग्री प्रस्तुत करने के कारण उत्पन्न होने वाले खतरों की, उत्पत्ति की सूचना के अन्य रूपों की अपेक्षा, अधिक संभावना रहती है।

विज्ञान की परिभाषा, अन्वेषण तथा परीक्षण की विधि के पदों में दी जाती है। पहले तो यह परिभाषा इस वर्तमान धारणा के प्रतिकूल जान पड़ती है, कि विज्ञान सुव्यवस्थित शास्त्रीय ज्ञान है। लेकिन, यह विरोध, केवल प्रातिभासिक है। और प्रस्तुत साधारण परिभाषा को पूर्ण कर देने पर, यह विरोध दूर हो जाता है। केवल 'व्यवस्था' नहीं, वल्कि परीक्षित अन्वेषण की यथेष्ट शुद्ध विधियों द्वारा 'उत्पन्न व्यवस्था', विज्ञान की विशेषता है। जहाँ तक कोई कृषक अपने कार्य में सक्षम होता है, उसका भी ज्ञान, आपेक्षिक रूप से व्यवस्थित होता है। यह साधन और साध्य के संबंधों के आधार पर व्यवस्थित होता है—अर्थात व्यावहारिक रूप से व्यवस्थित किया जाता है। ज्ञान (अर्थात् यथेष्ट रूप से परीक्षित तथा पुष्ट किए गए ज्ञान के अर्थ में) के रूप में इसकी व्यवस्था, इसकी फसल तथा तज्जन्य अन्न की उत्पत्ति के संदर्भ में की गई व्यवस्था से संबंधित है; किन्तु वैज्ञानिक विषय-सामग्री, अन्वेषण के उपक्रम के सफल आचार के विशिष्ट संदर्भ में व्यवस्थित की जाती है। इसमें ज्ञान प्राप्त करना, एक विशिष्टता-प्राप्त कार्य है।

विज्ञान में हमें जिस प्रकार का निश्चय प्राप्त होता है, उसका उल्लेख इस कथन पर पर्याप्त प्रकाश डालेगा। यह विवेकपूर्ण निश्चय है, जो न्याय-संगत होता है। अतएव, वैज्ञानिक व्यवस्था का आदर्श यह है कि प्रत्येक धारणा तथा कथन इस प्रकार का होना चाहिए, जो दूसरी धारणाओं तथा कथनों से प्रसूत हो तथा अन्य धारणाओं तथा कथनों की ओर ले जाता हो। भावनाएँ तथा प्रस्तावनाएँ, अन्योन्याश्रित रूप से, एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं। 'दूसरों तक ले जाने तथा पुष्ट होने' का दुहरा सम्बन्ध ही 'तार्किक तथा विवेकशील' पदों का अर्थ है। पानी की दैनिक जीवन की धारणा पीने, धोने, सिंचाई करने इत्यादि साधारण प्रयोजनों के लिए, रसायन-शास्त्री के विचार की अपेक्षा अधिक उपयोगी है तथा H2O के रूप में रसायन-शास्त्री द्वारा इसका वर्णन अन्वेषण के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह, पानी के स्वरूप को ऐसे ढंग से व्यक्त करता है, जो इसका अन्य वस्तुओं के ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करता है। सूत्र को समझनेवाले के लिए यह प्रस्तुत ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ तथा वस्तुओं के स्वरूप के अंशों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, दोनों का संकेत इसमें मिलता है। वस्तुतः यह पानी के वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों को उतना ही व्यक्त करता है, जितना कि यह कथन कि पानी प्यास बुझाने वाला, स्वाद तथा गन्ध-हीन, पारदर्शी द्रव है। यह कहना कि पानी के ये

सम्बन्धित गुण हैं, उतना ही सत्य है, जितना कि यह कथन कि पानी हाइड्रोजन के दो परमाणुओं तथा आक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से बनता है। किन्तु तथ्यों को निश्चित करने के लिए, अन्वेषण करने के विशिष्ट प्रयोजन के लिए, रसायन-शास्त्री के सम्बन्ध, अधिक मौलिक हैं। जितना ही कोई व्यक्ति, व्यवस्था को विज्ञान का विशेष गुण मानने पर बल देता है, उतना ही उसे विज्ञान की परिभाषा में विधि की प्राथमिकता को अधिक स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि विधि ही उस प्रकार की व्यवस्था का रूप निर्धारित करती है, जिसके कारण विज्ञान, विज्ञान है।

सामाजिक विषय-सामग्री

हमारे आगामी अध्याय, विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं तथा विषयों को लेकर, उनका उस ज्ञान के विकास के क्रमिक सोपानों के रूप में वर्णन करेंगे, जिसकी हम अब तक विवेचना करते रहे हैं। विषय-सामग्री के सामाजिक स्वरूप पर अभी कुछ कहना अवशेष है ; क्योंकि हमारा पूर्व विवेचन मुख्यतः इसके बौद्धिक अवयव से ही सम्बन्धित रहा है। जीवन्त ज्ञान तथा प्रयोजनों से प्रेरित वास्तविक समस्याओं से सम्बन्धित आँकड़ों तथा भावों की भी गहराई तथा विस्तार में अन्तर होता है ; क्योंकि प्रयोजनों के सामाजिक विस्तार तथा समस्याओं के सामाजिक महत्त्व में अन्तर है। शिक्षा के लिए (विशेष कर सर्वाधिक विशिष्टीकृत ज्ञान के अतिरिक्त अन्य निम्न प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के लिए) वैकल्पिक रूप से वर्तमान संभाव्य सामग्री के विस्तृत क्षेत्र में से चुनाव करने के लिए, सामाजिक महत्त्व के मानदण्डों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

सारी सूचनाएँ तथा व्यवस्थित वैज्ञानिक विषय-सामग्री, सामाजिक जीवन की परिस्थितियों में ही निर्मित हुई है, तथा इसका संचरण भी सामाजिक माध्यम द्वारा हुआ है, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता, कि वे सभी समाज के सदस्यों के संस्कार-निर्माण करने तथा उनको योग्य बनाने के प्रयोजन के लिए समान महत्त्व की हैं। पाठ्य-क्रम की योजना के विषय को तत्कालीन सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसका चुनाव हमारे सामाजिक जीवन के सुधार को ध्यान में रख कर ही किया जाना चाहिए ; ताकि भविष्य, भूतकाल की अपेक्षा अच्छा हो। इसके अतिरिक्त पाठ्य-क्रम की योजना ऐसी होनी चाहिए कि मूल बातों, अर्थात् मूतत्त्वों को प्राथमिकता दी जाय और सूक्ष्मताओं को माध्यमिकता। सारभूत तत्त्व वही हैं, जो सामाजिक रूप से सबसे अधिक आधारभूत हैं, अर्थात् जिनका सम्बन्ध उन अनुभवों से है, जिनमें सर्वाधिक विस्तृत समुदाय भाग लेते हैं।

जो बातें विशिष्ट समुदायों की आवश्यकताओं तथा प्रविधिक ज्ञान की प्रतीक हैं, वे माध्यमिक हैं। इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि शिक्षा को मानवीय पहले होना चाहिए, व्यावसायिक बाद में। किन्तु, जो लोग इस कथन का साधारण प्रयोग करते हैं, बहुधा उनके मन में 'मानवीय' पद का अर्थ उच्च 'विशिष्ट वर्ग' होता है—अर्थात् ऐसे विद्वज्जनों का वर्ग होता है, जो अतीत काल की प्रतिष्ठित परम्पराओं को सुरक्षित रखते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सामग्री जितनी ही मनुष्य के रूप में मनुष्य की सर्वनिष्ठ अभिरुचियों से सम्बन्धित होगी, उतनी ही अधिक मानवीय होगी।

प्रजातन्त्रात्मक समाज को अपने अस्तित्व के लिए पाठ्य-क्रम के निर्माण में, विस्तृत मानवीय मानदण्डों के प्रयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। जहाँ शिक्षा की विषय-सामग्री के प्रवरण में, संकुचित रूप से विचार किए गए उपयोगितावादी उद्देश्य, जन-साधारण के लिए, तथा कतिपय उच्चजनों की ऊँची शिक्षा के लिए—विशेष रूप से संस्कृत वर्ग की परम्पराएँ स्वीकार की जाती हैं, वहाँ कभी भी प्रजातन्त्र विकसित नहीं हो सकता। त्रि-सूत्रीय[1] यान्त्रिक प्रशिक्षण को प्राथमिक शिक्षा का 'सारभूत तत्त्व' मान लेने की धारणा, प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों की प्राप्ति के लिए आवश्यक, मुख्य तत्त्वों के अज्ञान पर निर्भर है। यह अचेतन रूप से यह मान लेती है कि ये आदर्श अप्राप्य हैं। इस धारणा में यह कल्पना कर ली जाती है कि 'जीविकोपार्जन' अथवा 'जीवन-यापन' भविष्यत् काल में भी अतीत-काल की तरह अधिकांश नर-नारियों द्वारा, स्वेच्छापूर्वक प्रवरित तथा अपने कर्ताओं को सज्जन बनाने वाला कार्य नहीं समझा जायगा। इसके उद्देश्यों का, स्वयं कर्ताओं के लिए कोई महत्त्व नहीं होता; बल्कि पारितोषिक रूप में धन-प्राप्ति के लिए दूसरों के निर्देशानुसार यह कार्य किया जाता है। इस प्रकार के जीवन के लिए तथा केवल इसी प्रयोजन के लिए, अधिक संख्या में लोगों की तैयारी का मुख्य तत्त्व, कुछ शारीरिक दक्षता के अर्जन के साथ-साथ, लिखने-पढ़ने, वर्तनी प्रस्तुत करने, तथा चित्रांकन की यान्त्रिक क्षमता प्राप्त करना है। ऐसी परिस्थितियाँ, उदार शिक्षा में भी कुछ अनुदार तत्त्व उत्पन्न कर देती हैं। मानवता की गंभीर समस्याओं के चिंतन से समुत्पन्न अनुशासन तथा ज्ञान प्राप्त करने के बजाय, इनमें कुछ परोपजीवी उपार्जन

---

१ तीन रकार (Rs) = रीडिंग (पढ़ना), राइटिंग (लिखना), रिथमेटिक (गणित)

की भावना निहित होती है। सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करने वाले शिक्षा के पाठ्य-क्रम को, ऐसी परिस्थितियाँ प्रस्तुत करनी चाहिएँ कि उनमें जीवन की समस्याएँ, अर्थात् सामाजिक जीवन की समस्याएँ सम्बन्धित हों, और जहाँ निरीक्षण तथा सूचना का स्वरूप, सामाजिक अंतर्दृष्टि तथा अभिरुचि के विकास को ध्यान में रख कर, निर्धारित किया जाय।

अध्याय का सारांश

शिक्षा की विषय-सामग्री के मौलिक रूप से उन अर्थों का बोध होता है, जो तत्कालीन सामाजिक जीवन को अन्तर्वस्तु प्रदान करते हैं। सामाजिक जीवन का क्रम जारी रखने के लिए, भूतकाल के संचित सामूहिक अनुभव द्वारा, इनमें से बहुत-से अर्थ, वर्तमान क्रियाओं को प्रदान किए जाते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन अधिक संश्लिष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे इन अवयवों की संख्या तथा अर्थव्याप्ति में भी वृद्धि होती जाती है। नवीन पीढ़ी में उन्हें यथेष्ट रूप से संक्रमित करने के लिए, उनके विशेष प्रवरण, सूत्रबद्धता तथा व्यवस्थापन की आवश्यकता है। किन्तु, शिक्ष-प्रक्रिया ही स्वयं, विषय-सामग्री को, बालक के तत्कालीन अनुभव में निहित अर्थों की प्राप्ति को प्रोत्साहन देने के कार्य से परे, अपने-आप में महत्त्वपूर्ण बना देना चाहती है। विशेषकर शिक्षक में ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि बालक में निश्चित कथनों के रूप में, विषय-सामग्री को आत्मसात् करने तथा उसे पुनः प्रस्तुत कर सकने की योग्यता उत्पन्न करना ही, उसका कार्य है। वे विकासशील सामाजिक सदस्य के रूप में बालक की अपनी क्रियाओं में इस विषय-सामग्री का व्यवस्थापन कर सकने की क्षमता पर ध्यान नहीं देना चाहते। जब बालक सामाजिक रूप से उपयोगी तथा मौलिक, सक्रिय व्यवस्थाओं के साथ अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं तथा अपने अधिक प्रत्यक्ष अनुभव में, अधिक विस्तृत अनुभव रखने वाले लोगों से प्राप्त भावों तथा तथ्यों को आत्मसात् करके समाज में निहित नियमों तथा साधनों में, अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने की ओर बढ़ते हैं, तब इस सिद्धांत का अस्त्यात्मक पालन होता है।

१५

पाठ्य-क्रम में खेल तथा कार्य

शिक्षा में क्रियात्मक व्यवसायों का स्थान

आंशिक रूप से शिक्षा-सुधारकों के प्रयत्नों, कुछ अंशों में बाल-मनोविज्ञान में बढ़ी हुई अभिरुचि तथा कुछ अंशों में विद्यालय-कक्ष के प्रत्यक्ष अनुभवों के कारण, पिछली पीढ़ी में शिक्षा के पाठ्य-क्रम में पर्याप्त परिष्कार हुआ है । उपर्युक्त तीनों ही दिशाओं से प्राप्त सीख द्वारा बल दिए जाने के फलस्वरूप, शिक्षार्थियों के अनुभव तथा क्षमताओं के साथ-साथ, उन्हीं के आधार पर शिक्षा का प्रारम्भ किया जाना स्वीकार किया गया, जिसके कारण शिक्षा में ऐसी खेल तथा कार्य-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं को स्थान दिया गया, जिनमें बालक तथा अवयस्क जन विद्यालय से बाहर व्यस्त रहते हैं । आधुनिक मनोविज्ञान ने, प्राचीन सिद्धान्त में मानी गई सामान्य शक्तियों के स्थान पर, मूल प्रवृत्यात्मक तथा संवेगात्मक मनोवृत्तियों का संश्लिष्ट समुदाय प्रदान किया है । अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि जब बालक को अपने स्वाभाविक संवेगों को प्रकट रूप से व्यक्त करने वाली शारीरिक क्रियाओं का अवसर मिलता है, तब पाठशाला जाना आनन्द का विषय बन जाता है, प्रबन्ध भार-स्वरूप नहीं लगता तथा सीखना सरल हो जाता है ।

कभी-कभी क्रीड़ाएँ, खेल तथा निर्माणात्मक कार्य, सम्भवत: इसलिए किए जाते हैं कि पाठशाला के 'नियंत्रित' कार्य की क्लांति तथा अतिश्रम से विश्राम मिल जाय । उन्हें पाठ्य-क्रम से पृथक्, केवल वांछनीय कार्य-मात्र क्यों माना जाय ? मानसिक जीवन के अध्ययन ने, अन्वेषण करने, उपकरणों तथा सामग्रियों का प्रयोग करने, निर्माण करने, आनन्दप्रद उद्वेगों को व्यक्त करने आदि, जन्मजात मनोवृत्तियों के तात्त्विक महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है । जब इन मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित कार्यों को पाठशाला के कार्यक्रम का नियमित अंग बना दिया जाता है, तब शिष्य पूर्ण रूप से कार्य में संलग्न हो जाते हैं । विद्यालय तथा जीवन के मध्य का कृत्रिम अन्तर कम हो जाता है । सामग्री के अधिक विस्तार तथा परिणाम-स्वरूप, विशेष रूप से प्रशिक्षात्मक प्रक्रियाओं पर ध्यान देने की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं । इस प्रकार सूचना को सामाजिक पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले

सहकारी संबंधों की प्राप्ति होती है। संक्षेप में, पाठ्य-क्रम में खेल तथा क्रियात्मक कार्यों को निश्चित स्थान प्रदान करने का आधार, बौद्धिक तथा सामाजिक है। यह अस्थाई उपयोगिता तथा क्षणिक वांछनीयता का विषय नहीं है। बिना किसी क्रियात्मक आधार के, प्रभावपूर्ण ज्ञानोपलब्धि का सामान्य स्तर प्राप्त करना संभव है। अर्थात्, ज्ञान-प्राप्ति विद्यालय के कार्यों के बजाय, अपना उद्देश्य रखने-वाली क्रियाओं की उत्पत्ति बना दी जाय। विशेष रूप से खेल और काम, सीखने के प्रारम्भिक सोपान से सम्बन्धित हैं, जिसमें परिचयात्मक ज्ञान, कार्य करना सीखना तथा कार्य करने से प्राप्त प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना, सम्मिलित है और यह स्मरण दिलाता है कि सचेतन दर्शन के अभ्युदय के पूर्व एक ही पद कला तथा विज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। प्लेटो ने मोची, बढ़ई, वादकों आदि के ज्ञान के विश्लेषण के आधार पर ज्ञान की व्याख्या की। उसने स्पष्ट कर दिया कि उनकी कला में (जहाँ तक यह केवल कार्यक्रम मात्र न थी) उद्देश्य, प्रयुक्त सामग्री तथा वस्तु का पूर्ण अधिकार, उपकरणों का नियंत्रण तथा कार्य-प्रणाली का एक निश्चित क्रम होता है। विवेकपूर्ण दक्षता अथवा कला के लिए इनका ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती थी।

चूँकि बालक, पाठशाला के बाहर, सामान्य रूप से खेलों तथा कामों में लगे रहते हैं, इसलिए बहुत-से शिक्षकों ने सोचा, कि उन्हें पाठशाला में मौलिक रूप से भिन्न प्रकार के कार्यों में लगाया जाय। पाठशाला के समय को इतना मूल्यवान समझा जाता था कि बालकों द्वारा पुनः ऐसे कार्य के करने में इसे व्यय करना, जिसे वे कहीं भी कर सकते थे, व्यर्थ समझा जाता था। कुछ सामाजिक परिस्थितियों में उनका यह विचार, महत्त्वपूर्ण भी था। उदाहरणार्थ पूर्वकालीन युगों अथवा आदिम काल में, बाह्य व्यवसाय, निश्चित तथा महत्त्वपूर्ण बौद्धिक तथा नैतिक प्रशिक्षण प्रदान करते थे। दूसरी ओर, पुस्तकें तथा उनसे सम्बन्धित अन्य सभी वस्तुऐं 'दुर्लभ' तथा दुष्प्राप्य थीं। अपरिष्कृत तथा संकुचित वातावरण से बाहर जाने की वे एक मात्र मार्ग थीं। जहाँ कहीं ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त हों, पाठशाला की क्रियाओं को पुस्तकों पर ध्यान केन्द्रित करने के पक्ष में, बहुत कुछ कहा जा सकता है। किन्तु, आज-कल अधिकांश समुदायों की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं। प्रायः पाठशाला से बाहर के कार्य—जिनमें बालक संलग्न हो सकते हैं, विशेष कर नगरों के—शिक्षा-विरोधी होते हैं। बाल-श्रम बन्द कर देना, सामाजिक कर्तव्य है—यह तथ्य, उक्त बात का प्रमाण है। दूसरी ओर मुद्रित-सामग्री इतनी सस्ती हो गई तथा इसका इतना प्रचार हो गया है, और मानसिक संस्कृति के सभी

अवसर इतने बढ़ गए हैं, कि अतीत-कालीन पुस्तक-सामग्री में अब उतनी शक्ति नहीं रह गई है, जितनी पहले थी।

किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि पाठशाला से बाहर की अधिकांश परिस्थितियों में, शिक्षात्मक परिणाम, 'खेल तथा काम' की उप-उत्पत्ति मात्र होते हैं। ये प्रसंगात्मक होते हैं, प्राथमिक नहीं। परिणाम-स्वरूप, उत्पन्न शिक्षात्मक वृद्धि, लगभग आकस्मिक होती है। अधिक कार्य करना, वर्त्तमान औद्योगिक समाज का दोष है। यह दोष, उचित विकास के लिए घातक है। खेल, वर्तमान वयस्क जीवन के दोषों तथा गुणों, दोनों को ही पुनरुत्पादित करके, निश्चित करता है। पाठशाला का कार्य, ऐसा वातावरण प्रदान करना है, जिसमें खेल तथा काम, वांछनीय मानसिक तथा नैतिक विकास को सहज बनाने के संदर्भ में किए जायँ। खेलों, क्रीड़ाओं तथा हस्तकार्य और शारीरिक व्यायामों का, केवल अभ्यास-मात्र करना ही पर्याप्त नहीं है। सब कुछ तो उनके प्रयोग के रूप पर निर्भर करता है।

उपलब्ध व्यवसाय

जिन क्रियाओं को पाठशाला में स्थान प्राप्त हो चुका है, उनकी तालिका ही यह व्यक्त कर देती है कि इनका क्षेत्र कितना विस्तृत है। उपकरणों के साथ तथा उनके बिना, दोनों ही प्रकार से, कागज, गत्ता, चमड़ा, कपड़ा, सूत, बालू तथा मिट्टी और धातुओं के काम किए जाते हैं। मोड़ना, काटना, सिलाई करना, नापना, कातना, निर्माण करना, अल्पना बनाना, चीजों को गर्म तथा ठंडा करना आदि प्रक्रियाएँ अपनाई जाती हैं तथा हथौड़ी, आरी, संचिका आदि जैसे उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। शिक्षा-सम्बन्धी यात्राएँ, बागवानी, भोजन बनाना, सिलाई, छपाई, जिल्दसाजी, बुनाई, रंग भरना, चित्र बनाना, गाना, नाटक खेलना, कहानियाँ कहना, पढ़ना-लिखना आदि सामाजिक उद्देश्य से (केवल भावी प्रयोग के लिए दक्षता प्राप्त करने के अभ्यासों के रूप में नहीं) किए गए क्रियात्मक कार्य तथा क्रीड़ाओं एवं खेलों के असंख्य रूप, व्यवसाय के कुछ रूप हैं।

शिक्षक की समस्या, बालकों को, इन क्रियाओं में इस प्रकार लगाना है कि उन्हें कार्य करने का तात्कालिक संतोष मिले और शारीरिक क्षमता तथा प्रविधिक दक्षता की प्राप्ति हो, इसके साथ ही भावी उपयोग की तैयारी भी होती रहे। किन्तु, ये सभी बातें शिक्षा, अर्थात् बौद्धिक परिणामों तथा विशिष्ट संस्कारों के निर्माण के अधीन हों। इस सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ?

पहले तो यह सिद्धान्त, कुछ प्रचलित अभ्यासों को दूर करता है। निश्चित आदेशों तथा निर्धारित विधान का अनुसरण करने वाली क्रियाएँ अथवा रूढ़िगत आदर्शों को, बिना परिष्कृत किए, ज्यों-का-त्यों, पुनः प्रस्तुत करने वाली क्रियाएँ, मांस-पेशियों को दक्षता भले प्रदान कर दें ; किन्तु उनमें लक्ष्यों का ज्ञान तथा अभिव्यंजना नहीं होती। न (दूसरे शब्दों में) उनमें साधनों के प्रवरण तथा समायोजन में ' निर्णय ' का ही प्रयोग संभव है। विशेष रूप से तथाकथित शारीरिक प्रशिक्षण में ही नहीं, बल्कि बहुत-से किंडर गार्टन अभ्यासों में भी, यह दोष शेष है। कुछ भी हो फिर भी भूल करने का अवसर एक प्रासंगिक आवश्यकता है।

इसलिए नहीं कि भूलें कभी भी वांछनीय होती हैं, वल्कि इसलिए कि सामग्री तथा भूलों की संभावना को समाप्त कर देने वाले उपकरणों के प्रवरण का अति-उत्साह, आरंभिक रुचि को सीमित कर देता है, निर्णय के प्रयोग को न्यूनतम वना देता है तथा ऐसी विधियों के उपयोग के लिए विवश कर देता है, जो जीवन की संश्लिष्ट परिस्थितियों से इतनी दूर होती हैं, कि अर्जित शक्ति का वहुत कम उपयोग हो पाता है। यह नितांत सत्य है कि वालक अपनी पहुँच से परे की योजनाओं के प्रवरण तथा उन्हें कार्यान्वित करने वाली शक्ति के सम्वन्ध में, प्रायः वास्तविकता से अधिक अनुमान लगाते हैं; किन्तु शक्तियों की सीमा का ज्ञान, सीखे जाने वाले तथ्यों में से एक है। अन्य वातों की तरह यह ज्ञान भी, परिणामों के अनुभव द्वारा प्राप्त होता है। यह भय सदैव वना रहता है कि अत्यन्त संश्लिष्ट योजनाओं को कार्यान्वित करते समय वालक, अव्यवस्थित, विभ्रांत होकर कार्य करेंगे तथा केवल परिष्कृत फल ही न उत्पन्न करेंगे (जो कि साधारण वात है); वल्कि अपरिष्कृत मानदण्ड अपना लेंगे (जो कि गम्भीर वात है)। किन्तु यदि उचित समय से वालक अपनी क्रियाओं की अपर्याप्तता को जान पाएँ तथा उनसे अपनी शक्तियों को पूर्ण वनाने वाले अभ्यास करने का प्रयत्न करने के लिए उद्दीपन न प्राप्त कर सकें, तो यह अध्यापक की गलती होगी। साथ ही वालकों को अत्यन्त सूक्ष्म तथा अति संश्लिष्ट रूप से नियंत्रित कार्यों में लगा कर, वाह्य पूर्णता प्राप्त करने की अपेक्षा, सृजनात्मक तथा निर्माणकारी मनोवृत्ति को जीवन्त वनाए रखना, अधिक आवश्यक है। संश्लिष्ट कार्यों के केवल ऐसे अंशों में ही, सूक्ष्मताओं की परिशुद्धि तथा परिष्कार पर वल दिया जा सकता है, जो वालक की शक्तियों की पहुँच के अन्दर हों।

जन्मजात अनुभव पर अचेतन संदेह तथा परिणाम-स्वरूप वाह्य नियंत्रण पर अधिक वल दिए जाने की भावना, प्रदत्त सामग्री तथा अध्यापक की आज्ञाओं, दोनों ही से प्रकट होती है। अपरिष्कृत सामग्री प्रदान करने का भय, प्रयोगशालाओं, हस्त-कौशल, प्रशिक्षण-केन्द्रों, फ्रॉवेल की किंडर गार्टन तथा मॉन्टीसरी के 'वाल-सदनों' में दिखाया गया है। ऐसी सामग्री की ही माँग है, जो पहले ही विवेक-परिष्कृत हो चुकी हो। यह माँग क्रियात्मक व्यवसायों तथा अव्यावहारिक पुस्तकाध्ययन, दोनों की ही विषय-सामग्री में व्यक्त हुई है। यह सत्य है कि ऐसी विषय-सामग्री, वालकों की क्रियाओं को इस प्रकार नियंत्रित करेगी, कि गलतियाँ कम हों; किन्तु यह धारणा भ्रामक है कि ऐसी सामग्री का प्रयोग करके बालक वह विवेक भी प्राप्त कर सकेगा, जिसने मौलिक रूप से इनके स्वरूप का निर्माण

किया है। केवल अपरिष्कृत सामग्री से अपना कार्य आरम्भ करके तथा इसे सप्रयोजन उपयोग में लाकर ही, वह परिष्कृत सामग्री में निहित विवेक को प्राप्त कर सकता है। अभ्यास में, गढ़ी गई सामग्री पर अत्यधिक बल देने से, गणितात्मक गुणों की अतिवृद्धि होगी ; क्योंकि भौतिक वस्तुओं के आकार, रूप, अनुपात तथा उनके सम्बन्धों के ज्ञान में ही, विवेक-न्याय होता है। किन्तु, इनका ज्ञान ऐसे प्रयोजनों पर कार्य करके ही प्राप्त हो सकता है, जिनमें इन वस्तुओं पर ध्यान देना आवश्यक होता है। प्रयोजन जितना ही मानवीय होगा, अथवा जितना ही यह दैनिक अनुभव के लक्ष्यों के निकट होगा, ज्ञान उतना ही वास्तविक होगा। जब क्रियाओं का प्रयोजन इन गुणों के निश्चय करने तक ही सीमित रहता है, तब उत्पन्न ज्ञान केवल प्रविधिक होता है।

इसी सिद्धान्त का दूसरा कथन है कि क्रियात्मक व्यवसायों का संबंध, मौलिक रूप से, 'संपूर्णताओं' से होना चाहिए। शिक्षा के प्रयोजन के लिए, 'संपूर्णताएँ', भौतिक विषय नहीं हैं। बौद्धिक रूप से किसी 'सम्पूर्णता' की स्थिति, अभिरुचि अथवा प्रयोजन पर निर्भर है। यह गुणात्मक है ; किसी परिस्थिति-विशेष द्वारा प्रदत्त प्रेरणा की पूर्णता है। उपस्थित प्रयोजन पर ध्यान देकर केवल पर्याप्त कौशल-प्राप्ति का अत्यधिक अनुराग, प्रयोजन से पृथक्, अभ्यासों के अपनाने में व्यक्त होता है। भौतिक-शास्त्र की मौलिक इकाइयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला में शुद्ध-मापन अथवा प्रायोगिक उपकरणों का उपयोग करने में आसानी प्राप्त करने के लिए कार्य किए जाते हैं। इन इकाइयों को महत्त्व प्रदान करने वाले, इनके समस्या के साथ के सम्बन्धों पर ध्यान नहीं दिया जाता। दक्षता, एक मात्र अर्थ प्रदान करने वाले अन्वेषण तथा परीक्षण के प्रयोजनों से स्वतन्त्र रूप से प्राप्त की जाती है। किंडर गार्टेन के प्रयोग, घनाकार तथा गोलाकार आदि वस्तुओं से सम्बन्धित सूचना प्रदान करने के लिए किए जाते हैं। और उनसे सामग्री को प्रयुक्त करने की विशिष्ट आदतों का निर्माण किया जाता है (क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक निश्चित रूप में प्रयुक्त होनी चाहिए)। अधिक जीवन्त प्रयोजनों के अभाव की पूर्ति, प्रयुक्त सामग्री की कथित सांकेतिकता से की जाती है। हस्त-कौशल, प्रशिक्षण को एक के बाद दूसरे उपकरण के प्रयोग की दक्षता तथा निर्माण के विभिन्न तत्त्वों को जोड़ने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सोचे गए क्रमिक स्वत्वदान की क्रिया समझा जाता है। यह कहा जाता है कि वास्तविक रूप से कोई वस्तु बनाना प्रारम्भ करने से पहले, बालकों को यह सीख लेना आवश्यक है कि उपकरणों का प्रयोग कैसे किया जाता है। यह मान लिया

जाता है, कि निर्माण-क्रिया में वे ' कैसे ' नहीं सीख सकते। पेस्टॉलाजी के शब्द स्मरण करने के बजाय, इन्द्रियों के सक्रिय प्रयोग पर बल दिए जाने के कारण, उनके बाद, शिष्यों को चुनी हुई वस्तुओं का ज्ञान प्रदान करने के लिए, अभ्यास के ' वस्तु-पाठों ' की योजना अपनाई गई ; किन्तु इसमें भी वही भूल निहित है। इन सभी दशाओं में यह मान लिया जाता है, कि वस्तुओं के विवेकपूर्ण प्रयोग के पूर्व, उनके गुणों का ज्ञान आवश्यक है। वास्तव में इन्द्रियों का प्रयोग, सामान्यतः वस्तुओं के विवेकपूर्ण (अर्थात् सप्रयोजन) प्रयोग में ही होता है ; क्योंकि ज्ञेय गुण, क्रिया में अनुभव होने वाले तथ्य हैं। उदाहरणार्थ, किसी बालक की पतंग बनाते समय की विभिन्न मनोवृत्तियों को लीजिए। उसका दृष्टिकोण, लकड़ी की तीलियों के आकार, कोणों, विभिन्न भागों के अनुपात के प्रति, उस बालक के दृष्टिकोण से भिन्न होगा, जिसने केवल पाठ की शिक्षा के लिए अपनाई गई, लकड़ी के बारे में, ' वस्तु-पाठ ' की शिक्षा मात्र पाई है।

मन के प्रयोजन के लिए ' संपूर्णता ', परिस्थितियों का प्रक्रियात्मक विकास है। इसे न समझ पाने के कारण ही, शिक्षा के संबंध में प्रचलित, सरल तथा संश्लिष्ट की धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी विषय के प्रति किसी व्यक्ति की ' सरल वस्तु ' उसका अपना प्रयोजन है—अर्थात् विशिष्ट प्रक्रिया, उपकरणों तथा सामग्री का वह क्या उपयोग करना चाहता है, चाहे कार्य की प्रक्रिया कितनी ही संश्लिष्ट क्यों न हो। प्रयोजन की एकता, निहित सूक्ष्मताओं पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण, कार्य-काल में प्रत्येक प्रस्तुत तत्त्व को सरल बना देती है। यह सम्पूर्ण उपक्रम के संचालन में, अपने-अपने उपयोग के अनुसार, प्रत्येक तत्त्व को एक विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है। जब कोई व्यक्ति, किसी प्रक्रिया से गुजर चुकता है, तब उसके गुण तथा संबंध, अपना-अपना निश्चित अर्थ रखने वाले तत्त्व बन जाते हैं। कथित, गलत धारणा, उस विशेषज्ञ का दृष्टिकोण अपनाती है, जिसके लिए तत्त्व स्थित होते हैं, उन्हें प्रयोजन-कार्य से पृथक् कर लेती है तथा उन्हें शिक्षार्थी के सम्मुख ' सरल ' के रूप में रखती है।

किन्तु यह सुयोग, विधानात्मक कथन है। क्रियात्मक व्यवसाय, किए जाने वाले कार्य के रूप हैं, अध्ययन के नहीं। इसके अतिरिक्त उनका शिक्षात्मक महत्त्व यह है कि वे सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिरूप हो सकते हैं। मनुष्यों के मौलिक सर्वनिष्ठ प्रयोजन, भोजन, घर, वस्त्र, घरेलू वस्तुओं और उत्पादन, विनिमय तथा उपभोग के साधनों में केन्द्रित हैं। ये जीवन की आवश्यकताओं तथा उन्हें सुसज्जित करने वाली सामग्रियों के रूप में, मूल प्रवृत्तियों को मौलिक

रूप से संतुष्ट करते हैं। सामाजिक विशेषता रखने वाले तथ्य तथा सिद्धान्त, इन्हे और संपृक्त बनाते है।

यदि यह कहा जाय कि बागवानी, बुनाई, लकड़ी के सामान बनाना, धातुओं का प्रयोग, भोजन बनाना आदि विभिन्न क्रियाएँ, जो मनुष्य की इन वास्तविक आवश्यकताओं को पाठशाला में अभिव्यंजित करती, अर्थात् केवल जीविकोपार्जन का महत्त्व रखती हैं, तो बहुत बड़ी भूल होगी। यदि मानव-जाति को साधारणतः, औद्योगिक व्यवसायों में सदैव दोष ही मिले हैं, जिन्हें अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए सहन करना ही पड़ता है, तो दोष व्यवसायों का नहीं है, बल्कि उन परिस्थितियों का है, जिनमें वे चलाए जाते हैं। सम-सामयिक जीवन में, आर्थिक अवयव के निरन्तर बढ़ते हुए महत्त्व के कारण, यह अधिक आवश्यक हो गया है कि शिक्षा उनकी वैज्ञानिक अन्तर्वस्तु तथा सामाजिक महत्त्व को व्यक्त करे, क्योंकि पाठशालाओं में व्यवसाय आर्थिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि अपनी स्वयं की अन्तर्वस्तु के लिए किए जाते हैं—असंगत धारणा के संबंधों तथा जीविकोपार्जन के दबाव से मुक्त, ये ऐसे अनुभव की विधि प्रदान करते हैं, जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें वास्तव में शिक्षा को उदार बनाने के गुण हैं।

उदाहरणार्थ, बागवानी के लिए आवश्यक नहीं कि यह भावी बागवान तैयार करने के लिए सिखाई जाय अथवा समय बिताने के वांछनीय ढंग की तैयारी के लिए ही। यह, जाति के इतिहास में अर्जित, तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में स्थित, कृषि-ज्ञान तथा उद्यान-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। शैक्षणिक रूप से नियंत्रित वातावरण में किए जाने पर, ये वृद्धि के तथ्यों, भूमि के रासायनिक-विज्ञान, प्रकाश, वायु तथा आर्द्रता के कार्य-व्यापार और लाभप्रद तथा हानिकर जीवों के जीवन आदि के अध्ययन के साधन हैं। वनस्पति-विज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन में कोई ऐसी बात नहीं है, जो बीजों की उत्पत्ति तथा वृद्धि की देख-रेख करने में जीवन्त रूप से न प्राप्त की जा सके। तब यह एक विशेष प्रकार के विषय, वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित विषय-सामग्री होने के बजाय, जीवन से सम्बन्धित होगी। और इसके स्वाभाविक सहगामी, भूमि के तथ्यों, जानवरों के जीवन तथा मानव-सम्बन्धों का ज्ञान भी, अधिक वास्तविक होगा। जैसे-जैसे विद्यार्थी बड़े होते जायँगे, वे अभिरुचिपूर्ण समस्याओं का अनुभव करेंगे। जिनका अध्ययन, बागवानी की मौलिक, प्रत्यक्ष अभिरुचि से स्वतन्त्र, अन्वेषण के लिए ही चलाया जा सकता है। इस प्रकार पौदों के अंकुरण तथा पोषण, फलों

के पुनरुत्पादन आदि से सम्बन्धित समस्याएँ, सचेष्ट बौद्धिक अन्वेषण का विषय बन जाती हैं।

यह उदाहरण, पाठशाला के अन्य व्यवसायों, लकड़ी का काम, भोजन बनाना आदि सभी पर लागू होता है। यह देखा गया है कि मानव-जाति के इतिहास में, विभिन्न विज्ञानों का क्रमिक विकास, उपयोगी सामाजिक व्यवसायों में ही हुआ है। उपकरणों तथा यंत्रों के प्रयोग से, धीरे-धीरे भौतिक-शास्त्र का विकास हुआ है, इसकी 'यन्त्र-विज्ञान' नामक मुख्य शाखा, इससे सम्बन्धित प्राचीन धारणाओं की प्रमाण है। उत्तोलक, चक्र, झुके हुए समतल इत्यादि, मनुष्य-जाति के प्रथम महान् बौद्धिक आविष्कार थे—बौद्धिक इसलिए कि वे व्यावहारिक साध्यों की प्राप्ति के लिए, साधनों के खोजने के उपक्रम में प्राप्त हुए हैं। पिछली पीढ़ी में हुए विद्युति-विज्ञान के विकास का, कार्य-कारण रूप से, आवागमन, यातायात, नगरों तथा घरों में प्रकाश करने, वस्तुओं के अधिक आर्थिक उत्पादन आदि के साधनों में किए गए विद्युतीयशक्ति के संप्रयोग से, अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। ये सामाजिक साध्य हैं। फिर भी, यदि उनके साथ, विक्रीय लाभ की धारणा जुड़ी हुई है, तो उसका कारण उन्हीं में निहित कोई तत्त्व नहीं है, बल्कि यह है कि उनका निजी कामों के लिए उपयोग किया गया है—यह तथ्य, विद्यालय पर, भावी पीढ़ी के मन में, सार्वजनिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रयोजनों के साथ, उनके संबंधों को पुनः स्थापित करने का उत्तरदायित्व लाद देता है। उसी प्रकार रसायन-शास्त्र, कपड़े इत्यादि रँगने, साफ़ करने, धातुओं का काम करने इत्यादि की प्रक्रियाओं से उत्पन्न हुआ है। और आधुनिक युग में इसके औद्योगिक क्षेत्र में अगणित नए उपयोग किए गए हैं।

गणित अत्यन्त अमूर्त विज्ञान है। ज्यामिति का शाब्दिक अर्थ भूमि-मापन है। आज वस्तुओं की गणना तथा माप में, संख्या का उपयोग, उस समय की अपेक्षा कहीं अधिक है, जब इसका इस प्रयोजन के लिए आविष्कार हुआ था। ऐसे विचारों (जो कि प्रत्येक विज्ञान के इतिहास में उपलब्ध हैं।) का यह अर्थ नहीं कि जाति के इतिहास को पुनः दुहराया जाय, अथवा आदिकाल के प्रारंभिक ज्ञान पर अधिक समय दिया जाय; किन्तु उनसे वैज्ञानिक अध्ययन का अवसर प्रदान करने के लिए, क्रियात्मक व्यवसायों के उपयोग का संकेत मिलता है, जो आज पहले से कहीं अधिक बढ़ कर हैं। सामाजिक पक्ष से भी, अवसर, उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, चाहे हम मानव-जाति के अतीत कालीन सामूहिक जीवन पर दृष्टिपात करें, चाहे भविष्य के। प्रारम्भिक छात्रों को नागरिक तथा आर्थिक ज्ञान

प्रदान करने का मार्ग, सामाजिक जीवन में औद्योगिक व्यवसायों के कार्य तथा महत्त्व पर विचार करने से ही प्राप्त होता है। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी, सामाजिक विज्ञान, कम अमूर्त तथा कम वैधिक हो जायेंगे, यदि उनका संव्यवहार, विज्ञान के रूप में, (अर्थात् ज्ञान के सूत्रबद्ध निकाय के रूप में) कम किया जाय तथा उस सामाजिक समुदाय के दैनिक जीवन में प्राप्त होने वाली प्रत्यक्ष विषय-सामग्री के रूप में अधिक किया जाय, जिसमें विद्यार्थी स्वयं भाग लेते हैं।

व्यवसायों का सम्बन्ध, विज्ञान की विधि से कम-से-कम उतना ही निकट का है, जितना अपनी विषय-सामग्री से। वे युग, जिनमें विज्ञान की उन्नति कम हुई है, ऐसे युग थे, जिनमें विद्वानों को, दैनिक जीवन की सामग्री तथा प्रक्रिया, विशेष कर भौतिक-ज्ञान-सम्बन्धी प्रक्रियाओं से, वितृष्णा थी। परिणाम-स्वरूप उन्होंने तार्किक अनुमान द्वारा, सामान्य सिद्धान्तों से, लगभग अपनी अन्तर्शक्तियों से ही ज्ञान को विकसित करने का प्रयत्न किया। यह सोचना कि ज्ञान वस्तुओं के साथ तथा उन्हीं पर क्रिया करके प्राप्त किया जा सकता है, जैसे किसी पत्थर पर अम्ल डाल कर घटना का निरीक्षण किया जाय—उतना ही निरर्थक प्रतीत होता है, जितना यह सोचना कि यह किसी चमड़े के टुकड़े को मोम लगे तागे से सूजे द्वारा सीने से प्राप्त हो सकता है। किन्तु प्रायोगिक विधियों के विकास से यह सिद्ध हो गया, कि ये दूसरी प्रकार की प्रक्रियाएँ, नियंत्रित परिस्थितियों में, पृथक् तार्किक अनुमान की अपेक्षा, ज्ञान-प्राप्त करने की अधिक विशिष्ट प्रकार की विधि है। जब मनुष्य की अभिरुचि, मानवीय उपयोगों के लिए प्रकृति के नियंत्रण पर केन्द्रित हुई, तब १७वीं तथा बाद में आने वाली शताब्दियों में, प्रयोग का विकास हुआ तथा यह ज्ञान-प्राप्ति की प्रामाणिक विधि बन गया। प्रयोगात्मक विधि के लिए, क्रियात्मक व्यवसायों का, जिनमें उपयोगी परिणाम प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुओं पर उपकरणों का प्रयोग किया जाता है, सर्वाधिक महत्त्व है।

काम तथा खेल

व्यवसाय पद में, खेल तथा काम दोनों ही सम्मिलित हैं। अपने वास्तविक अर्थ में खेल तथा उद्योग, किसी भी प्रकार एक दूसरे के उतने विरोधी नहीं हैं, जितना समझा जाता है। यह विशेष अन्तर, कतिपय अवांछनीय सामाजिक परिस्थितियों के कारण है। दोनों में ही सचेतन रूप से अपनाए गए लक्ष्य होते हैं तथा वांछित साध्यों की प्राप्ति के लिए, उपयुक्त साधनों तथा प्रक्रियाओं का प्रवरण तथा समायोजन होता है। इनमें साध्य तथा साधनों के संबंध की प्रत्यक्षता पर प्रभाव डालने वाले समय-विस्तार का ही मुख्य अन्तर है। खेल में अभिरुचि अधिक प्रत्यक्ष होती है। इस तथ्य का बहुधा, इस कथन से संकेत मिलता है कि खेल में क्रिया का कोई भावी साध्य नहीं होता, यह स्वयं अपना साध्य है। यह कथन सत्य है; किन्तु यदि इसका यह अर्थ लिया जाय कि खेल की क्रियाएँ क्षणिक होती हैं, अर्थात् इनमें भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, तो यह धारणा गलत होगी। उदाहरणार्थ शिकार खेलना, वयस्कों के खेलों के सर्वाधिक प्रचलित रूप में से एक है; किन्तु इसमें व्यक्त रूप से लक्ष्य की पूर्व-दृष्टि तथा उसके आधार पर अपनी वर्तमान क्रियाओं का निर्देश होता है। जब कोई क्रिया अपना साध्य इस अर्थ में होती है कि समय विशेष का कार्य ही अपने-आप में पूर्ण हो, तो यह कार्य, केवल भौतिक होता है। इसका कोई अर्थ नहीं होता। या तो व्यक्ति की गति अन्धी होती है, कदाचित् केवल अनुकरणात्मक, अथवा यह एक उत्तेजना की दशा में होती है, जो मस्तिष्क तथा तन्तुओं के सामयिक उद्दीपन को समाप्त करती है। किंडर गार्टन के कुछ प्रकार के खेलों में, दोनों ही परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं; क्योंकि वहाँ खेल इतने सांकेतिक होते हैं कि वयस्कों को ही उनका ज्ञान हो सकता है। जब तक बालक उनमें, अपना कोई भाव पढ़ सकने में सफल नहीं होते, वे या तो सम्मोहित दशा में विभ्रांत-से गतिशील रहते हैं अथवा प्रत्यक्ष उत्तेजना के प्रतिचार के रूप में कार्य करते हैं।

तात्पर्य यह है कि खेल का भी साध्य होता है, जो एक निर्देश करने वाले

भाव के अर्थ में होता है। यह क्रमागत कार्यों का संकेत करता है। केवल यही नहीं होता है कि खेलने वाले क्रिया (केवल भौतिक गति) करते हैं, वे कुछ करने अथवा प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न भी करते हैं। इस मनोवृत्ति में, पूर्व-दृष्टिजन्य पूर्व अनुमान होते हैं, जो वर्तमान प्रतिचारों को उद्दीप्त करते हैं। यह पूर्व द्रष्ट परिणाम, वस्तुओं में विशेष परिवर्तन की उत्पत्ति न होकर उत्तरकालीन कार्य होता है ; इसलिए खेल, स्वच्छंद, अर्थात् सुघटनीय होता है। जब किसी बाह्य फल की इच्छा की जाती है, तब लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक स्थिर रखना पड़ता है। चूँकि सोचा गया परिणाम, संश्लिष्ट होता है, और यह दृढ़ता बढ़ती जाती है ; अतएव, इसके लिए क्रमशः अनेक माध्यमिक समायोजनों की आवश्यकता पड़ती है। जब अभिप्रेत कार्य दूसरी क्रिया होती है, अर्थात् उसी कार्य की क्रिया नहीं होती, तब अधिक दूरदर्शिता की आवश्यकता नहीं पड़ती—इसे सरलता से तथा बार-बार परिवर्तित किया जा सकता है। यदि कोई बालक खेलने की नाव बना रहा हो, तो उसे एक साध्य को ध्यान में रखना होगा तथा उसे उस एकमात्र भाव से अनेक कार्यों को निर्देशित करना होगा। यदि वह नाव का खेल, मात्र खेल रहा हो, तो इच्छानुसार, नाव मानी हुई वस्तु की सामग्री को बदल सकता है, तथा अपने मन की तरंग के अनुसार नवीन अवयवों का प्रयोग कर सकता है। यदि क्रिया को आगे बढ़ाने में उसकी कल्पना सहायक होती है, तब कुर्सियों, लकड़ी के डंडों तथा पटरों और पत्तों आदि को जो चाहती है, बना लेती है।

अत्यन्त प्राचीन काल से, खेल तथा काम की क्रियाओं के पृथक् घंटों का विभेद नहीं किया गया है, केवल बल देने का अन्तर स्वीकार किया गया है। छोटे बच्चे भी निश्चित परिणामों को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तथा उन्हें नाटकीय रूप से प्राप्त करते हैं। यदि और कुछ नहीं, तो दूसरों के व्यवसायों में भाग लेने की उनकी उत्सुक अभिरुचि, इसे पूरा करती है। बच्चे 'सहायता' करना चाहते हैं ; वे वयस्कों के बाह्य परिवर्तन उत्पन्न करनेवाले कार्यों में संलग्न होने के लिए व्यग्र रहते हैं ; जैसे—मेज ठीक करना, बर्तन धोना, जानवरों की देख-भाल करना आदि। अपने खेलों में वे, अपने खिलौने तथा अन्य उपादानों को बनाना पसन्द करते हैं। जैसे-जैसे वे वयस्क होते जाते हैं, मूर्त तथा प्रत्यक्ष फल न उत्पन्न करने वाले कार्यों में उनकी रुचि, कम होती जाती है। तब खेल मूर्खता में बदल जाते हैं तथा यदि आदतन किए जाते हैं, तो नैतिक रूप से हीन-कोटि के समझे जाते हैं। अपनी स्वयं की शक्तियों का भाव तथा माप प्राप्त करने के योग्य बनाने के लिए, व्यक्तियों को प्रत्यक्ष परिणामों की आवश्यकता पड़ती

हैं। जब नकल खेल के रूप में की जाती है, तब कल्पना द्वारा बनाई गई वस्तुएँ ही क्रिया को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त होती हैं। खेल में बालकों की पूर्ण निमग्नता की मनोवृत्ति को मापने के लिए, उनके मुख-मण्डल को देखने भर की आवश्यकता पड़ती है। जब वस्तुएँ पर्याप्त उत्तेजना नहीं प्रदान कर पातीं, तो इस मनोवृत्ति को नहीं बनाए रक्खा जा सकता।

जब निश्चित स्वरूप के पर्याप्त दूरस्थ परिणामों का पूर्वज्ञान होता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्न किया जाता है, तब खेल काम का रूप धारण कर लेता है। खेल की तरह इसमें भी, सप्रयोजन क्रिया होती है। अन्तर यह नहीं है, कि इसमें क्रिया किसी वाह्य परिणाम के अधीन रहती है; वल्कि इस तथ्य के कारण है, कि परिणाम के भाव के कारण लंबा क्रिया-क्रम चलता है। इसमें सतत ध्यान की अधिक आवश्यकता पड़ती है तथा साधनों के प्रवरण तथा परिष्कार में अधिक बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। इस कथन की अधिक व्याख्या करने में, उद्देश्य, अभिरुचि तथा विचार के अध्यायों में कही गई बातों की पुनरुक्ति होगी; किन्तु यह प्रश्न ठीक जँचता है, कि काम में क्रिया के किसी भावी भौतिक परिणाम के अधीन समझने का भाव, इतना प्रचलित क्यों है ?

इस अधीनता का चरम स्वरूप, दास्य-वृत्ति समझने का सूत्र प्रदान करता है। वाह्य दवाव अथवा बल प्रयोग की परिस्थितियों में की गई क्रिया, कार्य से सम्बन्धित किसी महत्त्व के कारण ही नहीं की जाती। ऐसा क्रिया-क्रम वास्तव में सन्तोषप्रद नहीं होता, यह किसी दंड से बचने का साधन होता है, अथवा इसकी पूर्ति पर कुछ पारितोषिक प्राप्त करने के लिए होता है। समवायी रूप से अवांछित कार्य, किसी और अधिक अवांछित परिणाम से बचने के लिए, अथवा दूसरों से पारितोषिक पाने के लिए किया जाता है। परतंत्र आर्थिक परिस्थितियों में ऐसी दशा का होना, अवश्यंभावी है। काम अथवा उद्योग में संवेगों तथा कल्पना को संलग्न करने का कोई अवसर नहीं होता। यह लगभग यान्त्रिक क्रियाओं का क्रम है। केवल काम की पूर्ति का भाव ही व्यक्ति को क्रियाशील रखता है; किन्तु साध्य को वास्तविक रूप से क्रिया से सम्बन्धित होना चाहिए, इसे इसी का लक्ष्य होना चाहिए—इसी के क्रम का एक अंश होना चाहिए। तब यह प्रयत्न को उस प्रकार के उद्दीपन से अत्यन्त भिन्न प्रकार की उत्तेजना प्रदान करता है, जो बीच की क्रियाओं से पृथक् परिणामों के विचार से उत्पन्न होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाठशालाओं में आर्थिक दवाव का अभाव, वयस्क जीवन की औद्योगिक परिस्थितियों की पुनः सृष्टि करने का अवसर प्रदान करता है, जहाँ

व्यवसाय अपने-आप के लिए किए जा सकते हैं। यदि कुछ दशाओं में आर्थिक प्रत्यभिज्ञा भी, कार्य का परिणाम हो, तो यह तथ्य यद्यपि मुख्य प्रेरणा तो न प्रदान कर सकेगा ; किन्तु व्यवसाय के महत्त्व को अवश्य ही बढ़ा देगा।

जहाँ लगभग दास्य-वृत्ति, अथवा वाह्य दवाव के कारण कार्य की पूर्ति की जाती है, वहाँ भी खेल की आवश्यकता होती है ; किन्तु वह विकृत हो गई रहती है। कार्य का साधारण क्रम संवेगों तथा कल्पना को यथेष्ट उद्दीपन प्रदान करने में असफल होता है। इसीलिए खाली समय में किसी भी साधन द्वारा, उनके उद्दीपन की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए द्यूत-क्रीड़ा तथा मद्यपान का सहारा लिया जा सकता है। अथवा कम चरम दशाओं में, साधारण मनोरंजन अर्थात् तात्कालिक इच्छा की पूर्ति के साथ समय बिता देने वाला कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। विश्राम का अर्थ, शक्तिलाभ करना है। मानव स्वभाव की कोई अन्य माँग इतनी आवश्यक तथा अपरिहार्य नहीं है। आवश्यकता के दमन का भाव नितान्त भ्रामक है। आवश्यकताओं को न स्वीकार करने की धार्मिक परम्परा के कारण, अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। यदि शिक्षा, स्वस्थ मनोरंजन का अवसर नहीं प्रदान करती, तथा शक्तियों को इसे खोजने और प्राप्त करने में प्रशिक्षित नहीं करती, तो दमित मूल प्रवृत्तियाँ कभी वाह्य तो कभी केवल कल्पना को ही व्यस्त करने वाले विभिन्न प्रकार के अनैतिक निकासमार्ग अपनाती हैं। मनोरंजन के समय का आनन्द उठाने के लिए यथेष्ट साधन जुटाने की अपेक्षा, शिक्षा का कोई अधिक गंभीर उत्तरदायित्व नहीं है। केवल तात्कालिक स्वास्थ्य-लाभ प्रदान करने के लिए नहीं, अपितु यदि संभव हो, तो मन की आदतों पर चिरस्थाई प्रभाव डालने के लिए, इनकी आवश्यकता है। कला, इस आवश्यकता की सफल पूर्ति है।

अध्याय का सारांश

पिछले अध्याय में हमने देखा था कि प्रत्यक्ष रूप से कार्य करने की प्रणाली का सीखना ही, ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया की मौलिक विषय-सामग्री है। ऐसे साधारण व्यवसायों का संगत प्रयोग, इस सिद्धान्त का शैक्षणिक समानार्थी वह है, जो बालक की शक्तियों की अभिरुचि के अनुकूल हो तथा जो सामाजिक क्रिया के सामान्य रूपों के प्रतिरूप हो। जब क्रियाएँ अपने-आप के लिए की जाती हैं, तब कौशल तथा साधनों, उपकरणों और शक्ति के नियमों के बारे में सूचना प्राप्त होती है। उनका सामाजिक प्रतिरूप होना, कौशल तथा ज्ञान को ऐसा गुण

प्रदान करता है, जो उन्हें शिक्षालय से बाहर की परिस्थितियों में भी परिवर्तनीय बना देता है।

यह आवश्यक है, कि खेल तथा काम के मनोवैज्ञानिक विभेद को आर्थिक विभेद न समझा जाय। मनोवैज्ञानिक रूप से, खेल की पारिभाषिक विशिष्टता, मनोरंजन अथवा निष्प्रयोजनता नहीं है। यह सत्य है कि उद्देश्य को उसी क्रम में और अधिक क्रिया समझा जाता है तथा उत्पन्न परिणामों के संदर्भ में क्रिया की निरन्तरता का अर्थ नहीं स्पष्ट किया जाता। जैसे-जैसे क्रियाएँ अधिक संश्लिष्ट होती जाती हैं, वे विशिष्ट, उत्पन्न परिणामों पर अधिक ध्यान दिए जाने के कारण अधिक अर्थ ग्रहण करती जाती हैं। इस प्रकार, धीरे-धीरे वे काम का रूप धारण कर लेती हैं। सम्पन्न व्यक्तियों के लिए खेलों को व्यर्थ की उत्तेजना तथा निर्धनों के लिए काम को अवांछनीय श्रम बना देने वाली दूषित आर्थिक परिस्थितियों से परे, दोनों ही समान रूप से स्वच्छंद तथा अंतःप्रेरित होते हैं। काम, मनोवैज्ञानिक रूप से केवल ऐसी क्रिया है, जो फल-प्राप्ति की इच्छा को सचेतन रूप से अपना एक अंश बना लेती है। जब परिणाम क्रिया से बहिर्गत साध्य के रूप में होते हैं, जिनकी क्रिया साधन मात्र है, तब काम निरोधित श्रम बन जाता है। जिस काम में खेल की मनोवृत्ति व्याप्त रहती है, वह यदि परंपरागत नाम में नहीं, तो गुण में अवश्य ही कला होता है।

१६

इतिहास तथा भूगोल का महत्त्व

मूल क्रियाओं का अर्थ-विस्तार

केवल भौतिक क्रियाओं तथा उनके ग्रहण कर सकने वाले अर्थों की संपूर्ति के अन्तर से और अधिक आश्चर्यजनक कोई दूसरी वस्तु नहीं है। बाह्य रूप से दूरवीक्षण यन्त्र से निरीक्षण करता हुआ खगोल-शास्त्री उसी यन्त्र से देखते हुए बालक के समान होता है। प्रत्येक दशा में शीशे तथा धातुओं, नेत्र तथा दूर से आने वाली एक प्रकाश-किरण की व्यवस्था होती है। किन्तु, किसी समय, खगोल-शास्त्री की क्रिया, एक संसार के जन्म से सम्बन्धित हो सकती है तथा अपनी महत्त्वपूर्ण अन्तर्वस्तु के रूप में नक्षत्रमय आकाश का पूर्ण ज्ञान रख सकती है। भौतिक रूप से, अपनी आदिम अवस्था से की गई मानव की उन्नति, भू-मण्डल पर एक हल्की-सी खरोंच है, जो सौर्य-मंडल की भी पहुंच की तुलना में, दूर से दृष्टिगोचर नहीं होती। फिर भी, अर्थ के क्षेत्र में जो कुछ किया जा चुका है, सभ्यता तथा आदिम अवस्था का अन्तर स्पष्ट करता है। यद्यपि भौतिक रूप से क्रियाएँ कुछ परिवर्तित हो गई हैं, फिर भी क्रियाओं से सम्बन्धित अर्थों की तुलना में, यह परिवर्तन नगण्य है। किसी कार्य के ग्रहण किए जा सकने वाले अर्थों की कोई सीमा नहीं है। यह उन ज्ञात सम्बन्धों के संदर्भ पर निर्भर है, जिनमें वह रक्खा जाता है। संबंधों को प्राप्त करने में, कल्पना की पहुंच अशेष है।

अर्थों को प्राप्त करने तथा उन्हें समीचीन बनाने में, मनुष्य की क्रिया की सुविधा, उसकी शिक्षा को किसी उपकरण के निर्माण अथवा जानवरों के प्रशिक्षण से भिन्न बना देती है। ये प्रशिक्षण, दक्षता की वृद्धि करते हैं, वे महत्त्व का विकास नहीं करते। पिछले अध्याय में विवेचित, खेल तथा काम के व्यवसायों का अन्तिम शैक्षणिक महत्त्व यह है कि वे अर्थ की व्यापकता की ऐसी वृद्धि के प्रत्यक्ष साधन प्रदान करते हैं। उपयुक्त परिस्थितियों में विकसित होने पर, वे बौद्धिक विचारों के अनिश्चित रूप से विस्तृत क्षेत्र को आकर्षित करने वाले चुंबक हैं। वे सूचना की प्राप्ति तथा आत्मसातीकरण के सजीव केन्द्र प्रदान करते हैं। जब सूचना का पर्यावलोकन, केवल सूचना के रूप में सुरक्षित रखने के लिए होता है, तो यह सजीव

अनुभव से ऊपर के स्तर का प्रतीत होता है। स्वयं-साध्य क्रिया के अवयव के रूप में—चाहे साधना के रूप में अथवा उद्देश्य की अन्तर्वस्तु को विस्तृत करने के अर्थ में—वे सूचना प्रदान करते हैं। प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त अन्तर्दृष्टि, संवाद द्वारा प्राप्त ज्ञान से मिल जाती है। तव वैयक्तिक अनुभव, व्यक्ति के संबंधित समाज के अनुभव के निश्चित परिणामों, साथ ही दीर्घकालीन आपत्तियों तथा परीक्षणों के परिणामों को भी ग्रहण करने तथा धारण करने के योग्य बन जाता है। ऐसे अध्ययन में कोई ऐसा संपृक्ति-बिन्दु नहीं होता, कि जिसके बाद और अधिक आत्मसाती-करण असंभव हो जाय। जितनी ही अधिक ज्ञान-वृत्ति प्राप्त की जाती है, आत्मसात् करने की उतनी ही अधिक क्षमता बनी रहती है। नवीन उत्सुकता के कारण, अर्जन की नवीन शक्ति मिलती है, और यह नवीन उत्सुकता, प्राप्त की गई सूचना पर निर्भर करती है।

जो अर्थ क्रियाओं को प्रदान किए जाते हैं, उनका संबंध प्रकृति और मनुष्य से होता है। यह ऐसा स्वयंसिद्ध सत्य है, जो शैक्षणिक पर्यायों के रूप में ही अर्थ ग्रहण करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भूगोल तथा इतिहास ऐसी विषय-सामग्री प्रदान करते हैं, जो केवल प्रविधिक दक्षता के रूपों अथवा संकुचित व्यक्तिगत क्रियाएँ मात्र रह जाने वाले कार्यों को, पृष्ठभूमि तथा दृष्टिकोण—अर्थात् बौद्धिक अनुदृष्टि प्रदान करते हैं। दिक्-काल के सम्बन्धों में अपनी स्वयं की क्रियाओं का स्थान निर्धारित करने की शक्ति की प्रत्येक अनुवृद्धि से, हमारी क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण अन्तर्वस्तु प्राप्त होती है। वातावरण में अपने नगर के दृश्यों का आनन्द लेकर तथा उसके निरन्तर अधिकारी तथा उसकी महत्ता को स्थिर रखने वाले व्यक्तियों के रूप में निरन्तर प्रयत्नशील रह कर, हम यह अनुभव करते हैं कि हम किसी निम्नकोटि के नगर के निवासी नहीं हैं। इस प्रकार हमारे साधारण दैनिक अनुभव भी केवल क्षणिक भावना मात्र नहीं रह जाते, अपितु स्थाई तत्त्व प्राप्त कर लेते हैं।

यदि भूगोल तथा इतिहास ऐसे पूर्व-प्रस्तुत अध्ययन विषय के रूप में पढ़ाए जायें, जिन्हें लोग केवल विद्यालय में जाने के कारण ही पढ़ें, तो निरसन्देह सामान्यतः ऐसा होता है कि दैनिक अनुभव की बातों तथा इसके लिए अपरिचित बातों के बारे में अनेक कथनों का अध्ययन होता है। इसके लिए क्रिया विभाजित हो जाती है और क्रिया को विभक्त कालावधि में संलग्न रखने वाले दो भिन्न जगत् निर्मित हो जाते हैं। इसमें कोई रूपान्तरण-क्रिया नहीं होती; साधारण अनुभव के अर्थों में अपने संबंधों के ज्ञान द्वारा वृद्धि नहीं होती, जो कुछ पढ़ा जाता है, वह तात्कालिक

क्रिया में प्रयुक्त होकर जीवन्त नहीं बनाया जाता तथा वास्तविक नहीं बन पाता। साधारण अनुभव, संकुचित किन्तु जीवन्त—अर्थात् जैसे-का-तैसा नहीं रह जाता, बल्कि यह अपनी गतिशीलता तथा सुझाव प्रदान करने की कुछ उत्तेजनात्मकता खो देता है। अनात्मसात् सूचनाओं के भार से, यह एक कोने में ठेल दिया जाता है तथा इसका महत्त्व कम हो जाता है। इसमें नम्य प्रतिचारिता तथा अधिक अर्थ प्राप्त करने का सजग औत्सुक्य नहीं रह जाता। जीवन्त की प्रत्यक्ष अभिरुचियों के बिना, केवल सूचनाओं का संग्रहण मात्र, मस्तिष्क को काष्ठवत् बना देता है। उसकी नम्यता नष्ट हो जाती है।

अपने-आप के लिए की गई प्रत्येक क्रिया, अपने तात्कालिक रूप से परे की ओर उन्मुख होती है। यह अपनी अर्थ-वृद्धि के लिए, सूचनाएँ प्रदान किए जाने की निष्क्रिय रूप से प्रतीक्षा नहीं करती ; बल्कि उन्हें खोज निकालती है। उत्सुकता केवल पृथक् आकस्मिक सम्पत्ति नहीं है। यह इस तथ्य का आवश्यक परिणाम है कि अनुभव एक गतिमान परिवर्तनशील वस्तु है, जिसमें अन्य वस्तुओं के सभी प्रकार के संबंध निहित हैं। जिज्ञासा, इन सम्बन्धों को प्रत्यक्ष करने की मनोवृत्ति-मात्र है। शिक्षकों का कर्तव्य, ऐसे वातावरण की सृष्टि-मात्र करना है कि इस प्रकार के अनुभव की प्राप्ति, सफलतापूर्वक संभव हो तथा निरंतर क्रियाशील बनी रहे। किसी विशेष प्रकार के वातावरण में, किसी क्रिया का अवरोध किया जा सकता है, ताकि प्राप्त होने वाला अर्थ ही, अनुभव के लिए प्रत्यक्ष, मूर्त तथा पृथक् परिणाम बन सके। कोई व्यक्ति भोजन बना सकता है, हथौड़ा चला सकता है अथवा टहल सकता है और फल-स्वरूप प्राप्त परिणाम, मन को भोजन बनाने, हथौड़ा चलाने अथवा टहलने के परिणामों के (शाब्दिक अर्थ में—अर्थात् केवल भौतिक परिणामों) आगे नहीं ले जा सकते। किन्तु कुछ भी हो, कार्य के परिणाम महत्त्वपूर्ण होते हैं। टहलने में प्रतिरोधक भूमि की प्रतिक्रिया तथा स्थान-परिवर्तन होता है, जिसके पुलक का, पदार्थ की उपस्थिति में कहीं भी, अनुभव किया जा सकता है। इसमें अंगों तथा नाड़ी-तन्त्र की बनावट और यान्त्रिक बनावट के नियमों की आवश्यकता होती है। भोजन बनाना, खाद्य-सामग्री के रासायनिक संबंधों को परिवर्तित करने के लिए ताप तथा आर्द्रता का उपयोग करना है। इसका भोजन के पचने तथा शरीर की वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है। सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों का भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का सर्वोत्तम ज्ञान ही, इन परिणामों तथा संबंधों को प्रत्यक्ष करने के लिए पर्याप्त नहीं है। शिक्षा का कार्य, फिर यह देखना है कि ऐसी क्रियाएँ, ऐसे ढंगों से तथा ऐसी परिस्थितियों में की जायें कि

इन सम्बन्धों को यथासंभव प्रत्यक्ष कर सकें । 'भौगोलिक अध्ययन' साधारण कार्य के स्थान-संबंधी तथा प्राकृतिक संबंधों की ज्ञान-प्राप्ति की, शक्ति अर्जित करना है। 'ऐतिहासिक अध्ययन' मुख्य रूप से, इसके मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करना है । कारण यह है कि जिसे हम सूत्रबद्ध-अध्ययन-विषय के रूप में भूगोल कहते हैं, वह उस प्राकृतिक माध्यम के बारे में दूसरे लोगों के अनुभव में खोजे गए तथ्यों तथा सिद्धान्तों का निकाय है, जिसमें हम रहते हैं तथा जिसके संदर्भ में ही हमारे जीवन के विशेष कार्यों की व्याख्या की जाती है । इस प्रकार सूत्रबद्ध विषय के रूप में इतिहास, केवल उन सामाजिक समुदायों की क्रियाओं तथा आपत्तियों के बारे में ज्ञात तथ्यों का निकाय है, जिसमें हमारा स्वयं का जीवन क्रमिक रूप से चल रहा है तथा जिसके संबंध से ही हमारे अपने रीति-रिवाज तथा निकाय आलोक प्राप्त करते हैं ।

तहास तथा भूगोल का पूरक स्वभाव

इतिहास तथा भूगोल (जिसमें आगे दिए गए कुछ कारणों से प्रकृति अध्ययन भी सम्मिलित है।) पूर्ण रूप से विद्यालय के परिचयात्मक विषय हैं। उनके साधनों तथा उन्हें प्रयोग करने की विधि के विवेचनात्मक परीक्षण से, यह स्पष्ट हो जायगा कि इस सूचना के जीवन्त अनुभव में आत्मसात् हो जाने तथा पृथक्-पृथक् राशियों में संगृहीत होने का अंतर, इस बात पर निर्भर करता है, कि इनका अध्ययन मनुष्य तथा प्रकृति के परस्पर निर्भर होने के तथ्य के अनुकूल है अथवा नहीं ; क्योंकि इसी पारस्परिक निर्भरता के कारण ही इनका महत्व है। अन्य विषयों को केवल पढ़ाए और पढ़े जाने की परम्परा के कारण, उचित शैक्षणिक सामग्री मान लेने का, इन विषयों की अपेक्षा, कम भय रहता है। अनुभव के महत्त्वपूर्ण रूपान्तरण में सामग्री के सहयोग करने के कारण, उपर्युक्त भय के दार्शनिक कारण के भाव को केवल मनोकल्पना मात्र माना जाता है। अपने कृत्यों को उचित सिद्ध करने के लिए, ऊँचे-ऊँचे पद दे देना, समझा जाता है। 'इतिहास' तथा 'भूगोल' शब्दों से हमें केवल विद्यालयों में परंपरा से अनुमानित विषय-सामग्री का संकेत मिलता है। इस सामग्री के विभिन्न रूप, तथा इसके अत्यंत वृहत् होने के कारण, इसके वास्तविक अर्थ का पता लगाना कठिन हो जाता है। बालकों के अनुभव में अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए, इसकी शिक्षा कैसे दी जाय, इसे निश्चित करना, कुछ कम नहीं है ; किन्तु यदि शिक्षा में एकात्मक तथा सामाजिक निर्देश की धारणा, केवल उपहासात्मक विडम्बना मात्र नहीं है, तो पाठ्य-क्रम में इतिहास-भूगोल-जैसे भारी पाठ्य-विषय, सामाजिक तथा विवेकशील अनुभव के वास्तविक विषय में अवश्य ही कार्य करेंगे। इस कार्य की खोज को पढ़ाए गए तथ्यों तथा प्रयुक्त विधियों को अभ्यास में लाने और परिवर्तित करने के मापदंड के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

ऐसा कहा गया है, कि ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विषय-सामग्री का

कार्य, जीवन के व्यक्तिगत संबंधों को, उनकी पृष्ठभूमि, उनका संदर्भ तथा दृष्टिकोण स्पष्ट करके, अधिक सम्पन्न बनाना तथा व्यक्त करना है। भूगोल, भौतिक पक्ष पर बल देता है, इतिहास सामाजिक पक्ष पर, किन्तु दोनों ही, एक ही उभयनिष्ठ विषय, अर्थात् मनुष्य के सामाजिक जीवन पर बल देते हैं; क्योंकि यह सामाजिक जीवन, अपने प्रयोगों, साधनों, ढंगों, सफलताओं तथा असफलताओं के साथ अन्तरिक्ष अथवा शून्य में ही नहीं चलता है। यह संसार में ही घटित होता है। इस प्राकृतिक पृष्ठभूमि का, सामाजिक जीवन से वही संबंध नहीं है, जो नाटकीय प्रस्तुतिकरण के साथ, नाटकीय अभिनयों की दृश्यावली का होता है। यह इतिहास का निर्माण करने वाली, सामाजिक घटनाओं के स्वरूप का ही अंग बन जाती है। प्रकृति, सामाजिक घटनाओं का माध्यम है। यह मौलिक उद्दीपन प्रस्तुत करती, अवरोध उपस्थित करती तथा साधन प्रदान करती है। इसकी शक्तियों का प्रगतिशील नियंत्रण ही, सभ्यता है। जब भौतिक पक्ष के अध्ययन के रूप में भूगोल तथा सामाजिक पक्ष पर बल देने के रूप में इतिहास की पारस्परकि निर्भरता को नहीं स्वीकार किया जाता, तो इतिहास, तिथियों की क्रमागत सूची तथा घटनाओं की परिशिष्टात्मक तालिका मात्र बन जाता है—जिन्हें 'आवश्यक' की संज्ञा दी जाती है, अथवा जो केवल साहित्यिक-परिभ्रम बन जाता है; क्योंकि शुद्ध साहित्यिक इतिहास में, प्राकृतिक वातावरण केवल रंगमंचीय दृश्यावली का कार्य करता है।

निस्संदेह, भूगोल का प्रशिक्षात्मक प्रभाव, प्राकृतिक तथ्यों तथा सामाजिक घटनाओं के संबंध तथा उनके परिणामों में ही निहित है। भूगोल की रूढ़िगत परिभाषा, कि यह मनुष्य के आवास-स्थान के रूप में पृथ्वी का विवेचन है, इसकी प्रशिक्षात्मक वास्तविकता को स्पष्ट कर देती है। मनुष्यों के आवास-स्थान, कार्य, सफलताओं तथा विफलताओं के विवेचन के कारण ही, भौगोलिक विषय, शिक्षा की सामग्री में सम्मिलित किए जाते हैं। किन्तु, दोनों को एक साथ रखने के लिए, अत्यन्त सूचनात्मक ज्ञान रखनेवाली तथा उपार्जित कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। इन शृंखलाओं के टूट जाने पर, भूगोल अत्यन्त साधारण परिस्थितियों में प्राप्त होने वाले, असंबद्ध अवयवों का घाल-मेल मात्र रह जाता है। यह बौद्धिक विषमताओं तथा साध्यों के वास्तविक ज्ञान-भण्डार-सा प्रतीत होता है; जैसे कहीं किसी पर्वतमाला की ऊँचाई, कहीं नदी की गति-विधि तथा मार्ग, किसी नगर में उत्पन्न होने वाली औद्योगिक वस्तुओं की मात्रा, अथवा दूसरे नगर में

जहाज बनाने के कारखाने की सूचना, किसी देश की सीमा अथवा किसी राज्य की राजधानी।

मनुष्य के आवास-गृह के रूप में पृथ्वी, मानवीय तथा एकात्मक है, विविध तथ्यों के संग्रहालय के रूप में देखने पर पृथ्वी अपकीर्णक तथा काल्पनिक रूप से निष्क्रिय है। भूगोल ऐसा विषय है, जो मौलिक रूप से कल्पना के अर्थात् भाव-प्रधान कल्पना के भी अनुकूल होता है। इसमें साहसिक कार्य, यात्रा तथा देशान्वेषण से सम्बन्धित आश्चर्य तथा गौरव निहित होता है। लोगों तथा वातावरण की विविधता और साधारण दृश्यों से उनका अन्तर, अनन्त उद्दीपन प्रदान करता है। मन, परंपरा की नीरसता से हट जाता है। जहाँ कि स्थानीय अथवा गृह-भूगोल, प्राकृतिक वातावरण के निर्माणात्मक विकास का स्वाभाविक प्रारम्भ-विन्दु है। यह स्वयं का साध्य न होकर, अज्ञात की ओर ले जाने वाला आरम्भ विन्दु है। यदि गृह-भूगोल को वाह्य-संसार के समझने का आधार न बनाया जाय, तो यह इतना निर्जीव हो जाता है, जितना कि विषय-पाठ होते हैं, जो परिचित वस्तुओं के गुणों का सारांश मात्र प्रदान करते हैं। कारण वही है। कल्पना को भोजन नहीं मिलता, वल्कि इसका काम पूर्व-ज्ञात तथ्यों का केवल पुनर्स्मरण तथा सूचीकरण और उन्हें अधिक सूक्ष्म बनाना मात्र रह जाता है। किन्तु, जब गाँव के भू-स्वामियों की सीमा निर्धारित करने वाली चौहद्दियाँ, बड़े-बड़े राष्ट्रों की सीमा को समझने के लिए संकेत के रूप में काम करती हैं, तो चौहद्दियों को भी अधिक अर्थ मिल जाता है। सूर्य का प्रकाश, वायु, बहता हुआ पानी, पृथ्वी के धरातल की विषमता, विभिन्न उद्योग, सार्वजनिक अधिकारी तथा उनके कर्तव्य, ये सभी बातें स्थानीय वातावरण में प्राप्त होती हैं। यह समझ लेने पर, कि जैसे उनका अर्थ, उसी सीमा के अंदर ही प्रारंभ होकर समाप्त हुआ है, वे परिश्रमपूर्वक सीखे जाने वाले विलक्षण तथ्य हैं। अनुभव की सीमा के विस्तार के रूप में, अपने क्षेत्र के अंतर्गत अनोखे तथा अपरिचित मनुष्यों तथा वस्तुओं को सम्मिलित कर लेने पर वे अपने प्रयोग के कारण विकृत हो जाते हैं। सूर्य का प्रकाश, वायु, भाप, व्यापार, राजनीतिक संबंध आदि बड़ी दूर से प्राप्त होते हैं तथा विचारों को दूर तक ले जाते हैं। उनके क्रम का अनुसरण करने से मन, अधिक सूचनाएँ प्राप्त करके ही अधिक विकसित नहीं होता, बल्कि पूर्व-निश्चित तथ्यों के अर्थों के पुनर्निर्माण के द्वारा होता है।

वही सिद्धांत, विशिष्ट तथा पृथक् प्रतीत होने वाले, भौगोलिक अध्ययन की विभिन्न शाखाओं अथवा रूपों का समन्वय करता है। गणितात्मक अथवा

खगोल-विषयक, प्राकृतिक, स्थान-वर्णनात्मक, राजनैतिक, व्यापारिक, सभी प्रकार के भूगोलों की आवश्यकता होती है। इन सब का समन्वय कैसे होता है? क्या केवल वाह्य सामंजस्य से ही यह संभव हो जाता है? यदि शैक्षणिक आकर्षण-केन्द्र को सदैव विषय के सांस्कृतिक अथवा मानवीय पक्ष पर न रक्खा जाय, तो कोई और विधि नहीं है। इस केन्द्र से, कोई भी सामग्री, जहाँ तक वह मानवीय क्रियाओं तथा संबंधों के महत्त्व की ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होती है, प्रासंगिक बन जाती है। शीत तथा उष्ण प्रदेशों की सभ्यताओं के अंतरों, शीतोष्ण प्रदेशों के विशेष औद्योगिक तथा राजनीतिक अन्वेषणों को, पृथ्वी को सौर-मण्डल का एक अंग माने वगैर नहीं समझा जा सकता। आर्थिक क्रियाएँ एक ओर तो सामाजिक सम्पर्क तथा राजनैतिक संगठन पर गहरा प्रभाव डालती हैं, दूसरी ओर प्राकृतिक परिस्थितियों का परावर्तन करती हैं। इन विषयों का विशेष अध्ययन, विशेषज्ञों के लिए है। उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया का संबंध, सामाजिक अनुभव रखने वाले प्राणी, मनुष्य से ही है।

भूगोल में ही प्रकृति-अध्ययन को भी सम्मिलित करना शैक्षणिक रूप से वलात किया गया कार्य लगता है; किन्तु शैक्षणिक भाव में केवल एक ही सत्य होता है। यह सोचनीय बात है कि अभ्यास में उसके लिए दो नाम हैं; क्योंकि नामों की विभिन्नता अर्थ की एकरूपता को छिपा देती है। प्रकृति तथा पृथ्वी को समानार्थी पद होना चाहिए। इसी प्रकार पृथ्वी-अध्ययन तथा प्रकृति-अध्ययन को भी समानार्थी होना चाहिए। हर व्यक्ति यह जानता है कि अनेक पृथक् बातों के संव्यवहार के कारण पाठशालाओं में, प्रकृति-अध्ययन का स्वरूप विकृत हो गया है। उदाहरणार्थ, फूल के भागों का अध्ययन, उसे आंगिक न समझ कर अर्थात् फूल को पौदे से अलग मान कर, पौदे को भूमि, वायु तथा प्रकाश से परे मान कर, जिनके कारण ही वह जीवित रहता है, किया गया है। निश्चित परिणाम यह होता है कि जिन विषयों पर ध्यान आकर्षित किया जाता है; किन्तु जो इतने पृथक् होते हैं कि कल्पना को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, अत्यन्त नीरस हो जाते हैं। अभिरुचि की इतनी कमी हो जाती है कि सर्व-जीववाद को फिर प्रचलित करने अर्थात् प्राकृतिक तथ्यों तथा घटनाओं को कल्पना-प्रधान पौराणिक कथाओं के आवरण में इसलिए रखना पड़ता है कि वे हमारे मन को आकर्षित करके एकाग्र रख सकें। अनेक दशाओं में लगभग मंद-बुद्धघात्मक मानवीकरणों का सहारा लिया गया था। यद्यपि यह विधि अधिक विवेकपूर्ण न थी; किन्तु मनुष्य के वातावरण के लिए, यह आवश्यक था। अपने

संदर्भ से अलग कर दिए जाने के कारण, तथ्य विकृत हो गए थे। उनका संबंध पृथ्वी से नहीं रह गया था, उनका कोई निश्चित स्थान नहीं रह गया था। इसे पुनः प्राप्त करने के लिए कृत्रिम तथा संवेगात्मक विचारों की सहायता ली गई। किन्तु वास्तविक उपाय तो प्रकृति-अध्ययन को 'प्रकृति' का अध्ययन बना देना ही है। अर्थात् इसे अपनी उत्पत्ति तथा कार्य-व्यापार की परिस्थितियों से पृथक् करके निरर्थक बना दिए गए अंशों का अध्ययन न समझा जाय। जब अपने सारे संबंधों सहित पृथ्वी की तरह प्रकृति का भी सम्पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाता है, तो इसके तथ्य, मानव-जीवन के सहानुभूति तथा सहयोग के स्वाभाविक संबंधों में व्यक्त होते हैं और कृत्रिम रूप से स्थानापन्न तथ्यों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इतिहास और वर्तमान सामाजिक जीवन

सामाजिक जीवन के वर्तमान रूपों और संबंधों से पृथक् होने पर इतिहास की सजीवता नष्ट हो जाती है। अतीत के रूप में अतीतकाल का हम से कोई संबंध नहीं होता। यदि जो कुछ हुआ, वह हो चुका, यही बात है, तो अतीतकाल के प्रति हमारा एक ही दृष्टिकोण हो सकता है, अर्थात् जो बीत गई, सो बात गई। लेकिन अतीत का ज्ञान, वर्तमान को समझने की कुंजी है। इतिहास का सम्बन्ध अतीत से है; किन्तु यही अतीत, वर्तमान का इतिहास है। अन्वेषण, अनुसन्धान तथा अमरीकी उपनिवेश की स्थापना, पश्चिम की ओर बढ़ने का पूर्वकालिक आन्दोलन तथा आवास इत्यादि का अध्ययन, संयुक्त राज्य की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए, अर्थात् उस देश के रूप में होना चाहिए, जिसमें हम अब रहते हैं। निर्माण की प्रक्रिया में अध्ययन करने से, प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए परम संश्लिष्ट बातें भी सरल हो जाती हैं। उत्पत्यात्मक विधि, सम्भवतः उत्तरकालीन उन्नीसवीं शताब्दी की मुख्य उपलब्धि है। इसका सिद्धांत यह है कि किसी संश्लिष्ट उपलब्धि में अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए इसकी निर्माण-प्रक्रिया का क्रम-स्पष्ट करना चाहिए। इसके विकास के क्रमागत सोपानों का अनुसरण करना चाहिए। इतिहास में इस विधि का संप्रयोग करने से, यदि यह स्वयं-सिद्ध सिद्धांत समझा जाय कि वर्तमान सामाजिक अवस्था को इसके अतीत से पृथक् नहीं किया जा सकता, तो निर्णय एकांगी होगा; क्योंकि यह भी उतना ही सत्य है कि अतीतकालीन घटनाओं को वर्तमान से पृथक् नहीं किया जा सकता, इससे परे उनका कोई अर्थ नहीं रह जायगा। इतिहास का आरंभ-बिन्दु सदैव अपनी समस्याओं सहित कोई वर्तमान परिस्थिति होती है।

इस सामान्य सिद्धांत को संक्षिप्त विधि से अनेक बातों पर इसका प्रभाव देखने के विचार से लागू किया जा सकता है। साधारणतः, ऐतिहासिक अध्ययन के लिए इतिवृत्यात्मक विधि का स्वाभाविक रूप से प्रयोग किया

जाता है। अमूर्त तथा अग्राह्य ऐतिहासिक आख्यानों को, महान् व्यक्तियों, वीरों तथा जन-नायकों की जीवन-कथाएँ, स्थूल तथा सजीव बना देती हैं। वे अत्यन्त विस्तृत देश-काल में फैली हुई, ऐसे जटिल तथा संगुम्फित घटना-क्रमों को, जिन्हें केवल उच्च प्रशिक्षित जन ही समझ कर सुलझा सकते हैं, संक्षिप्त करके स्पष्ट चित्रों के रूप में व्यक्त कर देती हैं। इस सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक संगति में संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि, जिन सामाजिक परिस्थितियों का वे प्रतिनिधित्व करती हैं, उनके संबंध पर ध्यान दिए बिना, कुछ ही व्यक्तियों के कार्यों को अत्यधिक महत्त्व देकर छुट्टी ले ली जाय, तो इस सिद्धांत का दुरुपयोग होगा। जब किसी जीवन-कथा का उल्लेख, व्यक्ति-विशेष की क्रियाओं के वर्णन के रूप में किया जाय, और उन परिस्थितियों पर ध्यान न दिया जाय, जिन्होंने उसकी प्रातिचारिक क्रियाओं के लिए उद्दीपन प्रदान किया था, तो वह इतिहास का अध्ययन नहीं होगा ; क्योंकि उसमें हमें सामाजिक जीवन का ज्ञान नहीं प्राप्त होता, जो व्यक्तियों के सामुदायिक सहयोग का विषय है। इनसे हमें सूचना के कतिपय अंशों को आत्मसात् करने में सहायता मिलती है।

इतिहास के अध्ययन की भूमिका के लिए आदिम मानव-जीवन पर बहुत दिनों से बहुत बल दिया जाता रहा है। इसके भी महत्त्व को समझने के सही और गलत, दोनों ही ढंग हैं। वर्तमान परिस्थितियों का संश्लिष्ट तथा उनका प्रातिभासिक रूप से प्रदत्त स्वरूप और बाह्य रूप से उनकी निर्धारित निश्चित विशेषताएँ, उनके वास्तविक स्वभाव की अंतर्दृष्टि प्राप्त करने में अत्यन्त दुस्तर बाधाएँ उपस्थित करती हैं। आदिम जीवन का आलंबन, वर्तमान परिस्थिति के मौलिक तत्त्वों को, अत्यन्त सरल रूप में प्रदान कर सकता है। यह उसी प्रकार है कि यदि किसी अत्यन्त संश्लिष्ट बुनावट वाले कपड़े को आँख के अत्यन्त निकट करके खोला जाय, तो जब तक उसकी डिजाइन की बड़ी और मोटी विशेषताएँ न दिखाई पड़ने लगें, तब तक उसकी बुनावट का स्पष्ट आभास नहीं मिल सकता। हम वर्तमान परिस्थितियों को सचेष्ट प्रयोगों द्वारा सरल नहीं बना सकते ; बल्कि आदिम जीवन का आश्रय, हमें प्रयोग द्वारा वांछित परिणाम दे सकता है। सामाजिक संबंध तथा संगठित कार्यों के रूप अपने सरलतम पर्दों में व्यक्त हो जाते हैं। जब इस सामाजिक उद्देश्य की उपेक्षा की जाती है, तो आदिम जीवन का अध्ययन केवल असभ्यता के युग की उत्तेजनात्मक तथा उद्दीपक विशेषताओं का अभ्यास मात्र बन जाता है।

आदिम इतिहास, औद्योगिक इतिहास की ओर संकेत करता है। वर्तमान

को अधिक सरलतापूर्वक ज्ञेय अवयवों में व्यक्त करने के लिए, आदिम परिस्थितियों का सहारा लेने का मुख्य कारण यह है कि हम इसके द्वारा यह देख सकते हैं कि जीवन-निर्वाह, आश्रय तथा आत्म-रक्षा की मौलिक समस्याओं का सामना कैसे किया गया है। और यह जान कर कि मानव-जाति ने प्राचीनकाल में इन्हें कैसे सुलझाया है, हम उस लम्बे मार्ग की, जिसे उसे तय करना पड़ा था तथा उन आविष्कारों की, जिससे मानव-जाति की सांस्कृतिक उन्नति हुई है, धारणा बना सकते हैं। मानव-जाति का औद्योगिक इतिहास जानने के लिए हमें इतिहास की आर्थिक परिव्याख्या के पचड़ों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यह सामाजिक जीवन के दो पक्षों पर इस प्रकार प्रभाव डालता है, जैसा सम्भवतः इतिहास का कोई अन्य पक्ष नहीं डाल सकता। यह हमें उन क्रमागत आविष्कारों का ज्ञान प्रदान करता है, जो सामाजिक जीवन की सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए, प्रकृति के नियंत्रण के लिए, संप्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार यह सामाजिक उन्नति के क्रमागत कारणों को व्यक्त करता है। इसका दूसरा कार्य यह है कि हमें सभी मनुष्यों के सर्वनिष्ठ मौलिक प्रयोजनों की पूर्ति करने वाली वस्तुएं, अर्थात् जीवन-यापन से सम्बन्धित व्यवसाय तथा महत्वपूर्ण तथ्य प्रदान करता है। आर्थिक इतिहास, साधारण मनुष्य की क्रियाओं, प्रगति तथा संपत्ति की ऐसी व्याख्या करता है, जैसी इतिहास की अन्य कोई शाखा नहीं करती। प्रत्येक व्यक्ति के लिए परमावश्यक कार्य, जीवन-यापन है—और समाज का परमावश्यक कर्तव्य यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की सर्वसाधारण के हित-सम्बन्धी देनों को स्वीकार करे तथा यह देखे कि उसे प्रतिचार में उचित प्रतिफल मिल रहा है।

चूंकि आर्थिक-इतिहास, अधिक मानवीय तथा अधिक प्रजातंत्रात्मक है, अतएव राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा अधिक स्वच्छंदतावादी होता है। यह प्रधान तत्त्वों तथा शक्तियों के उत्थान तथा पतन मात्र से ही नहीं, अपितु प्रकृति के आदेशों द्वारा, साधारण मनुष्य की—जिसके लिए ही ये प्रधान तत्त्व तथा शक्तियां स्थित हैं—प्रभावपूर्ण उन्मुक्तताओं से सम्बन्धित है।

औद्योगिक इतिहास, राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा मनुष्य के संघर्षों, उसकी सफलताओं तथा विफलताओं के प्रकृति के साथ के घनिष्ठ सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक सीधा मार्ग प्रदान करता है। सैनिक इतिहास का तो कुछ कहना ही नहीं है, क्योंकि राजनैतिक इतिहास, सामान्य रूप से ग्रहण किए जाने पर बड़ी आसानी से सैनिक इतिहास के स्तर पर उतर आता है।

औद्योगिक इतिहास, मुख्य रूप से मनुष्य के उस समय से लेकर, जब कि प्राय: दूसरों की शारीरिक शक्ति का दुरुपयोग किया जाता था, आज तक की प्रगति के मार्ग की व्याख्या है, जब कि कम-से-कम यदि वास्तविक रूप से नहीं, तो प्रत्याशित रूप से प्रकृति के शक्ति-स्रोत इस प्रकार मनुष्य के वश में हैं कि वह उन पर सर्वनिष्ठ अधिकार समझता है। यदि कार्य करने की भूमि, वन तथा खानों का उपयोग करने की परिस्थितियों के, पशु-पालन तथा अन्नोत्पादन के, और औद्योगिक उत्पादन तथा वितरण के इतिहास को निकाल दिया जाय, तो इतिहास केवल साहित्यिक—अर्थात् पृथ्वी के बजाय अपने-आप में अवस्थित पौराणिक मानवता की कल्पना-प्रधान सुव्यवस्थित गाथा-मात्र रह जायगा।

सम्भवत: इतिहास की साधारण शिक्षा में सर्वाधिक उपेक्षित शाखा, बौद्धिक इतिहास है। हमने अभी यह अस्वीकार करना प्रारम्भ ही किया है कि मानवीय भाग्य का उन्नयन करने वाली महान् आत्माएँ राजनैतिक नेता, सेनानायक, तथा कूटनीतिज्ञ नहीं, अपितु वे वैज्ञानिक, अन्वेषक तथा आविष्कारक हैं, जिन्होंने मनुष्य के हाथों में विकासशील तथा नियंत्रित अनुभव प्रदान किए हैं. तथा वे कलाकार, कृषकगण हैं, जिन्होंने मानव-संघर्षों, विजयों तथा पराजयों को ऐसी चित्रात्मक अथवा लिखित भाषा में उपस्थित किया है कि उनका अर्थ सार्वभौम रूप से सब के लिए प्राप्य बन गया है। मनुष्य के प्राकृतिक शक्तियों के सामाजिक उपयोगों के समायोजन के प्रगतिशील इतिहास के रूप में, औद्योगिक इतिहास का एक लाभ यह है कि यह ज्ञान के परिणामों तथा विधियों के विकास पर विचार करने का अवसर प्रदान करता है। आज-कल लोग साधारण पदों में बुद्धि तथा विचार की प्रशंसा करने के आदी हो चुके हैं। उसकी मौलिक आवश्यकता स्वीकार की जाती है ; किन्तु विद्यार्थी बहुधा इतिहास के परंपरागत अध्ययन के बाद यह सोचते हैं कि या तो मानव-बुद्धि ऐसी स्थिर मात्रा है, जिसमें अच्छी विधियों के आविष्कार से कोई प्रगति नहीं हुई है, अथवा बुद्धि, वैयक्तिक बुद्धिमत्ता के अतिरिक्त, एक नगण्य ऐतिहासिक अवयव है। इतिहास के अध्ययन से ही, मानवता की बर्बर अवस्था से सभ्यता तक के सम्पूर्ण विकास की, बौद्धिक अन्वेषणों तथा आविष्कारों पर निर्भरता स्पष्ट प्रकट होती है। इसी से यह भी व्यक्त होता है कि जो बातें साधारण रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य कितना है। अथवा वे बौद्धिक विकास में कहाँ तक पार की जाने वाली बाधा का कार्य करती

हैं। बुद्धि जीवन में कहाँ तक कार्य करती है, इस भावना को व्यक्त करने के लिए, इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययन से अच्छी और कोई विधि नहीं है।

इस प्रकार से पढ़ाए जाने पर स्वाभाविक रूप से इतिहास, अध्यापन में नैतिक महत्त्व ग्रहण कर लेगा। ऐसे चरित्र के लिए, जिसकी नैतिकता केवल वर्गहीन सरलता-मात्र नहीं होती, सामूहिक जीवन के वर्तमान रूपों का विवेकपूर्ण ज्ञान आवश्यक होता है। ऐतिहासिक ज्ञान, ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करने में सहायक होता है। यह वर्तमान सामाजिक जीवन के ताने-बाने का विश्लेषण करने वाला अंग है तथा इसकी निर्मायक शक्तियों को ज्ञेय बनाता है। सामाजिक भावना उत्पन्न करने के लिए किए गए प्रयोग में ही इतिहास का नैतिक महत्त्व निहित है। सद्गुणों अथवा दुर्गुणों पर विशेष नैतिक पाठों का निर्माण करने के लिए प्रयुक्त होने वाली उपकथाओं के भण्डार के रूप में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु, ऐसी सीख, इतिहास का उतना नैतिक उपयोग नहीं है, जितना कि यह वास्तविक सामग्री द्वारा नैतिक भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न है। अधिक-से-अधिक यह अस्थाई संवेगात्मक उत्साह उत्पन्न कर सकता है और बुरे-से-बुरे रूप में नैतिक पाठों के प्रति उदासीनता उत्पन्न कर सकता है। वर्तमान की उन सामाजिक परिस्थितियों का सहानुभूतिपूर्वक, अधिक विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए, इतिहास द्वारा प्रदान की गई सहायता, स्थाई तथा निर्माणकारी संपत्ति है।

अध्याय का सारांश

अनुभव में सहजरूप से, ऐसे अर्थ निहित होते हैं, जो सर्व-प्रथम ज्ञात होने वाली बातों से परे होते हैं। ऐसे निहित अर्थों अथवा सम्बन्धों को व्यक्त कर देने से, अनुभव का अर्थ बढ़ जाता है। कोई भी अनुभव, प्राथमिक रूप में चाहे कितना ही साधारण क्यों न हो, प्रत्यक्ष सम्बन्धों के क्षेत्र के विस्तार द्वारा, महत्त्व की अनिश्चित संपत्ति प्राप्त कर सकता है। दूसरों के सामान्य सम्पर्क का आदान-प्रदान इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने का सब से सरल ढंग है; क्योंकि यह समाज तथा जाति के भी अनुभव के वास्तविक परिणामों को व्यक्ति के तात्कालिक अनुभव से जोड़ देता है। सामान्य सम्पर्क के आदान-प्रदान में सामूहिक तथा सर्वनिष्ठ अभिरुचि होती है, जिसके कारण एक

प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है, तो दूसरा ग्रहण करने के लिए। यह दूसरों में मन की छाप उत्पन्न करने के लिए केवल संवाद-रूप में कथित अथवा लिखित बातें, और उनकी स्मरण-शक्ति द्वारा संचित बातों के शाब्दिक पुनर्प्रस्तुतिकरण द्वारा परीक्षा करने से भिन्न है।

भूगोल तथा इतिहास सीधे वैयक्तिक अनुभव के महत्त्व को बढ़ाने वाले, विद्यालय के दो बड़े ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं। पिछले अध्याय में वर्णित क्रियात्मक व्यवसाय, प्रकृति तथा मनुष्य दोनों के ही संबंधों को सुदृढ़ बनाते हैं। जब तक ये बाह्य कारणों अथवा केवल कौशल-प्राप्ति के ढंगों के रूप में पढ़ाए जाते हैं, उनका शैक्षणिक महत्त्व यह होता है कि वे इतिहास तथा भूगोल में वर्णित अर्थों के विस्तृत संसार की ओर ले जाने वाले सर्वाधिक सीधे तथा अभिरुचिपूर्ण मार्ग प्रदान करते हैं। जहाँ कि इतिहास अन्तर्निहित मानव-सम्बन्धों को व्यक्त करता है तथा भूगोल प्राकृतिक, संबंधों को, वहाँ तक ये दोनों ही विषय एक ही सजीव संपूर्णता के दो पक्ष हैं, क्योंकि मनुष्य का सामूहिक जीवन, केवल आकस्मिक रंगमंच के रूप में नहीं, अपितु विकास की सामग्री तथा माध्यम के रूप में, प्रकृति में ही चलता है।

१७

पाठ्य-क्रम में विज्ञान का स्थान

तर्क-संगत एवं मनोवैज्ञानिक

विज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है, जो निश्चित तथा असंदिग्ध विषय-सामग्री प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रूप से अपनाए गए निरीक्षण, चिन्तन तथा परीक्षण का परिणाम हो। प्रचलित विश्वासों को इस प्रकार परिवर्द्धित करने के लिए अत्यन्त विवेकपूर्ण सतत प्रयास की आवश्यकता पड़ती है, जिससे उनमें निहित गलत धारणाओं को दूर किया जा सके, उनकी परिशुद्धि में अभिवृद्धि की जा सके तथा उन्हें ऐसा रूप दिया जा सके कि विभिन्न तथ्यों की पारस्परिक निर्भरताएँ यथासंभव स्पष्ट हो जायें। यह भी सभी ज्ञानों की तरह, वातावरण में परिवर्तन उत्पन्न करने वाली कतिपय क्रियाओं का परिणाम होता है। किन्तु इस दिशा में प्रत्युत्पन्न ज्ञान की विशेषता यह है कि यह क्रिया की एक घटना-मात्र नहीं, अपितु उसका एक नियंत्रणकारी अवयव होता है। तार्किक तथा शैक्षणिक दोनों ही प्रकार से विज्ञान, ज्ञान का अन्तिम सोपान, अर्थात् ज्ञानार्जन-क्रिया की पूर्णता है।

संक्षेप में विज्ञान का महत्त्व यह है कि यह किसी ज्ञान के तार्किक तात्पर्य की प्रत्यभिज्ञा प्रदान करता है। तार्किक-क्रम, ज्ञात तथ्यों पर बाह्य रूप से लादा गया स्वरूप नहीं है, अपितु यही परिशुद्ध ज्ञान का स्वरूप होता है; क्योंकि इसका अर्थ है कि विषय-सामग्री के कथन का स्वभाव, उन्हें समझने वाले के लिए उन आधारों को प्रदर्शित करता है, जिनसे तार्किक निष्कर्ष निकलता है तथा उन निष्कर्षों को व्यक्त करता है, जिनकी ओर यह संकेत करता है। जैसे कतिपय अस्थियों से सुयोग्य जीव-शास्त्री किसी जीव के स्वरूप का पुनर्निर्माण करता है, वैसे ही गणित अथवा भौतिक-शास्त्र के किसी कथन से इन विषयों के विशेषज्ञ, उन सत्यों की व्यवस्था के भाव का निर्माण करा सकता है, जिनमें यह निहित होता है।

अकुशल व्यक्ति के लिए, यह आदर्श स्वरूप, एक बाधक तथ्य-मात्र होता है। चूँकि ज्ञान को स्वयं अपना साध्य समझ कर, उसकी अभिवृद्धि के संदर्भ

में ही ज्ञान सामग्री का कथन होता है, इसीलिए दैनिक जीवन की सामग्री से उसका संबंध व्यक्त न होकर गुप्त रहता है। साधारण व्यक्ति में अस्थियाँ केवल आश्चर्य तथा औत्सुक्य उत्पन्न करती हैं। यदि उसे जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है, तो अस्थियों से कोई भी अर्थ निकालने के उसके सभी प्रयत्न यों ही अटकल-पच्चू तथा अज्ञानतापूर्ण होंगे। शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से वैज्ञानिक रूप, कार्य आरम्भ करने का आदि-विन्दु नहीं; बल्कि वह आदर्श है, जिसे प्राप्त किए जाने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ भी हो, शिक्षा में, सरल वनाए गए विज्ञान के प्राथमिक तत्त्वों से आरम्भ करने की प्रथा है। इसका आवश्यक परिणाम यह होता है कि विज्ञान महत्त्वपूर्ण अनुभव से पृथक् हो जाता है। विद्यार्थी विना अर्थों का तात्पर्य समझे ही, संकेतों का अध्ययन करते हैं। वे एक विशिष्ट सूचना-समूह प्राप्त करते हैं, किन्तु अपनी सुपरिचित वस्तुओं तथा प्रयोगात्मक क्रियाओं से उनका संबंध स्पष्ट नहीं कर पाते; अतः वे एक विलक्षण प्रकार का शब्द-भंडार प्राप्त करते हैं।

साधारणतः यह कल्पना करने की मनोवृत्ति देखी जाती है कि अपने आदर्श रूप में विषय-सामग्री का प्रस्तुतिकरण, शिक्षा का सर्वोत्तम मार्ग है। जहाँ पूर्व-जिज्ञासुओं ने अपना अनुसंधान समाप्त किया है, वहीं से प्रारम्भ करने पर विद्यार्थी का समय तथा शक्ति बचाई जा सकती है, और साथ ही व्यर्थ की गलतियों से भी उन्हें वचाया जा सकता है। इसका परिणाम, शिक्षा के इतिहास में सर्वत्र व्यक्त है। विद्यार्थी, विज्ञान का अध्ययन उन पाठ्य-पुस्तकों से प्रारम्भ करते हैं, जिनमें विशेष क्रम के अनुसार, विषय-क्रम व्यवस्थित रहता है। प्रविधिक धारणाएँ प्रारम्भ में ही परिभाषाओं के रूप में समझाई जाती हैं। प्रारंभिक सोपान पर ही मुख्य नियम वता दिए जाते हैं। अधिक-से-अधिक, उन तक किस प्रकार पहुँचा गया, इसका संकेत कर दिया जाता है। विद्यार्थी, साधारण अनुभव की परिचित सामग्री का वैज्ञानिक विधि से प्रयोग करना सीखने के बजाय एक 'विज्ञान' का अध्ययन करते हैं। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त विधि, माध्यमिक विद्यालयों में प्रयुक्त की जाती है तथा माध्यमिक विद्यालयों की विधि, नीचे की कक्षाओं में, और इस प्रकार यह क्रम विल्कुल नीचे तक चला जाता है। किन्तु, इसमें कुछ तत्त्वों की इस प्रकार उपेक्षा कर दी जाती है, कि विषय-सामग्री सरल वन जाती है।

वह कालानुक्रमिक विधि, जो शिक्षार्थी के अनुभव से प्रारंभ होकर, उससे वैज्ञानिक व्यवहार की रीतियों का विकास करती है, प्रायः कुशल अथवा विशेषज्ञ

व्यक्तियों की तार्किक विधि से विशिष्ट 'मनोवैज्ञानिक' विधि कहलाती है। इसमें निहित समय की प्रातिभासिक हानि की पूर्ति, प्राप्त सजीव अभिरुचि तथा अच्छी तरह समझने के कारण हो जाती है। विद्यार्थी जो कुछ सीखते हैं, कम-से-कम उसे समझ तो जाते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण रूप से परिचित सामग्री में से चुनी हुई समस्याओं के संबंध में उन विधियों का अनुसरण करने से, जिनके द्वारा वैज्ञानिकों ने परिशुद्ध ज्ञान प्राप्त किया है, उनमें अपनी पहुँच के अन्तर्गत आने वाली सामग्री के संव्यवहार की स्वतंत्र शक्ति उत्पन्न होती है तथा सांकेतिक सामग्री से उत्पन्न होने वाले परिभ्रम तथा बौद्धिक अभिरुचि से बचाव होता है। चूँकि विद्यार्थियों में से बहुतों को वैज्ञानिक विशेषज्ञ नहीं बनना होता, अतः उन्हें अन्य वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त परिणामों को पर-प्राप्त समझ कर ग्रहण करके उनका अनुकरण करने की अपेक्षा यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि वे वैज्ञानिक विधि के अर्थ में कुछ अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लें। इस सीमा तक वे अचेतनावस्था में ही नहीं पहुँचेंगे, अपितु वे जो ज्ञान प्राप्त करेंगे, वह निश्चित तथा विवेकपूर्ण होगा। और यह कहना भी उचित ही है कि उन कतिपय व्यक्तियों की तैयारी उस दशा की अपेक्षा अधिक होगी, जब कि उन्हें विशुद्ध प्रविधिक तथा सांकेतिक रूप से केवल कथित सूचना के बोझ से लाद दिया जाता। वास्तव में केवल वे ही सफल वैज्ञानिक बन सकते हैं, जो अपनी स्वयं की शक्ति से, परंपरागत मध्ययुगीन तत्त्वों से उत्पन्न कुपरिणामों से अपने-आप को बचा पाते हैं।

एक अथवा दो पीढ़ी पूर्व, शिक्षा में विज्ञान को स्थान दिलाने के लिए बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के विरुद्ध प्रयत्न करने वालों की आशाओं तथा उनसे उत्पन्न परिणामों की विषमता अत्यन्त दुःखद है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ज्ञान की खोज करने पर यह निष्कर्ष निकाला था कि सभी दृष्टिकोणों से वैज्ञानिक ज्ञान ही सर्वोत्तम है; किन्तु उसके विचार में यह कल्पना अज्ञात रूप से निहित थी कि वैज्ञानिक ज्ञान, तैयार रूप में समवाय द्वारा प्रदान किया जा सकता है। हमारी साधारण-क्रियाओं की विषय-सामग्री को वैज्ञानिक रूप में रूपान्तरित करने वाली विधियों पर ध्यान न देने के कारण ही विज्ञान, विज्ञान है। बहुधा शिक्षा में इसी प्रकार की योजना का अनुसरण किया गया है; किन्तु प्रविधिक रूप से शुद्ध वैज्ञानिक रूप में कथित सामग्री में कोई चमत्कारिक गुण नहीं होता। इन दशाओं में आर्जित ज्ञान, सूचना का केवल निष्क्रिय संकलन-मात्र होता है। इसके अतिरिक्त, इसके कथन का रूप दिन-प्रति-दिन के अनुभवों

के साथ फलप्रद संपर्क को, साहित्योचित कथन के रूप की अपेक्षा अधिक दूर कर देता है। फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विज्ञान में शिक्षा प्रदान करना उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार पढ़ाई गई बात विद्यार्थी के लिए 'विज्ञान' नहीं होती।

निगमनात्मक योजना पर लिखी गई पाठ्य-पुस्तकों में अत्यधिक सुधार हो चुका है; किन्तु वस्तुओं के साथ सम्पर्क तथा प्रयोगशाला के अभ्यास, स्वयं अपने-आप में इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यद्यपि वे वैज्ञानिक विधि के अपरिहार्य अंग हैं, फिर भी वास्तविक रूप में उनसे ही वैज्ञानिक विधि का निर्माण नहीं होता। भौतिक सामग्रियों का वैज्ञानिक उपादानों से उपयोग किया जा सकता है, किन्तु ये सामग्रियाँ अपने-आप तथा शिक्षालय से बाहर प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं तथा क्रियाओं से, प्रयोग करने की विधि में पृथक् हो सकती है। प्रस्तुत समस्याएँ, 'केवल' वैज्ञानिक समस्याएँ मात्र हो सकती हैं—अर्थात् ऐसी समस्याएँ, जो केवल विषय के विज्ञान का प्रारंभिक ज्ञान प्रारम्भ कर चुकी हैं। हमारा ध्यान, विषय-सामग्री से सम्बन्धित समस्याओं के साथ प्रयोगशाला के अभ्यासों के संबंध के संदर्भ से परे, केवल प्रविधिक हस्त-प्रयोग की कुशलता प्राप्त करने में ही लगा रह सकता है! कभी-कभी मूर्ति-पूजक धर्मों की तरह, प्रयोगशाला के प्रशिक्षण में भी, रूढिगत विधियों का अवलम्बन किया जाता है।[1]

अवसर-अवसर पर यह कहा जा चुका है कि वैज्ञानिक कथन अथवा तार्किक रूप में, चिह्नों तथा प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। यह कथन निस्संदेह, पूरी तौर से भाषा के प्रयोग पर लागू होता है; किन्तु साधारण बोल-चाल की भाषा में मन, प्रतीकों से सीधे सांकेतिक वस्तु की ओर चला जाता है। सुपरिचित वस्तु के भाव-संबंध इतने निकट के होते हैं कि मन प्रतीक-मात्र पर नहीं रुक पाता। ये चिह्न केवल वस्तुओं अथवा कार्यों के लिए ही प्रस्तुत समझे जाते हैं; किन्तु विज्ञान की पारिभाषिक पदावलियों का एक अतिरिक्त प्रयोग होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसका निर्माण अनुभव में वस्तुओं के सीधे अपने

---

१ विधेयात्मक पक्ष के उदाहरण के लिए, बाग अथवा दूकान पर के कार्यों से उत्पन्न समस्याओं के महत्त्व को लिया जा सकता है, और प्रयोगशाला को, इन समस्याओं के सुन्दरतर अनुसन्धान के लिए परिस्थितियाँ तथा उपादान प्रदान करने वाले अतिरिक्त साधन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

व्यावहारिक उपयोग को व्यक्त करने के लिए नहीं, वल्कि ज्ञानात्मक व्यवस्थागत वस्तुओं के लिए ही किया गया है। मौलिक रूप से ये निःसंदेह हमारे साधारण इन्द्रिय-परिचय की वस्तुओं का संकेत प्रस्तुत करती हैं ; किन्तु तात्कालिक रूप से वे वस्तुओं को उनके सामान्य संदर्भ में नहीं निर्दिष्ट करतीं, वल्कि वैज्ञानिक अनुसंधान के पदों में परिवर्तित कर लेती हैं। अणु, परमाणु, रासायनिक सूत्र, भौतिक-शास्त्र के अध्ययन में गणितात्मक प्रस्तावनाएँ, इन सभी का मौलिक रूप से बौद्धिक महत्त्व है। ये केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही व्यावहारिक प्रयोग की हैं। ये विज्ञान के विकास के साधक-यंत्र हैं। अन्य उपकरणों की भांति, उनका भी महत्त्व उनके प्रयोग द्वारा ही जाना जा सकता है। हम वस्तुओं की ओर संकेत करके उनके अर्थ का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। ज्ञान शिल्प के अंश के रूप में प्रयुक्त होने पर, उनके कार्य की ओर संकेत करके ही उनके अर्थ को समझा जा सकता है।

ज्योमिति के वृत्त, वर्ग इत्यादि भी, सामान्य परिचय के वृत्तों तथा वर्गों से भिन्नता प्रदर्शित करते हैं और जितना ही गणितात्मक विज्ञान की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करते जाते हैं, उतना ही प्रतिदिन की व्यावहारिक वस्तुओं से दूर होते जाते हैं। जो गुण ज्ञान के विकास में, स्थान (दिक्) के सम्बन्धों के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होते, वे छोड़ दिए जाते हैं, केवल वे ही गुण स्वीकार किए जाते हैं, जो इस प्रयोजन के लिए आवश्यक होते हैं। यदि कोई अधिक गहराई तक अध्ययन करे, तो उसे ज्ञात होगा कि दिक्-ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ भी उनके सामने झुक जाती हैं, जो अन्य तथ्यों के अध्ययन को सहज बनाती हैं। कदाचित यह ज्ञान, संख्याओं के संबंध का है। इस स्तर पर धारणात्मक परिभाषाओं में दिक्-सम्बन्धी रूप, आकार अथवा दिशा व्यक्त करने वाला कोई भी तत्त्व अवशेष नहीं रह जाता। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि ये असत् बौद्धिक आविष्कार हैं, अपितु इससे यह संकेत मिलता है कि प्रत्यक्ष भौतिक गुणों को विशिष्ट साध्य के उपकरणों के रूप में रूपांतरित कर लिया गया है। यह साध्य, बौद्धिक व्यवस्थापन है। प्रत्येक यंत्र में सामग्री की प्राथमिक दशा को, प्रयोजन के लिए किए गए उपयोग की अधीनता द्वारा परिष्कृत कर लिया गया है। वस्तु-सामग्री अपने मौलिक रूप के कारण नहीं, अपितु साध्य के अनुकूल अपने समायोजन के कारण महत्त्व-पूर्ण है। यदि केवल किसी यन्त्र के निर्माण में लगने वाले विभिन्न अवयवों को गिना दिया जाय, तो किसी को उस यन्त्र का सम्यक् ज्ञान नहीं होगा। केवल, जिन्हें उनके उपयोगों का ज्ञान

होगा, वे ही बता सकते हैं कि वे अपने विशिष्ट रूप में क्यों प्रयोग किये जाते हैं। उसी प्रकार गणितात्मक धारणाओं का ज्ञान किसी व्यक्ति को तभी होता है, जब वह उन समस्याओं का अनुभव करता है, जिनमें वे कार्य करती हैं तथा इन समस्याओं के सुलझाने में इनकी विशिष्ट उपयोगिताओं का ज्ञान प्राप्त करता है। परिभाषाएँ, नियम तथा सूत्र आदि 'जानना' ठीक उसी प्रकार का ज्ञान है, जैसे किसी यन्त्र के भागों का, उनके कार्यों को समझे बिना, नाम जान लिया जाय। दोनों ही दशाओं में अर्थ अथवा बौद्धिक अंतर्वस्तु वही होती है, जो व्यवस्था-विशेष के अंग के रूप में कोई तत्त्व कार्य करता है।

विज्ञान और सामाजिक प्रगति

यदि यह मान लिया जाय कि सामाजिक अभिरुचि के व्यवसायों से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान का परिशुद्ध तार्किक रूप तक विकास होता है, तो प्रश्न यह उठता है कि अनुभव में इसका क्या स्थान है? सामान्य रूप से उत्तर यह है कि विज्ञान मन को परंपरागत प्रयोजनों के अनुराग से मुक्त करता है तथा नवीन साधनों की प्राप्ति के व्यवस्थित प्रयत्न संभव बनाता है। यह कार्य की प्रगति का साधन है। कभी-कभी प्रगति को पूर्व-निश्चित साध्यों की प्राप्ति के निकट पहुँचने की गति समझा जाता है; किन्तु यह प्रगति का निम्न रूप है, क्योंकि इसके लिए केवल कार्य के गौण साधनों के सुधार अथवा प्रविधिक गति की ही आवश्यकता होती है। प्रगति की और अधिक आवश्यक विधियाँ, पूर्व-प्रयोजनों को सम्पन्न करने तथा नवीन प्रयोजनों के सृजन में निहित हैं। इच्छाओं की कोई निश्चित मात्रा नहीं होती, न प्रगति का अर्थ केवल संतोष की मात्रा की वृद्धि ही होती है। संस्कृति के विकास तथा प्रकृति पर प्राप्त नवीन अधिकारों के साथ-साथ नवीन इच्छाएँ तथा संतोष के नवीन गुणों की माँगें प्रकट होती हैं; क्योंकि बुद्धि को कार्य की नवीन संभावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। नवीन भावनाओं के प्रेक्षण द्वारा कार्य-संपादन के नवीन माध्यमों का अनुसंधान होता है, और इस प्रकार प्रगति संभव होती है। इसमें समय-विशेष तक अप्रयुक्त वस्तुओं के आविष्कारों से नवीन साध्यों का संकेत मिलता है।

विज्ञान का, कार्यों के साधनों के नियंत्रण को पूर्ण करने का मुख्य साधन होना, उन आविष्कारों की बहुलता से प्रमाणित होता है, जो प्रकृति के रहस्यों पर बौद्धिक अधिकार प्राप्त करने से उत्पन्न हुए हैं। औद्योगिक क्रान्ति के नाम से विख्यात, उत्पत्ति तथा वितरण में आश्चर्यजनक परिवर्तन, प्रायोगिक विज्ञान के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुआ है। रेलगाड़ियाँ, वाष्प-नौकाएँ, विद्युत्-मोटरें, टेलीफोन, तार, पेट्रोल-इंजन, वायुयान तथा अन्य उड्डयन-यन्त्र आदि 'विज्ञान' के, जीवन में संप्रयोग के उत्कृष्ट प्रमाण हैं; किन्तु इनमें से कोई भी उन सहस्रों साधारण

आविष्कारों के बिना अधिक महत्त्व का न होगा, जिनके द्वारा भौतिक-विज्ञान हमारे दैनिक जीवन का सहायक अंग बन गया है।

यह तो अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार से प्राप्त प्रगति, बहुत सीमा तक मात्र प्रविधिक है। इसने मानवीय प्रयोजनों के गुणों को परिष्कृत करने की अपेक्षा, पूर्व-वर्तमान इच्छाओं को संतुष्ट करने के अधिक सक्षम साधन प्रदान किए हैं। उदाहरणार्थ, कोई भी वर्तमान सभ्यता, अपने सम्पूर्ण अंगों में, यूनानी-संस्कृति की समता नहीं कर सकती। विज्ञान अभी काल्पनिक तथा संवेगात्मक संस्कारों में आत्मसात् होने के लिए अत्यन्त नवीन है। लोग अपने साध्यों की प्राप्ति में अधिक तीव्र गति तथा आस्था से प्रगति करते हैं; किन्तु उनके साध्य प्रायः वही हैं, जो वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के पूर्व थे। इस तथ्य के कारण शिक्षा का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि उसके द्वारा विज्ञान का प्रयोग इस प्रकार से किया जाय कि कल्पना तथा भाव-संवेदना की स्वभावगत मनोवृत्ति को परिष्कृत करे और इसे केवल हमारे शारीरिक अंग, हाथ-पैर इत्यादि के विस्तार के रूप में ही न छोड़ दे।

विज्ञान के विकास ने, मनुष्य के जीवन के हित तथा प्रयोजन-सम्बन्धी विचारों को इतनी यथेष्ट सीमा तक परिष्कृत कर दिया है कि इससे उपरोक्त उत्तरदायित्व के स्वरूप तथा उसे निभाने की विधियों का भाव प्राप्त हो सकता है। मानवक्रियाओं में प्रभाव के रूप में वर्तमान विज्ञान ने, उन भौतिक बाधा-बंधनों को तोड़ दिया है, जिसने मनुष्य को एक दूसरे से पृथक् कर दिया था। इसने पारस्परिक संबंध-क्षेत्र के विस्तार को बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। इसने अभिरुचियों की पारस्परिक निर्भरता को अत्यधिक सीमा तक बढ़ा दिया है। इसके द्वारा मानव-हित के लिए प्रकृति के नियंत्रण की संभावना में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया है, और इस प्रकार लोगों के नेत्रों को अतीत के बजाय भविष्य की ओर लगा दिया गया है। प्रगति के आदर्शों के साथ, वैज्ञानिक प्रगति का समापात केवल संयोग-मात्र नहीं है। इस प्रगति के पूर्व, लोग अपने अत्यन्त दूरस्थ अतीत में स्वर्ण-युग का स्थान देखते थे। अब वे भविष्य का सामना इस दृढ़ विश्वास से करते हैं कि उचित रूप से प्रयुक्त किए जाने पर, पहले अपरिहार्य समझी जाने वाली बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। घातक रोगों को वशीभूत करना, अब स्वप्न नहीं रह गया है। दरिद्रता को दूर कर देना, अब केवल कल्पनाधारित अप्राप्त आदर्श-मात्र नहीं रह गया है। विज्ञान ने मनुष्य को विकास के भाव से परिचित बना दिया

हैं। यह हमारी सामान्य मानवता की दशा के सतत क्रमिक विकास से स्पष्ट होता है।

विज्ञान के शैक्षणिक उपयोग की समस्या, ऐसा विवेक उत्पन्न करना है, जिसमें मानव-क्रियाओं के निर्देश की संभावना का विश्वास निहित हो। आदतों में शिक्षा के माध्यम से वैज्ञानिक विधि के समावेश का अर्थ, परंपरागत रूढ़िवादी नियमों तथा उन प्रणालियों से उत्पन्न कार्यक्रम से मुक्ति देना है। अपने साधारण प्रयोग में 'अनुभव-जन्य' शब्द का अर्थ "प्रयोग से संबंधित" नहीं होता; बल्कि अपरिष्कृत तथा अविवेक-पूर्ण होता है। प्रायोगिक विज्ञान के उन्नयन के पूर्व की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण, अतीतकालीन सभी प्रमुख दर्शनों में, अनुभव को विवेक-बुद्धि तथा वास्तविक रूप से विवेकपूर्ण का विरोधी समझा जाता था। अतीत-कालीन असंख्य उदाहरणों के—उनमें किसी के भी सिद्धांतों में विवेकपूर्ण अंतर्दृष्टि के बिना ही—संग्रहात्मक ज्ञान को ही अनुभव-जन्य ज्ञान समझा जाता था। यह कहना कि रोगों का निदान अनुभव-जन्य था, यह अर्थ रखता है कि यह वैज्ञानिक नहीं था; बल्कि रोगों के निरीक्षणों के संग्रह तथा लगभग अटकल-पच्चू ढंग से प्रयुक्त निदानों पर आधारित अभ्यास की रीति-मात्र था। अभ्यास की ऐसी रीति, अनिवार्य रूप से भाग्यवादी होती है। इसमें, सफलता संयोग पर निर्भर रहती है। इसमें प्रवंचन तथा कठवैद्यता का अंश आ जाता है। व्यावहारिक रूप से नियंत्रित उद्योग, बुद्धि के सृजनात्मक संप्रयोग को रोकता है, यह अतीत काल के निर्धारित नमूनों के अनुकरणात्मक दास्य-विधि के अनुसरण पर निर्भर करता है। प्रयोगात्मक विज्ञान अतीत-कालीन अनुभवों को मन के स्वामी के रूप में नहीं, बल्कि सेवक के रूप में प्रयोग करता है। इसका यह अर्थ है कि बौद्धिक अथवा विवेक-सम्मत विशेषता प्राप्त करने के लिए, अनुभव विवेक के अन्तर्गत ही कार्य करता है, उससे परे नहीं। विज्ञान, विवेकपूर्ण बनता हुआ अनुभव है। इस प्रकार विज्ञान का कार्य, अनुभव की समवायी संभावनाओं तथा मनुष्यों के प्रकृति-सम्बन्धी भावों को परिवर्तित करना है। उसी संकेत द्वारा यह विवेक के कार्य के भाव को भी परिवर्तित करता है। अनुभव से परे, दूरस्थ, पृथक्, किसी ऐसे उदात्त प्रदेश से सम्बन्धित होने के बजाय, जिसका जीवन के अनुभूत तत्त्वों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह अनुभव में निहित होता है। यह वह अवयव है, जिसके द्वारा अतीत-कालीन अनुभव परिशुद्ध किए जाते हैं और अन्वेषण तथा प्रगति के उपादानों के रूप में परिवर्तित कर दिए जाते हैं।

साधारण वोल-चाल में 'अमूर्तपद' को प्रायः अच्छा नहीं समझा जाता ; क्योंकि इससे केवल दुर्वोध तथा समझने में दुरूह तथ्यों का ही संकेत नहीं मिलता, अपितु उन तथ्यों का आभास मिलता है, जो जीवन से बहुत दूर होते हैं। किन्तु क्रिया के चिन्तनात्मक निर्देश के लिए अमूर्त विचार, अपरिहार्य हैं। परिस्थितियाँ कभी भी वार-वार एक ही रूप में नहीं आतीं। आदत, नवीन घटनाओं को ठीक वैसा ही समझती है, जैसी पूर्वकालीन घटनाएं थीं। फलस्वरूप तात्कालिक प्रयोजनों के लिए विभिन्न अथवा नवीन तत्त्व की उपेक्षा कर दी जाती है। किन्तु, जव इस नवीन तत्त्व पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है, तव, जव तक अमूर्त विचार का प्रयोग न किया जाय, क्रिया केवल अटकल-पच्चू होगी ; क्योंकि सूक्ष्म विचार सचेष्ट रूप से, पूर्व-अनुभव की विषय-सामग्री में से उन तथ्यों को चुन लेता है, जो नवीन अनुभव के संव्यवहार में सहायक होते हैं। इसमें, अतीत-कालीन अनुभव में निहित अर्थों को नवीन अनुभव में प्रयुक्त होने के लिए रूपान्तरित कर लिया जाता है। यह वुद्धि की तथा एक अनुभव को दूसरे अनुभव के पथ-प्रदर्शन के योग्य बनाने की सचेष्ट क्रिया का प्राण है।

विज्ञान, पूर्वकालीन विषय-सामग्री के परिवर्द्धन का कार्य वृहत् मात्रा में करता है। इसका उद्देश्य अनुभव को केवल वैयक्तिक तथा तात्कालिक तत्त्वों से स्वतंत्र बनाना तथा उन तथ्यों को पृथक् कर लेना है, जो इसमें तथा अन्य अनुभवों में उभयनिष्ठ होते हैं, और उभयनिष्ठ होने के कारण भावी प्रयोग के लिए सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं। इस प्रकार यह सामाजिक प्रगति का अपरिहार्य अवयव है। प्रत्येक अनुभव में, जैसा वह घटित होता है, उसी रूप में बहुत-सी ऐसी बातें होती हैं, जो अनुभव प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए बड़े महत्त्व की होते हुए भी, अजनवी होती हैं, तथा पढ़ाई नहीं जा सकतीं। विज्ञान के दृष्टिकोण से यह सामग्री आकस्मिक होती है, यद्यपि विस्तृत रूप से आने वाली विशेषताएँ आवश्यक होती हैं। परिस्थिति में जो कुछ भी अद्वितीय होता है, वह व्यक्ति की विशिष्टताओं तथा परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर होने के कारण दूसरों के लिए प्राप्य नहीं होता। अतएव, जव तक उभयनिष्ठ तथ्य को सूक्ष्म-विचार द्वारा, उचित प्रतीकों के रूप में निश्चित नहीं कर लिया जाता, आभ्यासिक रूप से अनुभव का लगभग सम्पूर्ण महत्त्व इसके घटना, काल में ही विनष्ट हो जाता है ; किन्तु सूक्ष्म विचार तथा उसके द्वारा प्राप्त तथ्यों का, पदों के प्रयोग द्वारा अंकित कर लिए जाने के कारण, वैयक्तिक अनुभव का निश्चित महत्त्व

सम्पूर्ण मानव जाति को प्राप्य बनाने के लिए स्थाई बन जाता है। विस्तृत रूप से, कोई यह नहीं जान सकता, कि कब अथवा कैसे यह भावी उपयोग बन सकता है। अपने सूक्ष्म विचारों के विकास में वैज्ञानिक व्यक्ति, उस उपकरणों के उत्पादनकर्त्ता की भाँति काम करता है, जो यह नहीं जानता कि कौन इन उपकरणों का कब अथवा कैसे उपयोग करेगा ; किन्तु बौद्धिक उपकरण, यांत्रिक उपकरण की अपेक्षा अपने समायोजन के विस्तार में अनिश्चित रूप से अधिक नम्य होते हैं।

साधारणीकरण, पृथक् सूक्ष्म-विचार का दूसरा पक्ष है। यह किसी सूक्ष्म विचार की, नवीन स्थूल अनुभव में संप्रयुक्त होने अर्थात् नवीन परिस्थितियों के सुस्पष्ट निर्देशन को विस्तृत करने की क्रिया है। इन संभव संप्रयोगों का सम्बन्ध दिखलाना आवश्यक है, जिससे सूक्ष्म-विचार अर्थहीन रूपात्मक परिणति की बजाय सफल हो सकें। साधारणीकरण मुख्य रूप से एक सामाजिक युक्ति है। जब मनुष्य अपनी अभिरुचियों को एक संकुचित समुदाय के दायरे में देखता था, तो उनके साधारणीकरण अनुपातिक रूप से सीमित होते थे। इस दृष्टिकोण में विस्तृत तथा स्वतंत्र सिंहावलोकन की संभावना नहीं थी। लोगों के विचार, सीमित दिक्काल से निबद्ध होते थे, अर्थात् समस्त अभिमूल्यों के मापक के रूप में ये अपने रूढ़िगत रीति-रिवाजों तक ही सीमित होते थे। वैज्ञानिक सूक्ष्म-विचार तथा साधारणीकरण, किसी भी व्यक्ति के दृष्टिकोण अपनाए जाने के समकक्ष होते हैं, वैसे उस व्यक्ति का दिक्-काल में चाहे जो स्थान हो। जहाँ स्थूल अनुभव की परिस्थितियों तथा उपकथाओं से विमुक्ति, विज्ञान की 'अमूर्तता' अर्थात् दूरस्थता के लिए उत्तरदायी है, वहीं यह अभ्यास में किए जाने वाले नवीन सफल संप्रयोगों के विस्तृत तथा स्वतन्त्र विस्तार का भी कारण है।

पद तथा प्रस्तावनाएँ, सूक्ष्म-विचार के तथ्यों को अंकित तथा सुनिश्चित करके दूसरों तक पहुँचाते हैं। वर्तमान अनुभव से पृथक् कोई अर्थ, शून्य में नहीं लटका रह सकता। इसके लिए कोई-न-कोई स्थान अवश्य ही होना चाहिए। नाम, सूक्ष्म-अर्थों को भौतिक आकार तथा रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार सूत्र-बद्ध करना, बाद का विचार अथवा उप-उत्पत्ति नहीं है ; फिर भी विचार के कार्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक है। लोग अनेक ऐसी बातें जानते हैं, जिन्हें वे व्यक्त नहीं कर सकते ; किन्तु ऐसा ज्ञान, केवल क्रियात्मक, प्रत्यक्ष तथा वैयक्तिक मात्र रह जाता है। व्यक्ति-विशेष इनका, अपने आप के लिए उपयोग कर सकता है, वह इन पर सफलतापूर्वक कार्य भी कर सकता है। कलाकारों तथा व्यवस्थापकों में प्रायः इस कोटि का अपना ज्ञान होता है। किन्तु

यह वैयक्तिक, अपरिवर्तनीय तथा मूल प्रवृत्यात्मक-सा होता है। किसी अनुभव के तात्पर्य को सूत्रबद्ध करने के लिए, व्यक्ति-विशेष को दूसरों के अनुभवों पर सचेष्ट ध्यान देना आवश्यक है। उसे ऐसे दृष्टिकोण की खोज करनी होगी, जिसमें उसका अपना तथा दूसरों के अनुभव समाविष्ट हों, अन्यथा उसका संवाद द्वारा ज्ञान-प्रदान करना नहीं समझा जा सकेगा। वह ऐसी भाषा का प्रयोग करेगा, जिसे दूसरा कोई नहीं जानता। साहित्य-कला जहाँ अनुभवों के कथन में सर्वोत्तम उपलब्धियों को इस प्रकार उपस्थित करती है, कि वे दूसरों के लिए अत्यन्त जीवन्त रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं, वहीं विज्ञान की शब्दावली भिन्न प्रकार से, अनुभूत वस्तुओं को ऐसे प्रतीकों में व्यक्त करने के लिए निर्मित हुई है, जिन्हें विज्ञान का विद्यार्थी ही जान सके। सौन्दर्यात्मक सूत्र-निबन्धन, व्यक्ति के पूर्व-वर्तमान अनुभवों को व्यक्त करके उनकी वृद्धि करता है, वैज्ञानिक सूत्र-निबन्धन, व्यक्ति विशेष को परिवर्द्धित अर्थों वाले नवीन अनुभवों के निर्माण के लिए, उपादान प्रदान करता है।

संक्षेप में विज्ञान, नवीन अनुभवों के प्रेक्षण, तथा उनके नियन्त्रण में व्यवस्थित तथा सचेष्ट रूप से, आदतों की सीमा से स्वतन्त्रता के स्तर पर, बुद्धि द्वारा किए जाने वाला कार्य है। यह आकस्मिक प्रगति से पृथक्, चेतना की सम्पूर्ण प्रक्रिया है और यदि इसकी सामान्यता तथा वैयक्तिक परिस्थितियों से इसकी दूरस्थता के कारण इसमें कुछ प्रविधिकता तथा पृथक्ता आ जाती है, तो भी इसकी विशेषताएँ केवल मीमांसात्मक सिद्धान्तवादिता से अत्यन्त भिन्न होती हैं। 'मीमांसात्मक सिद्धान्त', अभ्यास से स्थाई रूप से पृथक् होते हैं, विज्ञान केवल अस्थाई रूप से, बाद के स्थूल कार्यों में, अधिक विस्तृत तथा स्वतंत्र संप्रयोगों के लिए ही अलग होता है। कुछ प्रकार के निष्क्रिय सिद्धान्त अभ्यास के विरोध में आते हैं; किन्तु वास्तविक वैज्ञानिक-सिद्धान्त, अभ्यास के अन्तर्गत ही आते हैं, ये इसको विस्तार तथा नवीन संभावनाओं की ओर निर्देशित करने वाले साधन हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद तथा मानवतावाद

शिक्षा में एक ऐसी परम्परा है, जो पाठ्य-क्रम में विज्ञान को साहित्य तथा इतिहास के विरोध में रखती है। इन दोनों अभिरुचियों के प्रतिपादकों का विरोध, ऐतिहासिक रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रायोगिक विज्ञान के अभ्युदय के पूर्व, शिक्षा की सभी उच्च संस्थाओं में, साहित्य, भाषा तथा साहित्य-दर्शन का बोल-वाला था ; इसीलिए विज्ञान को अपने स्थिति-निर्माण के लिए स्वयं मार्ग बनाना था। कोई भी दृढ़ तथा संरक्षित अभिरुचि आसानी से अपना स्वाधिकार नहीं छोड़ती ; किन्तु यह कल्पना, चाहे जिस रूप में हो, एक गलत धारणा है, कि भाषा तथा साहित्य-सम्बन्धी उपलब्धियों में पूर्ण रूप से मानवीय गुण होते हैं और विज्ञान की देन, मात्र भौतिक है। यह दोनों ही विषयों के शैक्षणिक उपयोग को पंगु बना देती है। न तो यही सही है, कि मानव-जीवन का कार्य-व्यापार शून्य में घटित होता है, और न यही कि प्रकृति इसके अभिनय के लिए रंगमंच मात्र है। मनुष्य का जीवन प्राकृतिक प्रक्रियाओं से बँधा हुआ है। उसके कार्य-कलाप की सफलता-विफलता, उसमें प्रकृति के प्रवेश के रूप पर निर्भर है। मनुष्य की, अपने स्वयं की परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने की शक्ति, उसकी प्रत्यक्ष प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग करने की योग्यता पर निर्भर करती है। यह योग्यता, प्रकृति की प्रक्रियाओं के अन्तंज्ञान पर निर्भर है। विशेषज्ञों के लिए भौतिक विज्ञान कुछ भी हो, शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए यह मानवीय कार्यों की परिस्थितियों का ज्ञान है। सामाजिक सम्पर्क के माध्यम के प्रति सजग होना तथा इसके प्रगतिशील विकास के साधनों और बाधाओं को जानना, मानवीय विशेषता रखने वाले ज्ञान पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना है। जिसे विज्ञान के इतिहास का पता नहीं, उसे मानव-जाति के उन संघर्षों का ज्ञान नहीं हो सकता, जिससे वह प्रकृति के नियंत्रण तथा मनमौजी व्यवहार, उसकी अंधविश्वासात्मक अधीनता तथा चमत्कारिक विधि से इसके प्रयोग करने की प्रणाली से बाहर, इसे बौद्धिक आत्म-सम्पत्ति समझने लगा है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण है, कि विज्ञान

सविधिक तथा प्रविधिक अभ्यासों के रूप में पढ़ाया जा सकता है। जब कभी विश्व के सम्बन्ध की सूचना ही अपना साध्य मान ली जाती है, तभी ऐसा होता है। संस्कृति के उन्नयन में ऐसी शिक्षा की विफलता, मानवीय प्रयोजनों से भौतिक ज्ञान के विरोध का प्रमाण नहीं, अपितु गलत शैक्षणिक मनोवृत्ति का प्रमाण है।

मनुष्य के व्यवसायों में वैज्ञानिक ज्ञान को, जैसे यह कार्य करता है, उसी रूप में न प्रयोग करने की इच्छा, स्वयं, अभिजात-तंत्रीय संस्कृति का अवशेष है। यह धारणा कि 'व्यावहारिक' ज्ञान, शुद्ध ज्ञान से कम महत्त्व का होता है, उस समाज के लिए नितान्त स्वाभाविक थी, जिसमें प्रत्येक उपादेय कार्य, दासों तथा कृषि-दासों द्वारा सम्पन्न किया जाता था, तथा जिसमें उद्योग बौद्धिक आदर्शों की अपेक्षा परम्परागत नमूनों पर नियंत्रित किया जाता था। विज्ञान अथवा उच्चतम ज्ञान-क्रिया को तब, जीवन के उपयोग में इसके संप्रयोग से पृथक्, शुद्ध सिद्धान्तवादिता समझा जाता था, तथा उपयोगी कलाओं से सम्बन्धित ज्ञान को, उनमें संलग्न जातियों के संदर्भ में हेय दृष्टि से देखा जाता था। विज्ञान के विषय में उत्पन्न इस प्रकार का भाव, प्रजातन्त्र के अभ्युदय के बाद तब तक स्थित रहा, जब विज्ञान ने स्वयं कला के उपादानों को अपनाकर, ज्ञान के उपार्जन के लिए उनका प्रयोग किया। सिद्धान्त को सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने पर—जो केवल भौतिक-जगत् से सम्बन्धित होते हैं, उनकी अपेक्षा जिनका सम्बन्ध मानवता से होता है—वे मनुष्य के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। मानव-समुदाय की व्यावहारिक आवश्यकताओं से पृथक्, साहित्यिकसंस्कृति द्वारा निर्मित मानदण्डको अपना लेने पर, विज्ञान के शैक्षणिक अभिवक्ता, बड़ी मुसीबत में पड़ गए। जहाँ तक वे प्रयोगात्मक विधि और औद्योगिक प्रजातन्त्रात्मक समाज की प्रगति के लिए वांछनीय विज्ञान के भाव को अपनाते हैं, उन्हें यह दिखलाने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती, कि भौतिक-विज्ञान उस तथाकथित मानवतावाद से अधिक मानवीय है, जो अपनी शैक्षणिक योजनाओं को सुख-सम्पन्न तथा अवकाशोपभोगी समुदाय की विशिष्ट अभिरुचियों पर निर्भर करता है।

चूँकि, जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, जिनसे प्रकृति के अध्ययन के विरोध में किए गए मानवतावादी अध्ययन में बाधा पड़ती है, वे पूर्णरूप से केवल भाषा-सम्बन्धी तथा साहित्यिक अध्ययन-मात्र बन जाते हैं। फलस्वरूप, जो अतीत-काल के प्रतिष्ठित साहित्य तथा मृत भाषाओं के अध्ययन की ओर उन्मुख होते हैं ; क्योंकि आधुनिक भाषाएँ तो प्रत्यक्ष रूप से उपयोग में लाई

जाती हैं, अतः उक्त परिपाटी के रोक के अन्तर्गत आती हैं। इतिहास में इन शैक्षणिक रूढ़ियों से अधिक व्यंग्यात्मक तथ्य प्राप्त कर सकना, अत्यन्त कठिन है, जिनके अनुसार ग्रीक तथा लैटिन के ज्ञान को ही मानवीय ज्ञान समझा जाता है। यूनानी तथा रोमीय कला और संस्थाओं की, हमारी सभ्यता को प्रदान की गई देन, इतनी महत्त्वपूर्ण है, कि उसका परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। किन्तु, उन्हें पूर्णरूपेण मानवीय अध्ययन का विषय समझ लेने से, उस विषय-सामग्री की संभावनाओं की जागरूक उपेक्षा हो जाएगी, जो जन-साधारण के लिए, शिक्षा में सरलता से प्राप्य है, तथा जो सुशिक्षित समुदाय में संकुचित सामाजिक अहमन्यता की उत्पत्ति करती है—जिनका उपाधि-चिह्न, पूर्ण अवसर प्राप्त करने का संयोग है। ज्ञान इस कारण मानवीय गुणों वाला नहीं होता, कि यह अतीत-कालीन मानव-उपलब्धियों से सम्बन्धित है, अपितु इसलिए कि यह मानव-बुद्धि तथा सहानुभूति के परित्राण-प्रकाशन का कार्य सम्पन्न करता है। कोई भी विषय-सामग्री, जो यह परिणाम उत्पन्न करती है, उदार होती है। जो विषय-सामग्री यह परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकती, वह शिक्षात्मक भी नहीं होती।

अध्याय का सारांश

विज्ञान, अनुभव के प्रज्ञात्मक अवयव का प्रतीक है। परम्परागत वैयक्तिक अनुभव को प्रस्तुत करने वाले कथनों से संतुष्ट होने के बजाय, इसका उद्देश्य ऐसे कथन उपस्थित करना है, जो किसी धारणा के स्रोत, उसकी पृष्ठभूमियों तथा परिणामों को व्यक्त करें। इस उद्देश्य की प्राप्ति, कथनों को तार्किक स्वरूप प्रदान करती है। शैक्षणिक रूप से इस बात पर ध्यान देने की इस विधि की तार्किक विशिष्टताएँ, चूँकि वे ऐसी विषय-सामग्री से सम्बन्धित हैं, जो उच्च स्तर की बौद्धिक व्यवस्था प्राप्त कर चुकी हैं, शिक्षा की विधियों, अर्थात् अनुभव के अस्पष्ट स्तर से अधिक सूक्ष्म बौद्धिक विशेषताओं की ओर प्रगति करने की काल-क्रमिक विधियों से भिन्न होती हैं। जब इस तथ्य की उपेक्षा की जाती है, तब विज्ञान को केवल सूचनाओं का संग्रह-मात्र समझ लिया जाता है, जो असाधारण तथा प्राविधिक शब्दावली में व्यक्त होने के कारण साधारण सूचनाओं की अपेक्षा, कम रुचिपूर्ण तथा दूरस्थ होती हैं। पाठ्य-क्रम में विज्ञान का कार्य वही है, जो इसने जाति के लिए किया है—अर्थात् अनुभव की स्थानीय तथा अस्थाई घटनाओं से मुक्ति देना तथा वैयक्तिक आदतों और संस्कारों

के संयोग के कारण छिपे हुए बौद्धिक तथ्यों को व्यक्त करना है। सूक्ष्म-विचार, साधारणीकरण तथा निश्चित सूत्रबद्धता आदि-आदि तार्किक गुण, इसी प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं। किसी भाव को उस विशेष संदर्भ से मुक्त करने में, जिसमें इसकी उत्पत्ति हुई है तथा इसे अधिक विस्तृत सम्बन्ध प्रदान करने से एक व्यक्ति-विशेष के अनुभव के परिणाम, सभी मनुष्यों के लिए प्राप्य बन जाते हैं। मूलतः दार्शनिक रूप से विज्ञान, सामान्य सामाजिक उन्नति का अंग है।

१८

शैक्षणिक अभिमूल्य

शैक्षणिक अभिमूल्य

शैक्षणिक अभिमूल्यों[1] के विवेचन के अन्तर्गत आने वाले विचार, उद्देश्यों तथा अभिरुचियों की व्याख्या में व्यक्त किए गए हैं। शैक्षणिक सिद्धान्तों में सामान्य रूप से वर्णित विशिष्ट अभिमूल्य, सामान्यतः वांछित उद्देश्यों के अनुरूप होते हैं। ये उपयोगिता, संस्कृति, जानकारी, सामाजिक क्षमता के लिए तैयारी, मानसिक अनुशासन अथवा मानसिक बल आदि हैं। इन उद्देश्यों के इन अवयवों की विवेचना, जिनके कारण इनका महत्त्व है, हम अभिरुचि के स्वरूप का विश्लेषण करते समय कर चुके हैं और कला को अभिरुचि अथवा प्रयोजनात्मक कहने तथा इसे एक अभिमूल्य के रूप में स्वीकार करने में कोई भेद नहीं है। ऐसा भी हुआ है कि अभिमूल्यों की विवेचना, पाठ्यक्रम के विशिष्ट विषयों से सहायता प्राप्त विभिन्न उद्देश्यों के विचार-विमर्श में ही केन्द्रित रही है। प्रयत्न का एक अंश यह भी है कि उन्हीं विषयों को उचित समझा जाय, इसके लिए जिनके अध्ययन की, जीवन को प्रदत्त, महत्वपूर्ण देनों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार शैक्षणिक अभिमूल्यों के व्यक्त विवेचन से एक ओर तो उद्देश्यों तथा अभिरुचियों की पूर्व-व्याख्या तथा दूसरी ओर पाठ्य-क्रम का एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करके, पुनर्सिहावलोकन करने का अवसर प्राप्त होता है।

---

१ महत्ताओं

अनुभूति अथवा गुणानुभव का स्वरूप

हमारे अनुभव का अधिकांश अप्रत्यक्ष होता है। यह उन चिह्नों पर निर्भर होता है, जो हमारे तथा वस्तुओं के बीच में आते हैं—अर्थात् वे चिह्न, जो वस्तुओं के प्रतीक होते हैं अथवा उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। युद्ध में भाग लेना, उसकी कठिनाइयों तथा खतरों में भाग लेना एक बात है और उसके बारे में पढ़ना अथवा सुनना दूसरी बात। सभी भाषाएँ तथा प्रतीक, अप्रत्यक्ष अनुभव के उपकरण हैं। प्रविधिक भाषा में, उनके माध्यम से उपार्जित अनुभव, 'मध्यस्थ' कहलाता है। यह अपरोक्ष, प्रत्यक्ष अनुभव का विलोमार्थी है, जिसमें प्रतीकात्मक माध्यमों की मध्यस्थता के बजाय हम स्वयं सचेतन रूप से भाग लेते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, वैयक्तिक, प्रत्यक्ष जीवन्त अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। यदि अनुपस्थित तथा दूरस्थ तथ्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले साधनों की मध्यस्थता न होती, तो हमारा अनुभव लगभग जानवरों के स्तर पर ही रह जाता। आदिम दशा में से सभ्यता की ओर का हर कदम माध्यमों के आविष्कार पर निर्भर है। ये केवल अपरोक्ष अनुभव के विस्तार की अभिवृद्धि करते हैं तथा केवल प्रतीकात्मक अथवा संकेतों द्वारा ही व्यक्त होने वाली वस्तुओं से इसका सम्बन्ध स्थापित करके इसे गंभीर तथा विस्तृत अर्थ प्रदान करते हैं। निसंदेह यही तथ्य, निरक्षर व्यक्ति को असभ्य व्यक्ति समझने की धारणा का मुख्य कारण है। प्रभावशाली प्रतीकात्मक अथवा अप्रत्यक्ष अनुभव के लिए हम अक्षरों पर इतने निर्भर हैं।

साथ-ही-साथ (जैसा कि हमें बार-बार देखने का अवसर भी मिल चुका है) यह भय सदैव बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि प्रतीक वास्तव में प्रतिनिध्यात्मक न हों। यह भय रहता है कि अप्रस्तुत तथा दूरस्थ को इस प्रकार उपस्थित करने के बजाय कि वह वर्तमान अनुभव में प्रवेश पा सके, प्रतिनिधित्व के भाषा-सम्बन्धी माध्यम, अपने-आप में साध्य न बन जायें। सविधिक शिक्षा में यह भय विशेष रूप से होता है। परिणाम-स्वरूप जब साक्षरता

का विकास होता है, तब प्राय: इसके साथ केवल पुस्तकाध्ययन की भावना, जिसे साधारणतः 'पुस्तकीय' नाम से अभिहित किया जाता है, आ जाती है। साधारण बोल-चाल में प्रातिनिधिक की दूरस्थता, निष्प्राणता तथा निष्फल प्राथक्य के गुणों के विरोध में, प्रत्यक्ष अनुभव की तत्परता, सजीवता तथा अपनत्व को व्यक्त करने के लिए 'अनुभूति की भावना' पद का प्रयोग किया जाता है। 'मानसिक अनुभूति' तथा 'गुणानुभव' (अथवा यथार्थ गुणानुभव) शब्द, किसी वस्तु की अनुभूति-भावना के अधिक विस्तृत नाम हैं। इन भावों को बिना 'विषय का अधिकारी विद्वान् होना' 'वास्तविक रूप से समझ जाना' जैसी समानार्थी शब्दावलियों की सहायता के परिभाषित करना संभव नहीं; क्योंकि किसी वस्तु के प्रत्यक्षानुभव के अर्थ में, उसके गुणानुभव की एक मात्र रीति, उसे प्राप्त करना है। किंतु, इसमें वही अंतर है, जो किसी चित्र को देखने तथा उसके प्रविधिक वर्णन को पढ़ने में अथवा केवल देखने-मात्र तथा इसके द्वारा प्रभावित होने, या प्रकाश के बारे में गणितात्मक समीकरण के अध्ययन तथा किसी कुहाच्छादित भू-भाग के अनुपम अनुभूतिदायक प्रकाश के आनंद में विभोर हो जाने में है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष गुणानुभव के क्षेत्र में, हम शिल्प तथा अन्य शुद्ध प्रतीकात्मक स्वरूप वाली मनोवृत्तियों की आपत्तियों में पड़ जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह मनोवृत्ति इस बात को स्वीकार करती है कि शिक्षार्थियों में शिक्षालय के सूत्रबद्ध अध्ययन-विषयों द्वारा निर्मित प्रतीकात्मक अनुभव के भवन के लिए परिस्थितियों की प्रत्यक्ष अनुमति का यथेष्ट आधार प्रस्तुत रहता है। यह केवल मात्रा अथवा विशालता का विषय नहीं है। यथेष्ट प्रत्यक्ष अनुभव, इससे अधिक गुण का विषय है, इसे निश्चय ही इस प्रकार का होना चाहिए कि आदेश की प्रतीकात्मक सामग्री से सरलता तथा सफलतापूर्वक सम्बन्धित किया जा सके। संकेत-चिह्नों के माध्यम से तथ्यों तथा भावों को प्रदान करने का आदेश प्रारम्भ करने के पूर्व, शिक्षालय को ऐसी वास्तविक परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिएँ, जिनमें, वैयक्तिक रूप से भाग लेने के कारण सामग्री का तथा उसमें निहित समस्याओं का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त हो जाय। शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से, परिणाम-रूप में प्राप्त अनुभवों का अपने-आप में महत्त्व होता है। वे शिक्षक के दृष्टिकोण से, प्रतीकों के माध्यम से प्रदान की जाने वाली शिक्षा को समझने के लिए वांछित विषय-सामग्री प्रदान करने तथा प्रतीकात्मक रूप से प्रदत्त सामग्री के लिए उदार भावना एवं अभिरुचि की मनोवृत्तियाँ उद्दीप्त करने के साधन भी हैं।

शिक्षात्मक विषय-सामग्री की दी गई रूपरेखा में अनुभूति अथवा गुणानुभव की इस पृष्ठभूमि की माँग की पूर्ति, विशिष्ट परिस्थितियों की अभिव्यक्ति करने वाले खेलों तथा क्रियात्मक व्यवसायों के लिए प्रदान किए गए अवसरों से होती है। जो कुछ अभी तक कहा गया है, उसमें यह स्पष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ अधिक जोड़ने की आवश्यकता नहीं है कि यद्यपि इस व्याख्या में प्राथमिक शिक्षा की ही विषय-सामग्री का विवेचन किया गया है, जिसमें प्रत्यक्ष अनुभव की उपलब्ध पृष्ठभूमि की माँग सर्वाधिक स्पष्ट होती है, फिर भी यह सिद्धान्त प्रत्येक विषय के प्राथमिक अथवा तात्त्विक पक्ष पर लागू होता है। उदाहरणार्थ, उच्चतर अथवा माध्यमिक विद्यालयों के नवीन क्षेत्रों में प्रयोगशाला-कार्य का सर्व-प्रथम तथा मौलिक कार्य, विद्यार्थी को आत्मानुभव द्वारा तथ्यों तथा समस्याओं के एक निश्चित क्षेत्र से परिचित बनाना—अर्थात् उनके लिए एक 'भावना' प्रदान करना है। पहले साधारणीकरण की उपलब्धि तथा उनके परीक्षण के शिल्प तथा विधियों पर अधिकार प्राप्त करना, गुणानुभव की अपेक्षा गौण महत्त्व का होता है। जहाँ तक प्राथमिक पाठशाला की क्रियाओं का सम्बन्ध है, यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि इनका मौलिक ध्येय न तो मनोरंजन करना है, न निम्नतम प्रयत्नों द्वारा सूचना प्रदान करना है और न कौशल का अर्जन ही है, वैसे उप-उत्पत्तियों के रूप में इनका उत्पन्न होना सम्भव है। इनका ध्येय अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत तथा अधिक सम्पन्न बनाना और बौद्धिक प्रगति में अभिरुचि को सतर्क तथा प्रभावशाली बनाए रखना है।

गुणानुभव का मुल्यांश, तीन अन्य सिद्धान्तों के लिए उचित शीर्षक प्रदान करता है ; जैसे—अभिमूल्यों के प्रभावपूर्ण तथा वास्तविक (नाम-मात्र से पृथक् तथा स्पष्ट) मानदण्डों का स्वरूप, गुणानुभवात्मक अनुभूतियों में कल्पना का स्थान ; तथा पाठ्य-विषयों में ललित-कलाओं का स्थान। १—मूल्यांकन के मानदण्डों का स्वरूप : प्रत्येक वयस्क ने, अपने पूर्व-अनुभव तथा शिक्षा में, विभिन्न प्रकार के अनुभवों के महत्त्व की कुछ मात्रा प्राप्त की है। ईमानदारी, स्नेह, दृढ़व्रत, स्वामिभक्ति आदि जैसे गुणों को नैतिक सद् के रूप में देखना तथा साहित्य के कतिपय स्थाई महत्त्व के ग्रन्थों, चित्रकला तथा संगीत को सौन्दर्यात्मक अभिमूल्यों के रूप में देखना इत्यादि सीख लिया है। इतना ही नहीं, उसने इन अभिमूल्यों के लिए कतिपय नियम भी सीख लिए हैं ; जैसे—नैतिक क्षेत्र में मध्यममार्ग के अवलंबन के नियम, सौन्दर्यात्मक वस्तुओं की स्वर संगति, संतुलन, आदि के आनुपातिक संगति के सिद्धान्त ; बौद्धिक क्षेत्र में परिभाषा,

व्याख्या तथा व्यवस्था इत्यादि। नवीन अनुभवों के मूल्यांकन के मानदण्डों के रूप में वे सिद्धान्त इतने आवश्यक हैं कि अध्यापक तथा माता-पिता सदैव, अपने बालकों को इनकी शिक्षा प्रत्यक्ष रूप से प्रदान करना चाहते हैं। वे इस भय की उपेक्षा कर देते हैं कि इस प्रकार प्रदान किए गए मानदण्ड केवल प्रतीकात्मक—अर्थात् अधिकांश रूप में परम्परागत तथा शाब्दिक होंगे। वास्तव में, कथित मानदण्डों से पृथक् कार्य इस पर निर्भर करता है कि व्यक्ति ने स्वयं वास्तविक परिस्थिति में किस वस्तु को महत्त्वपूर्ण समझ कर उसका गंभीरतापूर्वक गुणानुभव किया है। कोई व्यक्ति संगीत में परम्परा से महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली कतिपय विशिष्टताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वह शास्त्रीय संगीत के बारे में सफलतापूर्वक बातचीत कर सकता है, वह वास्तव में यह विश्वास भी कर सकता है कि अमुक विशेषताएँ ही उसके संगीत-सम्बन्धी मानदण्ड का निर्माण करती हैं। किन्तु, यदि उसके स्वयं के उस भूतकालीन अनुभव में, जिसका वह अत्यन्त अभ्यस्त है, तथा जिसका उसने लौकिक जीवन में पूर्ण आनन्द प्राप्त किया है, उसके मूल्यांकन के क्रियाशील अथवा क्रियात्मक मापक, लोकगीतों के स्तर पर निश्चित किए गए हैं, तो उसकी वैयक्तिक अनुभूति में प्राप्त संकेत, उसे कहने के लिए उपयुक्त बातों के रूप में, दूसरों द्वारा प्रदान किए गए तथ्यों की अपेक्षा अधिक मौलिक रूप से उसकी मनोवृत्तियों को निश्चित करेंगे। इस प्रकार निश्चित किए गए उसके स्वाभाविक संस्कार, उसके उत्तरकालीन संगीत-सम्बन्धी अनुभव में, मूल्यांकन के वास्तविक 'मानदण्ड' का निर्माण करते हैं।

सम्भवत: संगीत-सम्बन्धी सुरुचि के विषय में बहुत कम लोग इस कथन को अस्वीकार करेंगे ; किन्तु यह बौद्धिक तथा नैतिक मूल्यांकन के निर्धारण में भी समान रूप से लागू होता है। जिस नवयुवक ने दूसरों के प्रति दयाशील होने की महत्ता के पूर्ण अर्थ का बार-बार अनुभव किया है, उसमें संस्कार रूप में दूसरों के प्रति किए जाने वाले उदार व्यवहारों के मूल्यांकन की क्षमता आ जाती है। इस प्रकार के जीवन्त गुणानुभव के बिना नि:स्वार्थता की भावना के कर्तव्य तथा सद्गुण के सम्बन्ध में उस पर दूसरों द्वारा डाला गया प्रभाव, मानदण्ड के रूप में मात्र विशुद्ध प्रतीकों का विषय रह जायगा, जिसे वह यथेष्ट रूप से वास्तविकताओं में नहीं परिणत कर सकता। उसका ज्ञान दूसरों द्वारा प्रदत्त होता है। यह केवल इस तथ्य का ज्ञान है कि दूसरे नि:स्वार्थता की भावना का एक विशेष महत्ता के रूप में आदर करते हैं, उसे स्वयं को उतना

सम्मान देते हैं, जितना वह निःस्वार्थता की भावना का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार व्यक्ति के उद्घोषित तथा वास्तविक मानदण्डों में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति को अपनी रुचि तथा अपने सैद्धान्तिक विचारों के संघर्षों के परिणाम का ज्ञान हो सकता है। उसमें सदैव यह अन्तर्संघर्ष बना रहता है कि वह अपने वास्तविक रूप से प्रिय कार्य को करे अथवा उसने जो कुछ सीखा है तथा जो उसे दूसरों की प्रशंसा का पात्र बनाएगा, उसे करे। किन्तु स्वयं उसे इस अन्तर का ज्ञान नहीं होता। अचेतन मिथ्याचार, एक प्रकार की संस्कारों की अस्थिरता इसका परिणाम होती है। उसी प्रकार जिस विद्यार्थी ने परिभ्रान्त बौद्धिक परिस्थितियों में कार्य किया है तथा अस्पष्टताओं को दूर करके निश्चित प्रतिफल प्राप्त किए हैं, वही स्पष्टता तथा परिभाषा के अभिमूल्य का गुणानुभव कर सकता है। उसके मानदण्ड पर निर्भर किया जा सकता है। उसे, विषय-सामग्री का विभाजन तथा विश्लेषण करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है तथा वह वाह्य रूप से इन प्रक्रियाओं के महत्त्व के बारे में, तर्कसंगत आदर्श क्रियाओं के रूप में ज्ञानार्जन कर सकता है ; किन्तु यदि यह उसे किसी समय भी अपने स्वयं के गुणानुभव के रूप में नहीं स्पष्ट हुआ है, तो तथाकथित तार्किक मानदण्डों का महत्त्व उतना ही वाह्य परिचयात्मक होता है, जितना उदाहरण के लिए, चीन की नदियों का नाम। वह उन पर बोल सकता है, लेकिन यह केवल यान्त्रिक अभिनय मात्र होता है।

अतएव यह समझना कि गुणानुभव केवल साहित्य, कला, चित्र तथा संगीत तक सीमित है, बहुत बड़ी भूल है। इसका क्षेत्र उतना ही व्यापक है, जितना स्वयं शिक्षा का। यदि आदतें सुरुचियाँ अर्थात् प्रतिमान तथा महत्त्वानुभव, महत्ता की प्रतिभाशाली भावनाओं के स्वाभाविक रूप नहीं हैं, तो उनका निर्माण केवल यान्त्रिक होगा। निश्चिय रूप से यह कहने के पर्याप्त आधार हैं कि पाठशाला में वाह्य अनुशासन पर रखे गए पुरस्कार तथा अंक और पारितोषिक, उच्च कक्षा के उन्नति तथा अवनति पर दिया गया बल, जीवन की उन परिस्थितियों में दिए गए ध्यान के अभाव के द्योतक हैं, जिनमें तथ्यों, भावों, सिद्धान्तों का अर्थ मुख्य रूप से व्यक्त होता है।

२—गुणानुभवात्मक अनुभूतियों का प्रतीकात्मक अथवा प्रतिनिध्यात्मक अनुभवों से भेद दिखाने की आवश्यकता है। उन्हें बुद्धि अथवा समझ के कार्यों से पृथक् करने की आवश्यकता नहीं है। शुद्ध 'तथ्यों' की अनुभूति भी केवल कल्पनात्मक वैयक्तिक प्रतिचारों द्वारा ही संभव हो सकती है। प्रत्येक क्षेत्र में

कल्पना गुणानुभव का माध्यम है। कल्पना की संलग्नता ही एक-मात्र ऐसी बात है, जो किसी क्रिया को यान्त्रिक से अधिक बनाती है। दुर्भाग्यवश साधारणतया कल्पनात्मक को परिस्थिति के क्षेत्र का सजीव तथा घनिष्ठ ज्ञान न समझ कर काल्पनिक मात्र समझा जाता है। इसी के फलस्वरूप परियों की कहानियों, पौराणिक गाथाओं, काल्पनिक प्रतीकों, पद्यों तथा ललित कलाओं के कहे जाने वाले कुछ तथ्यों को कल्पना तथा गुणानुभव के विकास के साधन के रूप में अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। और दूसरे विषयों में काल्पनिक दृष्टि की उपेक्षा के कारण ऐसी विधियाँ अपनाई जाती हैं, जो शिक्षा के अधिकांश को विशिष्ट कौशल के काल्पनिक उपार्जन तथा सूचना के संग्रह को एकत्रित करना-मात्र बना देती हैं। सिद्धान्त तथा कुछ सीमा तक अभ्यास दोनों में ही क्रिया को कल्पनात्मक उपक्रम समझा गया है। यह प्रगतिशील दृष्टिकोण, किन्तु आज भी इस क्रिया के साधारणतया लड़कपन के विकास का विशिष्ट स्तर समझा जाता है। तथा साधारणतः इस तथ्य की उपेक्षा की जाती है कि खेल तथा कार्यों के अन्तर की कल्पना की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का अन्तर नहीं, अपितु उन सामग्रियों का अन्तर समझना चाहिए, जिनके साथ कल्पना कार्य करती है। परिणाम-स्वरूप लड़कपन के खेलों के मनमौजी तथा असत् रूपों को अतिशय महत्त्व दिया जाता है, जो उचित नहीं ; तथा गंभीर व्यवसायों को कार्य-क्रमिक क्षमता-मात्र बना दिया जाता है, जिसका महत्त्व केवल वाह्य स्थूल परिणाम उत्पन्न करने में है। उपलब्धि से कुछ इस प्रकार की बात व्यक्त होती है कि एक सुनियोजित यंत्र मनुष्य की अपेक्षा अधिक अच्छा कार्य कर सकता है और शिक्षा के मुख्य कार्य, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीवन को प्राप्त करना हम भूल जाते हैं। मन का इधर-उधर भटकना तथा मार्गावरण की तरंगें कार्य के प्रयोजन से अलग हुई अदमनीय कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। शिक्षा में यांत्रिक विधियों से बचने का एक-मात्र उपाय प्रत्यक्ष भौतिक प्रतिचार के क्षेत्र के बाहर की प्रत्येक प्रकार की वस्तु के समझने के माध्यम के रूप में कल्पना के कार्य को यथेष्ट रूप से स्वीकार करना ही है। इस पुस्तक में सम-सामयिक शिक्षा की बहुत-सी मनोवृत्तियों के साथ-साथ क्रिया पर अधिक बल दिए जाने का महत्त्व भ्रामक समझा जायगा। यदि यह न स्वीकार किया जाय कि कल्पना भी मानवीय क्रियाओं का उतना ही सामान्य तथा आवश्यक अंश है, जितना कि मांसपेशियों की कार्य-गतियाँ। शारीरिक क्रियाओं तथा प्रयोगशाला के अभ्यासों और खेलों की शिक्षात्मक महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि होने वाले कार्य के अर्थ की

भावना को प्राप्त करने में वे किस सीमा तक सहायक होते हैं। यदि नाम में नहीं, तो कार्य-रूप में वे नाटकीकरण हैं। स्थूल परिणामों के लिए प्रयोग किए जाने वाले कौशल की आदतों के निर्माण में उनकी उपयोगितात्मक महत्ता बहुत आवश्यक है, किन्तु गुणानुभवात्मक पक्ष से पृथक् कर दिए जाने पर नहीं। यदि साथ-ही-साथ कल्पना भी कार्य न करे, तो प्रत्यक्ष क्रिया से प्रतिनिध्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने का कोई चारा न रह जाय ; क्योंकि कल्पना द्वारा ही प्रतीकों को प्रत्यक्ष अर्थ प्रदान किए जाते हैं तथा उन्हें संकुचित क्रिया के साथ इसे विस्तृत तथा अधिक सम्पन्न करने के लिए जोड़ दिया जाता है। जब प्रतिनिध्यात्मक विधायक कल्पना को केवल साहित्यिक तथा पौराणिक बना दिया जाता है, तो प्रतीक वाक्-अंगों की भौतिक प्रतिक्रियाओं के निर्देश के साधन-मात्र रह जाते हैं।

३—पहले दिए गए विवेचन में, पाठ्य-विषयों में साहित्य तथा ललित कलाओं के स्थान के विषय में व्यक्तरूप में कुछ नहीं कहा गया है। ऐसा जान-बूझकर किया गया था। प्रारम्भ में ही उपयोगी अथवा औद्योगिक कलाओं तथा ललित-कलाओं में स्पष्ट अन्तर नहीं होता। पन्द्रहवें अध्याय में आई हुई क्रियाओं में, बाद में ललित तथा उपयोगी कला में विभक्त होने वाले अवयव निहित हैं। कल्पना तथा संवेगों को संलग्न करने के कारण उनमें वे विशेषताएँ आ जाती हैं, जो ललित-कलाओं के गुण हैं। विधि अथवा कौशल के अर्थ में, उपकरणों का सामग्री के साथ निरन्तर वृद्धि करती हुई पूर्णता के साथ समायोजन की आवश्यकता के रूप में, उनमें कलात्मक उत्पादन के लिए अपरिहार्य शिल्प के तत्त्व भी सम्मिलित रहते हैं। उत्पत्ति अथवा कला की कृति के दृष्टिकोण से वे स्वाभाविक रूप से दोषपूर्ण हैं। यद्यपि इस संबंध में भी जब उनमें पूर्ण गुणानुभव होता है, तो उनमें प्रायः प्राथमिक आकर्षण होता है। अनुभवों के रूप में उनमें कलात्मक तथा सौन्दर्यात्मक दोनों ही प्रकार के गुण होते हैं। जब वे ऐसी क्रियाओं में व्यक्त होती है, जिनकी अपनी उत्पत्तियों द्वारा परीक्षा होती है तथा जब उत्पत्ति के सामाजिक उपयोग की महत्ता पर बल दिया जाता है, तो वे उपयोगी अथवा औद्योगिक कला का रूप धारण कर लेती हैं। जब वे सुरुचि को आकर्षित करने वाले अपरोक्ष गुणों के व्यापक गुणानुभव की दिशा में विकसित होती हैं, तो ललित कला बन जाती हैं।

एक अर्थ में गुणानुभव, अवमूल्यन का विलोमार्थी है। इससे वर्द्धित तथा अधिक महत्त्व प्रदान करने का बोध होता है, केवल मूल्यांकन-मात्र अथवा अवमूल्यन की तरह—कम अथवा निम्न श्रेणी का महत्त्व प्रदान करने का नहीं।

शिक्षा में ऐसे गुणों का महत्त्वोत्कर्ष ही, जो किसी साधारण अनुभव को आकर्षक, आत्मसात् करने योग्य तथा आनन्ददायक बना देते हैं—साहित्य, संगीत, चित्रण तथा रंग इत्यादि का मुख्य कार्य है। वे सामान्य अर्थ में मूल्यांकन के साधन-मात्र नहीं, अपितु वे महत्त्वोत्कर्षकारी तथा बढ़ाए हुए गुणानुभव के प्रमुख साधन हैं। इस रूप में, वे केवल वास्तविक रूप से सीधे-सीधे आनन्द-प्रद मात्र नहीं हैं; बल्कि वे अपने से परे एक प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। उनका कार्य सम्पूर्ण गुणानुभव के अर्थ में सुरुचि को स्थिर रखना तथा बाद में आने वाले अनुभवों के मूल्यांकन के लिए, मानदण्डों का निर्माण करना है। अपने मापक से निम्नकोटि की दशाओं में वे असन्तोष उत्पन्न करते हैं तथा अपने स्तर तक आने वाले वातावरण के निर्माण की माँग उपस्थित करते हैं। साधारण तथा मध्यम श्रेणी के अनुभवों में वे अर्थ की गहराई तथा उसका विस्तार व्यक्त करते हैं; अर्थात् वे दृष्टि के अंग प्रदान करते हैं। अपरंच, अपनी पूर्णता में, वे अस्त-व्यस्त तथा अपूर्ण रह जाने वाले सद् के तत्त्व की एकाग्रता तथा अन्त के प्रतीक हैं। वे आनन्ददायक महत्त्व के ऐसे तर्कों को चुनकर उन्हें पुंजीभूत कर देते हैं, जो किसी भी अनुभव को प्रत्यक्ष से आनन्दप्रद बना देते हैं। वे शिक्षा की विलास-सामग्री नहीं, अपितु उस तत्त्व के सबल प्रकाशक हैं, जो किसी भी शिक्षा को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।

विषयों का मूल्यांकन

शैक्षणिक महत्ताओं के सिद्धान्त में केवल उत्तरकालीन मूल्यांकनों का मापक निश्चित करने के रूप में गुणानुभव के स्वरूप का वर्णन करना ही नहीं, अपितु उन विशिष्ट दिशाओं का वर्णन भी सम्मिलित है, जिनमें ये मूल्यांकन होते हैं। मूल्य प्रदान करने का प्राथमिक अर्थ महत्त्व देना––सम्मान देना—है, माध्यमिक अर्थ महत्त्व आंकना, आलोचना करना है ; अर्थात् इसके अर्थ दोनों ही हैं। किसी वस्तु को आदर देकर उसे प्रिय समझना तथा किसी अन्य वस्तु के अनुपात में इसके महत्त्व के स्वरूप तथा मात्रा पर निर्भर करना। महत्त्वानुभव इस दूसरे अर्थ में मूल्यांकन अथवा आलोचना करना है। यह विभेद कभी-कभी वास्तविक तथा प्रायोगिक महत्ताओं के साथ मेल खाता है। वास्तविक महत्ताएँ निर्णय के विषय नहीं हैं। उनकी तुलना नहीं की जा सकती अथवा उन्हें उच्च और निम्न, अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। वे अमूल्य होती हैं और यदि कोई वस्तु अमूल्य होती है, तो वह किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा ऐसी नहीं होती। किन्तु, ऐसे अवसर आते हैं, जब हमें चुनना पड़ता है, जब हमें एक वस्तु को ग्रहण करने के लिए दूसरी को छोड़ना पड़ता है। इससे प्रतिमानों का उच्च और निम्न, अच्छे और बुरे का एक क्रम निर्धारित हो जाता है। जिन वस्तुओं पर निर्णय दिया जाता है, अथवा जिनका महत्त्वानुभव किया जाता है, उनका अन्य किसी तीसरी वस्तु, किसी साध्य के सम्बन्ध में मूल्यांकन किया जाता है। उस साध्य के लिए ये साध्य अथवा प्रायोगिक महत्ताएँ हैं।

हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं, जो किसी समय तो अपने मित्रों के साथ वार्तालाप करने का पूर्णरूप से आनन्द लेता है और दूसरे समय सुरीले संगीत का, भोजन ग्रहण करने का, पुस्तकाध्ययन तथा धन कमाने का आनन्द लेता है। गुणानुभवात्मक उपलब्धि के रूप में इनमें से प्रत्येक की वास्तविक महत्ता है। इसका जीवन में एक विशिष्ट स्थान है। यह अपने ही साध्य की

पूर्ति करती है, जो अन्य किसी द्वारा नहीं हो सकती। इसमें तुलनात्मक महत्ता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ; अतएव मूल्यांकन का भी नहीं। प्रत्येक अपने-आप में एक विशिष्ट हित है। इससे ज्यादा और कुछ नहीं कहा जा सकता। अपने स्वयं के स्थान पर कोई भी अपने परे वस्तु का साधन नहीं है। किन्तु, ऐसी भी परिस्थितियां हो सकती हैं, जिनमें प्रतियोगिता अथवा संघर्ष उत्पन्न हो जाय। ऐसी अवस्था में प्रवरण करना पड़ता है। तब तुलना का प्रश्न उठता है। चूंकि प्रवरण करना है, इसलिए हम प्रत्येक प्रतियोगी के विभिन्न महत्त्वों को जानना चाहते हैं कि इसके लिए क्या कहा जा सकता है। किसी अन्य संभावना को अपेक्षाकृत संतुलन तथा उसकी तुलना में यह क्या प्रदान करता है ? इन प्रश्नों को उठाने का अर्थ यह है कि विशिष्ट हित अपने-आप में पूर्ण, वास्तविक हित नहीं रह जाता ; क्योंकि यदि यह ऐसा होता, तो इसके महत्त्व अतुलनीय अर्थात् अनिवार्य होते। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के साधन के रूप में इसका क्या स्थान है, जो उस परिस्थिति का अनिवार्य अंग है ? यदि किसी आदमी ने अभी भोजन किया है, अथवा यदि वह सामान्य रूप से सुन्दर भोजन पाया करता है तथा उसे संगीत सुनने का कम अवसर मिलता है, तो सम्भवतः वह भोजन की अपेक्षा संगीत को पसन्द करेगा। प्रस्तुत परिस्थिति में इसका अत्यधिक महत्त्व है। यदि वह भूखों मर रहा है अथवा उस समय संगीत से जी भरा हुआ है, तो स्वाभाविक रूप से भोजन को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझेगा। अमूर्त रूप में स्वतंत्र रूप से ; अर्थात् ऐसी परिस्थितियों की आवश्यकताओं से पृथक्, जिनमें चुनाव करना पड़ता है, महत्ताओं के क्रम अथवा श्रेणी जैसी कोई वस्तु नहीं।

शैक्षणिक महत्ताओं के सम्बन्ध में इससे कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। हम अध्ययन-विषयों की महत्ताओं को श्रेणीबद्ध नहीं कर सकते। निम्नतम महत्त्व रखने वाली वस्तु से प्रारम्भ करके सर्वाधिक महत्ता रखने वाली वस्तु तक उन्हें एक क्रम में रखने का प्रयत्न व्यर्थ है। जहां तक किसी विषय का अनुभव में योगदान अद्वितीय अथवा अपरिहार्य है, जहां तक यह जीवन के लिए विशिष्ट महत्त्व प्रदान करता है, इसका मूल्य अनिवार्य अथवा अतुलनीय होता है। चूंकि शिक्षा जीवन व्यतीत करने का साधन नहीं, ऐसा जीवन व्यतीत करने की क्रिया है, जो सफल तथा सामुदायिक रूप से महत्त्वपूर्ण हो ; इसलिए एक-मात्र चरम महत्ता, जिसे हम निर्धारित कर सकते हैं, वह जीवन बिताने की प्रक्रिया है। और यह ऐसा साध्य नहीं कि अध्ययन-विषय तथा क्रियाएँ इसके अधीनस्थ साधन

हों। यह ऐसी पूर्णता है, जिसके वे अवयव हैं। गुणानुभव के बारे में जो कुछ कहा जा चुका है, उसका अर्थ यही होता है कि प्रत्येक अध्ययन-विषय को एक-न-एक रूप में ऐसे चरम महत्त्व का रखना आवश्यक है। यह गणित के लिए भी उतना ही सत्य है, जितना कि कविता के लिए, किसी स्थान विशेष में अवसर विशेष पर अपने-आपके लिए यह महत्त्वपूर्ण हित संक्षेप में आनन्ददायक अनुभव समझा जाय। यदि ऐसा नहीं होता, तो जब इसे साधन अथवा उपादान के रूप में प्रयोग करने का अवसर आएगा, तब यह आपेक्षिक रूप से उतना ही बाधक सिद्ध होगा। यदि कभी भी यह अपने-आप के लिए नहीं प्राप्त किया गया अथवा अपने-आप के लिए इसे महत्त्व नहीं दिया गया, तो अन्य साध्यों के साधन के रूप में इसके महत्त्व को पूर्णरूप से न समझ सकेंगे।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जब हम विभिन्न अध्ययन-विषयों की महत्ता निर्धारित करने के लिए तुलना करते हैं, अर्थात् उनसे परे किसी साध्य के साधन के रूप में उनका प्रयोग करते हैं, तब उनके उचित मूल्यांकन को नियंत्रित करने वाला तत्त्व उन विशिष्ट परिस्थितियों से प्राप्त होता है, जिनमें वे प्रयुक्त किए जाते हैं। किसी विद्यार्थी को गणित की प्रायोगिक महत्ता समझने के योग्य बनाने की विधि, किसी दूरस्थ तथा अनिश्चित भविष्य में यह कितना लाभकारी होगा, इस पर व्याख्यान देना नहीं, अपितु उससे स्वयं यह अन्वेषण कराना है कि जो कुछ वह करना चाहता है, उसमें अंकों का प्रयोग करने की योग्यता पर कहाँ तक उसकी सफलता निर्भर करती है।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न विषयों में विशिष्ट प्रकार की महत्ताओं का विभाजन भ्रामक है, यद्यपि इस कार्य में थोड़े दिन पहले बड़ा समय लगाया गया है। उदाहरण के लिए विज्ञान उन परिस्थितियों पर निर्भर है, जिनमें यह साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, इसीलिए इसकी विभिन्न प्रकार की महत्ताएँ हैं। कुछ के लिए विज्ञान की महत्ता सैनिक हो सकती है, यह आक्रमण अथवा रक्षा करने के साधनों को शक्तिशाली बनाने का उपादान हो सकता है। यह शिल्प विज्ञानात्मक, यंत्रविज्ञान का उपकरण हो सकता है अथवा वाणिज्य के सम्बन्ध में व्यापार को सफलतापूर्वक चलाने में सहायक हो सकता है। दूसरी परिस्थितियों में इसका लोकोपकारी महत्त्व है। यह मानव दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए कार्य करता है, अर्थात् नितान्त परम्परागत अर्थ में किसी शिक्षित व्यक्ति का सामाजिक स्तर निर्धारित करने की महत्ता के लिए प्रयुक्त होता है। वास्तव में विज्ञान इन सभी प्रयोजनों की पूर्ति करता है तथा इनमें से किसी एक को

वास्तविक साध्य के रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न करना हमारी निरंकुशता होगी। शैक्षिणिक रूप से हम जितने के बारे में निश्चित हो सकते हैं, वह यह है कि विज्ञान इस प्रकार से पढ़ाया जाय कि विद्यार्थियों के जीवन में यह स्वयं का साध्य हो, अर्थात् जीवन के अनुभव में अपने अद्वितीय अनिवार्य योगदान के कारण ही महत्त्वपूर्ण समझा जाय। प्रथमतः इसको 'गुणानुभवात्मक' महत्ता प्रदान की जानी चाहिए। यदि इस कविता-जैसे विषय को लें, जो इसका पूर्णरूपेण विरोधी है, तो भी यही बात लागू होगी। यह हो सकता है कि प्रस्तुत समय में अवकाश के समय को आनन्दप्रद बनाने के योगदान में ही इसका मुख्य महत्त्व है; किन्तु यह अनिवार्य परिस्थितियों की अपेक्षा प्रायः अधःपतित परिस्थितियों का प्रतीक हो सकती है। काव्य ऐतिहासिक रूप से सदैव धर्म तथा नीति से संबंधित रहा है। इसने वस्तुओं की रहस्यात्मक गहराइयों में प्रवेश करने के प्रयोजन की पूर्ति की है। सदैव देशभक्ति के अर्थ में इसकी महत्ता बहुत अधिक रही है। यूनानियों के लिए होमर, बाइबिल, नीतियों की पाठ्य-पुस्तकें इतिहास तथा राष्ट्रीय प्रेरणा सब कुछ था। कुछ भी हो, यह कहा जा सकता है कि जो शिक्षा काव्य को जीवन के व्यवसायों तथा अवकाश दोनों का ही साधन बनाने में सफल नहीं होती, उसमें कोई-न-कोई कमी है, अथवा काव्य ही कृत्रिम है।

यही विचार अध्ययन-विषयों अथवा उनके शीर्षकों की प्रेरणात्मक शक्ति के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं। अध्ययन के पाठ्य-क्रम की योजना बनाने तथा उसकी शिक्षा प्रदान करने वाले उत्तरदाई व्यक्तियों में इस पर विचार करने का पर्याप्त आधार देना चाहिए कि पाठ्य-क्रम में आए हुए विषय विद्यार्थियों के जीवन को अधिक सम्पन्न बनाने के प्रत्यक्ष लाभ तथा ऐसे साधन भी प्रदान करें, जिन्हें वे प्रत्यक्ष अभिरुचि के अन्य प्रयोजनों में प्रयोग कर सकें। चूँकि पाठ्य-क्रम सदैव शुद्धवंशानुसंक्रांत परम्परागत सामग्री तथा ऐसे विषयों के बोझ से लदता जा रहा है, कि जो कतिपय प्रभावशाली व्यक्तियों अथवा उनके समुदाय की अभिप्रेत बातों की शान्ति के प्रतीक हैं। यह आवश्यक है कि इसका अपने प्रयोजन की पूर्ति निश्चित करने के लिए निरन्तर निरीक्षण, आलोचना तथा परिवर्धन करने की आवश्यकता है। उस अवस्था में यह सम्भावना सदैव रह सकती है कि यह बालकों तथा युवकों की अपेक्षा वयस्क जनों, अथवा वर्तमान काल के बजाय एक पीढ़ी पूर्व के छात्रों की महत्ताओं के प्रतीक थे। इसीलिए आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा सिंहावलोकन की और भी आवश्यकता है। किन्तु, इन विचारों का यह अर्थ नहीं है कि किसी विषय का, छात्र के लिए प्रेरणात्मक महत्त्व रखने

(चाहे अनिवार्य अथवा प्रायोगिक) का मतलब उसका महत्ताओं के प्रति सजग होना अथवा विषय के महत्त्व को स्थापित कर सकना ही है।

सर्व-प्रथम, जहां तक कोई विषय उपरोक्त प्रेरणा प्रदान करता है, यह पूछना आवश्यक नहीं कि उसका महत्त्व क्या है। यह ऐसा प्रश्न है, जो केवल प्रायोगिक महत्ताओं के बारे में ही पूछा जा सकता है। कुछ हित किसी के लिए सद् नहीं हैं, वे स्वयं सद् हैं। कोई भी अन्य धारणा असंगत है। जब तक अनिवार्य रूप से सद् के बारे में कोई तथ्य अपने-आप के लिए ही सद् न होगा, तब तक हम प्रायोगिक हित के—अर्थात् ऐसा हित जिसका महत्त्व किसी दूसरी वस्तु के लिए सद् होने में निहित है—प्रश्न पूछना नहीं बन्द कर सकते। भूखे स्वस्थ बालक के लिए भोजन ही परिस्थिति का हित है। हमें भोजन ग्रहण करने की प्रेरणा करने के लिए उसे भोजन द्वारा पूरे किए जाने वाले साध्यों के प्रति सजग करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी भूख के संबंध में भोजन स्वयं प्रेरणा है। मानसिक रूप से उत्सुक विद्यार्थी के लिए विभिन्न विषयों के संबंध में भी यही बात लागू होती है। न तो वे ही न अध्यापक ही सम्भवतः निश्चित रूप से पहले ही यह बता सकते हैं कि भविष्य में ज्ञान प्राप्त करने से किन-किन प्रयोजनों की पूर्ति होगी, और न यही वांछनीय है कि जब तक उत्सुकता बनी रहे, इस कार्य से उत्पन्न होने वाले विशेष हितों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाय। किसी हित का प्रमाण इस तथ्य में होता है कि छात्र प्रतिचार करता है ; उसका प्रतिचार ही उपयोग है। सामग्री के प्रति उसका प्रतिचार यह व्यक्त करता है कि विषय उसके जीवन में काम आता है। यह कहना उचित नहीं है कि लैटिन भाषा की महत्ता पूर्णरूप से अमूर्त, केवल अध्ययन के ज्ञान में ही है। तथा यही उसके पढ़ाये जाने के लिए यथेष्ट आधार है ; किन्तु यह तर्क करना उतना ही असंगत है कि जब तक अध्यापक अथवा छात्र उपयोग में आने वाला दूसरा कोई निश्चित भावी उपयोग न दिखा सके, इसमें इतनी भी महत्ता स्वीकार नहीं की जायगी कि इसका पढ़ाया जाना न्याय-संगत है। जब छात्र लैटिन के अध्ययन में वास्तविक रूप से व्यस्त दिखाई पड़ते हैं, तब यह स्वयं ही इसका प्रमाण है कि इसकी अपनी महत्ता है। ऐसी दशाओं में अधिक-से-अधिक इतना ही पूछा जा सकता है कि समय की कमी को दृष्टि में रखते हुए क्या अनिवार्य महत्त्व रखने वाली अन्य बातें नहीं हैं, जिनका इसके अतिरिक्त और अधिक प्रायोगिक महत्त्व भी है।

अब हम प्रायोगिक महत्ताओं अर्थात् अपने से परे किसी साध्य की प्राप्ति

के साधन के रूप में पढ़े जाने वाले विषयों के विवेचन पर आते हैं। यदि कोई बालक बीमार है तथा भोजन दिए जाने पर उसकी भूख भोजन करने की प्रेरणा नहीं देती है, अथवा उसकी भूख की इच्छा इतनी विकृत हो गई है कि वह मांस-तरकारियों की अपेक्षा आइसक्रीम खाना अधिक पसन्द करता है, तो परिणामों के सचेतन संबंध का संकेत किया जाना है। कतिपय वस्तुओं की विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक महत्ता की न्याय-संगति के लिए उसे परिणामों के प्रति सजग बनाने की आवश्यकता है। अथवा वस्तुओं की दशा यथेष्ट सामान्य होते हुए भी कोई व्यक्ति किसी सामग्री से अनुप्रेरित नहीं भी हो सकता ; क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार प्रस्तुत सामग्री के सक्रिय संबंध पर उसके किसी अनिवार्य हित की प्राप्ति निर्भर है। ऐसी दशा में स्पष्ट है कि संबंधों की चेतना उत्पन्न करना बुद्धिमत्ता है। सामान्य रूप से यह वांछनीय है कि कोई विषय इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसका या तो कोई तात्कालिक महत्त्व हो तथा उसकी न्याय-संगति दिखाने की आवश्यकता न हो अथवा वह किसी वास्तविक महत्ता की वस्तु की प्राप्ति के साधन के रूप में परिलक्षित हो। तभी प्रायोगिक महत्ता में किसी साध्य का साधन होने का वास्तविक महत्त्व होता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या विषयों की महत्ताओं के बारे में प्रस्तुत शैक्षणिक महत्त्व की कतिपय बातें अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अन्य अत्यन्त संकुचित नहीं हैं ? कभी-कभी छात्रों के जीवन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी प्रयोजन की पूर्ति न करने वाले विषयों के औचित्य-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत तर्क निरर्थक प्रयत्न-से प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर व्यर्थ विषयों के विरोध की प्रतिक्रिया ने यहाँ तक मान लिया है कि कोई भी विषय ऐसा नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। जब तक कि इस तथ्य के होते हुए भी कि जीवन स्वयं ही इसे रक्खे जाने के हेतु है ; पाठ्य-क्रम का निर्माण करने वालों अथवा स्वयं छात्रों द्वारा इसके किसी नितांत निश्चित भावी उपयोगिता न दिखाई जा सके तथा संकेत की गई निश्चित उपयोगिताएँ स्वयं केवल इसलिए न्याय-संगत हैं कि वे स्वयं जीवन की अनुभूति अन्तर-वस्तुओं में वृद्धि करती हैं।

महत्ताओं का पृथक्करण तथा संघटन

निस्संदेह सामान्य रूप से जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों का वर्गीकरण संभव है। शिक्षा के उपक्रम को अधिक विस्तार तथा नम्यता प्रदान करने के लिए, उद्देश्यों का पर्याप्त विस्तृत सिंहावलोकन करने में, इस प्रकार के वर्गीकरण से कुछ लाभ होता है ; किन्तु इन महत्ताओं को ऐसी चरम साध्य मान लेना बहुत बड़ी भूल है, अनुभव के वास्तविक संतोष जिनके अधीन हों। ये स्थूल हितों के लगभग पर्याप्त समानीकरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वास्थ्य, धन, क्षमता, सामाजिकता, उपयोगिता, संस्कृति इत्यादि स्वयं केवल ऐसे अमूर्त पद हैं, जो विशेषों के समूह को संक्षिप्त करते हैं। ऐसी बातों को वास्तविक विषयों तथा शिक्षा की प्रक्रिया के मूल्यांकन में मानदण्ड के रूप में मान लेना, उन स्थूल लक्ष्यों को अमूर्तता के अधीन बना देना है, जिनसे ये अमूर्त विचार-पद निकले हैं। ये किसी भी सत्य अर्थ में मूल्यांकन के मानदण्ड नहीं हैं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, वे अविशिष्टता-प्राप्त क्रियाओं में प्राप्त होते हैं, जो प्रतिमान की सुरुचियों तथा आदतों का निर्माण करती हैं। जीवन की सूक्ष्मताओं से ऊपर उठे हुए ऐसे दृष्टिकोणों के रूप में वे महत्त्वपूर्ण हैं, जिससे क्षेत्र का सिंहावलोकन हो सकता है और यह देखा जा सकता है कि इसके निर्माण-अवयव किस प्रकार विभक्त हैं तथा वे शुद्ध अनुपात में हैं अथवा नहीं।

किसी भी वर्गीकरण में अस्थाई से अधिक प्रामाणिकता नहीं हो सकती, निम्नांकित तथ्य कुछ सहायक सिद्ध हो सकता है। हम कह सकते हैं कि उस प्रकार के अनुभव में, जिसमें शिक्षालय के कार्य को योगदान देना चाहिए, साधनों तथा मार्ग में आनेवाली बाधाओं के प्रबंध में, कार्यकारिणी योग्यता (क्षमता) सामाजिकता अथवा दूसरों के प्रत्यक्ष सहयोग में अभिरुचि, सौंदर्यात्मक सुरुचि, अथवा कम-से-कम कुछ शास्त्रीय रूपों में कलात्मक उत्कृष्टता के गुणानुभव की शक्ति, प्रशिक्षित बौद्धिक विधि अथवा वैज्ञानिक उपार्जनों की कुछ प्रणालियों में अभिरुचि तथा दूसरों के अधिकारों तथा भोगों के प्रति

सहृदयता अर्थात् धर्मपरायणता होनी चाहिए। और यद्यपि ये विचार महत्ता के मानदंड नहीं हैं, वे शिक्षा की प्रचलित विधियों तथा विषय-सामग्री का सिंहावलोकन, आलोचना तथा संघटन करने के उपयोगी अधिकार हैं।

जीवन के विभिन्न व्यवसायों के परस्पर अलग-अलग होने के फल-स्वरूप शैक्षणिक महत्ताओं को पृथक् करने की मनोवृत्ति के कारण, ऐसे सामान्य दृष्टिकोणों की अधिक आवश्यकता है। यह भाव अत्यंत प्रचलित है कि विभिन्न अध्ययन-विषय पृथक् प्रकार की महत्ताओं के प्रतिनिधि हैं, तथा इसीलिए विभिन्न अध्ययन-विषयों को एकत्रित करके ही पाठ्य-क्रम का निर्माण किया जाना चाहिए, ताकि स्वतंत्र महत्ताओं के पर्याप्त रूप पर ध्यान दिया जा सके। निम्नांकित अवतरण में महत्ता शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है; किन्तु इसमें यह धारणा निहित है कि पाठ्यक्रम का निर्माण इस भाव पर होना चाहिए कि प्राप्त किए जाने के लिए अनेक साध्य हैं। तथा विभिन्न अध्ययन-विषयों का महात्त्वानुभव प्रत्येक के विशेष साध्यों के संबंध में किया जा सकता है। "स्मृति अधिकांश विषयों से प्रशिक्षित होती है; किन्तु इतिहास तथा भाषाओं से सर्वोत्कृष्ट रूप से। सुरुचि भाषाओं के अधिक उच्च अध्ययन से तथा और भी अधिक अच्छी प्रकार अंग्रेजी के अध्ययन से प्रशिक्षित होती है—कल्पना प्रायः प्रत्येक प्रकार के उच्च भाषा के अध्ययन से, किन्तु मुख्यकर ग्रीक तथा लैटिन काव्य के अध्ययन से; निरीक्षण प्रयोगशाला में विज्ञान के कार्यों से। यद्यपि कुछ प्रशिक्षण ग्रीक तथा लैटिन के प्राथमिक स्तर पर भी मिल जाता है, लेकिन प्रकाशन के लिए ग्रीक तथा लैटिन के निबंध पहले आते हैं, और अंग्रेजी निबंध बाद को। सूक्ष्म, अमूर्त तर्क के लिए गणित एक-मात्र साधन है। स्थूल तर्क के लिए विज्ञान पहले आता है, ज्योमिति उसके बाद। सामाजिक तर्क के लिए ग्रीक तथा रोमीय इतिहासकार तथा सुवक्ता प्रथम आते हैं, उसके बाद सामान्य इतिहास। इसीलिए सर्वाधिक संकुचित शिक्षा में भी—जो किंचित् भी पूर्ण होने का दावा करती है—लैटिन, एक आधुनिक भाषा, कुछ इतिहास, कुछ अंग्रेजी साहित्य तथा एक विज्ञान का समावेश होता है।"

इस अवतरण की शब्द-व्यञ्जना में बहुत कुछ हमारे मतलब का नहीं है। जिसको हमारे अर्थ को स्पष्ट करने के लिए छोड़ देना पड़ेगा। शब्द-व्यञ्जना उस विशिष्ट प्रादेशिक परम्परा को धोखा देती है, जिसमें लेखक लिख रहा है। वहाँ "शक्तियों" को प्रशिक्षित करने की असंदिग्ध कल्पना वर्तमान है तथा प्राचीन भाषाओं में प्रधान अभिरुचि दिखाई पड़ती है। उसमें अपेक्षित रूप से

पृथ्वी के प्रति, जिस पर मनुष्य अपना जीवन बिताते हैं, तथा उस शरीर के प्रति, जिसे वे अपने साथ-साथ लिए रहते हैं, निरादर की भावना है। किन्तु, यदि इन विषयों को स्वीकार भी कर लिया जाय, यदि उन्हें पूर्णरूप से त्याग भी दिया जाय, तो हम वर्तमान कालीन शैक्षणिक दर्शन में बहुत-सी ऐसी बातें पाते हैं, जो पृथक्-पृथक् विषयों को विशिष्ट महत्ताएँ प्रदान करने के समकक्ष हैं। जब सामाजिक क्षमता अथवा संस्कृति-जैसा कोई एक साध्य ही महत्ता के मानदंड के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तब भी प्राय: यह केवल एक शाब्दिक शीर्षक के रूप में मिलेगा, जिसके अंतर्गत अनेक असंबद्ध अवयव संगृहीत होते हैं और यद्यपि सामान्य मनोवृत्ति यह है कि किसी विषय से उपरोक्त अवतरण में आई हुई महत्ताओं की अपेक्षा और भी अधिक महत्ताओं को जोड़ दिया जाए, तथापि प्रत्येक विषय से संबद्ध अनेक महत्ताओं की तालिका बनाने का प्रयत्न तथा प्रत्येक महत्ता की उस मात्रा का कथन जो कि कथित विषय में होती है, अंतर्निहित शैक्षणिक असंगठन पर बल देते हैं।

वास्तव में, अध्ययन विषयों की महत्ताओं की ऐसी योजनाएँ अधिकांश रूप से परिचित पाठ्य-क्रम के अचेतन न्याय-संगति प्रदर्शित करने के प्रयत्न हैं। लोग तत्कालीन पाठ्यक्रम के विषयों को स्वीकार कर लेते हैं, तत्पश्चात् पढ़ाए जाने के लिए पर्याप्त कारणों के रूप में उन्हें महत्ताएँ प्रदान कर देते हैं। उदाहरणार्थ—गणित को विद्यार्थी में कथन की परिशुद्धि तथा तर्क की निकटता में आदी बनाने के कारण आनुशासनिक महत्ता रखने वाला विषय कहा जाता है। व्यापार तथा कलाओं में आवश्यक गणना की कलाओं पर अधिकार प्रदान करने में इसकी उपयोगितात्मक महत्ता है। वस्तुओं के सर्वाधिक सामान्य संबंधों के संव्यवहार में कल्पना की विस्तार-वृद्धि में इसकी सांस्कृतिक महत्ता निहित है। असीमित की धारणा तथा तत्-संबंधी भावों के कारण इसमें धार्मिक महत्ता भी है। किन्तु, प्रत्यक्ष है कि महत्ता कही जाने वाली इन चमत्कारी शक्तियों के होने के कारण गणित से ऐसे परिणाम नहीं उपलब्ध होते हैं; बल्कि चूँकि इससे इन परिणामों की प्राप्ति होती है, इसलिए इसमें ये महत्ताएँ हैं, अन्यथा नहीं। कथन ऐसे सम्भव परिणामों को अधिक विस्तृत दृष्टिकोण प्रदान करने में शिक्षक के लिए सहायक हो सकते हैं, जो गणितात्मक विषयों की शिक्षा द्वारा उत्पन्न होते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश मनोवृत्ति यह है कि कथन को विषय में समवायी रूप से रहने वाली शक्तियों की अभिव्यक्ति करने के अर्थ में लिया जाता है। चाहे वे कार्य करें या न करें; पर इस प्रकार इसे दृढ़ न्याय-संगति प्रदान

की जाती है। यदि वे कार्य नहीं करते हैं, तो दोष विषय के पढ़ाए जाने के रूप पर नहीं ठहराया जाता, अपितु छात्रों की उदासीनता तथा लापरवाही को दोषी ठहराया जाता है।

विषयों के प्रति यह मनोवृत्ति, अनुभव अथवा जीवन की पृथक्-पृथक् स्थित तथा एक दूसरे को सीमित करने वाली, स्वतंत्र अभिरुचियों का समूह-मात्र समझने की धारणा का दूसरा पक्ष है। राज्य-शासन के विद्यार्थी राज्य-शक्ति के नियंत्रण तथा संतुलन सिद्धांत से परिचित हैं। इसमें, विद्यार्थी, कार्यकारी, न्याय-संबंधी तथा प्रशासकीय जैसे पृथक्-पृथक् स्वतंत्र कर्तव्य माने गए हैं, यदि इनमें से प्रत्येक अन्यों पर नियंत्रण रखता है, तो कार्य सुचारु रूप से चलता है तथा इस प्रकार आदर्श संतुलन की उत्पत्ति होती है। यह एक ऐसा दर्शन है, जिसे अनुभव का नियंत्रण तथा संतुलन-सिद्धान्त कहा जा सकता है। जीवन में अनेक प्रकार की अभिरुचियाँ हैं। वे यदि अपने-आप पर छोड़ दी जायँ, तो एक दूसरे का अतिक्रमण करती हैं। आदर्श यह है कि जब तक अनुभव का पूरा क्षेत्र समाप्त न हो जाए, प्रत्येक के लिए इसका विशेष अंश निर्धारित कर दिया जाय। तत्पश्चात् इसका ध्यान रक्खा जाय कि प्रत्येक अपनी सीमा के अंतर्गत रहे। राजनीति, व्यापार, मनोरंजन, कला, विज्ञान, बौद्धिक व्यवसाय, विनम्र वार्तालाप, विश्राम इत्यादि ऐसी अभिरुचियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक की अनेक शाखाएँ हैं ; जैसे—वाणिज्य की विभिन्न शाखाएँ, श्रम-व्यवसाय, कार्यकारी पद, बहीखाता, आवागमन, अधिकोष्ठक, कृषि, व्यापार इत्यादि। इसी प्रकार प्रत्येक में होता है। अतएव, आदर्श शिक्षक को इन पृथक् तथा कोष्ठबद्ध अभिरुचियों की पूर्ति के लिए साधन प्रदान करना चाहिए। यदि हम शिक्षालयों पर दृष्टिपात करें, तो बड़ी सरलतापूर्वक जान सकते हैं कि वे वयस्क जीवन के स्वरूप के इस भाव को स्वीकार करते हैं, तथा अपने लिए माँगों की पूर्ति के कार्य को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक अभिरुचि को एक निश्चित संस्था समझा जाता है, जिसकी पूर्ति के लिए पाठ्य-क्रम में कोई-न-कोई विषय अवश्य होना चाहिए ; अतएव पाठ्य-क्रम में राजनैतिक तथा देशभक्ति के दृष्टिकोण से कुछ नागरिक शास्त्र तथा इतिहास, कुछ उपयोगितात्मक अध्ययन-विषय, कुछ विज्ञान, कुछ कला (निस्संदेह मुख्य रूप से साहित्य) मनोरंजन के कुछ साधन, कुछ नैतिक शिक्षा इत्यादि होना चाहिए। यह देखा जाता है कि शिक्षालयों के बारे में वर्तमान आंदोलन, इन अभिरुचियों में से प्रत्येक को आवश्यक महत्त्व प्रदान करने की आवश्यकता के वाद-विवाद तथा प्रत्येक के लिए पाठ्य-क्रम में उचित

स्यान दिलाने के संघर्ष से संबंधित है, अथवा यदि यह वर्तमान शिक्षालय-व्यवस्था के अनुकूल नहीं प्रतीत होता, तो आवश्यकता की पूर्ति के लिए नवीन तथा विभिन्न प्रकार की शिक्षा-प्रणाली के अपनाए जाने से संबंधित है। विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं में वास्तविक शिक्षा के महत्त्व को भुला दिया जाता है।

परिणाम-स्वरूप पाठ्य-क्रम अत्यंत सघन हो जाता है। छात्रों पर अति दबाव पड़ता है तथा उनका ध्यान एकाग्र नहीं हो पाता और शिक्षा के भाव ही के लिए घातक, केवल संकुचित विशेषज्ञता प्राप्त होती है ; किन्तु ये बुरे परिणाम साधारणतः उपचार के रूप में, उसी प्रकार की अत्यधिक अन्य बातें उत्पन्न करते हैं। जब यह देखा जाता है कि सब कुछ होते हुए भी, पूर्ण जीवन-अनुभव की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो रही है, तब कमी को वर्तमान विषयों की पढ़ाई के एकांगी तथा संकुचित होने पर नहीं रक्खा जाता तथा इस ज्ञान को व्यवस्था के पुनर्संगठन का आधार नहीं बनाया जाता। कमी की पूर्ति किसी और नवीन विषय की शिक्षा-द्वारा किए जाने का विचार किया जाता है अथवा यदि आवश्यक हो, तो दूसरे प्रकार के शिक्षालय ही स्थापित किए जायें तथा सैद्धान्तिक रूप से, जो परिणाम-स्वरूप उत्पन्न उनके विषयों की भीड़ कृत्रिमता तथा ध्यानभंग के प्रति आपत्ति उपस्थित करते हैं, वे भी साधारणतया केवल मात्रात्मक अधिमानों की शरण लेते हैं। उनके अनुसार सुधार का उपाय यह है कि अनेक विषयों को काटकर कम कर दिया जाय। प्राथमिक शिक्षा में प्राचीन पाठ्य-क्रम के तीन रकारों (रीडिंग, रायटिंग, रिथमेटिक—अर्थात् लिखना, पढ़ना तथा प्रारंभिक गणित) को ही पुनः अपनाया जाय। तथा उच्च शिक्षा में भी उतना ही अच्छा तथा प्राचीन परिपाटी का शास्त्रीय अध्ययन तथा गणित का पाठ्य-क्रम, स्वीकार किया जाय।

निस्संदेह इस दशा की ऐतिहासिक व्याख्या की जाती है। भूतकाल के विभिन्न युगों के अपने-अपने विशिष्ट संघर्ष तथा अभिरुचियाँ ही हैं। इन महान् युगों में से प्रत्येक ने, भू-निर्माण के स्तरों की तरह, अपने एक प्रकार के सांस्कृतिक संस्कार छोड़ रक्खे हैं। इन संगृहीत संस्कारों ने अध्ययन के विषयों, विशेष प्रकार के पाठ्य-क्रमों तथा विशिष्ट प्रकार के शिक्षालयों के रूप में शैक्षणिक संस्थाओं में स्थान प्राप्त कर लिया है। गत शताब्दी में, राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा आर्थिक अभिरुचियों के द्रुत परिवर्तन के साथ-साथ नवीन महत्ताओं के लिए व्यवस्था करनी पड़ी। यद्यपि प्राचीन पाठ्यक्रमों ने विरोध किया ; उन्हें कम-से-कम इस देश में, अपने आडंबरों को एक निश्चित एकाधिकार

में समेट लेना पड़ा। उनकी अंतर्वस्तु तथा उद्देश्य का पुनर्संघटन नहीं किया गया है। नवीन अभिरुचियों को व्यक्त करने वाले नवीन अध्ययन-विषय, सम्पूर्ण शिक्षा की विधि तथा उद्देश्य को परिष्कृत करने के लिए प्रयोग किए गए हैं। उन्हें नवीन प्रेरणा प्रदान की गई है तथा उनमें परिवर्द्धन भी किया गया है। परिणाम-स्वरूप एक ऐसे संघटित पिंड का निर्माण हुआ है, जिसके विभिन्न अवयवों को जोड़ने वाले तत्त्व शिक्षालय की योजना अथवा समय-विभाग में निहित हैं। उन्हीं से महत्ताओं की योजना तथा उनके मानदंडों की उत्पत्ति होती है। इनका वर्णन हम कर चुके हैं।

शिक्षा की यह दशा, सामाजिक जीवन में प्राप्त होने वाले विभागों तथा विलगावों का प्रतीक है। संपन्न तथा संतुलित अनुभव का निर्माण करने वाली विभिन्न अभिरुचियां पृथक् कर दी गई हैं तथा पृथक् संस्थाओं में, विभिन्न तथा स्वतंत्र प्रयोजनों और विधियों के साथ, स्थापित कर दी गई हैं। व्यापार व्यापार है, विज्ञान विज्ञान ही है। कला कला है, राजनीति राजनीति है। सामाजिक संपर्क, सामाजिक संपर्क है, नैतिक कार्य नैतिक कार्य है, मनोरंजन मनोरंजन ही है—इत्यादि इत्यादि। अपने-अपने विशिष्ट उद्देश्यों तथा कार्य-प्रणालियों के साथ-साथ प्रत्येक का पृथक् तथा स्वतंत्र क्षेत्र है। प्रत्येक दूसरे को केवल वाह्य तथा आकस्मिक रूप से योगदान करता है। सभी अपने विरोध तथा योग के साथ जीवन की पूर्णता का निर्माण करता है। कोई व्यक्ति इसके अतिरिक्त व्यवसाय से और क्या आशा करता है कि उससे धनोत्पादन हो तथा उस धन का पुनः और अधिक धनोपार्जन करने तथा अपने और परिवार के पालन-पोषण में उपयोग हो। हम पुस्तकें और चित्र खरीद सकें, मनोरंजन के टिकट खरीद सकें, जिनसे संस्कृति की उत्पत्ति हो, करों को दे सकें तथा दान और सामाजिक और नैतिक महत्त्व की अन्य वस्तुएँ दे सकें। यह आशा करना कितना असंगत है कि बिना व्यवसाय कल्पना को विस्तृत तथा सुकुमार बनाने की संस्कृति उत्पन्न करें और सीधे-सीधे उपार्जित धन के द्वारा नहीं, अपने प्रेरणा प्रदान करने वाले सिद्धान्तों के लिए समाज-सेवा करें और सामाजिक व्यवस्थापन के उपक्रम के रूप में कार्य करें। ठीक इसी प्रकार कला, विज्ञान, राजनीति अथवा धर्म के बारे में भी कहा जा सकता है। प्रत्येक में विशेषता इनके उपादानों अथवा समय की माँगों के लिए नहीं, बल्कि अपने उद्देश्यों, सजीव मनोभावों के लिए, प्राप्त की गई है। अचेतन रूप से हमारे पाठ्यक्रम तथा अध्ययन-विषयों की शैक्षणिक महत्ताओं के सिद्धान्त, अभिरुचियों के इस विभाजन को व्यक्त करते हैं।

शैक्षणिक महत्ता के सिद्धान्त में मुख्य बात अनुभव के एकत्व अथवा संगठन की है। एकता की आत्मा को खोए बिना यह कैसे पूर्ण तथा विभिन्न प्रकार का होगा। एक होते हुए भी यह कैसे अपने एकत्व में संकुचित तथा नीरस न होगा? वास्तव में मौलिक रूप से महत्ताओं तथा उनके मानदंड का प्रश्न जीवन की अभिरुचियों के संघटन का नैतिक प्रश्न है। शैक्षणिक रूप से इस प्रश्न का संबंध, शिक्षालयों, साधनों तथा विधियों की उस व्यवस्था से है, जो अनुभव के विस्तार तथा सम्पन्नता की प्राप्ति में कार्य करेगा। कार्य-क्षमता को नष्ट किए बिना कैसे हम दृष्टिकोण की व्यापकता को प्राप्त कर सकते हैं? पृथक्करण की हानियों से बचकर कैसे विभिन्न अभिरुचियों की पूर्ति कर सकते हैं? अपनी वृद्धि का बलिदान करने के बजाय कैसे व्यक्ति को कार्यों में लगाया जा सकेगा। कला, विज्ञान तथा राजनीति कैसे एक दूसरे के मूल्य पर प्राप्त होने, साध्यों का निर्माण करने के बजाय, मन को भाव-संपन्न बनाने के अर्थ में, एक दूसरे को पुनः प्रचलित बना सकते हैं? कैसे जीवन तथा अभिरुचि और उन्हें प्रचलित बनानेवाली अध्ययन विषयों की अभिरुचियाँ, मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् करने के बजाय उनके सर्वनिष्ठ अनुभव को अधिक संपन्न बना सकती हैं? इस प्रकार संकेत किए गए, पुनर्व्यवस्था से हम उपसंहार के अध्याय में संबंधित होंगे।

अध्याय का सारांश

मौलिक रूप से, महत्ता के विवेचन में निहित तत्त्व, उद्देश्यों तथा अभिरुचियों के पूर्व विवेचन में आ चुके हैं। किन्तु चूँकि, शैक्षणिक महत्ताओं की विवेचना सामान्य रूप से, पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों के स्थान के साथ की जाती है, इसीलिए, विशिष्ट अध्ययन-विषयों को दृष्टि में रख कर यहाँ पुनः उद्देश्य तथा अभिरुचि पर विचार किया गया है। 'महत्ता' पद के दो नितांत भिन्न अर्थ हैं। एक ओर तो यह किसी वस्तु को, अनिवार्य रूप से, अपने-आप के लिए महत्त्वपूर्ण दिखाने, उत्कृष्ट सिद्ध करने की मनोवृत्ति का द्योतक है। यह भी हुए अथवा पूर्ण अनुभव का नाम है। इस अर्थ में 'महत्ता' प्रदान करने का अर्थ गुणानुभव है। किन्तु 'महत्ता' प्रदान करने का अर्थ विशिष्ट बौद्धिक काम—तुलना तथा निर्णय करना अर्थात् मूल्यांकन भी है। जब प्रत्यक्ष पूर्ण अनुभव का अभाव होता है, तब यह घटित होता है और तभी यह प्रश्न उठता है कि किसी परिस्थिति की विभिन्न सम्भावनाओं में से, पूर्णता की प्राप्ति अथवा सजीव अनुभव के लिए, किसको चुना जाए।

कुछ भी हो, हमें क्रम के विषयों को गुणानुभवात्मक अर्थात् अनिवार्य महत्ताओं से संबंधित तथा प्रायोगिक अर्थात् उससे संबंधित, जो अपने-आप से परे के लिए हो अथवा साध्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हो, श्रेणियों आदि में नहीं विभाजित करना चाहिए। किसी भी विषय में उचित मानदंड का निर्माण, प्रत्यक्ष गुणानुभव के पाश्चात् अनुभव के अपरोक्ष महत्त्व में, दिए गए इसके योगदान के विचार पर निर्भर है। साहित्य तथा ललित-कलाओं की विलक्षण महत्ता इसलिए है कि वे सर्वोत्तम गुणानुभूति तथा एकाग्रता के माध्यम से अर्थों के सर्वोत्कृष्ट भाव को व्यक्त करते हैं; किन्तु प्रत्येक विषय में अपने विकास के किसी-न-किसी रूप में इससे संबंधित व्यक्ति के लिए सौंदर्यात्मक गुण होता है।

अनुभव अपरोक्ष अनिवार्य महत्ताओं के प्रत्येक रूप की वृद्धि में दिया गया योगदान ही अध्ययन-विषयों में प्रयोगिक अथवा उपादेय महत्ताओं का महत्त्व निर्धारित करने का एकमात्र अधिमान है। प्रत्येक अध्ययन-विषय को पृथक् महत्ताएँ प्रदान करने तथा अपनी सम्पूर्णता में पाठ्य-क्रम को पृथक्-पृथक् महत्ताओं के योग द्वारा निर्मित एक प्रकार का समूह समझने की मनोवृत्ति, सामाजिक समुदायों तथा समूहों का यूथ समझने की मनोवृत्ति, सामाजिक समुदायों तथा यूथों के पृथक् रहने का परिणाम है। इसीलिए प्रजातंत्रात्मक सामाजिक समुदाय में, इस पृथक्करण के विरोध में संघर्ष करना शिक्षा का कर्तव्य है; ताकि विभिन्न अभिरुचियाँ ठीक प्रकार प्रचलित हो सकें तथा एक-दूसरे को शक्ति प्रदान कर सकें।

१६

श्रम तथा अवकाश

विरोध का प्रादुर्भाव

उद्देश्यों तथा अभिमूल्यों के पृथक्करण से, जिस पर हम अभी तक विचार करते रहे हैं, उनमें आपस में विरोध उत्पन्न होना है। संभवतः सबसे गहरा विरोध, जो आज तक शैक्षणिक इतिहास में व्यक्त हुआ है, वह इस बात को लेकर है कि शिक्षा उपयोगी श्रम के लिए तैयारी है या अवकाशपूर्ण जीवन के लिए। 'उपयोगी श्रम' तथा 'अवकाश' पद ही इस कथन की पुष्टि करते हैं कि अभिमूल्यों के पृथक्करण तथा संघर्ष, आत्मसीमित नहीं हैं। ये सामाजिक जीवन के विभागों को व्यक्त करते हैं। यदि कार्य द्वारा जीविकोपार्जन, तथा अवकाश के अवसरों का सम्यक् रूप से आनंद लेने का कार्य किसी समुदाय के विभिन्न व्यक्तियों में सम-विभक्त होते, तो यह किसी को भी भान न होता कि शैक्षणिक साधनों तथा तत्संबंधी उद्देश्यों का कोई संघर्ष है। यह तो स्वयंसिद्ध है कि प्रश्न तो यह था कि शिक्षा किस प्रकार दोनों में ही सर्वाधिक योगदान दे सकती है और जहां शिक्षा की कुछ सामग्री एक प्रकार के परिणामों की पूर्ति करेगी तथा अन्य प्रकार की विषय-सामग्री दूसरी, तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहां तक परिस्थितियां अनुकूल हों, यथासंभव दोनों को ही प्राप्त करने का ध्यान रक्खा जाय; अर्थात् जो शिक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से अवकाश का ध्यान रखती है, उसे परोक्ष रूप से, जहां तक संभव हो, कार्य की समता तथा उसमें आनंद लेने पर भी बल दे। इससे बुद्धि तथा संवेगों की ऐसी आदतें उत्पन्न होती हैं जिससे अवकाश के समुचित अर्जन की सृष्टि होगी।

ये सामान्य विचार, शैक्षणिक दर्शन के सामाजिक विकास में यथेष्ट मात्रा में प्राप्त होते हैं। व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा से उदार शिक्षा का अन्तर यूनानियों के समय में भी था तथा व्यक्त रूप से जीविका के लिए कर्म करने वालों तथा इस आवश्यकता से विश्राम देने वालों का विभाजन जातियों के विभाजन के आधार पर किया गया था। इस धारणा से कि इस वर्ग के लोगों के

अनुकूल उदार शिक्षा उन्हें प्रदान किए गए दासोचित प्रशिक्षण से अधिक ऊँची है, यह तथ्य व्यक्त होता है कि अपने सामाजिक स्तर में एक वर्ग स्वतंत्र तथा दूसरा वर्ग दास था। दूसरे वर्ग के लोग केवल अपने वर्ग की आजीविका के लिए ही नहीं, अपितु ऐसे साधन उत्पन्न करने के लिए श्रम करते थे कि वे उच्चवर्ग के लोगों को बिना किसी व्यवसाय में लगाए ही जीवन बिताने के योग्य रक्खें। उनका पूरा समय उसी में लगा रहता है तथा इसमें बुद्धि का न तो प्रयोग ही होता है और न उसके लिए कोई विशेष परिणाम ही निकलता है।

यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि कुछ-न-कुछ श्रम करना ही चाहिए। मनुष्य को जीवित रहना है, और जीवन के साधनों को प्राप्त करने के लिए कार्य करना आवश्यक है। यदि यह स्वीकार करें कि जीविकोपार्जन से सम्बन्धित अभिरुचियाँ केवल भौतिक हैं ; अतएव अनिवार्य रूप से श्रम से अवकाश के क्षण का आनन्द लेने से संबंधित अभिरुचियों की अपेक्षा निम्नकोटि की होती हैं तथा यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि भौतिक अभिरुचियों में कुछ संलग्नता उत्पन्न करने वाले तथा स्वाधीन तत्त्व होते हैं, जो ऊँची आदर्श अभिरुचियों को दबा देने का प्रयत्न करते हैं, तो इससे सामाजिक रूप में विभक्त जातियों के तथ्य के वर्तमान होते हुए भी उस प्रकार की शिक्षा की उपेक्षा नहीं होगी, जो मनुष्यों को उपयोगी व्यवसायों के लिए प्रशिक्षित करती है। संभवतः इससे उनके प्रति अधिक सावधानी बरती जायगी ; ताकि लोग उनमें सक्षम होने का प्रशिक्षण पाकर भी उनके स्तर को बनाए रक्खें। शिक्षा इस बात का ध्यान रक्खेगी कि हम उन कुपरिणामों से बचे रहें, जो उनकी उपेक्षा की दशा में विकसित होने से उत्पन्न होते हैं। जब इन अभिरुचियों के विभाग पर केवल निम्न तथा उच्च सामाजिक वर्गों का विभाजन होगा, तभी उपयोगी कार्य के लिए तैयारी को अनुपयुक्त वस्तु के रूप में तिरस्कृत करके निम्न कोटि का समझा जायगा। यह ऐसा तथ्य है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य का भौतिक अभिरुचियों से तथा अवकाश का आदर्श अभिरुचियों से तादात्म्य स्वयं सामाजिक उत्पत्ति है।

दो हजार से भी अधिक वर्षों पूर्व सामाजिक परिस्थितियों के बनाए गए शैक्षणिक सूत्र इतने प्रभावशाली हैं और श्रमिक तथा अवकाशोपभोगी वर्गों के विभाजन में निहित बातों की इतनी स्पष्ट तथा तार्किक प्रत्यभिज्ञा प्रदान करते हैं कि उन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उनके अनुसार सचेतन संसार के क्रम में मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। कुछ अंशों में, उसमें

पौदों तथा जानवरों की बनावट तथा उसके कार्य सम्मिलित हैं, जैसे पोषण-संबंधी, पुनरुत्पादन-संबंधी क्रियात्मक अथवा व्यावहारिकता-सम्बन्धी इत्यादि। विशिष्ट मानव कार्य, विश्व के दृश्यों का अभिज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क है। इसीलिए वास्तविक मानव-साध्य इस विशिष्ट मानवीय प्राधिकार की सर्वाधिक सम्भव पूर्णता है। निरीक्षण, चिंतन, अभिज्ञान तथा विचार को ही स्वयं-साध्य समझ कर उसे क्रियात्मक रूप देने का जीवन ही मनुष्य का उपयुक्त जीवन है। यही नहीं ; बल्की तर्क से मानव-स्वभाव के निम्न तत्त्वों अर्थात् विषय-वासनाओं तथा क्रियाशील तंतुवीय मनोभावनाओं का उपयुक्त नियंत्रण होता है। अपने-आप में वे लोलुप, स्वाधीन, अतिशयताप्रिय, केवल अपनी ही संतृप्ति का ध्यान रखने वाली होते हुए भी उनमें संतुलन होता है, अर्थात् उनमें मध्यम मार्ग का अनुसरण होता है। और, तर्क के विषयों के अनुकूल बन जाने पर वे वांछनीय साधनों की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

अरस्तू ने ऐसी स्थिति का कथन सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के रूप में यथेष्ट रूप से किया है ; किन्तु वस्तुओं की ऐसी दशा, वर्गों की बनावट और इसलिए समाज के संगठन में व्यक्त होती हैं। आपेक्षिक रूप से केवल कम संख्या में ही तार्किक नियम कार्य कर सकता है। जन-समूह के समन्वित रूप से वनस्पति-जगत् तथा पशु-जगत् के कार्य ही प्रधान हैं, उनकी बौद्धिक शक्ति इतनी न्यून तथा अस्थिर होती है कि वे निरंतर भौतिक इच्छाओं तथा वासनाओं द्वारा अभिभूत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं अपने-आप में साध्य नहीं होते ; क्योंकि केवल तर्क ही अन्तिम साध्य का निर्माण करता है। पौदों, जानवरों तथा भौतिक उपकरणों की भाँति वे भी, अपने से परे साध्यों की प्राप्ति के साधन तथा उपादान हैं, यद्यपि उनमें अपने निश्चित कार्यों को कार्यान्वित करने में कुछ विवेक लगाने की यथेष्ट वृद्धि होती है। इस प्रकार केवल सामाजिक परम्परा से ही नहीं ; बल्कि स्वभावतः कुछ लोग दास, अर्थात् दूसरों के साध्यों की प्राप्ति के साधन होते हैं।[1] शिल्पकारों का समुदाय एक आवश्यक कार्य में, दासों से अधिक दास होता है। उन्हीं की तरह ये भी अपने से वाह्य साध्यों की प्राप्ति में निरत रहते हैं ; किन्तु चूँकि वे घरेलू दासों की तरह, उच्च वर्ग के साथ निकट के घनिष्ठ संबंध में नहीं आते, इसलिए प्रत्यक्ष रूप से दास नहीं होते। कुछ भी

---

१ अरस्तू यह नहीं स्वीकार करता कि स्वाभाविक दास तथा वास्तविक दासों के वर्ग एक ही होते हैं।

हो, स्त्रियां भी, दासों के ही वर्ग में आती हैं। और, शिल्पकार स्वतंत्र तथा विवेकपूर्ण जीवन के लिए उत्पादन तथा पुनरुत्पादन के साधनों के सजीव उपादानों में अवयव के रूप में आते हैं।

किसी प्रकार जीवित रहने तथा महत्त्वपूर्ण जीवन बिताने में वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों ही रूप में अन्तर है। महत्त्वपूर्ण जीवन बिताने के लिए व्यक्ति के जीवित रहने के साथ सामूहिक समाज के साथ रहना पड़ता है। केवल जीवन-मात्र, जीविकोपार्जन में व्यय किया गया समय तथा शक्ति हमें उन क्रियाओं से दूर हटा लेते हैं, जिनका समवायी में तार्किक अर्थ है। वे इनके लिए अनुपयुक्त भी हैं। साधन निम्नकोटि के होते हैं तथा उपयोगी वस्तु में दासोचित हैं। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति जितनी ही बिना प्रयत्न तथा ध्यान के प्राप्त होती है, उतना ही वास्तविक जीवन संभव होता है ; इसलिए दास, शिल्पकार तथा स्त्रियां, जीवन-निर्वाह के साधन के उपस्थित करने के लिए काम में लगाए गए हैं, ताकि यथेष्ट बुद्धि रखने वाले लोग, अवकाशोपभोगी जीवन अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के साथ बिता सकें।

व्यवसाय के इन दोनों रूपों, दासोचित तथा स्वतंत्र क्रियाओं (अथवा कलाओं) के अनुसार शिक्षा के भी दो प्रकार हैं—प्राथमिक अथवा यांत्रिक तथा उदार अथवा बौद्धिक। कुछ व्यक्ति, उचित क्रियात्मक अभ्यासों द्वारा कार्य करने की शक्ति के लिए, अर्थात् भौतिक पदार्थों के परिवर्तन में लगने वाले व्यक्तियों के काम आने वाले यांत्रिक उपकरणों को उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित किए जाते हैं। इस प्रशिक्षण से केवल आदतों का निर्माण होता है—अर्थात् प्रविधिक क्षमता प्राप्त होती है। यह संप्रयोग की पुनरुक्ति तथा अध्यवसाय में कार्य करती है, विचार के जागरण तथा पोषण में नहीं। उदार शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि को इसके उपयुक्त कार्य जानने में प्रशिक्षित करना है। जितना ही यह ज्ञान क्रियात्मक बातों अर्थात् निर्माण अथवा उत्पादन से सम्बन्धित रहता है, उतना ही यथेष्ट रूप से इसमें बुद्धि का उपयोग होता है। अरस्तू, दासोचित तथा उदार शिक्षा के अंतर को इतनी संगति के साथ स्पष्ट करता है कि जहाँ तक ललित-कला-सम्बन्धी कार्यों, अर्थात् संगीत, चित्रकला, वास्तुकला आदि के अभ्यास का प्रश्न है, वह उन्हें दासोचित कलाओं के वर्ग में ही रखता है। उनमें भौतिक साधन, अभ्यास के अध्यवसाय तथा बाह्य परिणाम होते हैं। उदाहरणार्थ—संगीत की शिक्षा का विवेचन करते हुए, वह यह प्रश्न उठाता है कि कहाँ तक किसी को यंत्रों के बजाने का अभ्यास कराया जाना चाहिए ? उसका

उत्तर है कि ऐसी विशेष क्षमता तथा अभ्यास, वहीं तक वांछनीय है, जहां तक यह गुणानुभव में सहायक है—अर्थात् दास अथवा व्यवसाई संगीतकारों द्वारा बजाए गए वाद्य-संगीत को समझ कर उसका आनन्द लिया जा सके। जब संगीत में व्यावसायिक शक्ति की प्राप्ति को उद्देश्य माना जाता है, तब यह उदार शिक्षा के स्तर से व्यावसायिक स्तर पर आ जाती है। तब तो भोजन बनाने की भी शिक्षा दी जा सकती है। उदार दृष्टिकोण भी ललित-कलाओं के कार्यों से संबन्धित अभ्यास करने वाले दासों के वर्ग पर निर्भर है, जिन्होंने स्वयं अपने व्यक्तित्व के विकास को यांत्रिक प्रयोग के कौशल की प्राप्ति के आधीन कर रक्खा है। क्रिया जितनी ही अधिक उच्च होगी, उतनी ही अधिक मानसिक होगी; उतना ही इसका भौतिक वस्तुओं अथवा शरीर से कम संबंध होगा। यह जितनी ही शुद्ध रूप से मानसिक होगी, उतनी ही अधिक स्वतंत्र तथा आत्मपूरक होगी।

ये अंतिम शब्द हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि अरस्तू पुनः विवेक का जीवन बिताने वाले लोगों में भी उच्च तथा निम्न का विभेद करता है; क्योंकि किसी के जीवन में विवेक के सहगामी होने, अथवा विवेक को इसका माध्यम बना लेने से, साध्यों में अंतर आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि वह स्वतंत्र नागरिक, जो अपने को समुदाय के सार्वजनिक जीवन में लगा देता है, इससे सम्बन्धित मामलों के प्रबंध में भाग लेता है तथा इसमें वैयक्तिक सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, विवेक के सहयोग का जीवन बिताता है। किन्तु विचारक, अर्थात् वह व्यक्ति जो वैज्ञानिक अनुसंधान अथवा दार्शनिक चिंतन में अपने जीवन को लगा देता है, विवेक 'में' कार्य करता है, केवल इसके द्वारा नहीं। दूसरे शब्दों में, अपने नागरिक सम्बन्धों में भी नागरिक की क्रियाओं में, कुछ-न-कुछ अभ्यास, अर्थात् बाह्य अथवा केवल प्रायोगिक कार्य होता है। यह बात इस तथ्य से प्रकट होती है कि नागरिक क्रियाओं तथा नागरिक निपुणताओं के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। कोई भी सर्वसाधारण जीवन में स्वयं अपने-आप अकेले ही नहीं संलग्न रह सकता; किन्तु अरस्तू के दर्शन में, सभी आवश्यकताओं, सभी इच्छाओं में भौतिक अध्ययन होता है, उनमें कुछ कमी, एकांतिकता निहित होती है, वे अपनी पूर्णता के लिए अपने से किसी परे की वस्तु पर निर्भर हैं। शुद्ध भौतिक जीवन, व्यक्ति अपने ही द्वारा स्वयं अपने-आप ही में बिताता है। दूसरों के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला सहयोग, अनिवार्य होने के बजाय सांयोगिक होता है। ज्ञान-क्रिया

में, सिद्धान्त के जीवन में, विवेक स्वयं अपने को व्यक्त करता है। किसी भी संप्रयोग से पृथक् केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए ज्ञान ही स्वतंत्र तथा आत्मपूर्ण होता है; इसलिए केवल वही शिक्षा वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र अथवा उदार है, जो जानने की शक्ति को स्वयं अपना साध्य समझ कर उत्पन्न करती है, और जिसमें नागरिक कर्तव्यों के भी अभ्यास का संबंध नहीं होता।

वर्तमान स्थिति

यदि अरस्तू का विचार केवल उसके वैयक्तिक दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, तो यह केवल ऐतिहासिक महत्त्व की वात होगी। इसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया जायगा कि यह, असाधारण वौद्धिक देनों के साथ स्थित होने वाला सहानुभूति अथवा शास्त्रीय पांडित्य-प्रदर्शन के अभाव का उदाहरण है। किन्तु, अरस्तू ने, विना किसी संभ्रान्ति, अथवा वौद्धिक भ्रान्ति के कारण उत्पन्न होने वाले आडंवर के, उस जीवन का वर्णन किया है, जो उसके समक्ष उपस्थित था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके समय से, वास्तविक सामाजिक स्थिति वहुत वदल चुकी है। किन्तु, इन परिवर्तनों के होते हुए भी, वैज्ञानिक कृषि-दासता उन्मूलन तथा प्रजातंत्र के अभ्युदय, विज्ञान तथा सामान्य शिक्षा (पुस्तकों, समाचार-पत्रों, यात्रा, सामान्य संपर्क तथा शिक्षालयों की) के विकास के वावजूद उसके दृष्टिकोण को अधिक ज्ञान-पूर्ण वनाने के लिए समाज में शिक्षित तथा अशिक्षित वर्ग, अवकाशोपभोगी तथा श्रमिक वर्ग (जिसके द्वारा वर्तमान शिक्षा का सम्मिश्रण वर्तमान है) में उत्पन्न संस्कृति तथा उपयोगिता के भेद की आलोचना की जा सकती है। शिक्षा-सिद्धान्त के विवेचन में व्यक्त होने वाले, इस वौद्धिक तथा अमूर्त विभेद के पीछे, उनका सामाजिक विभेद झलकता है, जिनके कार्यों में न्यूनतम आत्मनिर्देशक विचार तथा सौंदर्यात्मक गुणानुभव होता है, और वे, जो वुद्धि-सम्वन्धी वस्तुओं तथा दूसरों की क्रियाओं के नियंत्रण से अधिक प्रत्यक्ष रूप से संवंधित हैं।

इस कथन में अरस्तू की वात निस्संदेह, स्थाई रूप से सत्य थी कि "कोई भी व्यवसाय, कला अथवा अध्ययन, यदि स्वतंत्र व्यक्तियों के शरीर, आत्मा अथवा वुद्धि को महत्त्वपूर्ण उपयोग तथा अभ्यास के अयोग्य वना देता है, तो उसे यांत्रिक ही कहना उचित है।" आज जव हम यह स्वीकार करते हैं कि कुछ के वजाय सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं, जैसा कि आज-कल कहा जाता है, तो इस कथन की शक्ति अत्यधिक वढ़ जाती है। क्योंकि जव पुरुषों तथा स्त्रियों

के समूह को उनके शरीर तथा मन के स्वभाव के कारण ही स्वतंत्र नहीं समझा जाता था, तो महत्त्वपूर्ण जीवन में भाग लेने की योग्यता उत्पन्न करने के अंतिम प्रभाव पर ध्यान न देकर, उनमें केवल यांत्रिक क्षमता उत्पन्न करने का प्रशिक्षण देने में, न तो बौद्धिक सम्भ्रान्ति ही थी न नैतिक आडम्बर ही। तथा जब उसने यह कहा, तब भी वह ठीक ही था कि सभी धन-लोलुपता-सम्बन्धी कार्य तथा शरीर की दशा को गिरा देने वाले कार्य, यांत्रिक ही समझे जाने चाहिए, क्योंकि वे बुद्धि के अवकाश तथा गौरव का नाश कर देते हैं। यदि लाभप्रद कार्य वास्तव में बुद्धि की अभ्यासात्मक परिस्थितियों में तथा इसीलिए उसकी प्रतिष्ठा को कुंठित कर देते हैं, तो अरस्तू ने निश्चय ही स्थाई सत्य की अभिव्यक्ति की है। यदि उसके कथन गलत हैं, तो इसीलिए कि वह सामाजिक परम्परा के एक पथ को प्राकृतिक आवश्यकता समझ लेता है। किन्तु चेतन और जड़, मन और शरीर, बुद्धि तथा समाज-सेवा के सम्बन्धों की दूसरी विचारधारा, अरस्तू की धारणा से केवल तभी अच्छी हो सकती है, जब कि यह प्राचीन भावों को वस्तुतः––अर्थात् जीवन तथा शिक्षा के वास्तविक आचरण में––अप्रचलित बनाने में सहायक होती है।

अरस्तू ने केवल काम करने की क्षमता तथा वाह्य उत्पत्तियों के संग्रह मात्र को समझ, गुणानुभव की सहानुभूति, तथा भावों के स्वतंत्र प्रयोग के अधीन समझने तथा इन्हें निम्नकोटि का स्वीकार करने में स्थाई सत्य का कथन किया है। यदि कोई अशुद्धि थी, तो वह यही स्वीकार करने में कि दोनों अनिवार्य रूप से पृथक् हैं। यह कल्पना करने में कि खाद्य-सामग्री उत्पन्न करने तथा सेवा करने की क्षमता और आत्मनिर्देशक विचार में महत्त्वपूर्ण ज्ञान तथा प्रायोगिक उत्पत्ति में स्वाभाविक वैषम्य है। यदि हम केवल उसकी सैद्धान्तिक गलत धारणाओं को ही शुद्ध कर दें तथा बातों के उसी सामाजिक दशा को स्वीकार कर लें, जिसने उसकी धारणा को जन्म दिया था तथा उसे अनुमोदित किया था, तो हम कदाचित् ही विषय को अच्छा बना पाएँगे। यदि परिवर्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम केवल उत्पादन के मानवीय उपकरणों की यांत्रिक क्षमता की वृद्धि-मात्र है, तो कृषि-दासत्व से स्वतंत्र नागरिकता के परिवर्तन में हमें लाभ की अपेक्षा हानि है। इसी प्रकार यदि हम इसी में संतोष करते हैं कि जो प्रकृति को सीधे प्रयोग में लाने में संलग्न रहते हैं, उनमें कुछ अविवेकपूर्ण तथा अस्वतंत्र दशा वर्तमान रहती है, तथा नियंत्रणकारी बुद्धि को केवल दूरस्थ वैज्ञानिकों तथा उद्योग के नायकों की ही संपत्ति मान लें,

तो भी इस विचार में हमें लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है। केवल जहाँ तक हम अधिकांश लोगों को केवल उत्पादन की क्षमता उत्पन्न करने वाले व्यवसायों में प्रशिक्षित करने तथा कुछ को ऐसा ज्ञान प्रदान करने के शैक्षणिक अभ्यासों को प्रोत्साहित करने के उत्तरदायित्व से मुक्त होते हैं, जो सांस्कृतिक तथा अलंकृत करने वाला प्रसाधक-मात्र होता है, तभी तक जीवन के पृथक् कार्यों तथा समाज के पृथक् वर्गों के विभाजन की ईमानदारी से आलोचना कर सकते हैं। संक्षेप में जीवन तथा शिक्षा के यूनानी आदर्श से परे जाने की योग्यता, केवल स्वतंत्र, विवेकशील और महत्त्वपूर्ण अर्थ रखने वाले सैद्धान्तिक प्रतीकों के हेर-फेर से नहीं प्राप्त की जा सकती। यह श्रम की महत्ता तथा सेवा के जीवन को पृथक् स्वावलम्बी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझने के स्थाई भावों के परिवर्तन से नहीं प्राप्त की जा सकती। चूंकि ये सैद्धान्तिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन आवश्यक हैं, इनकी अनिवार्यता, वास्तविक रूप से प्रजातंत्रात्मक समाज—अर्थात् ऐसे समाज, जिसमें सभी उपयोगी सेवा में भाग लेते हैं तथा सभी महत्त्वपूर्ण अवकाश का आनन्द लेते हैं—के विकास की वृद्धि करने के लिए प्रयुक्त होने में निहित है। यह संस्कृति अथवा उदार मन तथा सामाजिक सेवा की धारणाओं का ही परिवर्तन नहीं है, जिसके लिए शिक्षा की पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता है; किन्तु सामाजिक जीवन में निहित परिवर्तनों को पूर्णतया व्यक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शैक्षणिक परिवर्द्धन की आवश्यकता है। जन-साधारण की राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता की अभिवृद्धि शिक्षा में प्रकट हुई है, इससे शिक्षा की सामान्य विद्यालय-व्यवस्था को जन-साधारण के लिए तथा स्वतंत्र बनाने का विकास हुआ है। इसने इस धारणा को नष्ट कर दिया है कि ज्ञान वास्तव में उन कतिपय व्यक्तियों का एकाधिकार है, जिनके भाग्य में समाज पर राज्य करने के लिए प्रकृति ने पहले ही लिख दिया है; किन्तु आज भी यह क्रान्ति अपूर्ण है, यह भाव अब भी स्थित है कि वास्तविक सांस्कृतिक अथवा उदार शिक्षा-क्रम से, प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक मामलों से कोई उभयनिष्ठ संबंध नहीं हो सकता। और उस शिक्षा को, जो जन-साधारण के लिए उचित है, इस भाव में उपयोगी अथवा प्रयोगात्मक शिक्षा होना आवश्यक है, जो उपयोगी तथा प्रयोगात्मक को विचार के गुणानुभव तथा व्यक्तीकरण के पोषण का विरोधी समझता है।

परिणाम-स्वरूप हमारी वास्तविक व्यवस्था एक मिश्रण है। कुछ अध्ययन-विषय तथा विधियाँ इस कल्पना पर आधारित हैं कि उन्हें विशिष्ट

उदारता की स्वीकृति प्राप्त है। उदार पद की मुख्य अन्तर्वस्तु व्यावहारिक साध्यों के लिए उपयोगी होना है। यह पक्ष, विशेषकर उस शिक्षा में दृष्टिगोचर होता है, जिसे उच्च शिक्षा—अर्थात् उच्च विद्यालयों तथा उसकी तैयारी की शिक्षा—कहते हैं। किन्तु, यह प्राथमिक शिक्षा में भी आ गया है तथा बहुत हद तक इसकी प्रतिक्रियाओं तथा उद्देश्यों का नियंत्रण करता है; किन्तु दूसरी ओर जनसाधारण को ऐसे अवसर दिए गए हैं कि वे जीविकोपार्जन में संलग्न रह सकें। और आधुनिक जीवन में आर्थिक क्रियाओं के बढ़े हुए कार्यों के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। ये धारणाएँ इंजीनियरिंग तथा व्यापार के प्रयोगात्मक प्रशिक्षण, विभिन्न पेशों के पाठ्य-क्रम तथा विशिष्ट विद्यालयों में व्यावसायिक तथा पूर्व-व्यावसायिक अध्ययनों में अभिव्यक्त होती हैं। यह धारणा उस भावना में भी व्यक्त होती है, जिसके अनुसार लिखने-पढ़ने, साधारण गणित-जैसे कतिपय प्राथमिक विषयों की शिक्षा दी जाती है। फलस्वरूप हमें ऐसी व्यवस्था प्राप्त होती है, जिसमें सांस्कृतिक तथा उपयोगितावादी दोनों ही प्रकार के विषय असंघटित परिमिश्रण में होते हैं, जिसमें सांस्कृतिक विषय, प्रधान प्रयोजन द्वारा सामाजिक रूप से उपयोगी तथा उपयोगितावादी विषय कल्पना अथवा विचार-शक्ति को अभिव्यक्त करने में सफल नहीं हैं।

परंपरागत स्थिति में एक ही विषय में भी, उपयोगितात्मक तथा किसी समय के केवल अवकाशोपभोग की तैयारी की विशेषताओं के लिए दिए जाने वाले अवसरों का विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है। 'उपयोगिता' का अवयव अध्ययन की प्रेरणा में तथा 'उदारता' का तत्त्व शिक्षा-विधि में मिलता है। इस संमिश्रण का प्रतिफल, संभवतः, यदि दोनों में से किसी एक सिद्धान्त को इसके शुद्ध रूप में अपनाया जाता, तो उस स्थिति की अपेक्षा, कम संतोषजनक है। उदाहरण- स्वरूप लिखने, पढ़ने, वर्त्तनी तथा साधारण गणित के प्रथम चार-पांच वर्षों के अध्ययन का उद्देश्य यह है कि लिखने-पढ़ने तथा शुद्ध गणना की योग्यता आगे बढ़ने के लिए अपरिहार्य है। इन अध्ययनों को उपयोगी व्यवसाय में प्रवेश करने अथवा अध्ययन की उत्तरकालीन प्रगति (बालक शिक्षालय में रहते हैं या नहीं उसके अनुसार) के साधन के रूप में समझा जाता है। यह मनोवृत्ति शारीरिक व्यायाम तथा स्वयं परिचालित कुशलता प्राप्त करने के अभ्यासों पर दिए गए बल में परावर्तित होती है। यदि हम यूनान के विद्यालय की शिक्षा पर दृष्टिपात करते हैं, तो यह पाते हैं कि प्रारंभिक वर्षों से ही, कौशल की प्राप्ति को जहाँ तक संभव होता था,

सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक महत्त्व की साहित्यिक अन्तर्वस्तु के अधीन रक्खा जाता था। भावी प्रयोग के लिए उपकरण प्राप्त करने पर नहीं, अपितु प्रस्तुत विषय-सामग्री पर बल दिया जाता था। कुछ भी हो, इन अध्ययनों का व्यावहारिक संप्रयोग से पृथक्करण में उनकी केवल प्रतीकात्मक युक्तियाँ-मात्र समझना, उपयोगिता से विलग, केवल उदारता के प्रशिक्षण के भाव का शेषांश अभिव्यक्त होता है। उपयोगिता के भाव को पूर्णरूप मे अपना लेने पर ऐसी शिक्षा की व्यवस्था होती, जिसमें अध्ययनों को उन परिस्थितियों से सम्बद्ध कर दिया जाता है, जिनमें अभी प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता होती तथा जहाँ वे अप्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष रूप से सहायक बना दिए जाते। पाठ्य-क्रम में ऐसे विषय को प्राप्त करना कठिन है, जिसमें इन दोनों विरोधी आदर्शों के समन्वय से प्रति-उत्पन्न कुपरिणाम नहीं, भौतिक-विज्ञान अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण ही स्वीकृत किया गया है ; किन्तु संप्रयोग से पृथक् यह एक विशिष्ट प्रवीणता के रूप में ही पढ़ाया जाता है। दूसरी ओर संगीत तथा साहित्य को उनके सांस्कृतिक महत्त्व के आधार पर न्याय-संगत सिद्ध किया जाता है और तब कौशल के प्रविधिक निर्माण पर विशेष बल देकर पढ़ाया जाता है।

यदि हम में यह समन्वय तथा तदुत्पन्न सम्भ्रान्ति न होती, यदि हमने संस्कृति तथा उपयोगिता के विभिन्न अर्थों का अधिक सतर्कतापूर्ण विश्लेषण किया होता, तो अध्ययन के ऐसे पाठ्य-क्रम का निर्माण सरल होता, जो उपयोगी तथा उदार दोनों हो। केवल अन्ध-विश्वास के कारण ही हम में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि ये दोनों अनिवार्य रूप से एक दूसरे के विरोधी हैं ; अतः कोई विषय अनुदार इसलिए होता है कि वह उपयोगी है तथा सांस्कृतिक इसलिए है कि वह अनुपयोगी है। साधारणतया ऐसा होता है कि वह शिक्षा, जो उपयोगितावादी परिणामों के उद्देश्य से कल्पना के विकास, सुरुचि के परिष्कार तथा बौद्धिक अन्तर्दृष्टि को और अधिक अन्तर्व्यापी बनाती अर्थात् सांस्कृतिक अभिमूल्यों का बलिदान कर देती है, उसी मात्रा में ज्ञान को उसके प्रयोग से सीमित भी कर देती है। ऐसा नहीं होता कि यह उसे पूर्णरूप से अनुपयुक्त बना देती है ; बल्कि इसकी संप्रयुक्ति को दूसरों की देख-रेख में की जानेवाली कार्यक्रम-निबद्ध क्रियाओं तक ही परिसीमित कर दिया जाता है। कौशल की संकुचित प्रणालियों को उनसे परे उपयोगी नहीं बनाया जा सकता। कौशल का कोई भी रूप, जो ज्ञान की गम्भीरता तथा निर्णय की पूर्णता के साथ-साथ प्राप्त किया जाता

है, बड़ी आसानी से नवीन परिस्थियों में उपयोग में लाया जाता है, तथा वैयक्तिक नियंत्रण के अन्तर्गत होता है। कुछ क्रियाएँ, जो यूनानियों को दासोचित लगीं, उसका कारण उनकी सामाजिक तथा आर्थिक उपयोगिता का तथ्य नहीं, अपितु यह तथ्य है कि उनके समय में, सीधे जीविकोपार्जन से सम्बन्धित क्रियाओं को न तो प्रशिक्षित बुद्धि की अभिव्यक्ति समझा जाता था, न उनके अर्थ के वैयक्तिक गुणानुभव के कारण किया जाता था। जहाँ तक कृषि तथा व्यापार को परम्परागत व्यवसायों के रूप में लिया जाता था, तथा जहाँ तक खेत-मजदूरों और यंत्र-चालक श्रमिकों के मनों से वाह्य परिणामों की प्राप्ति के लिए इनमें संलग्न हुआ जाता था, वे अनुदार थे; किन्तु केवल इसी सीमा तक अब बौद्धिक तथा सामाजिक संदर्भ बदल चुका है। उद्योग में केवल परम्परा तथा कार्यक्रम-निबद्धता के कारण उत्पन्न तत्त्व, सर्वाधिक आर्थिक मार्गों के कारण वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्राप्त तत्त्वों के आधीन हो गए हैं। आज के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय गणित, भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान पर निर्भर हैं। आर्थिक उत्पादन से संप्रायोगिक रूप से प्रभावित तथा तदुत्पन्न उपभोग के कारण मानव-संसार का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र वाले भौगोलिक तथा राजनीतिक विचार इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। व्यावहारिक साध्यों के लिए ज्योमिति तथा गणित के अध्ययन को, अवमानित करना प्लेटो के लिए स्वाभाविक था; क्योंकि वास्तव में उनके व्यावहारिक उपयोग बहुत कम थे तथा इन उपयोगों से अधिक धनोपार्जन नहीं होता था; किन्तु चूँकि उनके सामाजिक उपयोग अब बहुत बढ़ गए हैं तथा उनका क्षेत्र भी अब बहुत विकसित हो चुका है। उनका उदार शिक्षात्मक अथवा 'बौद्धिक' मूल्य तथा उनका व्यावहारिक मूल्य लगभग एक ही सीमा तक पहुँचता है।

निस्संन्देह वह अवयव, जो मुख्य रूप से इस तादात्म्य की पूर्ण प्रत्यभिज्ञा तथा उसके प्रयोग में बाधक है, वह उन परिस्थितियों के कारण है, जिनमें आज भी इतना अधिक कार्य किया जाता है। मशीनों के आविष्कार से अवकाश की मात्रा बढ़ जाती है। अब किसी व्यक्ति के लिए काम करते समय भी अवकाश रह सकता है। यह तो अत्यन्त साधारण बात है कि स्थाई आदतों के रूप में कौशल में दक्षता प्राप्त कर लेने से मस्तिष्क विचार की उच्च क्रियाओं से मुक्त हो जाता है। उद्योग में यांत्रिक रूप से स्वयं परिचालित कार्यों के आ जाने से लगभग यही बात उसके लिए भी सत्य है। वह मस्तिष्क को दूसरे विषयों पर विचार करने के लिए छुटकारा दे सकता है; किन्तु जब हम उन लोगों की

शिक्षा को, जो अपने हाथों से कार्य करते हैं, विज्ञान, साहित्य तथा इतिहास की शिक्षा न देकर प्रायः प्रारम्भिक प्रतीकों के प्रयोग की क्षमता उत्पन्न करने के लिए कुछ वर्षों की विद्यालयों की शिक्षा तक ही सीमित रखते हैं, तो हम काम करने वालों के मनों को इस अवसर का लाभ उठाने के लिए तैयार करने में असफल होते हैं। यह और भी मौलिक तथ्य है कि अधिकांश काम करने वालों को अपने कार्यों के सामाजिक उद्देश्यों का कोई ज्ञान नहीं होता तथा इनमें उनकी कोई प्रत्यक्ष वैयक्तिक अभिरुचि नहीं होती। वास्तविक रूप से उपलब्ध परिणाम उनके कार्यों के साध्य नहीं; बल्कि केवल उनके नियोजकताओं के साध्य होते हैं। वे जो कुछ करते हैं, उसे स्वतंत्रता के साथ तथा विवेकपूर्वक नहीं, बल्कि प्राप्त होने वाले वेतन के लिए करते हैं। यही तथ्य को अनुदार बना देता है तथा यही ऐसे कार्यों में क्षमता प्रदान करने के लिए ही दी गई किसी भी शिक्षा को अनुदार तथा अनैतिक बना देता है। ऐसी दशा में क्रिया स्वतंत्र नहीं होती है, क्योंकि उसम स्वतंत्रतापूर्वक भाग नहीं लिया जाता।

कुछ भी हो, ऐसी शिक्षा के लिए अवसर तो है ही, जो काम के वृहत्तर अवयवों को ध्यान में रखकर सामाजिक सेवा के प्रशिक्षण के साथ-साथ उदार, पोषण करने तथा उत्पादक व्यवसायों में दक्षता में तथा प्रसन्नतापूर्वक भाग लेने की योग्यता में सामंजस्य स्थापित कर सके। और ऐसी शिक्षा स्वयं वर्तमान आर्थिक स्थिति की बुराइयों को दूर करने वाली होगी। जितना ही लोगों का अपनी क्रियाओं के साध्यों के साथ सम्बन्ध होता है, उनकी क्रिया अधिक स्वतंत्र तथा ऐच्छिक होती है। और इसकी वाह्य रूप से दबाव डाले जाने पर किए जाने की तथा दासोचित विशेषता नष्ट हो जाती है। यद्यपि व्यवहार का भौतिक पक्ष वही रहता है। राजनीति में प्रजातंत्रात्मक सामाजिक व्यवस्था नियंत्रक के इस प्रत्यक्ष सहयोग का अवसर प्रदान करती है। आर्थिक क्षेत्र में नियंत्रण वाह्य तथा निरंकुश होता है। इसी के कारण आंतरिक मानसिक कार्य तथा भौतिक कार्य में इतना अन्तर है, जो उदार तथा उपयोगितावादी परम्परागत विभेद के रूप में व्यक्त होता है। जिस शिक्षा को समाज के सदस्यों के संस्कारों में एकता उत्पन्न करना चाहिए, वही स्वयं समाज में भी एकता उत्पन्न करेगी।

अध्याय का सारांश

पिछले अध्याय में आए हुए शैक्षणिक अभिमूल्यों के विभेदों में संभवतः संस्कृति तथा उपयोगिता का वैषम्य सब से अधिक मौलिक है। यद्यपि यह विभेद अनिवार्य तथा निरपेक्ष समझा जाता है। वास्तव में यह ऐतिहासिक तथा सामाजिक है। जहां तक सचेतन सूत्र-बद्धता का प्रश्न है, इसकी उत्पत्ति यूनान में हुई तथा इस तथ्य पर आधारित थी कि केवल वे ही थोड़े-से व्यक्ति वास्तविक मानव-जीवन व्यतीत करते हैं, जो दूसरों के उत्पन्न परिणामों पर निर्भर रहते हैं। इस तथ्य से बुद्धि तथा इच्छा सिद्धान्त तथा अभ्यास के सम्बन्ध के मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई। यह उस राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में व्यक्त हुई, जिसमें मनुष्यों को दो स्थाई विभागों में बांटा गया। एक तो वे, जो विवेक का जीवन बिता सकते हैं, अतएव जिनके अपने साध्य होते हैं तथा दूसरे जो केवल इच्छा तथा कार्य कर सकते हैं तथा जिनके साध्यों की पूर्ति के लिए दूसरों की आवश्यकता होती है। इन दोनों राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक विभेदों को शैक्षणिक पदों में व्यक्त करने से, उदार शिक्षा, जिसका सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, ज्ञान प्राप्त करने में लगाए गए अवकाश के आत्मपूरक जीवन में है तथा उस उपयोगी शिक्षा का विभेद उत्पन्न हुआ, जिसमें बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक अतः चक्षु-विहीन यांत्रिक व्यवसायों के लिए प्रायोगिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। यद्यपि वर्तमान स्थित सिद्धान्त में अन्यत्त विस्तृत तथा वास्तव में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका है, फिर भी प्राचीन ऐतिहासिक स्थिति के अवयव आज भी शैक्षणिक महत्ताओं को शक्ति को करने वाले समन्वयों के साथ-साथ शैक्षणिक विभेद को कायम रखने में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। प्रजातंत्रात्मक समाज में शिक्षा की समस्या यह है कि इस द्वित्व को दूर करें तथा ऐसे विषयों के ऐसे पाठ्य-क्रम का निर्माण करें, जो सभी विचारकों के लिए स्वतंत्र अभ्यास का पथ-प्रदर्शक बनाए तथा अवकाश न प्रदान करने के बजाय उसे सेवा के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने का पुरस्कार समझे।

२०

बौद्धिक तथा व्यावहारिक अध्ययन-विषय

अनुभव तथा वास्तविक ज्ञान का विरोध

जिस प्रकार आजीविका तथा अवकाश एक दूसरे के विरोधी हैं, उसी प्रकार सिद्धान्त तथा अभ्यास, बुद्धि तथा कार्य, ज्ञान और क्रिया भी हैं। अन्तिम युग्म, निस्संदेह उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, जो प्रथम के संघर्ष को जन्म देती हैं। उनसे सम्बन्धित शिक्षा की कतिपय निश्चित समस्याएँ, ज्ञान तथा क्रिया के कथित विलगाव तथा सम्बन्ध के विषय के स्पष्ट विवेचन को वांछनीय बना देती हैं।

इस धारणा का इतिहास बड़ा लम्बा है कि ज्ञान व्यावहारिक क्रियाओं की अपेक्षा उच्चतर साधन से उपलब्ध होता है, तो इसका अधिक उच्च तथा आध्यात्मिक महत्त्व है। जहाँ तक सचेतन कथन का सम्बन्ध है, यह इतिहास प्लेटो और अरस्तू द्वारा सूत्रबद्ध विवेक तथा अनुभव के विचारों से प्राप्त होता है। बहुत अर्थों में ये विचारक मतभेद रखते हुए भी अनुभव का शुद्ध व्यावहारिक सम्बन्धों से तादात्म्य स्थापित करने में एक मत हैं। इसीलिए भौतिक अभिरुचियों का उनके प्रयोजन के साथ, तथा शरीर का उनके अंगों के साथ, जो सम्बन्ध है, उस पर वे एकमत हैं। दूसरी ओर ज्ञान, व्यावहारिक संबंधों से स्वतंत्र स्वयं अपने-आप के लिए स्थित था तथा शुद्ध अभौतिक मन ही इसका साधन तथा अंग था। इसका सम्बन्ध आध्यात्मिक अथवा आदर्श अभिरुचियों से था। फिर, अनुभव में सदैव अपूर्णता, आवश्यकता तथा इच्छा निहित रहती थी। यह कभी भी आत्म-पूरक न था। दूसरी ओर विवेकशील ज्ञान, स्वयं अपने-आप में पूर्ण तथा व्यापक था, अतएव व्यावहारिक जीवन निरन्तर परिवर्तन की अवस्था में समझा जाता था। जब कि बौद्धिक ज्ञान का सम्बन्ध शाश्वत सत्यों से है।

इस कटु प्रतिवाद का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि एथीनियन दर्शन, रीति-रिवाज तथा परम्पराओं की आलोचना तथा ज्ञान और आचरण के मानदण्डों की मान्यता के रूप में आरम्भ हुआ। उसकी स्थान-पूर्ति के लिए,

किसी वस्तु की खोज करने में उन्हें केवल विवेक ही, विश्वास तथा क्रिया के उचित पथ-प्रदर्शक के रूप में प्राप्त हुआ। चूँकि परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों का तादात्म्य अनुभव से था, इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि विवेक अनुभव से ऊँचा है। इसके अतिरिक्त अनुभव, अपनी उचित अधीनता की स्थिति से संतुष्ट न रहने के कारण, विवेक के अधिकार को स्वीकार करने का बड़ा विरोधी था। चूँकि रीति-रिवाजों तथा परम्परागत विश्वासों ने मनुष्य को बाँध रक्खा था ; अतः अपनी उचित सर्वोच्चता के संघर्ष की विजय, केवल अनुभव के अस्थाई तथा अपर्याप्त स्वरूप को व्यक्त करके ही प्राप्त हो सकती थी।

प्लेटो का यह कथन कि दार्शनिकों को ही राज्याधिकारी होना चाहिए, ऐसे कथन के रूप में ही सब से अधिक समझा जा सकता है कि मानवी व्यवहार का नियंत्रण, आदतों, कामनाओं, मनःप्रवृत्तियों तथा संवेगों द्वारा नहीं, अपितु विवेकशील बुद्धि द्वारा होना चाहिए। इससे, एकता, क्रम तथा नियम की प्राप्ति होती है ; मनोभावनाओं में, अनेकता तथा विभेद और एक दशा से दूसरी दशा में अविवेकपूर्ण भटकना होता है।

वस्तुओं की असंतोषजनक स्थिति, केवल रीति-रिवाज के नियम से व्यक्त होने वाली दशा से, अनुभव का तादात्म्य स्थापित करने के आधार को खोजने के लिए, बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। बढ़ते हुए व्यापार तथा आवागमन, उपनिवेशों, प्रवासों तथा युद्धों ने, बौद्धिक क्षितिज को अधिक विस्तृत कर दिया था। विभिन्न सम्प्रदायों के रीति-रिवाज तथा विश्वास, एक दूसरे से बिलकुल भिन्न पाए गए हैं। एथेंस में गृह-मतभेद एक साधारण बात थी—नगर का भाग्य विभिन्न दलों के संघर्ष पर निर्भर प्रतीत होता था। क्षितिज के विस्तार के साथ, अवकाश की वृद्धि से प्रकृति के अनेक तथ्य ज्ञात हुए तथा उससे उत्सुकता तथा विचार को उद्दीपन मिला। इस परिस्थिति से, प्रकृति तथा समाज के क्षेत्र में, किसी सार्वभौम तथा स्थाई वस्तु की परिस्थिति के बारे में प्रश्न उठा। विवेक ही वह शक्ति थी, जिसके द्वारा सार्वभौम सिद्धान्त तथा मूल-तत्त्व को समझा जाता हैं, जब कि इंद्रियाँ, परिवर्तन अर्थात् एक तथा स्थाई के विरोध के प्रत्यक्षीकरण के अंग हैं। अस्थाई तथा विषम स्मृति तथा कल्पना में और आदतों द्वारा प्राप्त कौशल में संप्रयुक्त इंद्रियों के कार्य द्वारा ही अनुभव का निर्माण होता है।

इस प्रकार अनुभव अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में, विभिन्न हस्त-कलाओं—शान्ति तथा युद्ध की कलाओं—में व्यक्त होता है। मोची, बाँसुरी बजाने वाले,

सैनिक, सभी को अपना कौशल प्राप्त करने के लिए अनुभव के अनुशासन से गुजरना पड़ता है। इसका यह अर्थ होता है, कि शारीरिक अंगों का, विशेषकर इंद्रियों का, वस्तुओं से अनेक वार सम्पर्क होता है तथा इन सम्पर्कों का परिणाम तव तक संगृहीत तथा सुरक्षित होता जाता है, जव तक पूर्व-दृष्टि तथा अभ्यास की योग्यता नहीं उत्पन्न हो जाती। 'व्यावहारिक' पद का यही मुख्य अर्थ था। इससे सिद्धान्तों की अन्तर्दृष्टि पर आधारित ज्ञान अथवा योग्यता का निर्देश नहीं होता; वल्कि अनेक पृथक् प्रयत्नों के परिणाम व्यक्त होते हैं। इससे अब 'प्रयत्न तथा भूल की विधि' कहे जाने वाले सिद्धान्त के भाव की, प्रयत्नों के लगभग प्रासंगिक स्वाभाव पर बल देकर, अभिव्यक्ति होती थी। जहाँ तक नियंत्रण तथा प्रबन्ध की योग्यता का प्रश्न है, वह केवल अनुकरण की प्रक्रिया, कार्यक्रम-निवद्ध क्रिया-मात्र होती थी। यदि नवीन परिस्थितियां, पुरानी स्थितियों के ही समान होतीं, तो यह पर्याप्त रूप से कार्य कर सकती—जितना ही वे असमान होतीं, असफलता की उतनी ही अधिक सम्भावना होती थी। आज भी किसी चिकित्सक को केवल 'अनुभवी' कहने का तात्पर्य होता है कि उसमें वैज्ञानिक प्रशिक्षण का अभाव है, तथा वह भूतकाल के अभ्यास के प्रासंगिक अवसरों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर चल रहा है। 'अनुभव' में विज्ञान अथवा विवेक के अभाव के कारण ही, इसे संतुलित बनाए रखना कठिन है। केवल अनुभव-जन्य ज्ञान रखने वाला चिकित्सक वड़ी सरलता-पूर्वक कठवैद्य की श्रेणी में आ जाता है। उसे इसका ज्ञान नहीं होता कि उसके ज्ञान का आदि और अन्त क्या है। इसीलिए जव वह अनुभूत परिस्थितियों से परे जाता है, तव वह वहाना करना प्रारम्भ कर देता है—ऐसी वातों पर भी दावा दिखाने लगता है, जिसका उसे समुचित ज्ञान नहीं, तथा भाग्य पर विश्वास करने तथा दूसरों पर प्रभाव डालने की योग्यता प्रदर्शित करने लगता है—वह 'धोखा' देता है। इसके अतिरिक्त वे यह मान लेते हैं कि चूंकि उन्होंने एक वात का ज्ञान प्राप्त कर लिया है; अतएव उन्हें दूसरी वातें भी मालूम हैं, जैसा कि एथेंस के इतिहास से प्रकट होता है। साधारण शिल्पकार, यह सोचता था, चूंकि उसे अपने व्यवसाय की विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान है, इसलिए वह घरेलू वातों, शिक्षा तथा राजनीति सभी में सफल हो सकता है। ऐसी दशा में अनुभव, विवेक द्वारा प्राप्त सत्य के वजाय वहाना, कृत्रिमता, संभाव्यता तथा प्रातिभासिकता के स्तर का होता है।

इस वस्तु-स्थिति से दार्शनिकों ने शीघ्र ही कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले। इंद्रियों

का सम्बन्ध कामनाओं, लालसाओं तथा इच्छाओं से होता है। उनका वस्तुओं की वास्तविकता पर कोई अधिकार नहीं होता, वल्कि वस्तुओं के उन सम्बन्धों पर होता है, जो उनका हमारे सुख-दुःख, लालसाओं की पूर्ति तथा शरीर के कल्याण से होता है। वे केवल शरीर के जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, जो कि ऊँचे जीवन का केवल स्थाई आधार-मात्र है। इस प्रकार अनुभव, निश्चित रूप से भौतिक अवयव होते हैं। यह शरीर के सम्बन्ध में भौतिक वस्तुओं से ही संबंधित है। दूसरी ओर, विज्ञान अथवा विवेक, अभौतिक, आदर्श, आध्यात्मिक बातें प्रदान करता है। अनुभव में कुछ नैतिक बुराइयाँ निहित हैं, जैसा कि विषय-वासना, भौतिक तथा सांसारिक इत्यादि शब्दों से प्रतिध्वनित होता है। जब कि शुद्ध विवेक तथा 'आत्मा' को नैतिक रूप से, परम महत्त्व का समझा जाता है। इसके अतिरिक्त अनुभव के साथ परिवर्तनशील क्षणभंगुर अनेकताओं, विषमताओं आदि के सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। इसकी सामग्री समवाय रूप से परिवर्तनशील तथा अविश्वसनीय होती है। यह अस्थाई होने के कारण अराजक होता है। जो व्यक्ति अनुभव पर विश्वास करता है, उसे यह पता नहीं होता कि वह किस बात पर निर्भर करता है; क्योंकि देश-देश तो क्या, व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक् तथा प्रतिदिन परिवर्तन हुआ करता है। इसके 'विविधता' तथा विभिन्न विशेषों के साथ के सम्बन्ध का भी यही परिणाम होता है; तथा इसमें पारस्परिक विरोध अन्तर्निहित होता है।

केवल एकत्व, समत्व से सर्व समन्वय, सुसंगति की प्राप्ति संभव है। व्यक्ति में स्वयं तथा विभिन्न व्यक्तियों में, अनुभव से, संघर्ष तथा कार्यों के भेद की उत्पत्ति होती है। अनुभव से विश्वास के किसी मानदण्ड की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विभिन्न विश्वासों को प्रोत्साहन देना तो अनुभव का स्वभाव ही है, जैसा कि स्थानीय रीति-रिवाजों की विविधिता से स्वयं सिद्ध होता है। इसका तार्किक अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति-विशेष के लिए वही वस्तु सद् तथा सत्य है, जिसे देश-काल-विशेष में, उसका अनुभव सद् तथा सत्य समझता है।

अंततः अभ्यास भी अनुभव के अन्तर्गत ही आता है। आवश्यकताओं से ही क्रियाओं की उत्पत्ति होती है तथा इसका उद्देश्य परिवर्तन करना है। उपभोग का भी अर्थ परिवर्तन है। विविधता तथा परिवर्तन के सभी बुरे गुण इस प्रकार कर्म से संबंधित हैं। जबकि ज्ञान उतना ही स्थाई है, जितना कि इसका विषय। ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् किसी वस्तु को बौद्धिक तथा सैद्धांतिक रूप

से समझना, परिवर्तनीयता, संयोग तथा विविधता के क्षेत्र से परे होना है। सत्य में कोई अभाव नहीं होता। ऐंद्रिक विश्व की अस्त-व्यस्तता इसे नहीं छू पाती। यह 'नित्य' तथा सार्वभौम से संबंधित है। और अनुभव के संसार को केवल इसके तर्क के नियमों में रख कर ही नियंत्रित किया जा सकता है। इन्हीं के द्वारा यह स्थाई तथा व्यवस्थित बन पाता है।

निःसन्देह, यह कहना ठीक नहीं कि ये विभेद स्थाई रहे हैं। किन्तु, उन सबों ने मनुष्य के बाद के विचारों तथा उनके शिक्षा-संबंधी विचारों पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। गणितात्मक तथा तार्किक विज्ञानों की अपेक्षाकृत भौतिक की तथा इंद्रिय-ज्ञान तथा ऐंद्रिक पर्यवेक्षण की अवमान्यता स्थूल के बजाय भावात्मक प्रतीकों के उपभोग की अपेक्षा में ज्ञान को अधिक उच्च तथा महत्वपूर्ण समझने की भावना, किसी सामान्य सार्विक से निगमनात्मक विधि से अनुमानित विशेषों के अतिरिक्त अन्य विशेषों का तिरस्कार, शरीर की अवहेलना, बौद्धिकता के रूप में कलाओं तथा हस्त-कलाओं का गुणापकर्ष सभी ने अनुभव और विवेक अथवा व्यावहारिक तथा बौद्धिक के विभिन्न मूल्यों के इस विवेचन में शरण खोजी तथा स्वीकृति प्राप्त की। मध्यकालीन दर्शन में यह परम्परा चलती रही तथा इसे अधिक बल मिला। सत् के ज्ञान का अर्थ परम सत्ता अथवा ईश्वर से संबंध स्थापित करना, तथा इस संबंध के नित्यानन्द का आनन्द लेना था। मनुष्य का परम साध्य, परमसत्ता का चिन्तन था, कर्म जिसके अधीन है। अनुभव का संबंध सांसारिक, लौकिक तथा ऐहिक विषयों से समझा जाता था, जो व्यावहारिक रूप से निःसन्देह आवश्यक थे। किन्तु, ज्ञान की पारलौकिक वस्तुओं की अपेक्षा इनका महत्त्व कम था। यदि हम इस अंतःप्रेरणा के साथ यूनानी दार्शनिक परम्परा तथा रोमीय शिक्षा के साहित्यिक स्वरूप से उत्पन्न शक्ति को जोड़ दें तथा उसके साथ-ही-साथ विषयों के प्रति उन प्रतिमानों को भी जोड़ दें, जो अभिजात वर्ग को निम्नवर्ग से पृथक् करते थे, तो हम केवल शैक्षणिक दर्शनों ही में नहीं ; बल्कि उच्च शिक्षालयों में भी 'व्यावहारिक' के ऊपर बौद्धिक को बहुत दिन तक दिए गए महत्त्व की असाधारण शक्ति को बड़ी सरलतापूर्वक समझ जायेंगे।

अनुभव तथा ज्ञान का वर्तमान सिद्धांत

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, ज्ञान की विधि के रूप में प्रयोग का विकास, उपरोक्त विचार के पूर्ण परिष्कार को आवश्यक तथा सम्भव बनाता है ; किन्तु उसका वर्णन करने से पूर्व हमें १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में विकसित अनुभव तथा ज्ञान के सिद्धांत पर विचार करना है। सामान्य रूप से यह हमारे सम्मुख अनुभव तथा तर्क के संबंधों के मध्ययुगीन सिद्धांत का लगभग बिलकुल उल्टा चित्र प्रस्तुत करता है। प्लेटो के लिए अनुभव का अर्थ आदतों का निर्माण, अर्थात् भूतकाल के अनेक प्रयत्नों की निश्चित उत्पत्ति का सुरक्षण था। तर्क का अर्थ सुधार, प्रगति, नियंत्रण की वृद्धि का सिद्धांत था। तर्क के प्रति अनुरागी होने का अर्थ, परंपरा की सीमाओं को तोड़ कर वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करना था। आधुनिक सुधारकों के लिए परिस्थिति दूसरी थी। सामान्य नियमों, पूर्व वर्तमान धारणाओं का अर्थ या तो ऐसे शून्य रूपों से था, जिन्हें महत्त्व तथा प्रामाणिकता प्राप्त करने के लिए अनुभव, इन्द्रिय-निरीक्षणों द्वारा परिपूरित करने की अपेक्षा थी, अथवा केवल ऐसे कठिन पूर्व संस्कारों, अधिकारियों द्वारा प्रदान किए गए धर्म सिद्धान्तों से था, जो बनावटी थे तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के अधीन शरण पाते थे। पराधीनता के बंधनों को तोड़ कर ऐसी धारणाओं को प्राप्त करने की बड़ी आवश्यकता थी। जैसा कि बेकन ने कहा है—(वे) प्रकृति की पूर्व-दृष्टि प्रदान करते तथा केवल मानवीय विचारधाराओं को रखते तथा प्रकृति के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अनुभव का सहारा लेते। अनुभव का सहारा लेने से प्रामाणिक अधिकारियों का बंधन टूट गया, इसका अर्थ था, नवीन भावनाओं के लिए उदार भावना, प्राप्त भावों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने तथा उनके पारस्परिक संबंधों द्वारा उन्हें सिद्ध करने में निरत रहने के बजाय आविष्कार तथा अन्वेषणों में उत्सुकता। यह मन में पूर्व-प्राप्त भावों द्वारा डाले गए पर्दे से स्वतंत्र, वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने का उद्‌गार था।

यह परिवर्तन दो प्रकार का था। अनुभव का व्यावहारिक अर्थ जो प्लेटो के समय से चला आ रहा था, नष्ट हो गया। अब यह क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का रूप-मात्र नहीं रह गया; बल्कि किसी बौद्धिक तथा ज्ञानात्मक वस्तु का नाम बन गया। इसका अर्थ ऐसी सामग्री को समझने से था, जो तर्क के अभ्यास की पूरक तथा नियंत्रक हो। आधुनिक अनुभववादी दार्शनिकों तथा उनके विरोधियों द्वारा अनुभव केवल ज्ञान-प्राप्ति के रूपमात्र के अर्थ में लिया गया। प्रश्न केवल यह था कि यह कितना सुन्दर रूप है। परिणाम प्राचीन दर्शन में प्राप्त बुद्धिवाद से भी और अधिक वृहत्तर बुद्धिवाद हुआ (यदि इस शब्द का प्रयोग ज्ञान के अपने एकांतिक रूप में सबल तथा पूर्ण अभिरुचि को व्यक्त करने के लिए किया जाय)। अभ्यास को उतना ज्ञान के अधीन नहीं समझा जाता था, जितना कि उसे ज्ञान की अनुत्पत्ति अथवा उत्तर-प्रभाव समझा जाता था। एकमात्र शैक्षणिक परिणाम यह था कि शिक्षालयों से क्रियात्मक व्यवसाय निकाल दिए जायें। उन्हें केवल उस दशा में रक्खा जाय, जब कि वे शुद्ध उपयोगितावादी साध्यों की पूर्ति करें; अर्थात् अभ्यास द्वारा कुछ आदतों का निर्माण करें। दूसरे अनुभव में सत्य को वस्तुओं तथा प्रकृति पर आधारित करने की अभिरुचि से मन को केवल ग्रहणशील समझने की धारणा की उत्पत्ति हुई। मस्तिष्क जितना ही निष्क्रिय होगा, वस्तुएँ उस पर उतनी ही अधिक शुद्ध छाप बनाएँगी। ज्ञान की प्रक्रिया में ही यदि मस्तिष्क काम करेगा, तो वास्तविक ज्ञान दूषित हो जायगा; अर्थात् यह स्वयं अपने ही प्रयोजन की प्राप्ति में असफल होगा। महत्तम ग्रहणशीलता ही आदर्श थी।

चूँकि वस्तुओं द्वारा मस्तिष्क पर बनाई गई छापों को सामान्य रूप से संवेदना का पद दिया जाता था; इसलिए अनुभववाद संवेदनावाद का सिद्धांत बन गया—अर्थात् ऐसा सिद्धांत बन गया, जिसमें संवेदनात्मक संस्कारों को ग्रहण करने तथा उनका संबंध स्थापित करने को ही ज्ञान समझा जाता था। अनुभववादियों में सर्वाधिक प्रभावशाली जॉन लाक में हम इस संवेदनावाद को विभिन्न मनोभावों का परीक्षण अथवा उन्हें पृथक् करने, तुलना करने, अमूर्त तथा सामान्यीकरण करने की कतिपय मानसिक शक्तियों को मान लेने के कारण कुछ मन्द पाते हैं। ये शक्तियाँ इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री को निश्चित तथा व्यवस्थित रूपों में बदल देती हैं। जो अपने-आप नए भावों—जैसे नैतिक नियमों तथा गणित की मूलभूत धारणाओं—का भी विकास कर लेते हैं। किन्तु, बाद में आने वाले, विशेषकर फ्रांस के दार्शनिकों ने १८वीं शताब्दी के अंतिम काल में

इस सिद्धांत को अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया। वे विभिन्न मनोवेगों के परीक्षण तथा निर्णय को अन्य संवेदनाओं की सामूहिक उपस्थिति द्वारा हममें निर्मित विलक्षण संवेदनाएँ समझते थे। लॉक का कथन था—मस्तिष्क एक सादे कागज का टुकड़ा है अथवा ऐसा मोम का टुकड़ा है, जिस पर उत्पत्ति के समय कुछ भी अनुमुद्रित नहीं होता—(टैबुलारेसा)। जहाँ तक भावों की किसी अंतर्वस्तु का संबंध है, इसमें कुछ भी नहीं होता, किन्तु इसमें कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जो ग्रहण की गई सामग्री पर कार्य करती हैं। फ्रांसीसी उत्तराधिकारियों ने शक्तियों को भी निकाल दिया और उन्हें भी ग्रहण किए गए से ही निकाला।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि समाज-सुधार की विधि के रूप में शिक्षा की नवीन अभिरुचि में ही यह धारणा पल सकी है। प्रारम्भ करने के लिए मस्तिष्क जितना ही खाली प्राप्त होगा, हम उस पर उचित प्रभाव डाल कर उतना ही अधिक इच्छानुसार बना सकते हैं। इस प्रकार कदाचित् सर्वाधिक संगत विचारधारा के संवेदनवादी हेल्वीटियस का विश्वास था कि शिक्षा कुछ भी कर सकती है—अर्थात् यह सर्वशक्तिमान है। शिक्षालय के निर्देश के अन्तर्गत, अनुभववाद का प्रत्यक्ष कार्य केवल पुस्तकों के अध्ययन का विरोध करना था। यदि ज्ञान प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा हममें बने संस्कारों से प्राप्त होता है, तो मस्तिष्क का अनुमुद्रण करने वाली वस्तुओं के प्रयोग के बिना ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। शब्द तथा सभी प्रकार के भावात्मक प्रतीक, उन वस्तुओं के पूर्व-प्रस्तुतिकरण के अभाव में, जिनसे उनका संबंध स्थापित किया जा सके, अपने स्वयं के रूप-रंग की संवेदनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रदान करते, निश्चिय ही कोई बहुत अधिक शिक्षात्मक ज्ञान नहीं है। पूर्णरूप से परंपरा तथा अधिकारियों पर आधारित सिद्धांतों तथा मतों का विरोध करने का, संवेदनवाद अत्यन्त ही सरल शस्त्र है। इन सबों के लिए इसने परीक्षण प्रदान किया। वे वास्तविक वस्तुएँ कहाँ हैं, जिनसे यह भाव तथा विश्वास ग्रहण किए गए हैं। यदि ऐसी वस्तुएँ नहीं प्रस्तुत की जा सकीं, तो भावों की व्याख्या, अशुद्ध संबंधों तथा योगों के परिणाम के रूप में की गई। अनुभववाद ने प्रत्यक्ष अवयवों पर भी बल दिया—संस्कारों (अनुभूतियों के अर्थ में) को मुझमें—मेरे मस्तिष्क में बनना चाहिए ; ज्ञान के इस वैयक्तिक रूप से, प्रत्यक्ष साधन से हम जितना ही दूर जाएँगे, अशुद्धियों के साधन उतने ही अधिक तथा उत्पन्न होने वाला भाव उतना ही अधिक अस्पष्ट होगा।

जैसा कि आशा की जाती है, यह दर्शन अपने विधानात्मक पक्ष में निर्बल

था। निःसन्देह, प्रत्यक्ष वैयक्तिक परिचय तथा प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व, सिद्धांत के सत्य पर नहीं निर्भर था। शिक्षालयों में प्रयोग किए जाने पर वे अपना कार्य करेंगे, चाहे उनके कार्य करने की विधि का संवेदनात्मक सिद्धांत नितान्त अशुद्ध ही क्यों न हो। इतने तक तो कोई शिकायत नहीं; किन्तु संवेदनावाद पर बल देने से, प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करने की विधि पर भी प्रभाव पड़ा। और उन्हीं से पूरे-पूरे हित की प्राप्ति का विरोध हुआ। "वस्तु पाठ" ने केवल ऐंद्रिक क्रियाओं को पृथक् करके उसे अपने-आप में साध्य समझना शुरू किया। वस्तुएं जितनी ही पृथक् होंगी, उनके इन्द्रियात्मक गुण भी उतने ही पृथक् होंगे तथा ज्ञान की इकाई के रूप में इन्द्रिय-संस्कार भी उतने ही अधिक स्पष्ट होंगे। सिद्धांत केवल इस यांत्रिक पृथक्करण की दिशा में ही नहीं कार्य करता, जिससे केवल यही नहीं होता कि शिक्षा, इंद्रिय-अंगों का शारीरिक व्यायाम-मात्र (शारीरिक अंगों के किसी भी व्यायाम की तरह, किन्तु केवल ऐसा ही नहीं) बन जाती है; बल्कि विचार करने की उपेक्षा भी होती है। इस सिद्धांत के अनुसार इन्द्रिय-निरीक्षणों के संबंध में विचार की कोई आवश्यकता न थी। वास्तव में शाब्दिक रूप से इस सिद्धांत में विचार करना, केवल बाद में होने के अतिरिक्त और असम्भव हो जायगा; क्योंकि इसका कार्य केवल उन ऐंद्रिक इकाइयों को पृथक् करना तथा जोड़ना मात्र ही है, जो निर्णय के किसी योग के बिना ग्रहण की गई हैं।

वास्तव में इसीलिए, प्रयोगात्मक रूप से, केवल इन्द्रियात्मक आधार पर शिक्षा की कोई भी योजना, कभी भी व्यवस्थित रूप से प्रयोग में नहीं लाई गई। कम-से-कम शैशवावस्था के बाद के कुछ वर्षों में तो बिल्कुल ही नहीं। अपनी व्यक्त कमियों के कारण ही यह केवल 'बुद्धि प्रवण' ज्ञान (अर्थात् परिभाषाओं, नियमों, वर्गीकरणों तथा प्रतीकों द्वारा प्रदान किए जाने वाले संप्रयोग के रूपों का ज्ञान) की पूर्ति तथा शुष्क प्रतीकों को अधिक 'अभिरुचि' प्रदान करने की युक्ति-मात्र बन गया। ज्ञान के शैक्षणिक दर्शन के रूप में, संवेदनात्मक अनुभववाद के कम-से-कम तीन दोष हैं—(क) सिद्धांत का ऐतिहासिक महत्त्व केवल आलोचनात्मक था, इसने संसार तथा राजनैतिक संस्थाओं के बारे में तत्कालीन प्रचलित विश्वासों को नष्ट कर दिया। यह निश्चित, दृढ़, अनम्य धार्मिक अंधविश्वासों की आलोचना का विनाशकारी अंग था; किन्तु शिक्षा का कार्य निर्माणात्मक है, आलोचनात्मक नहीं। इसका कार्य प्राचीन विश्वासों का विनाश तथा उनका परिवर्द्धन नहीं; बल्कि प्रारम्भ से ही

नवीन अनुभवों को, यथासम्भव शुद्ध रूप में, बौद्धिक आदतों का रूप देना है। इस निर्माणात्मक कार्य के लिए, संवेदनावाद अत्यंत अयोग्य है। मन तथा बुद्धि के प्रति प्रतिचार होता है, प्रत्यक्ष भौतिक उद्दीपनों के प्रति नहीं। तथा अर्थ केवल किसी संदर्भ के संबंध में होता है, जो ज्ञान के इन्द्रिय संस्कारों का योग-मात्र समझने वाली किसी भी योजना में नहीं आता। जहाँ तक शैक्षणिक सम्प्रयोग का सम्बन्ध है, यह सिद्धांत या तो केवल भौतिक उत्तेजनाओं के महत्त्व की वृद्धि करता है अथवा पृथक्-पृथक् वस्तुओं तथा गुणों के संग्रह-मात्र को बल प्रदान करता है।

(ख) इससे जहाँ सीधे संस्कार-अनुमुद्रण में प्रत्यक्ष तथा वैयक्तिक होने का लाभ है, वहीं उसके क्षेत्र के सीमित होने की हानि भी है। घर के वातावरण की प्राकृतिक वस्तुओं का ऐसा प्रत्यक्ष परिचय करना, एक बात है, कि इन्द्रियों की पहुँच से बाहर के भूमि-खण्डों के भावों को वास्तविकता प्राप्त हो तथा ऐसा साधन प्राप्त हो कि बौद्धिक उत्सुकता जाग्रत हो ; किन्तु भौगोलिक ज्ञान का इसे आदि-अंत सब कुछ समझ लेना, अत्यन्त घातक रूप से सीमित दृष्टिकोण है। लगभग इसी प्रकार मटर की फलियाँ, जूते की कीलें, खिड़कियाँ इत्यादि संख्यात्मक संबंधों के ज्ञान की प्राप्ति में सहायक अवयवों के रूप में सहायक होती हैं ; किन्तु यदि केवल विचार के सहायक, अर्थात् अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के सहायक के रूप में प्रयुक्त होती हैं, तो ये गणितात्मक बुद्धि के विकास में बाधक होती हैं। वे इस विकास को एक निम्न स्तर, विशिष्ट भौतिक प्रतीकों के स्तर तक ही सीमित कर देती हैं। ठीक जिस प्रकार, मानव जाति ने गणना तथा गणितात्मक तर्क के उपकरणों के रूप में विशेष प्रतीकों का विकास किया ; क्योंकि संख्यात्मक प्रतीकों के रूप में उँगलियों का प्रयोग बाधक था। उसी प्रकार व्यक्ति को स्थूल से सूक्ष्म प्रतीकों की ओर विकास करना चाहिए। अर्थात् ऐसे प्रतीकों का उपार्जन करना चाहिए, जिनके अर्थ का ज्ञान, केवल धारणात्मक विचार द्वारा ही हो सकता है। प्रारम्भ से ही इन्द्रियों की भौतिक वस्तुओं में अनावश्यक निरति इस विकास को रोक देती है।

(ग) संवेदनात्मक अनुभववाद में मानसिक विकास का पूर्णरूप से अशुद्ध मनोविज्ञान निहित है। अनुभव वास्तव में, प्रवृत्यात्मक तथा प्रेरणात्मक क्रियाओं का उनकी वस्तुओं के साथ की प्रतिक्रिया का विषय है। यहाँ तक कि शिशु भी जिन बातों का अनुभव करता है, वह किसी वस्तु द्वारा अनुमुद्रित गुणों का निष्क्रिय ग्रहण-मात्र नहीं, अपितु उन प्रभावों को ग्रहण करता है, जो उठाने,

फेंकने, फाड़ने अथवा चूर-चूर करने इत्यादि किसी क्रिया, किसी वस्तु पर पड़ती है तथा फलस्वरूप वस्तु द्वारा जो प्रभाव क्रिया की दिशा पर पड़ता है। भौतिक रूप से (जैसा कि हम अधिक विस्तारपूर्वक देखेंगे) प्रयोगात्मक विषय के रूप में अनुभव की प्राचीन धारणा, संवेदनाओं के माध्यम से जानने की विधि के रूप की आधुनिक धारणा की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट है। अनुभव के अंतर्निहित क्रियाशील तथा स्नायुवीय अवयव की अपेक्षा, परम्परागत अनुभववादी दर्शन में सबसे अधिक भयंकर दोष है। वस्तु-पाठों के क्रम की अपेक्षा कोई भी अन्य वस्तु अधिक अरुचिपूर्ण तथा यांत्रिक नहीं है, जो कुछ करने में, प्रयोग करके किसी वस्तु के गुणों के बारे में जानने की स्वाभाविक मनोवृत्ति की उपेक्षा तथा जहाँ तक सम्भव होता है, परित्याग करते हैं।

इसके अनुसार यह व्यक्त है कि यद्यपि आधुनिक अनुभववाद द्वारा दिए गए अनुभव के दर्शन को जितनी स्वीकृति प्रदान की गई, उससे अधिक उसे प्राप्त हुई है। यह ज्ञान प्राप्त-प्रक्रिया का संतोषजनक दर्शन न दे सका। इसका शैक्षणिक प्रभाव केवल प्राचीन विषयों तथा विधियों के सांयोगिक परिष्कार के साथ, प्राचीन पाठ्य-क्रम में एक नवीन अवयव को स्थान दिलाने तक ही सीमित रहा। प्रत्यक्ष रूप से तथा चित्रों और चित्रात्मक वर्णनों द्वारा निरीक्षण को इसके द्वारा अधिक आदर मिला और इसने शाब्दिक प्रतीकात्मकता से संबंधित महत्त्व को कम कर दिया। किन्तु, इसका स्वयं का क्षेत्र इतना क्षीण था कि इसे इन्द्रिय के बाहर के विषयों की सूचना तथा ऐसे विषयों से परिपूरित होने की अपेक्षा थी, जो अधिक प्रत्यक्ष रूप से विचार को जागृत करते थे। परिणाम-स्वरूप, इससे सूचनात्मक और अमूर्त अथवा बुद्धिवादी विषयों के क्षेत्र को कोई क्षति नहीं पहुँची।

प्रयोग के रूप में अनुभव

इससे तो पहले ही परिचय कराया जा चुका है, कि संवेदनात्मक अनुभववाद में न तो आधुनिक मनोविज्ञान से न्यायसंगत सिद्ध किया हुआ अनुभव का भाव ही था और न आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा दिया गया ज्ञान का भाव ही। मनोवैज्ञानिक भाव के संबंध में यह क्रियात्मक प्रतिचार के प्राथमिक स्थान को नहीं स्वीकार करता, जो वस्तुओं को प्रयोग में लाता है तथा उपयोग से उत्पन्न परिणामों की खोज में उनके बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा मालूम होता है कि शिशु के ज्ञान प्राप्त करने की रीति का पाँच मिनट का भी निष्पक्ष निरीक्षण ही इस धारणा को निरर्थक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, कि वह ध्वनि, रंग तथा कठोरता आदि के पृथक् पूर्व तैयार गुणों के संस्कारों को निष्क्रिय रूप से ग्रहण करने में संलग्न है, क्योंकि यह दृष्टिगोचर होगा कि शिशु उपस्थित उद्दीपनों के प्रति उठाने, पकड़ने, पहुँचने आदि क्रियाओं द्वारा यह देखने के लिए कि ऐन्द्रिक उद्दीपन के मांसपेशीय प्रतिचार का क्या प्रतिफल होता है, प्रतिक्रिया करता है। यह भी दृष्टिगोचर होगा कि जिन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, वे पृथक्-पृथक् गुण नहीं, अपितु वे व्यवहार हैं, जिनकी किसी वस्तु से आशा की जा सकती है अथवा मनुष्यों तथा वस्तुओं में उत्पन्न वे परिवर्तन हैं, जिनके किसी वस्तु द्वारा उत्पन्न किए जाने की आशा की जा सकती है। दूसरे शब्दों में वह 'सम्बन्धों' का ज्ञान प्राप्त करता है। लाल रंग तथा ऊँचे स्वर की ध्वनि जैसे गुणों को भी, इनके द्वारा उत्पन्न होने वाली क्रियाओं तथा उन क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले परिणामों के आधार पर पृथक् करने तथा पहचानने की आवश्यकता पड़ती है। हम क्रियात्मक प्रयोग द्वारा यह पता लगाकर ही कि अमुक वस्तु क्या करेगी तथा उसके साथ क्या किया जा सकता है और क्या नहीं किया जा सकता, यह जान सकते हैं कि वह कठोर है अथवा कोमल। इसी प्रकार बालक, व्यक्तियों के बारे में यह पता लगाकर

ज्ञात प्राप्त करते हैं, कि कौन-सी प्रतिचारात्मक क्रियाओं को ये शुद्ध करते हैं तथा बालकों की क्रियाओं के उत्तर में वे क्या करेंगे। हमारे कार्यों के परिष्कार में कौन-कौन-सी वस्तुएं कार्य करनी हैं, (निष्क्रिय मस्तिष्क पर छाप बनाने के अर्थ में नहीं) जो कुछ क्रियाओं को आगे बढ़ाती हैं तथा अन्यों को रोकती तथा नियंत्रित करती है तथा नवीन परिवर्तनों के उत्पन्न करने में, हम उनके साथ क्या कर सकते हैं, इसी के योग से अनुभव का निर्माण होता है।

विज्ञान की विधियों से भी, जिनके द्वारा सत्रहवी शताब्दी से आज तक के हमारे विचारों में क्रांति उत्पन्न होती आई है, यही शिक्षा मिलती है। क्योंकि ये, ऐच्छिक नियंत्रण की परिस्थितियों में किए गए प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यूनानियों को यह व्यर्थ मालूम हुआ कि ऐसी क्रियाओं से, जैसे मोची के चमड़े में छेद करके सीने अथवा मोम, धागा और सुई का प्रयोग करने से संसार का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह तो लगभग स्वयंसिद्ध प्रतीत हुआ कि वास्तविक ज्ञान के लिए, हमें अनुभव से ऊपर विवेक से उत्पन्न होने वाली धारणाओं की शरण लेनी होगी। प्रयोगात्मक विधि के प्रयोग से यह स्पष्ट हुआ कि नियंत्रित परिस्थितियों में की गई ऐसी क्रियाएँ ही, ऐसी विधियाँ हैं, जिनके द्वारा प्रकृति के बारे में सफल भावों की प्राप्ति तथा उनका परीक्षण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह केवल ऐसी क्रियाओं को चलाने के लिए आवश्यक है; जैसे—किसी धातु पर कोई अम्ल, व्यापारिक परिणाम प्राप्त करने के बजाय, केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए डाला जाता है, ताकि उन सिद्धान्तों की प्राप्ति हो सके, जिन पर बाद के प्रकृति-विज्ञान निर्भर हैं। ऐंद्रिक-प्रत्यक्ष निस्संदेह अपरिहार्य थे; किन्तु प्राचीन विज्ञान की अपेक्षा, इंद्रिय-प्रत्यक्ष के स्वाभाविक अथवा परंपरागत रूप पर कम विश्वास किया जाता था। उन्हें अब ऐसा नहीं समझा जाता कि उनमें अपने-आप में सार्वभौम प्रकार के कुछ 'रूप' अथवा वर्ग हैं, जो इन्द्रियों के छद्मवेश में हों तथा जिन्हें विवेकपूर्ण विचार द्वारा दूर किया जा सके। दूसरी ओर सबसे पहला काम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आकड़ों को परिवर्तित करना तथा बढ़ाना, इन्द्रियों द्वारा ही दी गई वस्तुओं पर, दूरदर्शक यंत्र तथा दूरदर्शक यंत्र के तालों के साथ तथा हर प्रकार की प्रयोगात्मक युक्तियों के साथ कार्य करना है। इसे ऐसी विधियों से पूर्ण करने के लिए, जो नए भावों को उत्पन्न करेंगे, (जैसे परिमिति तथा सिद्धांत) प्राचीन विज्ञान में प्राप्त भावों की अपेक्षा और भी अधिक सामान्य भावों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु, इन सामान्य धारणाओं को, अपने-आप में ज्ञान प्रदान करने वाला नहीं समझा जाता। वे

प्रयोगात्मक अनुसन्धानों के संस्थापन, मंचालन तथा व्याख्या करने और उनके परिणामों को सूत्र-बद्ध करने के साधन थे।

तार्किक रूप से इसके परिणाम-स्वरूप अनुभव तथा ज्ञान का नवीन दर्शन प्राप्त होता है, जो अनुभव को तार्किक ज्ञान तथा व्याख्या के विरोध में नहीं रखता। अनुभव, भूतकाल में लगभग सांयोगिक रूप से किए गए कार्यों का केवल सारांश-मात्र नहीं है, अपितु यह हमारे साथ घटित घटनाओं तथा वस्तुओं के साथ हम जो कुछ करते हैं, उसको यथासम्भव सुझावों का (संकेत किए गए अर्थों के) उत्पादक तथा इन सुझावों की शुद्धि के परीक्षण करने का साधन बनाने के सन्दर्भ में जो कुछ किया जाता है, उसका सचेष्ट नियंत्रण है। जब परीक्षण अथवा प्रयोग, प्रवृत्ति अथवा परम्परा प्रभावित नहीं रह जाता, जब यह एक उद्देश्य द्वारा निर्देशित होता है, तथा प्रयत्न और विधिपूर्वक किया जाता है, तब यह न्याय-संगत—अर्थात् विवेकपूर्ण बन जाता है। जब वस्तुएँ हमारे ऊपर जो कुछ प्रतिक्रिया करती हैं तथा उनके द्वारा हम में जो परिवर्तन होते हैं, वे केवल सांयोगिक परिस्थितियों के विषय नहीं रह जाते, जब यह हमारे ही अपने पूर्व सप्रयोजन प्रयत्नों के परिणामों के रूप में रूपांतरित हो जाता है, तब यह विवेक पूर्णरूप से महत्त्वपूर्ण अर्थात् ज्ञानप्रदान करने वाला तथा शिक्षाप्रद बन जाता है। अनुभववाद तथा बुद्धिवाद का प्रतिवाद उन मानवीय परिस्थितियों का सहारा नहीं रह जाता, जिन्होंने इसे कभी अर्थ प्रदान किया था तथा इन्हें सापेक्षिक रूप से न्याय-संगत सिद्ध किया था।

इस परिवर्त्तन का शुद्ध व्यावहारिक तथा केवल बौद्धिक अध्ययन-विषयों के विरोध पर पड़ने वाला प्रभाव, स्वयं प्रकट है। विभेद अनिवार्य नहीं, अपितु परिस्थितियों पर निर्भर है, जो नियंत्रित की जा सकती हैं। व्यावहारिक क्रियाएँ बौद्धिक रूप से संकुचित तथा नगण्य हो सकती हैं। जहाँ तक वे यांत्रिक होंगी, अधिकारियों के आदेशान्तर्गत की जायँगी तथा केवल कतिपय बाह्य परिणामों को ही दृष्टि में रक्खेंगी, वे अवश्य ही ऐसी होंगी। किन्तु, बाल्यावस्था तथा युवावस्था, शिक्षालय का अध्ययन काल ही ऐसा समय है, जब उन्हें एक दूसरी ही भावना से किया जा सकना सम्भव है। हमारे पहले के अध्यापकों के विचार तथा बालोचित काम तथा खेलों से तार्किक रूप से व्यवस्थित विषय-सामग्री तक के शिक्षात्मक विषय, वस्तु-विषय के विकास के विवेचन को दुहराना अनुपयुक्त है। इस अध्याय के तथा पहले के अध्यायों के विवेचनों को, उन परिणामों को और अधिक अर्थ प्रदान करना चाहिए

१—स्वयं अनुभव में ही मौलिक रूप से मनुष्य तथा उसके प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के अंतर्निहित सक्रिय सम्बन्ध होते हैं। कुछ दशाओं में वातावरण की ओर से क्रिया में अगुवाई होती है, मनुष्य में परिवर्तन होते हैं, अथवा उसे अपने प्रयत्नों में कुछ अवरोधों तथा बाधाओं का सामना करना पड़ता है। दूसरी दशाओं में वातावरण की वस्तुओं तथा व्यक्तियों का व्यवहार, व्यक्ति की क्रियाशील मनोवृत्तियों को एक सफल परिणाम तक पहुँचाता है; इसलिए अंत में व्यक्ति में उत्पन्न परिवर्तन से वही परिणाम होते हैं, जिन्हें वह स्वयं उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। किसी व्यक्ति के साथ होने वाली घटना तथा उसके प्रतिचार में किए गए कार्य, वह अपने वातावरण के साथ जो कुछ करता है तथा प्रतिचार में अपने साथ जो कुछ करता है, उनमें जितने ही संबंध स्थापित होते हैं, इसके कार्य तथा आस-पास की वस्तुएँ उतना ही अधिक अर्थ ग्रहण करती हैं। वह स्वयं अपने तथा मनुष्यों और वस्तुओं के संसार, दोनों को ही समझना सीख जाता है। सप्रयोजन शिक्षा अथवा शिक्षालय के अध्ययन को ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए कि इस पारस्परिक प्रतिक्रिया से उन अर्थों का संग्रह उत्पन्न हो, जो इतने आवश्यक हैं, कि वे बदले में आगे के अध्ययन के साध्य बन जाते हैं (देखिए अध्याय ११), जैसा कि बार-बार स्पष्ट किया जा चुका है। शिक्षालय के बाहर क्रियाएँ ऐसी परिस्थितियों में की जाती हैं, जो सचेष्ट रूप से बुद्धि के कार्यों तथा प्रभावशाली बौद्धिक संस्कारों के निर्माण को प्रोत्साहन देने के अनुकूल नहीं बनाई गई हैं। जहाँ तक परिणामों का संबंध है, वे वास्तविक तथा महत्त्वपूर्ण होते हैं; किन्तु वे सभी प्रकार की परिस्थितियों द्वारा सीमित होते हैं। कुछ शक्तियाँ तो बिलकुल अविकसित तथा अनिर्देशित ही रह जाती हैं। अन्यों को केवल सांयोगिक तथा मनमौजी उद्दीपन ही प्राप्त होता है, तथा शेष अन्य शक्तियों को उद्देश्यों तथा शक्तिशाली प्रेरणा और अनुसन्धान भावना के मूल्य पर यांत्रिक कौशल को, आदतों का रूप प्रदान कर दिया जाता है। विद्यालय का कार्य यह नहीं है, कि वह बालक को क्रिया के वातावरण से दूसरे मनुष्यों के ज्ञान के आँकड़ों के पंगु अध्ययन के वातावरण में पहुँचा दे; बल्कि आपेक्षिक रूप से सांयोगिक क्रियाओं (अंतर्दृष्टि तथा विचार के संबंध के रूप में सांयोगिक) के वातावरण से उस वातावरण में उपस्थित करे, जिसमें ज्ञान के मार्ग-प्रदर्शन को ध्यान में रख कर क्रियाएँ चुनी गई हैं। इन सुधारी हुई विधियों का किंचित परीक्षण भी, जो स्वयं शिक्षा में प्रभावशाली सिद्ध हो चुकी हैं, यह व्यक्त कर देगा कि लगभग

सचेतन रूप से उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि की है, कि बौद्धिक विषय, क्रियात्मक कार्यों का विरोधी होने के बजाय व्यवाहारिक कार्यों को बौद्धिक बना देते हैं। अब केवल अधिक दृढ़ता के साथ इस सिद्धांत का ज्ञान प्राप्त करना ही अवशेष रह जाता है।

२—सामाजिक जीवन की अन्तर्वस्तु में होनेवाले परिवर्तन उस प्रकार की क्रियाओं के चुनाव को अत्यंत सरल बना देते हैं, जो विद्यालय के खेल तथा कार्यों को बौद्धिक बना देती हैं। जब कोई यूनानियों तथा मध्ययुग के लोगों के सामाजिक वातावरण को ध्यान में रखता है, जिसमें सफलतापूर्वक की जा सकने वाली व्यावहारिक क्रियाएं, अधिकांशतः यांत्रिक तथा बाह्य प्रकार की, और स्वरूप में दासोचित भी थीं, तब उसे यह जानकर आश्चर्य नहीं होता, कि शिक्षकों ने उन्हें बुद्धि के उपार्जन के लिए अयोग्य समझकर उनसे मुख फेर लिया। किन्तु, अब चूंकि घरेलू व्यवसाय, कृषि और औद्योगिक व्यवसाय तथा आयात-निर्यात एवं पारस्परिक संबंधों में भी प्रयोगात्मक विज्ञान का समावेश है, अतः स्थिति नितांत भिन्न है। यह सत्य है, कि आज उनमें संलग्न व्यक्तियों में से बहुतों को उस बौद्धिक अंतर्वस्तु का ज्ञान नहीं होता, जिस पर उनके व्यक्तिगत कार्य निर्भर है। किन्तु, यह तथ्य केवल इसका एक और भी अधिक कारण प्रदान करता है, कि विद्यालयों की शिक्षा को इन व्यवसायों में क्यों प्रयोग करना चाहिए, कि उसमें आने वाली पीढ़ी आज के अप्राप्य ज्ञान को भी प्रस्तुत कर सके तथा इस प्रकार लोगों को अंधे बने रहने के बजाय, बुद्धिमत्तापूर्वक अपने व्यवसायों को करने की योग्यता दी जा सके।

३—काम करने तथा ज्ञान प्राप्त करने के परंपरागत पृथक्करण को तथा केवल 'बौद्धिक' विषयों के परम्परागत आदर को प्रयोगात्मक विज्ञान के विकास से सर्वाधिक प्रत्यक्ष ठोकर लगी है। यदि इस उन्नति ने कुछ भी स्पष्ट किया है, तो वह यह है कि कार्य करने से उत्पादन के अतिरिक्त कोई भी वास्तविक ज्ञान अर्थात् फलोत्पादक समझ-जैसी कोई चीज नहीं है। तथ्यों का विश्लेषण तथा उनकी पुनर्व्यवस्था, जो ज्ञान की वृद्धि तथा व्याख्या की शक्ति एवं शुद्ध वर्गीकरण के लिए अपरिहार्य है, केवल मानसिक रूप से—अर्थात् सिर के अन्दर-ही-अन्दर नहीं प्राप्त की जा सकती। मनुष्यों को, जब वे किसी वस्तु की खोज करना चाहते हैं, तब वस्तुओं के साथ कुछ-न-कुछ क्रिया करनी होती है, उन्हें परिस्थितियों को बदलना पड़ता है। यही वह पाठ है, जो प्रयोगशाला की विधि प्रदान करती है तथा यही वह सीख है, जिसे सारी शिक्षा को ग्रहण करना है।

प्रयोगशाला ऐसी परिस्थितियों का अन्वेषण है, जिनमें प्रयत्न अथवा श्रम-प्रयोग केवल बाह्य रूप से उत्पादक-मात्र न हो कर बौद्धिक रूप से फल प्रदान करने वाला हो, यदि आज बहुत-सी दशाओं में इससे केवल प्रविधिक कौशल की एक और विशिष्ट प्रणाली की प्राप्ति होती है, तो उसका कारण यह है, कि यह आज भी अधिकांशतः केवल एक पृथक् साधन समझा जाता है। जिसका उपयोग तब तक नहीं किया जाता, जब तक कि विद्यार्थी इतनी आयु के नहीं हो जाते, कि वे इसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाते, और इतने पर भी वे अन्य अध्ययन-विषयों से घिरे रहते हैं, जिनमें परम्परागत विधियाँ बुद्धि को क्रिया से पृथक् करती हैं।

अध्याय का सारांश

यूनानी लोग अपने परंपरागत रीति-रिवाजों तथा विश्वासों द्वारा जीवन को नियंत्रित करने में बार-बार असफल होने के कारण दर्शन की ओर उन्मुख हुए, इसीलिए उन्होंने रीति-रिवाजों की कटु-आलोचना की तथा जीवन और विश्वास में अधिकार के अन्य साधनों की खोज की। चूँकि उन्होंने रीति-रिवाजों के साथ तादात्म्य स्थापित किया था, जो असंतोषजनक सिद्ध हो चुके थे; इसीलिए उन्हें विवेक और अनुभव में प्रत्यक्ष विरोध दृष्टिगोचर हुआ। विवेक को जितना ही महत्त्व दिया गया, अनुभव का उतना ही गुणापकर्ष हुआ। चूँकि अनुभव को जीवन की विशिष्ट तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों में, मनुष्य जो कुछ करता है तथा जो कुछ भोगता है, वही समझा गया था, इसलिए क्रिया का भी दार्शनिक अवमूल्यन हुआ। इस प्रभाव से उच्च शिक्षा में उन सभी विधियों तथा विषयों का महत्उत्कर्ष हुआ, जिनमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा शारीरिक का न्यूनतम प्रयोग होता था। आधुनिक युग का आरम्भ, इस दृष्टिकोण के विरोध में क्रांति से हुआ, जिसमें अनुभव को स्थान मिला। तथा केवल कथित बौद्धिक धारणाओं पर इस आधार से आक्रमण किया गया कि या तो उन्हें स्थूल अनुभवों के परिणामों द्वारा अनुपूरित होने की आवश्यकता पड़ती है अथवा वे केवल वर्ग की संस्थापित अभिरुचि तथा पूर्व संस्कार ही व्यक्त करते हैं और संरक्षण के लिए अपने को तर्क-सम्मत कहते हैं; किन्तु विभिन्न परिस्थितियों के कारण अनुभव को केवल अभिज्ञान के रूप में समझना पड़ा तथा इसके अनिवार्य, क्रियाशील, एवं संवेगात्मक पक्षों को और पृथक्-पृथक् 'संवेदनाओं' की निष्क्रिय ग्रहणशीलता के भाव को त्याग देना पड़ा; इसलिए नवीन सिद्धांत द्वारा उत्पन्न शैक्षणिक सुधार मुख्यतः

पूर्व विधियों की पुस्तकात्मकता को दूर करने तक ही सीमित रहा। इससे कोई संगत पुनर्व्यवस्था नहीं हुई।

इसी बीच, मनोविज्ञान, औद्योगिक विधियों तथा विज्ञान में प्रयोगात्मक विधि के विकास ने अनुभव की एक दूसरी धारणा को व्यक्त रूप से वांछनीय तथा संभव बना दिया है। यह सिद्धांत पुनः प्राचीन विचारकों के भाव को प्रतिपादित करता है, कि अनुभव प्राथमिक रूप से अभ्यासात्मक है, ज्ञानात्मक नहीं—अर्थात् क्रिया करने तथा उसके कारण परिवर्तन करने वाला विषय है; किन्तु प्राचीन धारणा यह स्वीकार करने के कारण रूपांतरित हो गई है, कि क्रिया को इस प्रकार निर्देशित किया जा सकता है, कि इसकी अंतर्वस्तु में वे सभी बातें आ जाएँ, जिनका विचारों द्वारा संकेत मिलता है, तथा जिसका परिणाम सुरक्षापूर्वक परीक्षित ज्ञान हो। इस प्रकार 'अनुभव'—संवेदनात्मक नहीं रह जाता और प्रयोगात्मक हो जाता है। 'विवेक' दूरस्थ तथा भावात्मक शक्ति-मात्र नहीं रह जाता, और इससे उन सभी साधनों का बोध होता है, जिनके द्वारा क्रिया को सार्थक बनाया जाता है। शैक्षणिक रूप से यह परिवर्तन, अध्ययन विषयों तथा शिक्षण-पद्धति की ऐसी ही योजना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका पिछले अध्यायों में विवेचन किया गया है।

२१

भौतिक तथा सामाजिक अध्ययन : प्रकृतिवाद तथा मानवतावाद

भौतिक तथा सामाजिक अध्ययन : प्रकृतिवाद तथा मानवतावाद

पाठ्य-क्रम में स्थान प्राप्त करने के लिए भौतिक-विज्ञान का, साहित्यिक अध्ययनों के साथ के संघर्ष का पहले ही उल्लेख हो चुका है। अब तक प्राप्त हल, तात्त्विक रूप से, यांत्रिक सामंजस्य-सा है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र, प्रकृति तथा मनुष्य को अपने-अपने विषय के रूप में स्वीकार करने वाले अध्ययनों में विभक्त हो जाता है। यह स्थिति, इस प्रकार शैक्षणिक मूल्यों के बाह्य समायोजन का उदाहरण प्रस्तुत करती है तथा प्रकृति के मानवीय विषयों के सम्बन्ध के दर्शन पर ध्यान को केन्द्रित कर देती है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि यह शैक्षणिक विभाजन, द्वैतवादी दर्शनों में परावर्तित होता है। 'मन' और संसार को स्थिति के दो स्वतन्त्र क्षेत्रों के रूप में समझा जाता है, जिसमें एक दूसरे से कुछ पारस्परिक सम्बन्ध-विन्दु जुड़े हैं। इस दृष्टिकोण से यह स्वाभाविक है कि स्थिति के प्रत्येक क्षेत्र के, उनसे सम्बन्धित पृथक् अध्ययन-विषयों का वर्ग हो। यह भी स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक अध्ययनों की वृद्धि पर आत्मा के क्षेत्र का अतिक्रमण करने वाले भौतिक-दर्शन की मनोवृत्ति उत्पन्न करने का सन्देह किया जा सकता है। शिक्षा का कोई भी सिद्धान्त, जो शिक्षा के वर्तमान समायोजन की अपेक्षा, अधिक संघटित क्रम पर विचार करेगा, उसे मनुष्य के प्रकृति के साथ के सम्बन्ध के प्रश्न का सामना करना पड़ेगा।

मानवीय अध्ययनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन यूनानी दर्शन इस समस्या को, इसके आधुनिक रूप में नहीं प्रस्तुत करता। निरसंन्देह सुकरात का यह मत जान पड़ता है कि प्रकृति का विज्ञान प्राप्य नहीं है, और न बहुत आवश्यक ही है। प्रमुख ज्ञातव्य बात मनुष्य का स्वभाव तथा लक्ष्य जानना है। इस ज्ञान पर ही गम्भीर महत्त्व की समस्त बातें, सभी नैतिक तथा सामाजिक सफलताएँ निर्भर हैं। प्लेटो ने मनुष्य तथा समाज के शुद्ध ज्ञान को प्रकृति की तात्त्विक विशेषताओं के ज्ञान पर निर्भर बना दिया है। उसका मुख्य ग्रन्थ 'रिपब्लिक' नैतिक नियमों और सामाजिक व्यवस्था तथा प्रकृति के तत्त्व-शास्त्र और विज्ञान, दोनों का ही ग्रन्थ है। चूँकि वह सुकरात के सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि नैतिक नियमों और सामाजिक व्यवस्था की उपलब्धि विवेकपूर्ण ज्ञान पर निर्भर है, इसीलिए उसे ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करना पड़ा। चूँकि वह इस भाव को स्वीकार करता है कि ज्ञान का चरम विषय, सद् अथवा मनुष्य के साध्य का अन्वेषण है, और चूँकि सुकरात की इस धारणा से वह संतुष्ट नहीं है कि जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारा अज्ञान है, इसलिए वह मनुष्य के सद् के विवेचन को, स्वयं प्रकृति के तात्त्विक सद् अथवा उसके साध्य के विचार के साथ जोड़ देता है। उस नियन्त्रक साध्य के ज्ञान से पृथक्, जो प्रकृति को नियम तथा एकत्व प्रदान करता है मनुष्य का साध्य निर्धारित करने का प्रयत्न असम्भव है। इस प्रकार, यह उसके दर्शन के लिए नितान्त संगत है कि वह साहित्यिक अध्ययनों (संगीत-शीर्षक के अन्तर्गत) को गणित और भौतिक-शास्त्र तथा तर्क एवं तत्त्व-शास्त्र के नीचे रखता है। किन्तु, दूसरी ओर प्रकृति का ज्ञान, स्वयं अपने आप में साध्य नहीं है। यह, सामूहिक तथा वैयक्तिक मानवीय कार्यों के नियम के रूप में स्थिति के प्रमुख प्रयोजन की ज्ञान-प्राप्ति का आवश्यक सोपान है। यदि हम आधुनिक शब्द-व्यंजना का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि प्राकृतिक अध्ययन अपरिहार्य हैं; किन्तु उन्हें मानवीय तथा आदर्श साध्यों के सहायक के रूप में होना चाहिए।

आगे बढ़ने पर अरस्तू, प्राकृतिक अध्ययनों की दिशा में और भी आगे जाता है। वह नागरिक सम्बन्धों को शुद्ध प्रज्ञात्मक जीवन के अधीन रखता है। मनुष्य का परम साध्य, मानवीय न होकर ईश्वरीय है, अर्थात् शुद्ध ज्ञान में भाग लेना है, जो दैवी जीवन का निर्मायक है। ऐसी ज्ञान-प्राप्ति का सम्बन्ध उस विषय से है, जो सार्वभौम तथा अनिवार्य हो। इसीलिए वह प्रकृति में नश्वर मानवीय वस्तुओं की अपेक्षा अधिक पर्याप्त तथा उत्कृष्टतम विषय-सामग्री पाता है। यदि हम यूनानी जीवन के विषय में दार्शनिकों के कथनों के विशेष विवरण में न जाकर उनके आशय को लें, तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वे प्राकृतिक तथ्यों के अन्वेषण तथा प्रकृति की सौन्दर्यात्मक आनन्दानुभूति में अत्यधिक अभिरुचि रखते तथा जिस सीमा तक समाज प्रकृति पर आधारित है तथा उसके नियमों से नियन्त्रित है, उसके प्रति उतनी ही गम्भीरतापूर्वक सजग थे, जिसके कारण प्रकृति तथा मनुष्य के संघर्ष पर वे विचार नहीं कर सकते थे, प्राचीन जीवन के उत्तरकाल में दो अवयवों में साहित्यिक तथा मानवीय अध्ययनों को ऊँचा उठाने का षड्यन्त्र किया। एक तो है संस्कृति का अत्यन्त संस्मरणात्मक तथा अनुकरणात्मक स्वरूप तथा दूसरा है रोमीय जीवन का राजनैतिक तथा आलंकारिक झुकाव।

सभ्यता में यूनानी सफलता स्वयं संजात थी, रोमीय तथा अलक्षेन्द्रीय सभ्यता विदेशी साधनों से संक्रांत हुई थी। परिणाम-स्वरूप वे लोग प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति तथा समाज की ओर देखने के बजाय साधन तथा प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उन ग्रन्थों की ओर जाते थे, जहाँ से इनकी उत्पत्ति हुई थी। शैक्षणिक सिद्धान्त तथा अभ्यास के लिए इसके परिणामों का संकेत करने के लिए हम हेंच के शब्दों को अवतारित कर सकते हैं—"यूनान ने एक ओर तो राजनैतिक शक्ति खो दी थी और दूसरी ओर उसके महान् साहित्य में दूसरे को हस्तान्तरित न की जा सकने वाली पैतृक सम्पत्ति वर्तमान थी.... इसलिए यह स्वाभाविक था कि वह लिखित शब्दों की ओर मुड़े, यह भी स्वाभाविक ही था कि लिखित शब्दों का अध्ययन वाणी में परावर्तित हो.... यूनानी संसार, बीती हुई पीढ़ियों के साहित्य तथा उपार्जित संवाद की उस आदत के परिचय पर बल देता था, जिसे उसी समय से शिक्षा कहा जाता है... हमारी स्वयं की शिक्षा इसी की सीधी परम्परा में आती है। इससे एक ऐसी परिपाटी चल पड़ी, जो लगभग सम्पूर्ण सभ्य संसार में अत्यन्त निकट के भूतकाल तक प्रचलित रही। हम प्रकृति की अपेक्षा साहित्य का अध्ययन इसलिए करते हैं

कि यूनानियों ने ऐसा किया था तथा इसलिए भी कि जब रोमीय लोग तथा उनके प्रान्तों के लोग अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते थे, तब यूनानी अध्यापकों की नियुक्ति और यूनानी मार्ग का अनुसरण करते थे[1] "।

रोमीय लोगों के तथाकथित व्यावहारिक रुझान का भी उसी दिशा में विकास हुआ। यूनानियों के लिखित भावों का सहारा ग्रहण करने के कारण, उन्होंने सांस्कृतिक विकास प्राप्त करने के लिए सीधा मार्ग ही नहीं अपनाया, बल्कि अपनी शासकीय बुद्धि के अनुरूप उसी प्रकार के शासन तथा विधियाँ भी उत्पन्न कीं; क्योंकि उनकी व्यावहारिक प्रतिभा प्रकृति की विजय तथा नियंत्रण की ओर नहीं, बल्कि मनुष्य की विजय और नियंत्रण की ओर थीं। मिस्टर हैच के उपरोक्त अवतरण के इस कथन में—कि हमने प्रकृति के बजाय साहित्य का अध्ययन किया है, यूनानियों तथा उनके शिष्य रोमियों ने भी ऐसा ही किया था—बहुत-सी बातें अन्तर्निहित हैं। बीच में आने वाली शताब्दियों के समय-विस्तार को जोड़ने वाली शृंखला कौन-सी है? इस प्रश्न से यह संकेत मिलता है, कि असभ्य यूरोप ने केवल बार-बार वृहत् रूप से तथा अधिक तीव्रता के साथ रोमीय स्थिति को दोहराया। इसको यूनानी-रोमीय सभ्यता का अध्ययन करना पड़ा। इसने संस्कृति का स्वयं विकास करने के बजाय उसे उधार ले लिया। इसके सामान्य भावों तथा उनके कलात्मक प्रस्तुतिकरण के लिए ही नहीं, बल्कि इसके नियमों के नमूनों के लिए भी इसने दूर-देशीय लोगों के ग्रन्थों का सहारा लिया। और युग की प्रधान धार्मिक अभिरुचियों से इसकी परम्परा की निर्भरता में वृद्धि हुई। अधिकारी ग्रन्थों के रूप में चर्च द्वारा स्वीकार किए गए ग्रन्थ, विदेशी भाषा में लिखित साहित्य के ग्रन्थ थे। प्रत्येक बात ने ज्ञान को भाषात्मक प्रशिक्षण तथा ज्ञानी व्यक्ति की भाषा को मातृभाषा के बजाय साहित्यिक भाषा बनाया।

जब तक हमें इसका ज्ञान न हो जाय कि इस विषय-सामग्री से द्वंद्वात्मक विधि का अनुसरण हुआ, तब तक हम इस तथ्य के पूर्ण विस्तार को न समझ सकेंगे। मध्ययुगीन दर्शन प्रायः ज्ञान के पुनरुत्थान के समय से निन्दनीय पद समझा जाता है; किन्तु इसका अर्थ केवल 'विद्यालय' तथा 'विद्यालय के लोगों' की विधि है। तात्त्विक रूप से, सत्यों के अधिकारी निकाय का संचरण करने के लिए

---

१ "The Influence of Greek Ideas and Usages upon the Christian Church." पृष्ठ ४३–४४

उपयुक्त अध्ययन तथा अध्यापन की विधियों की अत्यन्त प्रभावपूर्ण व्यवस्था के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है। जब कभी भी सम-सामयिक प्रकृति तथा समाज के बजाय साहित्य से अध्ययन की सामग्री प्राप्त होगी, तभी गवेषणा, आविष्कार तथा अन्वेषण के बजाय प्राप्त सामग्री की परिभाषा, विवेचन तथा व्याख्या करने की विधियां अपनाई जायेंगी। और मौलिक रूप से, जिसे हम मध्ययुगीन विचार-धारा कहते हैं, वह उन विधियों का पूर्ण रुचि के साथ किया हुआ संगत सूत्रनिवन्धन तथा संम्प्रयोग है, जो उस समय के लिए उपयुक्त होती हैं, जब शिक्षा की विषय-सामग्री, पहले से सूत्रबद्ध रहती है और ऐसी नहीं होती कि विद्यार्थी स्वयं उसकी खोज करे। जहां तक आज भी विद्यालय, पाठ्य-पुस्तकों द्वारा दी गई शिक्षा को ग्रहण करते हैं, और अनुसंधान तथा गवेषणा के बजाय अधिकारियों तथा पूर्व-निबद्ध सूत्रों से प्राप्त सिद्धान्तों पर निर्भर रहते हैं; उनकी विधियां मध्ययुगीन ही हैं तथा उनमें मध्ययुगीन दर्शन के सर्वोत्कृष्ट रूप की तार्किक परिशुद्धि तथा व्यवस्था भी नहीं है। विधि तथा कथन के ढीलेपन के अतिरिक्त एकमात्र अन्तर यह है कि अब भूगोल, इतिहास, वनस्पति-विज्ञान तथा नक्षत्र-विज्ञान इत्यादि ऐसे अधिकारी विषय साहित्य के अंश बन गए हैं, जिनके अध्ययन की आवश्यकता है।

परिणाम-स्वरूप यूनानी परम्परा उस विचारधारा में समाप्त हो गई, जिसमें मानवतावादी अभिरुचि प्रकृति में रुचि लेने का आधार बनाई गई तथा प्रकृति का ज्ञान मनुष्य के विशिष्ट मानवीय उद्देश्यों को सहायता देने के लिए प्रयुक्त हुआ। जीवन को प्रकृति से नहीं, अधिकारी वर्ग से सहायता मिली। इसके अतिरिक्त, प्रकृति को संदेहास्पद विषय समझा जाने लगा। इस पर विचार करना खतरों से खाली न था; क्योंकि यह मनुष्य को उन प्रलेखों की निर्भरता से दूर खींचता है, जिसमें जीवन के नियम अंकित हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति का ज्ञान, केवल निरीक्षण द्वारा ही हो सकता था। यह इंद्रियों का सहारा लेता है, जो शुद्ध अपार्थिव मन के विरोध में केवल भौतिक हैं तथा प्रकृति के ज्ञान की उपयोगिताएं केवल भौतिक तथा धर्मनिरपेक्ष हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्य के शारीरिक तथा सामयिक कल्याण से है, जब कि साहित्यिक परम्परा का सम्बन्ध उसके आध्यात्मिक तथा नित्य कल्याण से है।

प्रकृति में आधुनिक वैज्ञानिक अभिरुचि

पन्द्रहवीं शताब्दी की क्रान्ति से—जिसे ज्ञान का पुनरुत्थान अथवा 'जागरण' कहा जाता है—मनुष्य के वर्तमान जीवन तथा तदनुसार उसके प्रकृति के साथ के सम्बन्धों में नवीन अभिरुचि उत्पन्न हुई। यह इस अर्थ में प्रकृतिवादी था कि इसमें पार-प्राकृतिक (पार-लौकिक) अभिरुचि का विरोध हुआ। यह संभव है कि यह परिवर्तित दृष्टिकोण उत्पन्न करने में, शास्त्रीय यूनानी पैगान साहित्य के प्रभाव को अधिक आंका गया हो। निस्संन्देह यह परिवर्तन मुख्यतः सम-सामयिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था। किन्तु, इसमें भी सन्देह नहीं कि शिक्षित लोगों ने, नए दृष्टिकोण के साथ बड़ी उत्सुकता-पूर्वक वांछनीय अवलंब तथा प्रचलन-शक्ति प्राप्त करने के लिए यूनानी साहित्य की शरण ली थी। और बहुत अधिक सीमा तक, यूनानी विचार में यह अभिरुचि स्वयं साहित्य के लिए नहीं थी, अपितु उस भावना में थी, जिसमें यह व्यक्त हुआ था। यूनानी अभिव्यक्ति को अनुप्राणित करने वाली, मानसिक स्वतंत्रता तथा प्रकृति के क्रम और सौन्दर्य की भावना से, मनुष्यों में, उसी प्रकार स्वच्छंद रूप से निरीक्षण तथा विचार करने की मनोवृत्ति जागृत हुई। सोलहवीं शताब्दी के विज्ञान के इतिहास से यह व्यक्त होता है कि भौतिक प्रकृति के नवीन उत्पन्न होने वाले विज्ञानों को अधिकांश रूप से, अपने विकास के दृष्टिकोण, यूनानी साहित्य में नवीन अभिरुचि से प्राप्त हुए थे, जैसा कि विन्डलबैंड ने कहा है, कि प्रकृति का नवीन विज्ञान, मानवतावाद की संतान है। इस समय की सर्वप्रिय धारणा यह थी कि मनुष्य सूक्ष्म रूप में वही है, जो कि विश्वव्यापक रूप में है।

इस तथ्य से पुनः यह प्रश्न उठता है कि बाद में प्रकृति और मनुष्य कैसे पृथक् किए गए, और भाषा और साहित्य तथा भौतिक-विज्ञानों में विशिष्ट विभाजन कैसे उत्पन्न हुआ? इसके चार कारण दिए जा सकते हैं—(क) प्राचीन परम्परा, संस्थाओं में पूर्ण रूप से समा गई थी। राजनीति, कानून

तथा कूटनीति, अनिवार्य रूप से अधिकारी-साहित्य की शाखाएँ बनी रहीं, क्योंकि जब तक, जीव-विज्ञान को कौन कहे, भौतिक तथा रसायन-विज्ञान की विधियों का पर्याप्त विकास नहीं हो गया, तब तक सामाजिक विज्ञानों का विकास नहीं हुआ। अधिक अंशों तक यही इतिहास के लिए भी सत्य है। कुछ भी हो, भाषाओं की प्रभावशाली शिक्षा की विधियाँ पर्याप्त विकसित थीं, शास्त्रीय परम्परा की निष्क्रियता उनकी ओर थी। जिस प्रकार से साहित्य की, विशेषकर यूनानी साहित्य की अभिरुचि को, पहले-पहल मध्ययुगीन परम्परा पर व्यवस्थित विश्वविद्यालयों में स्थान नहीं ग्रहण करने दिया गया, उसी प्रकार, जब यह उसमें घर कर पाई, तो प्रयोगात्मक विज्ञानों का प्रभाव कम करने के लिए, यह प्राचीन ज्ञान के साथ हो गई। शिक्षक लोग कदाचित् ही विज्ञान में सुशिक्षित होते थे। जो लोग वैज्ञानिक विधि से भिज्ञ थे, वे स्वकीय प्रयोगशालाओं में परिषदों के माध्यम से कार्य करते थे, जिनसे अन्वेषणों का उत्थान हुआ ; किन्तु वे अध्यापन-संस्थाओं के रूप में व्यवस्थित न थीं। अन्ततः अभिजात-कुलीय परम्परा, जो भौतिक वस्तुओं, इन्द्रियों तथा हाथों को हेय दृष्टि से देखती थी, अब भी पर्याप्त प्रबल थी।

(ख) प्रोटेस्टैन्ट विप्लव के साथ धार्मिक शास्त्रार्थों तथा विवेचनों में अभिरुचि की अत्यन्त वृद्धि हुई। दोनों ही पक्षों से साहित्यिक प्रलेखों का अवलंबन हुआ। प्रत्येक पक्ष को उन ग्रन्थों का अध्ययन तथा व्याख्या करने की योग्यता के लिए लोगों को प्रशिक्षित करना था, जिनका अवलम्बन किया जाता था। ऐसे मनुष्यों के प्रशिक्षण की माँग, जो दूसरे पक्ष के विरोध में अपने चुने हुए धर्म की रक्षा कर सकें तथा प्रचार द्वारा दूसरे पक्ष के अतिक्रमण को रोक सकें, ऐसी थी कि यदि यह कहा जाय कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक व्यायामशालाओं तथा विश्वविद्यालयों के भाषात्मक प्रशिक्षण पर पुनर्जागृत धार्मिक अभिरुचि का अधिकार हो गया तथा उसे धार्मिक शिक्षा और शास्त्रार्थ के उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाने लगा, तो अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार आज की शिक्षा में पाया जाने वाला भाषा का भाव सीधे ज्ञान के पुनरुत्थान से नहीं, अपितु इसके धार्मिक साध्यों के साथ के समायोजन से उत्पन्न हुआ है।

(ग) भौतिक विज्ञानों को ही इस रूप में लिया जाता था कि उससे मनुष्य तथा प्रकृति के विरोध को बल मिलता था। फ्रांसिस बेकन प्रकृतिवादी तथा मानवतावादी अभिरुचि की एकता का लगभग आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है। विज्ञान को, निरीक्षण तथा प्रयोग की विधियों को अपना कर, प्रकृति का पूर्व ज्ञान

प्रदान करने के प्रयत्न को, अर्थात् उस पर पूर्व-निश्चित धारणाओं को लागू करने के प्रयत्न को त्याग कर उसका साधारण व्याख्याकार बनना होगा। बौद्धिक रूप से प्रकृति का अनुसरण करके मनुष्य व्यावहारिक रूप से अधिकार करने का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। "ज्ञान शक्ति है।" इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य विज्ञान द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण करे तथा उसकी शक्तियों को अपने साध्यों की प्राप्ति की ओर मोड़े। बेकन ने प्राचीन ज्ञान तथा तर्क को अज्ञात के अनुसंधानों से नहीं, बल्कि वाद-विवाद में विजय पाने से सम्बन्धित केवल शास्त्रार्थात्मक बताया। विचार की नवीन विधि के द्वारा, जो उसके नवीन तर्क-शास्त्र में दी गई थी, अनुसंधानों के नवीन युग का अभ्युदय होने को था। तथा इन अनुसंधानों द्वारा मनुष्य की सेवा के लिए नवीन आविष्कारों को उत्पन्न करना था। उसने बताया कि मनुष्य को यह दूसरे पर अधिकार करने के व्यर्थ प्रयत्नों को छोड़कर, मानवता के कल्याण के लिए प्रकृति पर अधिकार करने के सहयोगी कार्य में संलग्न होना होगा।

तात्विक रूप से बेकन ने उत्तरकालीन प्रगति की दिशा की भविष्य-वाणी की; किन्तु उसने इस उत्थान का पूर्व-ज्ञान प्रदान किया। वह ऐसी कल्पना न कर सका कि नवीन विज्ञान का बहुत दिनों तक मानवीय शोषण के प्राचीन साध्यों के पोषण के लिए प्रयोग होगा। उसने सोचा था कि यह शीघ्र ही मनुष्य को नवीन साध्य प्रदान करेगा; किन्तु इसके बजाय उसने दूसरे वर्ग के मूल्य पर एक वर्ग को अपने शोषण के लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन प्रदान किया, जैसा कि उसने पहले ही अनुभव किया था। वैज्ञानिक विधि की क्रान्ति के बाद औद्योगिक क्रान्ति हुई। किन्तु नवीन विचार-धारा उत्पन्न करने के लिए, क्रान्ति को कई शताब्दियाँ लग रही हैं। सामंतवाद, नवीन विज्ञान के संप्रयोग से नष्ट हो गया; क्योंकि उसने भूमि-सम्बन्धी राज्य की शक्ति को औद्योगिक केन्द्रों में परिवर्तित कर दिया था। किन्तु, इसके स्थान पर सामाजिक मानवतावाद के बजाय पूँजीवाद आया। उत्पादन तथा वाणिज्य इस प्रकार बढ़ता गया—जैसे कि विज्ञान में कोई नैतिकता न हो; बल्कि उसमें केवल उत्पादन की मितव्ययिता तथा आत्मकल्याण के लिए ही बचत का उपयोग करने के ही विशिष्ट पाठ हों। स्वाभाविक रूप से भौतिक-विज्ञान के इस संप्रयोग से (जो कि सर्वाधिक स्पष्ट था) कथित मानवतावादियों के कथनों को बल मिला कि विज्ञान की मनोवृत्तियाँ भौतिक हैं। विशिष्ट मानव-कल्याण के सम्बन्ध में यह शून्य है। मानव-कल्याण सम्पत्ति के उत्पादन, बचाव तथा व्यय से परे है।

भाषाओं तथा साहित्य ने मानव-कल्याण के नैतिक तथा आदर्श पक्ष का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया।

(घ) इसके अतिरिक्त अपने को विज्ञान पर आधारित करने वाला दर्शन, जो विज्ञान के निश्चित महत्त्व को व्यक्त करने की प्रशंसा का पात्र बनता है, या तो स्वरूप में मन (मनुष्य के अर्थ में) तथा प्रकृति का निर्माण करने वाले पदार्थ के विशिष्ट विभाजन को व्यक्त करता है, इसलिए द्वैतवादी है ; अथवा मानव-जीवन की मुख्य विशेषताओं को भ्रामक बनाने के कारण व्यक्त रूप से यांत्रिक है। पहली अस्था में इसने कतिपय विषयों के अधिकारों को मानसिक मूल्यों के विशिष्ट मालग्राहियों के रूप में स्वीकार किया तथा अप्रत्यक्ष रूप से उनके उत्कृष्टता के दावे को बल प्रदान किया, क्योंकि मनुष्य कम-से-कम अपने लिए मानवीय विधियों को मुख्य महत्त्व की समझता है। दूसरी अवस्था में इससे एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, जिससे भौतिक-विज्ञान की महत्ता पर सन्देह तथा आशंका उत्पन्न हो गई और इसे मनुष्य की उच्च अभिरुचियों का शत्रु समझने का अवसर उपस्थित हुआ।

यूनानी तथा मध्ययुगीन ज्ञान ने विश्व को उसकी सभी विभिन्न विशेषताओं के साथ स्वीकार किया तथा प्रकृति की प्रक्रियाओं को ससाध्य अथवा प्रविधिक पद में उद्देश्यवादी समझा। नवीन विज्ञान की इस प्रकार से व्याख्या की गई कि सभी विशेषताओं की वास्तविकता अथवा वस्तुनिष्ठ स्थिति असिद्ध हो जाय। ध्वनियों, रंगों, साध्यों तथा हितों और अहितों को केवल व्यक्तिनिष्ठ अर्थात् केवल मन के संस्कारों के रूप में समझा गया। उस समय वस्तुनिष्ठ स्थिति को केवल मात्रात्मक पक्ष वाली, अर्थात् गति की विशिष्ट मात्रा के रूप में लिया जाता था। इसमें एक-मात्र अन्तर यह था कि एक स्थान पर दूसरे स्थान की अपेक्षा अधिक संयुक्त भार है तथा कुछ स्थानों पर दूसरे स्थानों की अपेक्षा गति की प्रगति तीव्र है। गुणात्मक विभेदों के अभाव में प्रकृति में महत्त्वपूर्ण विभिन्नताओं का अभाव समझा जाता था। विविधताओं के बजाय एकात्मकता पर बल दिया जाता था। आदर्श यह समझा गया कि सम्पूर्ण विश्व पर संप्रयुक्त होने वाले एक ऐसे गणितात्मक सूत्र का अन्वेषण किया जाय, जिससे इन्द्रिय-विषयक सत्ता की सभी प्रातिभासिक विविधताएँ प्राप्त की जा सकें। यांत्रिक दर्शन का यही अर्थ है।

ऐसा दर्शन विज्ञान के वास्तविक तात्पर्य को नहीं व्यक्त करता। यह स्वयं वस्तु के बजाय शिल्प को, वास्तविकता के स्थान पर उपकरण तथा शब्द-व्यंजना को तथा विषय-सामग्री के स्थान पर विधि को ग्रहण करता है। विज्ञान अपने

कथनों को केवल ऐसी परिस्थितियों तक सीमित कर लेता है, जो हमें घटनाओं की विशेषताओं की उपेक्षा कर केवल उनके घटित होने की भविष्यवाणी तथा उसका नियंत्रण करने के योग्य बनाती हैं। इसीलिए इसका स्वरूप केवल यांत्रिक तथा मात्रात्मक है। किन्तु, यदि उन्हें छोड़ दिया जाय, तो यह उन्हें वास्तविकता से पृथक् नही करता, न उन्हें केवल मानसिक क्षेत्र को ही सौंप देता है ; यह केवल साध्यों के लिए उपयोग किए जा सकने वाले साधन उपस्थित करता है। इस प्रकार जहां विज्ञान का विकास वास्तव में प्रकृति के ऊपर मनुष्य की शक्ति को बढ़ा रहा था, मनुष्य को अपने वांछित साध्यों को पहले की अपेक्षा अधिक स्थाई आधार पर रखने तथा लगभग स्वेच्छापूर्वक अपनी क्रियाओं को बढ़ाने के भी योग्य बना रहा था। उस दर्शन ने विश्व को स्थान में जड़ तत्त्व के निरुत्पादक तथा नीरस पुनर्वितरण तक ही सीमित कर दिया, जो इनकी पूर्ति को सूत्रबद्ध करने का दावा करता था। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान का तात्कालिक प्रभाव यह था कि इससे मन तथा पदार्थ के द्वैतवाद को बल मिला तथा उससे भौतिक तथा मानवीय अध्ययन विषयों को दो असम्बन्धित वर्गों में रक्खा गया। चूंकि सद् और असद् का अन्तर अनुभव के गुणों से सम्बद्ध है, किसी भी विज्ञान का दर्शन, जो उन्हें अपनी वास्तविक अन्तर्वस्तु में नहीं रखता, वह मानव जाति के लिए सर्वाधिक अभिरुचिपूर्ण तथा परमावश्यक तत्त्वों को न अपना सकेगा।

वर्तमान शैक्षणिक समस्या

वास्तव में अनुभव में मानव से सम्बन्धित बातों तथा केवल यांत्रिक भौतिक संसार का कोई विभाजन नहीं है। मनुष्य का घर प्रकृति है; उसके प्रयोजन तथा उद्देश्य अपनी पूर्ति के लिए प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। ऐसी परिस्थितियों से पृथक् हो जाने पर वे केवल शून्य स्वप्न तथा कल्पना के निरर्थक भाव मात्र बन जाते हैं। मानव अनुभव, तथा इसीलिए शैक्षणिक प्रयत्न के दृष्टिकोण से कोई भी अन्तर जो मनुष्य तथा प्रकृति में न्याय-संगत रूप से उत्पन्न किया जा सकता है, वह हमारे व्यावहारिक उद्देश्यों के निर्माण तथा प्राप्ति में अपनाई जाने वाली परिस्थितियों तथा स्वयं उद्देश्यों का अन्तर है। यह दर्शन, जीव-शास्त्र के विकास-सिद्धांत से पुष्ट होता है, जो यह दिखाता है कि मनुष्य प्रकृति की प्रक्रियाओं में बाहर से प्रवेश करने वाला प्राणी नहीं है, वह इसके क्रम में ही आता है। विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि द्वारा यह पुनः पुष्ट होता है, जो यह स्पष्ट करती है कि ज्ञान, सामाजिक उपयोगों के लिए, प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करने में प्राप्त भावों के अनुसार भौतिक शक्तियों को निर्देशित करने के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। सामाजिक विज्ञानों—इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राज्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र, कहे जाने वाले अध्ययनों—का प्रत्येक अगला कदम यह व्यक्त करता है कि सामाजिक प्रश्नों को उसी सीमा तक विवेकपूर्ण रीति से सुलझाया जा सकता है, जहाँ तक हम आंकड़े एकत्रित करने, अनुमानों का निर्माण करने तथा कार्य में उनकी परीक्षा करने की विधि का प्रयोग करते हैं, जो भौतिक-विज्ञान की विशेषता है, और जहाँ तक हम सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए भौतिक तथा रसायन-शास्त्र द्वारा प्रदान किए हुए प्रविधिक ज्ञान का उपयोग करते हैं। पागलपन, मिथ्याचार, दरिद्रता, सार्वजनिक स्वच्छता, नगर-नियोजन, प्राकृतिक शक्तियों का संरक्षण तथा वैयक्तिक अभिरुचि को हानि पहुँचाए बिना, सार्वजनिक हित के लिए राजकीय साधनों का उपयोग करने जैसी कठिन समस्याओं के सुलझाने के लिए अपनाई गई सभी विधियाँ, हमारी महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रयोजनों की, प्राकृतिक-विज्ञान की विधियों तथा परिणामों की प्रत्यक्ष निर्भरता की प्रमाण हैं।

अतएव मानवीय तथा प्राकृतिक दोनों ही प्रकार के अध्ययनों के सम्बन्ध में, शिक्षा का प्रारम्भ इस घनिष्ट पारस्परिक निर्भरता से होना चाहिए। इसका उद्देश्य, प्रकृति के अध्ययन के रूप में विज्ञान को, मानवीय अभिरुचियों के प्रलेख के रूप में साहित्य से अलग रखना नहीं, अपितु विज्ञान तथा विभिन्न मानवीय अनुशासनों ; जैसे---इतिहास, साहित्य, अर्थ-शास्त्र तथा राज्य-शास्त्र इत्यादि दोनों का ही पारस्परिक विकास होना चाहिए। शिक्षा-अभ्यास के अनुसार, एक ओर विज्ञानों को केवल सूचना के प्रविधिक निकाय तथा भौतिक हस्त-प्रयोग के प्रविधिक रूपों तथा दूसरी ओर मानवीय अध्ययनों को पृथक्-पृथक् विषयों के रूप में पढ़ाने के प्रयत्न की अपेक्षा, यह समस्या अधिक सरल है ; क्योंकि दूसरी प्रणाली विद्यार्थियों के अनुभव में कृत्रिम विलगाव स्थापित कर देती है। विद्यालय से बाहर, मानव-कार्य के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में, विद्यार्थियों के समक्ष प्राकृतिक तथ्य तथा सिद्धान्त आते हैं। उन सभी सामाजिक क्रियाओं में, जिनमें उन्होंने भाग लिया है, उन्हें साधनों तथा तत्सम्बन्धी प्रक्रियाओं को समझना पड़ा था। इन घनिष्ठ सम्बन्धों के विच्छेद में, उन्हें विद्यालय में प्रारम्भ करने से, मानसिक विकास का क्रम टूट जाता है। विद्यार्थी अपने अध्ययनों में असाधारण अवास्तविकता का अनुभव करता है, उनमें अभिरुचि रखने की सामान्य प्रेरणा नष्ट हो जाती है।

सचमुच, इसमें सन्देह नहीं, कि शिक्षा के अवसर ऐसे होने चाहिए कि उन सब को, जिनमें विज्ञान की विशिष्ट योग्यता प्राप्त करने की शक्ति है, विकास का अवसर मिले तथा अपने जीवन के विशेष व्यवसाय के रूप में वे इसमें लग सकें। किन्तु, आज-कल विद्यार्थियों को प्रायः केवल पूर्व विशेषाध्ययन के परिणामों के अध्ययन---जिसमें सामग्री उसके दैनिक अनुभव से पृथक् होती है---से प्रारम्भ करने, अथवा विविध प्रकृति-अध्ययनों में ही चुनाव करने को मिलता है, जिसमें विषय-सामग्री अस्पष्ट रूप से प्रस्तुत की जाती है तथा किसी विशेष दिशा में नहीं ले जाती। कालेज के विद्यार्थियों को पृथक् की गई वैज्ञानिक विषय-सामग्री में शिक्षा देना, जैसा कि उस मनुष्य के लिए उपयुक्त है, जो एक दिए गए क्षेत्र में विशेषज्ञ बनना चाहता है, हाई स्कूल में भी प्रचलित है। हाई स्कूल में विद्यार्थी केवल उसी वस्तु का अधिक तात्त्विक विवेचन पाते हैं, जिसमें कठिनाइयों को सरल बना दिया जाता है तथा प्रकरणों को उनकी कल्पना की गई योग्यता के स्तर के अनुसार कम कर दिया जाता है। इस प्रणाली का कारण, सचेतन रूप से द्वैतात्मक दर्शन अपनाने के बजाय, परम्परा का अनुसरण

करने में है। किन्तु परिणाम वही होता है, जैसे कि यह भाव उत्पन्न करने का प्रयोजन हो कि जो विज्ञान प्रकृति का अध्ययन करते हैं, उनका मनुष्य से कोई सम्बन्ध तथा प्रतिक्रमात् मानवीय विज्ञानों का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं। विज्ञानों के अध्यापन की आपेक्षिक निष्प्रभावशीलता, उनके लिए, जो कभी भी वैज्ञानिक विशेषज्ञ नहीं बन जाते, उस अपरिहार्य पृथक्करण का परिणाम है, जो प्रविधिक रूप से व्यवस्थित विषय-सामग्री से अध्ययन प्रारम्भ करने से उत्पन्न होता है। यदि विद्यार्थी भ्रूण-वैज्ञानिक विशेषज्ञ होते, तो भी यह संदेहास्पद है कि यही प्रणाली सर्वाधिक प्रभावशाली है। यह विचार करते हुए कि अधिकांश विद्यार्थियों का विज्ञानों के अध्ययन से केवल उसके द्वारा अपनी मानसिक आदतों—अर्थात् उन्हें अधिक सतर्क, अधिक उदार विचारधारा की परीक्षात्मक स्वीकृतियों को अपनाने तथा इस प्रकार सुझाए गए तथा प्रस्तावित अनुमानों की परीक्षा करने वाला बनाने के लिए तथा अपने दैनिक वातावरण को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए सम्बन्ध है। यह निश्चय ही सर्वस्वीकृत है। किन्तु, प्रायः विद्यार्थी केवल ऐसा अल्प ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, जो वैज्ञानिक होने के लिए अत्यन्त छिछला तथा साधारण विषयों में संप्रयुक्त होने के लिए अत्यन्त प्रविधिक होता है।

वैज्ञानिक विषय-सामग्री तथा विधि में, इसे परिचित मानवीय अभिरुचियों से सम्बन्धित रखते हुए प्रगति प्राप्त करने के लिए साधारण अनुभव का उपयोग अब इतना सरल हो गया है, जितना पहले कभी न था। सभ्य समुदायों के सभी मनुष्यों के सामान्य अनुभव का औद्योगिक प्रक्रियाओं तथा परिणामों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो कार्य में विज्ञान के प्रयोग के ही रूप हैं। लेखन-सामग्री, कर्पण-यन्त्र, वाष्प-इञ्जन, गैसं-इञ्जन, स्वयं परिचालित इञ्जन, टेलीफोन, तार, विद्युतीय चालक इत्यादि अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में प्रत्यक्ष रूप से आते हैं। थोड़ी ही अवस्था में विद्यार्थी इन वस्तुओं से व्यावहारिक रूप से परिचित हो जाते हैं। उनके माता-पिता के व्यापारिक व्यवसाय, केवल वैज्ञानिक संप्रयोगों पर निर्भर ही नहीं हैं, बल्कि घरेलू कार्य, स्वास्थ्य-संरक्षण, बाहर देखे गए दृश्य, सभी में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ निहित हैं तथा सभी सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों में अभिरुचि उत्पन्न करते हैं। वैज्ञानिक-शिक्षा का व्यक्त, शैक्षणिक आरम्भ-बिन्दु, विज्ञान कहे जाने वाले विषयों का अध्यापन नहीं, अपितु निरीक्षण तथा प्रयोग का निर्देश करने के लिए, परिचित व्यवसायों तथा उपकरणों का उपयोग करना है, जब तक कि विद्यार्थी अपने परिचित

व्यावहारिक कार्यों में उन्हें समझ कर, कतिपय मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान न प्राप्त कर लें।

कभी-कभी यह प्रदत्त विचारधारा, कि इस प्रकार का अध्ययन, विज्ञान के 'शुद्ध' अध्ययन का, अर्थात् अमूर्त सैद्धान्तिक अध्ययन का क्रियाशील, वैज्ञानिक शरीरधारी तथ्यों के अध्ययन में अपकर्षण है, विभ्रम पर आधारित रहती है। वास्तव में, कोई भी विषय, जहाँ तक अपने अर्थ के यथासम्भव सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्र में समझा जाता है, सांस्कृतिक होता है। अर्थों का प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धों तथा संदर्भों के प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर है। किसी वैज्ञानिक तथ्य अथवा नियम को उसके मानवीय तथा भौतिक एवं प्रविधिक संदर्भ में देखना, इसके महत्त्व को बढ़ाना तथा इसे परिवृद्ध सांस्कृतिक महत्ता प्रदान करना है। इसका प्रत्यक्ष आर्थिक सम्प्रयोग, यदि आर्थिक का अर्थ धन-सम्बन्धी है, सांयोगिक तथा माध्यमिक तो है, किन्तु इसके वास्तविक सम्बन्धों का ही अंश है। आवश्यक बात तो यह है कि तथ्य को इसके सामाजिक सम्बन्धों—जीवन में इसके कार्य के सन्दर्भ—में समझा जाय।

दूसरी ओर 'मानवतावाद' का मौलिक अर्थ, मानव-कल्याण के विवेकपूर्ण भाव से परिपूरित होना है। अपने गम्भीरतम अर्थ में नैतिक अभिरुचि से तादात्म्य रखने वाला सामाजिक कल्याण, अनिवार्य रूप से परम महत्त्व का है। मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान, उसके भूतकाल की सूचना उसके लिपिबद्ध अभिलेखों के साहित्य का परिचय, उतनी ही प्रविधिक सम्पत्ति हो सकती है, जितना कि भौतिक सूक्ष्मताओं का संग्रह। मनुष्य विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न रह सकता है, जैसे धन उत्पन्न करना, प्रयोगशाला के हस्तप्रयोग में सरलता प्राप्त करना अथवा भाषात्मक विषयों के बारे में तथ्यों का संग्रह करना अथवा साहित्यिक कृतियों का कार्यक्रम निर्धारित करना इत्यादि। जब तक ऐसी क्रिया जीवन की काल्पनिक दृष्टि को विस्तृत करने में प्रतिक्रिया नहीं करती, यह बालकों के विभिन्न संलग्न कार्यों के स्तर पर ही होती है। इसमें क्रिया की आत्मा से विहीन केवल अक्षर-मात्र होते हैं। बड़ी आसानी से इसका अपकर्षण कंजूस के धन-संग्रह के रूप में हो जाता है, तथा व्यक्ति, जीवन में प्राप्त होने वाले अर्थों के बजाय, वह जो कुछ प्राप्त किए रहता है, उसी पर गर्व करता है। वही अध्ययन, शिष्ट अथवा मानवीय होते हैं, जो जीवन की महत्ताओं के सम्बन्ध की वृद्धि करते हैं और जो सामाजिक कल्याण की भावना तथा उसकी वृद्धि करने की योग्यता उत्पन्न करते हैं।

यूनानियों की मानवीय भावना, स्वयं-संजात तथा तीव्र थी ; किन्तु, इसका विस्तार-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। हेलेनीय वृत्त से बाहर का प्रत्येक व्यक्ति, असभ्य तथा संभव शत्रु होने के अतिरिक्त हर प्रकार से नगण्य समझा जाता था। विचारकों के सामाजिक निरीक्षण तथा विचार अत्यन्त सूक्ष्म थे ; किन्तु उनके ग्रंथों के एक शब्द से भी ऐसा संकेत नहीं मिलता, कि यूनानी-सभ्यता आत्म-सीमित तथा आत्म-निर्भर नहीं थी। प्रकट रूप से ऐसी कोई आशंका न थी, कि इसका भविष्य तिरस्कृत, बाह्य व्यक्तियों की दया पर निर्भर है। यूनानी समुदाय के अन्दर भी, तीव्र सामाजिक भावना इस तथ्य से सीमित थी, कि उच्च संस्कृति, दासता तथा आर्थिक कृषि-दासत्व—राज्य की स्थिति के लिए आवश्यक वर्गों—के आधार पर आधारित थी, जैसा कि अरस्तू का कथन है ; किन्तु ये राज्य का वास्तविक अंश न थे। विज्ञान के विकास से औद्योगिक क्रांति उत्पन्न हुई है, जिससे उपनिवेशों तथा वाणिज्य के द्वारा विभिन्न जातियों के लोग इतने निकट-संपर्क में आ गए हैं, कि कोई भी देश, चाहे वह अन्य देशों को कितनी ही हेय दृष्टि से क्यों न देखे, यह भ्रम अब नहीं बनाए रख सकता कि उसकी सभी क्रियाएँ पूर्ण रूप से अपने-आप में ही सीमित हैं। इसी क्रांति से कृषि-दासत्व का भी विनाश हुआ है। तथा इसी से कारखाने के संगठित मजदूरों के ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ है, जिन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त है तथा जो उद्योग के नियंत्रण में उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से हाथ बँटाने के अधिकारी हैं—इन अधिकारों को धनिकों में से अनेकों को सहानुभूतिपूर्ण ध्यान प्राप्त है, क्योंकि वे, वर्ग-विभेद के अन्तर के मिट जाने के कारण, कम भाग्यशाली वर्ग के निकट संपर्क में आ गए हैं।

इस दशा में यह सूत्रबद्ध किया जा सकता है, कि प्राचीन मानवतावाद ने अपने क्षेत्र से आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों को अलग कर दिया। परिणाम-स्वरूप यह एकांगी हो गया। ऐसी परिस्थितियों में, संस्कृति में अनिवार्य रूप से, वर्ग का बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ, जो सामाजिक नियंत्रण में प्रत्यक्ष था। संस्कृति के संबंध में ऐसी परंपरा, जैसा कि हम कह चुके हैं, अभिजात-कुलीन कहलाती है। यह मौलिक सर्वनिष्ठ अभिरुचियों के बजाय, एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् करने वाले तत्त्वों पर बल देती है। इसके मानदंड भूतकालीन होते हैं ; क्योंकि उद्देश्य संस्कृति के विस्तार-क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के बजाय, प्राप्त

तथ्यों को सुरक्षित रखना होता है ।

उद्योग को तथा जीविकोपार्जन से संबंधित बातों को महत्त्व देने से उत्पन्न परिष्कार, भूतकाल से प्राप्त संस्कृति के विरोधी होने के कारण, निन्दा के पात्र बनते हैं । किन्तु, विस्तृत शैक्षणिक दृष्टिकोण, औद्योगिक क्रियाओं को, बौद्धिक साधनों को जन-साधारण के लिए अधिक प्राप्य बनाने तथा उच्च साधन रखने वाले लोगों की संस्कृति को और अधिक ठोस बनाने के साधन के रूप में अपनाएगा । संक्षेप में जब हम, एक ओर विज्ञान तथा औद्योगिक विकास के तथा दूसरी ओर साहित्यिक तथा सौन्दर्यात्मक उपार्जन और अभिजात-कुलीन सामाजिक व्यवस्था के निकट संबंधों पर विचार करते हैं, तब हम प्रविधिक वैज्ञानिक अध्ययनों तथा परिशोधक साहित्यिक अध्ययनों के विरोध पर, पर्याप्त प्रकाश डाल पाते हैं । यदि समाज को सचमुच प्रजातंत्रात्मक होना है, तो हमें शिक्षा में इस विलगाव को दूर करने की आवश्यकता है ।

अध्याय का सारांश

मनुष्य तथा प्रकृति के बीच का दार्शनिक द्वैतवाद, अध्ययनों के प्रकृतिवादी तथा मानवतावादी विभाजन में परावर्तित होता है । इसमें मानवतावादी अध्ययनों को केवल भूतकाल के साहित्यिक ग्रन्थों तक ही सीमित कर देने की मनोवृत्ति होती है । यह द्वैतवाद यूनानी विचारधारा की विशेषता नहीं है । (जैसा कि कथित अन्य विशेषताएँ हैं ।) इसका अभ्युदय कुछ अंशों में तो इस तथ्य के कारण हुआ कि रोमनों तथा असभ्य यूरोप की संस्कृति, स्वयं-संजात उत्पत्ति न थी, बल्कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यूनान से ली गई थी तथा आंशिक रूप से इसका कारण यह है कि राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों, साहित्यिक प्रलेखों के माध्यम से संक्रमित, भूतकालीन ज्ञान के अधिकार की निर्भरता पर बल देती थीं ।

प्रारंभ में ही आधुनिक विज्ञान के अभ्युदय ने प्रकृति तथा मानवता के घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनः प्राप्त करने की भविष्यवाणी की थी, क्योंकि यह प्रकृति के ज्ञान को, मानव की प्रगति तथा कल्याण उत्पन्न करने के साधन के रूप में ग्रहण करता था । किन्तु, विज्ञान के अधिक तात्कालिक संप्रयोग, मनुष्यों के सर्वनिष्ठ कल्याण के बजाय एक वर्ग के कल्याण के लिए थे । और वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्राप्त दार्शनिक सूत्र या तो इसे आध्यात्मिक तथा अभौतिक रूप में मनुष्य से इसे केवल भौतिक कहकर पृथक् करते हैं, अथवा

मन को केवल व्यक्तिनिष्ठ भ्रम-मात्र कहते हैं। इसी के अनुसार शिक्षा में, विज्ञान को, भौतिक संसार के सम्बन्ध में प्रविधिक सूचना रखने वाले अध्ययनों के पृथक् निकाय समझने तथा प्राचीन साहित्यिक अध्ययनों को विशेष रूप से मानवतावादी रूप में सुरक्षित रखने की मनोवृत्ति थी। ज्ञान के विकास तथा उस पर आधारित विषयों के शैक्षणिक क्रम का पहले दिया गया विवेचन इस विलगाव को दूर करने तथा मानव के विषय में भौतिक विज्ञानों की विषय-सामग्री को उचित स्थान तथा महत्त्व प्रदान करने के लिए किया गया है।

२२

व्यक्ति तथा जगत्

मन का शुद्ध वैयक्तिक रूप

अब तक हमारा संबंध उन प्रभावों से था, जिनके कारण कार्य तथा अवकाश, ज्ञान तथा कर्म और मनुष्य तथा प्रकृति का विभाजन उत्पन्न हुआ है। इन्हीं प्रभावों से शिक्षा की विषय-सामग्री, विभिन्न विषयों में विभक्त हो गई है। वे विभिन्न दर्शनों में सूत्रबद्ध भी हुए हैं, जिन्होंने शरीर तथा मन, सैद्धान्तिक ज्ञान तथा अभ्यास और भौतिक यंत्रवाद तथा आदर्श-प्रयोजन को एक दूसरे के विरोध में रक्खा है। दार्शनिक पक्ष में, इन विभिन्न द्वैतवादों का अन्त वैयक्तिक मनों के विश्व से पृथक् करने में हुआ है; इसीलिए ये एक दूसरे से भी पृथक् हैं। जहाँ शैक्षणिक प्रणाली से इस दार्शनिक स्थिति का संबंध उतना स्पष्ट नहीं है, जितना कि पिछले तीनों अध्यायों में विवेचित तथ्यों के संबंध हैं, वहाँ कुछ ऐसे शैक्षणिक विचार भी हैं, जो इसके अनुकूल हैं—जैसे, विषय-सामग्री (विश्व के प्रतिरूप में) तथा विधि (व्यक्ति के प्रतिरूप में) स्थित अनुमानित प्रतिवाद—जैसे अध्ययन की सामग्री के अनिवार्य सम्बन्ध से पृथक्, अभिरुचि को केवल स्वकीय समझने की मनोवृत्ति। उत्पन्न सांयोगिक शैक्षणिक प्रभावों के अतिरिक्त, इस अध्याय में यह दिखाया जाएगा, कि मन तथा विश्व के द्वैतवादी दर्शन में, ज्ञान तथा सामाजिक हित, वैयक्तिकता तथा स्वतंत्रता, और सामाजिक नियंत्रण तथा अधिकार के संबंधों की भ्रामक धारणा निहित है।

मन का व्यक्तिगत आत्मा, तथा इसका स्वकीय मनस-चेतना से तादात्म्य, आपेक्षिक रूप से आधुनिक है। यूनानी तथा मध्ययुग, दोनों में ही, व्यक्ति को ऐसा साधन मानने का नियम था, जिसके माध्यम से सार्विक तथा ईश्वरीय बुद्धि कार्य करती है। व्यक्ति वास्तविक रूप में ज्ञाता नहीं समझा जाता था, ज्ञाता तो 'विवेक' माना जाता था, जो उसमें कार्य करता है। व्यक्ति सत्य के निश्चितकर्त्ता के रूप में, इसकी आपत्ति में ही हस्तक्षेप करता है। जितना ही विवेक के बजाय 'व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता था', सत्य ज्ञान के बजाय उतना

ही मिथ्याभिमान, अशुद्धि तथा वैयक्तिक विचार को स्थानापन्न किया जाता था। यूनानी-जीवन में पर्यवेक्षण अत्यन्त सूक्ष्म तथा सतर्क था तथा विचार लगभग अनुत्तरदायी विचार की सीमा तक स्वतंत्र था। तदनुकूल सिद्धान्त के परिणाम केवल ऐसे थे, जो प्रयोगात्मक विधि के अभाव में उत्पन्न होते हैं। ऐसी विधि के बिना व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति में नहीं संलग्न हो सकते थे, तथा दूसरों के अनुसंधानों के परिणामों द्वारा अवरुद्ध हो जाते थे। दूसरों द्वारा परीक्षित होने के दायित्व के बिना, मनुष्यों के मन बौद्धिक रूप से उत्तरदाई नहीं बन सकते थे, परिणामों को केवल उनकी सौन्दर्यात्मक संगति, वांछनीय गुण, अथवा उनके लेखकों के सम्मान के कारण स्वीकार करना पड़ता था। असभ्य-युग में, व्यक्ति सत्य के प्रति की मनोवृत्ति में और भी अधिक संकुचित थे। महत्त्वपूर्ण ज्ञान को दैवी-शक्ति द्वारा व्यक्त किया हुआ समझा जाता था तथा व्यक्तियों के मनों के लिए, अधिकारी से प्राप्त ज्ञान की व्याख्या करने के अतिरिक्त और कुछ न शेष रह गया था। इन आन्दोलनों के अधिक सचेतन दार्शनिक पक्षों के अतिरिक्त, जहां कहीं भी विश्वास परंपरा द्वारा संक्रमिक होते हैं, किसी को भी व्यक्तिगत आत्मा से मन का तादात्म्य स्थापित करने की नहीं सूझती।

मध्य-युग में धार्मिक व्यक्तिवाद था। जीवन का गंभीरतम लक्ष्य वैयक्तिक आत्मा की मुक्ति था। उत्तर-मध्य-काल में यह अन्तर्निहित व्यक्तिवाद, नामवादी दर्शनों में सचेतन रूप से सूत्रबद्ध हुआ, जिनमें ज्ञान के स्वरूप को, व्यक्ति के अन्दर ही, उसके अपने ही कार्यों तथा मानसिक दशाओं द्वारा निर्मित माना गया। सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् आर्थिक तथा राजनैतिक व्यक्तिवाद के अभ्युदय तथा प्रोटेस्टेंटवाद के साथ, व्यक्ति के अपने लिए ज्ञान प्राप्त करने में, अधिकारों तथा कर्तव्यों पर बल दिए जाने का समय आया। इससे यह विचार-धारा उत्पन्न हुई कि ज्ञान पूर्णतया वैयक्तिक स्वकीय अनुभवों द्वारा प्राप्त होता है। परिणाम-स्वरूप, ज्ञान के स्रोत तथा धर्त्ता के रूप में मन को पूर्णरूप से वैयक्तिक माना गया। इस प्रकार शैक्षणिक पक्ष में हम, मांन्टेगनी, बेकन, लॉक जैसे शैक्षणिक सुधारक पाते हैं, जिन्होंने इसके बाद उस समस्त ज्ञान की कटु आलोचना कर समाप्त कर दिया, जो जनश्रुति से प्राप्त होता है। तथा निश्चयपूर्वक यह घोषित किया कि यदि विश्वास सत्य हों, तो भी जब तक वे वैयक्तिक अनुभव द्वारा परीक्षित होकर उसमें आत्मसात् न हो जाएँ, वे ज्ञान का निर्माण नहीं करते। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारियों के प्रति प्रतिक्रिया, कार्य तथा अनुसंधान

की स्वतंत्रता के लिए, कठिन अवरोधों के विरोध में आन्दोलन की तीव्रता से वैयक्तिक निरीक्षण तथा भावों को ऐसा बल दिया गया, जिसके परिणाम-स्वरूप मन को पृथक् कर के, इसे ज्ञेय विश्व से अलग रक्खा गया।

यह पृथक्करण दर्शन की उस शाखा के महान् विकास में व्यक्त हुआ, जिसे ज्ञान-शास्त्र--ज्ञान का सिद्धान्त कहते हैं। मन के आत्मा के साथ के तादात्म्य तथा आत्मा को स्वतंत्र तथा आत्म-पूर्ण मान लेने से, ज्ञाता मन तथा विश्व में ऐसा अन्तर उत्पन्न हो गया—यह एक समस्या बन गई कि ज्ञान कैसे संभव है ? ज्ञाता के रूप में व्यक्ति तथा ज्ञेय विषय के रूप में वस्तु के, पूर्ण रूप से एक दूसरे से पथक् होने के कारण एक ऐसे सिद्धान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता हुई, जिससे वे एक दूसरे के सम्बन्ध में आकर शुद्ध ज्ञान उत्पन्न कर सकें। यह समस्या तथा इससे संबंधित, विश्व के मन पर कार्य करने तथा मन के विश्व पर कार्य करने की संभावना की समस्या, दार्शनिक चिन्तन का पूर्ण विषय बन गई। हम मन पर निर्मित संस्कारों के अतिरिक्त, विश्व के वास्तविक सत्य को नहीं जान सकते, अथवा वैयक्तिक मन से परे विश्व की कोई स्थिति ही नहीं ; अथवा ज्ञान मन की अपनी दशाओं का विशिष्ट संबंध है, इत्यादि जैसे सिद्धान्त इसी चिन्तन से उत्पन्न हुए। हम प्रत्यक्ष रूप से इनकी शुद्धि से नहीं संबंधित हैं ; किन्तु यह तथ्य कि ऐसे निर्भीक हल पर्याप्त रूप से अपनाए गए, इस बात का प्रमाण है कि वास्तविक सत्ताओं के संसार पर मन को किस सीमा तक लगाया गया है। मन के पर्यायवाची के रूप में 'चेतना' पद का बढ़ता हुआ प्रयोग भी, इस कल्पना में कि प्रकृति तथा समाज के संबंध से स्वतंत्र, चेतन दशाओं तथा प्रक्रियाओं का आंतरिक विश्व है, तथा यह आंतरिक विश्व का ज्ञान अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत्य तथा अपरोक्ष है, इसी तथ्य का प्रमाण है। संक्षेप में, व्यावहारिक व्यक्तिवाद, अथवा कार्य में अधिक विचार-स्वातंत्र्य का आन्दोलन, दार्शनिक आत्मनिष्ठावाद के रूप में व्यक्त हुआ।

पुनर्व्यवस्था के अभिकर्ता के रूप में वैयक्तिक मन

यह तो स्पष्ट ही होना चाहिए कि इस दार्शनिक आन्दोलन में व्यावहारिक आन्दोलन के महत्त्व की भ्रामक भावना निहित है। इसकी अनुकृति होने के बजाय यह इसकी विकृति था। लोग, वास्तव में प्रकृति तथा एक दूसरे के सम्बन्ध से स्वतंत्र होने के प्रयत्न की मूर्खता में संलग्न नहीं थे; बल्कि प्रकृति तथा समाज 'में' अधिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। वे वस्तुओं तथा सहजीवी मनुष्यों के विश्व में परिवर्तन उत्पन्न करने की शक्ति, आन्दोलन का अधिक विस्तार-क्षेत्र, तथा परिणाम-स्वरूप आन्दोलन में निहित निरीक्षण तथा भावों की अधिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। वे विश्व से विलगाव नहीं, उससे और अधिक घनिष्ट सम्बन्ध चाहते थे। परम्परा के माध्यम से बनाने के बजाय वे वैयक्तिक रूप से सीधे इसके बारे में विश्वासों का निर्माण करना चाहते थे। वे अपने साथियों के साथ अधिक निकट की एकता चाहते थे, ताकि वे एक दूसरे पर और अधिक प्रभाव डाल सकें, तथा पारस्परिक उद्देश्यों के लिए अपने प्रयत्नों को एक साथ जोड़ सकें।

जहाँ तक उनके विश्वासों का संबंध है, वे यह अनुभव करते थे कि जिसे ज्ञान कहा जाता था, वह अधिकांश, केवल भूतकाल के वैयक्तिक मनोभावों का संग्रह मात्र था। इसमें बहुत कुछ तो असंगत था तथा शुद्ध अंश, अधिकारी के रूप में ग्रहण किए जाने के कारण ठीक तौर से समझे नहीं जाते थे। मनुष्यों को स्वयं निरीक्षण करके अकारण अपने सिद्धान्तों का निर्माण तथा व्यक्तिगत रूप से उनका परीक्षण करना चाहिए। रूढ़ि को सत्य के रूप में लादे जाने से बचने के लिए, अर्थात् ऐसी प्रणाली से बचने की यही एकमात्र विधि है, जो मन को सत्य की मौन-स्वीकृति के रूपात्मक कार्य तक ही सीमित कर देती है। यही उस कथन का अर्थ है, जिसे कभी-कभी 'अनिगमनात्मक विधि के स्थान पर ज्ञान की आगमनात्मक प्रयोगात्मक विधि' को स्थानापन्न करना कहा जाता है। कुछ अर्थों में मनुष्य सदैव अपने अपरोक्ष व्यावहारिक कार्यों में सदैव

आगमनात्मक विधि का उपयोग करता रहा है। स्थापत्य, कृषि तथा वस्तु-निर्माण इत्यादि को प्राकृतिक वस्तुओं की क्रियाओं के निरीक्षण पर आधारित करना पड़ता था, तथा ऐसे विषय के भावों को कुछ सीमा तक परिणामों द्वारा परीक्षित करना पड़ता था। किन्तु, ऐसी वस्तुओं में भी केवल परंपरा का अनावश्यक आधार अपनाया जाता था। उन्हें समझने के बजाय उनका अन्धा-अनुसरण होता था। तथा यह निरीक्षणात्मक प्रायोगिक विधि इन्हीं 'व्यावहारिक' विषयों तक सीमित थी। अभ्यास और सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा सत्य में विशिष्ट विभेद रक्खा गया। स्वतंत्र नगरों के अभ्युदय, यात्रा, अन्वेषण तथा वाणिज्य के विकास तथा व्यापार और सामग्री-उत्पादन की नवीन विधियों के उत्थान से, मनुष्य अत्यधिक रूप से अपने स्वयं के साधनों पर निर्भर हो गया। गैलेलियो तथा डेकार्टस-जैसे विज्ञान के सुधारकों तथा उनके अनुयायियों ने प्रकृति के तथ्यों का निश्चित कथन करने के लिए भी इसी प्रकार की विधियां अपनाईं। प्राप्त विश्वासों को 'सिद्ध करने' तथा उनकी व्यवस्था करने की अभिरुचि का स्थान अनुसंधान की अभिरुचि ने ले लिया।

इन आन्दोलनों की उचित दार्शनिक व्याख्या से, निस्संदेह, व्यक्ति के ज्ञान प्राप्त करने तथा वैयक्तिक रूप से विश्वासों का परीक्षण करने के उत्तरदायित्व तथा अधिकारों को बल मिला होता, चाहे वे किसी भी अधिकारी द्वारा प्रमाणित क्यों न स्वीकार किए गए होते; किन्तु, इसने व्यक्ति को विश्व से पृथक् न किया होता तथा फलस्वरूप, सिद्धांत में व्यक्ति एक दूसरे से पृथक् न होते। इससे यह व्यक्त हो जाता कि ऐसी असंबद्धता तथा ऐसे क्रम-विच्छेद से, उनके प्रयत्नों की असंम्भावना पहले ही स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में, सामाजिक माध्यम में ही प्रत्येक व्यक्ति बड़ा हुआ है तथा बड़ा होगा। उसके प्रतिचार, इसीलिए विवेकपूर्ण बन जाते हैं, अथवा अर्थ ग्रहण कर लेते हैं कि वह स्वीकृत अर्थों तथा महत्ताओं के माध्यम में रहता तथा कार्य करता है। सामाजिक आदान-प्रदान के माध्यम से, विश्वासों को व्यक्त करने वाली क्रियाओं में भाग लेकर, शनैः-शनैः क्रमशः उसके अपने 'मन' का निर्माण हो जाता है। 'मन' को केवल आत्मा की संपत्ति मानने की धारणा तो सत्य के प्रतिध्रुव पर ही है। जैसे-जैसे आत्मा के जीवन में वस्तुओं का ज्ञान अवतरित होता जाता है, आत्मा मन का उपार्जन करती है, तब आत्मा, अपने-आप नवीन ज्ञान का निर्माण करने वाला ऐकान्तिक मन नहीं रह जाती।

फिर भी, वस्तुनिष्ठ तथा परकीय ज्ञान और आत्मनिष्ठ तथा स्वकीय

चिन्तन में शुद्ध अन्तर है। एक भाव में ज्ञान वह है, जिसे हम सिद्ध रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यह निश्चित, सुव्यवस्थित, असंदिग्ध तथा नियंत्रित होता है। साधारण भाषा में, यह निश्चित तथा विश्वसनीय होता है। इसका अर्थ केवल निश्चयात्मकता की भावना-मात्र नहीं है। यह तीव्र मनोभाव का नहीं, बल्कि बिना किसी हिचक के कार्य करने की तत्परता, व्यावहारिक मनोवृत्ति का द्योतक है। निस्संदेह हम भ्रम में पड़ सकते हैं। जिसे किसी समय-विशेष में ज्ञान—तथ्य तथा सत्य—समझा जाता है, वह वास्तव में ज्ञान नहीं भी हो सकता। किन्तु, प्रत्येक विषय जो बिना संदेह के स्वीकार कर लिया जाता है, जिसे हमारे पारस्परिक तथा प्रकृति के आदान-प्रदान में स्वयंसिद्ध समझा जाता है, समय-विशेष में ज्ञान कहलाता है। दूसरी ओर चिन्तन अथवा विचार का आरंभ, जैसा कि हम देख चुके हैं, संदेह तथा अनिश्चयात्मकता से होता है। यह सिद्ध-हस्तता तथा अधिकार के बजाय, अनुसंधान, गवेषणा तथा अन्वेषण की मनोवृत्ति का द्योतक है। इसकी आलोचनात्मक प्रक्रिया में, वास्तविक ज्ञान का परिष्कार तथा परिवर्द्धन एवं विस्तार होता है तथा दशा-विषयक हमारी निश्चित धारणाओं की पुनर्व्यवस्था होती है।

व्यक्त रूप में, पिछली कुछ शताब्दियों का काल, विशेष रूप से विश्वासों के परिष्कार तथा पुनर्व्यवस्था का युग था। लोगों ने, सत्ता की वास्तविकताओं से संबंधित, सभी संक्रमित विश्वासों का परित्याग कर, अपनी स्वकीय संवेदनाओं तथा भावों के आधार पर, नवीन प्रयाण नहीं किया। यदि वे चाहते भी, तो ऐसा नहीं कर सकते थे। और यदि यह संभव होता, तो सामान्य जड़ता ही इसका परिणाम होती। लोगों ने कथित ज्ञान से प्रस्थान किया तथा इसके आधारभूत तत्त्वों का आलोचनात्मक अन्वेषण किया। उन्होंने अपवादों की खोज की, उस समय तक जिन तथ्यों पर विश्वास किया गया था, उनके असंगत आँकड़ों पर प्रकाश डालने के लिए नवीन यांत्रिक उपकरणों का प्रयोग किया। उस संसार से विभिन्न विश्व का अवधान करने के लिए अपनी कल्पना का प्रयोग किया, जिसमें उनके पूर्वज विश्वास करते आए थे। कार्य आंशिक रूप से टुकड़ों में बाँट कर होता था, एक समय में एक ही समस्या सुलझाई जाती थी। इन परिष्कारों के परिणाम-स्वरूप विश्व-सम्बन्धी पूर्व-धारणाओं में क्रांति उत्पन्न हुई, जिससे पूर्व-कालीन बौद्धिक आदतों की पुनर्व्यवस्था हुई, जो सभी सम्बन्धों से पृथक् किए जाने से उत्पन्न व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक सक्षम थी।

इन परिस्थितियों से ज्ञान में, व्यक्ति अथवा आत्मा के कार्य की परिभाषा,

अर्थात् स्वीकृत विश्वासों का पुनर्निर्देश तथा पुनर्निर्माण की प्राप्ति होती है। प्रत्येक नवीन भाव, स्वीकृत प्रचलित विश्वासों से भिन्न वस्तुओं की प्रत्येक धारणा का मूल स्रोत व्यक्ति ही है। निस्सन्देह, नवीन भाव तो सदैव उत्पन्न होते ही रहते हैं; किन्तु परम्पराओं द्वारा नियंत्रित समाज उनके विकास को प्रोत्साहन नहीं देता। दूसरी ओर यह उन्हें दमित करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि वे प्रचलित धारणाओं से भिन्न होते हैं। जो व्यक्ति वस्तुओं को अन्य लोगों से भिन्न दृष्टिकोण से देखता है, उस पर ऐसे समुदाय में बड़ा सन्देह किया जाता है, उसके लिए अपने विचारों पर दृढ़ रहना साधारणतया घातक सिद्ध होता है। जब विश्वासों का सामाजिक नियंत्रण इतना कठोर नहीं होता, तब भी यदि नवीन भावों को यथेष्ट रूप से विकसित होने देना है, तो वांछनीय उपकरणों को प्रस्तुत करने में सामाजिक परिस्थितियाँ असफल हो सकती हैं, अथवा वे, इन्हें स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के लिए, कोई भी आर्थिक सहायता अथवा पुरस्कार प्रदान करने में असफल हो सकती हैं। इसीलिए वे केवल मन की मौजें, कल्पना के हवाई महल, अथवा निरुद्देश्य विचारमात्र रह जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक आन्दोलन में निहित निरीक्षण तथा कल्पना की स्वतंत्रता सरलता से नहीं प्राप्त हुई, इनके लिए संघर्ष करना पड़ा था। बौद्धिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए बहुतों को दुःख सहना पड़ा था; किन्तु अन्त में आधुनिक योरोपीय समाज ने पहले जब इसकी स्वीकृति दी और तब कम-से-कम कुछ क्षेत्रों में वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को सचेष्ट प्रोत्साहन मिला। जो कुछ परम्परा स्वीकार करती है, ये उससे विलग होती हैं। अन्वेषण, गवेषणा, नवीन दिशाओं में अनुसन्धान तथा आविष्कार आदि अन्ततः या तो स्वयं सामाजिक परम्परा में आ गए, अथवा कुछ अंशों में वांछनीय मान लिए गए।

कुछ भी हो, जैसा कि हम पहले ही मान चुके हैं, ज्ञान के दार्शनिक सिद्धान्त, मन को व्यक्ति में स्थित ऐसी कीली मान कर संतुष्ट न थे, जो विश्वासों के पुनर्निर्माण का आधार हो और इस प्रकार प्रकृति तथा सहजीवी मनुष्यों के विश्व के साथ-साथ व्यक्ति की निरंतरता को बनाए रक्खा। उन्होंने वैयक्तिक मन को प्रकृति से विलग तथा इसीलिए अन्य मनों से भी विलग, प्रत्येक-व्यक्ति में पूर्ण एक पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार शुद्ध बौद्धिक व्यक्तिवाद, प्रगति के लिए अपरिहार्य, पूर्व-विश्वासों के आलोचनात्मक परिष्कार की मनोवृत्ति, व्यक्त रूप से नैतिक तथा सामाजिक व्यक्तिवाद के रूप में सूत्रबद्ध हुई। जब मन की क्रियाएँ, परम्परागत विश्वासों से प्रस्थान कर, उनमें रूपान्तर उत्पन्न करने का प्रयत्न करती हैं, जिन्हें बदले में सामान्य दृढ़ धारणाओं का रूप प्राप्त होता

है, तब वैयक्तिक तथा सामाजिक में कोई मतभेद नहीं होता। निरीक्षण, कल्पना, निर्णय तथा आविष्कार, केवल सामाजिक उन्नति के साधन हैं, जैसे कि आदतों का स्थायीकरण सामाजिक संरक्षण का साधन है ; किन्तु जब ज्ञान को व्यक्ति में ही उत्पन्न तथा विकसित होता हुआ माना जाता है, तब एक व्यक्ति के मानसिक जीवन को उसके सहजीवी अन्य व्यक्तियों के मानसिक जीवन से सम्बद्ध रखने वाले सम्बन्धों की उपेक्षा होती है तथा उन्हें अस्वीकार कर दिया जाता है।

जब व्यक्तिनिष्ठ बनाए गए मानसिक कार्यों की सामाजिक विशेषता को अस्वीकार कर दिया जाता है, तब व्यक्ति को उसके साथियों के साथ एकता के सूत्र में बांधने वाले सम्बन्धों को प्राप्त करना, एक समस्या बन जाता है। नैतिक व्यक्तिवाद जीवन के विभिन्न केन्द्रों के सचेष्ट पृथक्करण द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसकी मूल यह धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य की चेतना पूर्णरूपेण स्वकीय, आत्म-सीमित तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति के भावों, इच्छाओं तथा प्रयोजनों से अनिवार्य रूप से स्वतंत्र है ; किन्तु जब मनुष्य कार्य करते हैं, तब वे सर्वनिष्ठ तथा जन-साधारण के विश्व में ही क्रिया करते हैं। यही वह समस्या है, जो पृथक् तथा स्वतंत्र चेतन मनों के सिद्धान्त से उत्पन्न हुई। मान लिया कि व्यक्ति में भावनाएँ, भाव, इच्छाएँ इत्यादि हैं, जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं, तो उनसे उत्पन्न होने वाले कार्य कैसे सामाजिक अथवा जन-कल्याण में नियंत्रित होंगे ? केवल अहंवादी चेतना की स्थिति में, कैसे दूसरों के लिए किए गए कार्य सम्भव होंगे ?

ऐसी प्रस्तावनाओं से प्रारम्भ होने वाले नैतिक दर्शनों ने इस समस्या के सुलझाने में चार विशिष्ट रीतियों का विकास किया है : १—एक विधि ने प्राचीन अधिकारवादी स्थिति को उन परिवर्द्धनों तथा संधियों के साथ सुरक्षित रक्खा है, जिन्हें घटनाओं की प्रगति ने निरपेक्ष रूप से अपरिहार्य बना दिया। किसी व्यक्ति के अन्य मार्ग के अनुसरण तथा विलगाव को आज भी आशंकापूर्ण दृष्टि से देखा जाता है। सिद्धान्त में वे बाह्य अधिकारी पथ-प्रदर्शन से पृथक् व्यक्ति में समवायी उपद्रव, विद्रोह तथा भ्रष्टाचारों के प्रमाण हैं। वास्तव में सिद्धान्त से पृथक् बौद्धिक व्यक्तिवाद कतिपय प्रविधिक क्षेत्रों में वांछनीय रूप से स्वीकार किया जाता है ; जैसे—गणित, भौतिक-शास्त्र तथा ज्योतिष-जैसे विषयों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले प्रविधिक आविष्कारों में। किन्तु नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा राजनैतिक मामलों में इसी प्रकार की विधि की संप्रयुक्ति को नहीं स्वीकार किया जाता। ऐसे मामलों में आज भी रूढ़ि सर्व-शक्तिमान है ; प्रकाश्य अंतर्बोध हमारे पूर्वजों की प्रज्ञा द्वारा अभिज्ञात कतिपय नित्य सत्य, वैयक्तिक निरीक्षण

तथा विचार की अलंघ्य सीमाएँ निर्धारित करते हैं। उन बुराइयों को, जिनसे समाज दुःख भोगता है, उन पथभ्रष्ट व्यक्तियों के प्रयत्नों का परिणाम कहा जाता है, जो इन सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। भौतिक तथा नैतिक विज्ञानों के मध्य जीवन के माध्यमिक विज्ञान हैं, जिनमें निश्चित तथ्यों के दवाव के अन्दर ही अनुसन्धान की स्वतंत्रता को स्वीकार किया जाता है। यद्यपि भूतकाल के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि अनुसंधान की प्रक्रिया में ही निर्मित उत्तरदायित्व के विश्वास द्वारा मानव-हित की सम्भावनाओं का अधिक विस्तार हो जाता है तथा वे अधिक निश्चित वन जाती हैं ; फिर भी 'अधिकारी' सिद्धान्त सत्य के एक पुण्यक्षेत्र की स्थापना करता है, विश्वासों के परिवर्तनों के अतिक्रमणों से जिसकी रक्षा अनिवार्य है। शैक्षणिक रूप से, नित्य सत्यों पर बल नहीं भी दिया जा सकता है ; किन्तु यह पुस्तकों तथा अध्यापकों के अधिकार पर दिया जाता है। वैयक्तिक परिवर्तनों को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

२—दूसरी विधि को कभी-कभी विवेकवाद, बुद्धिपरतावाद अथवा अमूर्त्त बुद्धिवाद का पद दिया जाता है। इसमें परंपरा, इतिहास और हर प्रकार की मूर्त विषय-सामग्री से पृथक् रूपात्मक न्याय की शक्ति की प्रतिष्ठा की जाती है। विवेक की इस शक्ति में आचरण पर सीधे-सीधे प्रभाव डालने की शक्ति होती है। चूँकि यह पूर्णतया सामान्य तथा अवैयक्तिक रूपों का प्रयोग करती है, इसलिए जब विभिन्न व्यक्ति तार्किक अधिनियमों के अनुसार कार्य करते हैं, तब उनकी क्रियाएँ वाह्य रूप से संगत होती हैं। इस दर्शन द्वारा किए कार्यों के बारे में कोई संदेह नहीं। यह उन सिद्धान्तों की निषेधात्मक तथा ध्वंसात्मक आलोचना का प्रमुख शक्तिशाली अवयव था, जिनका परंपरा तथा वर्ग-कल्याण के अतिरिक्त और कोई आधार न था। इसने मनुष्यों को विवेचन की स्वतंत्रता तथा इस धारणा से परिचित बना दिया कि विश्वासों का न्याय-संगति के मानदंड द्वारा मूल्यांकन होना चाहिए। इसने मनुष्यों को तर्क, विवेचन तथा कार्य-प्रतिपादन का आदी वनाकर पूर्व-संस्कार, अन्धविश्वास तथा पशु-बल की शक्ति को कम कर दिया। इससे व्याख्या में स्पष्टता तथा क्रम आया ; किन्तु, इसका प्रभाव मनुष्यों में नवीन संबंध तथा परिषदों के निर्माण की अपेक्षा प्राचीन अशुद्धियों के मूलोच्छेदन में अधिक था। विवेक को विषय-सामग्री से पृथक्, अपने-आप में पूर्ण होने के कारण इसके रूपात्मक तथा शून्य स्वरूप, ऐतिहासिक संस्थाओं के प्रति इसके उपेक्षा के दृष्टिकोण, इसके आदत, मूल प्रवृत्ति तथा संवेग के जीवन में क्रियाशील अवयवों के रूप में प्रभाव के निरादर ने इसे विशिष्ट उद्देश्यों तथा विधियों के

सुझाव में शक्तिहीन बना दिया। केवल तर्क-शास्त्र, चाहे वह वर्तमान विषय-सामग्री के प्रबंध तथा आलोचना में कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, अपने भीतर से ही नवीन विषय-सामग्री का निर्माण नहीं कर सकता। शिक्षा में इससे संबंधित, सहमति प्राप्त करने के लिए, सामान्य, पूर्व-निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों में ऐसा विश्वास है, जिसमें इस पर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती, कि विद्यार्थियों के भाव आपस में मिलते हैं कि नहीं।

३—जब कि फ्रांस में यह बुद्धिवादी दर्शन विकसित हो रहा था, आंग्ल-चिन्तन, चेतना की पृथक्-पृथक् धाराओं से उत्पन्न होने वाले कार्यों में बाह्य एकता प्राप्त करने के लिए, व्यक्तियों की विवेकपूर्ण आत्म-अभिरुचि को उद्दीप्त कर रहा था। वैधिक प्रबंध, विशेषकर दंड विधायक प्रशासन तथा राजकीय नियंत्रणों को ऐसा बनाया गया था, कि अपनी स्वकीय संवेदनाओं के संबंध में उत्पन्न होने वाले कार्यों को दूसरों की भावनाओं में हस्तक्षेप करने से रोका जा सके। शिक्षा को व्यक्तियों में ऐसा भाव भरना था कि दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना तथा उनके हित का कुछ ध्यान रखना, उनके अपने सुख की सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। एक के आचरण को दूसरों के आचरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने के साधन के रूप में व्यापार पर मुख्य बल दिया जाता था। वाणिज्य में प्रत्येक का उद्देश्य अपनी माँगों की पूर्ति होती है, वह अपना लाभ केवल दूसरों को कोई सामग्री प्रदान करके, अथवा सेवा करके ही कर सकता है। इस प्रकार अपनी स्वयं की स्वकीय चेतना की आनंददायक दशाओं की वृद्धि के उद्देश्य की पूर्ति में वह, दूसरों की चेतना को भी योगदान देता है। पुनः, इसमें संदेह नहीं कि इस विचार-धारा में, चेतन जीवन की महत्ताओं के अतिवर्द्धित प्रत्यक्षीकरण को अभिव्यक्ति तथा बढ़ावा मिला, और यह स्वीकार किया गया कि संस्थात्मक प्रबंधों का मूल्यांकन अन्ततोगत्त्वा उनके उस योगदान से किया जाना चाहिए, जो वे चेतन-अनुभव की तीव्रता तथा उसके क्षेत्र-विस्तार की अभिवृद्धि में करते हैं। इसने कार्य, उद्योग तथा यांत्रिक-युक्तियों को उस तिरस्कार से बचाने में भी काफी योगदान दिया, जो अवकाशोपभोगी वर्ग के नियंत्रण में बने समुदायों में इन्हें प्राप्त हुआ था। दोनों ही प्रकार से, इस दर्शन ने, विस्तृत तथा अधिक प्रजातंत्रात्मक सामाजिक हित को प्रोत्साहन दिया। किन्तु, इसमें अपनी मौलिक प्रस्तावना की संकीर्णता निहित थी। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता था कि प्रत्येक व्यक्ति, केवल अपने सुख-दुःख को ध्यान में रखकर कार्य करता है, और तथाकथित उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण कार्य, केवल अपने आराम को उत्पन्न करने तथा निश्चित करने के अप्रत्यक्ष ढंग हैं।

दूसरे शब्दों में, इसने किसी भी ऐसे सिद्धान्त में समवायी परिणामों को व्यक्त कर दिया, जो सर्वनिष्ठ हितों के पुनर्निर्देश तथा पुनर्समायोजन का प्रयत्न करने के बजाय मानसिक जीवन को आत्म-सीमित बना देता है। इसने मनुष्यों की एकता को, बाह्य स्थित तथ्यों का गणितात्मक योग-मात्र बना दिया। इसीलिए यह कारलॉयल के ऐसे तिरस्कारपूर्ण कथनों का पात्र बना, कि यह केवल अराजक तथा सैनिक सिद्धान्त था, तथा इसने मनुष्यों में केवल आर्थिक-सम्बन्ध ही स्वीकार किया था। इस सिद्धान्त के शैक्षणिक संप्रयोग, तो आनन्दप्रद पारितोषिकों तथा दुःखद दंडों के प्रयोग में पर्याप्त स्पष्ट हैं।

४—विशिष्ट जर्मन-दर्शन ने दूसरे मार्ग का अनुसरण किया। यह देकार्ते तथा उसके फ्रांसीसी अनुयायियों के विवेकवादी दर्शन से प्रारंभ हुआ। किन्तु जहाँ कि फ्रांसीसी दर्शन ने, विवेक के भाव को, व्यक्तियों में स्थित ईश्वरीय मन की धार्मिक धारणा के विरोध में विकसित किया, जर्मन-विचार में (जैसे हीगेल में) दोनों का समन्वय हुआ। 'विवेक' निरपेक्ष होता है। प्रकृति विवेक का मूर्त रूप है। इतिहास मनुष्य में विवेक का प्रगतिशील उन्मेष है। कोई व्यक्ति विवेक-शील तभी बनता है, जब वह प्रकृति तथा सामाजिक संस्थाओं की विवेकात्मक अन्तर्वस्तु को अपने में आत्मसात् कर लेता है; क्योंकि निरपेक्ष विवेक, बुद्धिवाद के 'विवेक' की भाँति केवल रूपात्मक तथा शून्य नहीं होता, परम होने के नाते इसमें सभी अन्तर्वस्तुओं का समावेश है। इस प्रकार वास्तविक समस्या यह नहीं है कि कुछ सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन प्राप्त करने के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता का नियंत्रण किया जाए, अपितु वस्तुनिष्ठ 'विवेक' के रूप, राज्य की व्यवस्था में प्राप्त सार्विक नियम के अनुकूल वैयक्तिक विश्वासों को विकसित करके वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त करना है। वैसे इस दर्शन को सामान्यतया निरपेक्ष अथवा वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद कहा जाता है, किन्तु कम-से-कम यदि शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए, इसे संस्थात्मक आदर्शवाद कहा जाए, तो अधिक अच्छा हो। इसने ऐतिहासिक संस्थाओं को, अन्तर्व्यापी निरपेक्ष मन का मूर्त रूप मानकर, आदर्शवादी बना दिया। इसमें संदेह नहीं कि इस दर्शन ने, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, दर्शन को पृथक् व्यक्तिवाद से बचाने में, जिसमें यह फ्रांस तथा इंगलैंड में गिर गया था, बहुत बड़ा प्रभाव डाला। इसने राज्य की व्यवस्था को, जनकल्याण के विषयों में अधिक निर्माणकारी अभिरुचि से लगाने में भी सहयोग दिया। इसमें, संयोग, केवल वैयक्तिक तार्किक विश्वास तथा स्वकीय आत्म-अभिरुचि के कार्यों को कम स्थान मिला। कार्यों को अग्रसर करने में इसने बुद्धि को संप्रयुक्त किया

तथा राष्ट्रीय रूप से व्यवस्थित शिक्षा को सामूहिक राज्य में अभिरुचि लेने की आवश्यकता पर बल दिया। प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों की सभी प्रविधिक सूक्ष्मताओं के अनुसंधान की स्वतंत्रता को अनुमोदित कर उसका प्रवर्द्धन किया। किन्तु सभी चरम नैतिक विषयों में यह अधिकार के सिद्धान्त के पुनर्संस्थापन की ओर उन्मुख था। पूर्वकथित सभी प्रकार के दर्शनों से, इसने व्यवस्था की क्षमता की वृद्धि में अधिक योगदान दिया; किन्तु इस व्यवस्था के स्वतंत्र प्रयोगात्मक परिष्कार के लिए, इसने कोई अवसर नहीं प्रदान किया। अपने, वैयक्तिक इच्छा के अधिकार तथा समाज के मौलिक रचना-विधान के भी पुनर्संमायोजन में भाग लेने के प्रयोजन के विश्वास के साथ, राजनैतिक प्रजातंत्र, इसके लिए अप्रासंगिक था।

शैक्षणिक पर्याय

इन विभिन्न प्रकार के दर्शनों में पाए जाने वाले दोषों के शैक्षणिक पर्यायों पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक नहीं है। इतना कह देना ही पर्याप्त है, कि सामान्य रूप से शिक्षालय ऐसी संस्था होती है, जो सर्वाधिक स्पष्टता के साथ, ज्ञानार्जन की शुद्ध व्यक्तिवादी विधियों और सामाजिक कार्य्यों तथा स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के प्रतिवाद को प्रदर्शित करती है। यह प्रतिवाद, ज्ञानार्जन के सामाजिक वातावरण तथा प्रेरणा तथा शिक्षालय के कार्य में, शिक्षा-विधि तथा प्रबंध की विधियों से उत्पन्न पृथक्करण की अनुपस्थिति तथा वैयक्तिक परिवर्तनों को कम प्रदान किए अवसर में परावर्तित होता है। जब ज्ञानार्जन सक्रिय दायित्वों की एक अवस्था होती है, जिसमें पारस्परिक विनिमय होता है, तब सामाजिक नियंत्रण ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में ही सन्निहित होता है। जब सामाजिक अवयव अनुपस्थित होता है, ज्ञानार्जन, केवल किसी प्रस्तुत की गई सामग्री का शुद्ध वैयक्तिक चेतना में ले जाना मात्र बन जाती है, तब कोई ऐसा समवायी कारण नहीं होता, जिसके कारण यह मानसिक तथा संवेगात्मक संस्कारों को अधिक सामाजिक निर्देश दे।

शिक्षालय में स्वतंत्रता के समर्थक तथा विरोधी दोनों ही प्रकार के लोगों में, इसका सामाजिक निर्देश के अभाव अथवा कभी-कभी, केवल गति के भौतिक अविरोध से ही तादात्म्य स्थापित करने की मनोवृत्ति है। किन्तु, स्वतंत्रता की मांग का मूलतत्त्व, उन परिस्थितियों की आवश्यकता है, जो किसी व्यक्ति को समुदाय के हित में अपना विशेष योगदान देने तथा इसकी क्रियाओं में इस प्रकार से भाग लेने के योग्य बनाना है, कि सामाजिक पथ-प्रदर्शन उसकी अपनी मानसिक मनोवृत्ति का विषय हो और उसके अपने कार्यों का अधिकारी आदेश मात्र न हो। चूंकि साधारणतया अनुशासन तथा प्रबन्ध का संबंध बाध्य आचरण से ही लिया जाता है; इसीलिए, प्रतिक्रिया द्वारा उसी प्रकार का अर्थ, स्वतंत्रता के साथ भी जोड़ दिया जाता है। किन्तु, जब यह देखा जाता है कि प्रत्येक भाव, कार्य

में व्यक्त मन के गुण का द्योतन करता है, तब उनका कल्पित विरोध समाप्त हो जाता है। स्वतंत्रता का मौलिक अर्थ, सीखने में विचार अथवा चिन्तन का कार्य है, जो स्वकीय होता है। इसका अर्थ है, बौद्धिक प्रेरणा, निरीक्षण में स्वतंत्रता, विवेकपूर्ण आविष्कार, परिणामों की पूर्वदृष्टि तथा उनके समायोजन की पटुता।

किन्तु चूँकि ये व्यवहार की मानसिक अवस्था में आती हैं, इसलिए व्यक्तित्व के आवश्यक कार्य—अथवा स्वतंत्रता—को भौतिक गतियों के स्वतंत्र कार्य के अवसर से पृथक् नहीं किया जा सकता। बलपूर्वक उत्पन्न भौतिक शान्ति, समस्या का ज्ञान प्राप्त करने, इसकी परिभाषा के लिए आवश्यक निरीक्षण करने तथा उत्पन्न भावों की परीक्षा करने वाले प्रयोगों को करने के लिए अनुपयुक्त हो सकती है। शिक्षा में 'आत्म-क्रिया' के महत्त्व के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है; किन्तु इस धारणा को फिर भी बहुधा केवल आन्तरिक पक्ष तक ही सीमित रक्खा गया है, जिसमें संवेदन तथा चेष्टा के अंगों का मुक्त प्रयोग नहीं होता। जो प्रतीकों द्वारा ज्ञानार्जन करने के स्तर पर होते हैं, अथवा जो किसी समस्या अथवा भाव के तात्पर्यों को विस्तृत करने में लगे होते हैं, जो अधिक सतर्कतापूर्वक सोची-विचारी गई क्रिया के लिए प्रारंभिक महत्त्व की होते हैं, उन्हें दिखाई पड़ने वाली बाह्य क्रियाओं की अधिक आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, आत्म-क्रिया के पूर्ण चक्र के लिए अनुसंधान तथा प्रयोग, वस्तुओं पर अपने भावों का प्रयोग तथा यह खोजने की आवश्यकता पड़ती है कि उपलब्ध साधनों तथा उपकरणों द्वारा क्या किया जा सकता है। और यह, सीमित भौतिक क्रियाओं के साथ ठीक नहीं पड़ता।

वैयक्तिक क्रिया को कभी-कभी, विद्यार्थी को अपने-आप कार्य करने के लिए अकेले छोड़ देने के अर्थ में लिया गया है। शान्ति तथा एकाग्रता प्राप्त करने के लिए, दूसरे क्या कर रहे हैं, इस पर ध्यान न देने की आवश्यकता है। बालकों को भी, बड़ों की तरह, पर्याप्त अकेलेपन की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु, ऐसे पृथक् कार्यों का समय, स्थान तथा मात्रा, सिद्धान्त के नहीं, उसके विस्तार के विषय हैं। दूसरों के साथ तथा वैयक्तिक रूप से अकेले कार्य करने में कोई समवायी विरोध नहीं है। दूसरी ओर, व्यक्ति की कुछ शक्तियाँ दूसरों के सहयोग के उद्दीपन के बिना व्यक्त नहीं होतीं। यह धारणा, कि स्वतंत्र होने तथा उसके व्यक्तित्व का विकास होने देने के लिए, बालक को अकेला छोड़ दिया जाय, ऐसी है कि जो व्यक्तित्व को स्थूल वस्तु के मानदंड से नापती है तथा इसे भौतिक वस्तु बना लेती है।

शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में व्यक्तित्व के दो अर्थ हैं। एक तो, कोई व्यक्ति अपने स्वयं के प्रयोजन तथा समस्या के रूप में मानसिक व्यक्ति होता है,

तथा स्वयं के लिए चिन्तन करता है। "अपने स्वयं के लिए चिन्तन करने" पद, में शब्द-बाहुल्य है। जब तक कोई स्वयं अपने लिए न करे, यह चिन्तन नहीं है। केवल विद्यार्थी के स्वयं के निरीक्षणों, अनुचिन्तनों, सुझावों के निर्माण तथा परीक्षण के द्वारा ही, उसका पूर्व-ज्ञान संशोधित तथा परिवर्द्धित हो सकता है। चिन्तन उतना ही वैयक्तिक विषय है, जितना भोजन का पचना। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण, वस्तुओं की प्रेरणाएँ तथा कार्य-विधियाँ भिन्न होती हैं। जब कथित समत्व प्राप्त करने के लिए, इन विभिन्नताओं का दमन किया जाता है, तब अध्ययन तथा उसे सुनाने की एक ही प्रकार की विधि का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है। मानसिक संभ्रान्ति तथा कृत्रिमता ही इसका अपरिहार्य परिणाम होता है। मौलिकता धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है, मानसिक कार्य करने के अपने गुण के विश्वास का महत्त्व कम हो जाता है, दूसरों की सलाह की आज्ञापरायण, पराधीनता उत्पन्न होती है, अथवा भाव विछिन्न हो जाते हैं। जब सारा समुदाय परंपरागत विश्वासों द्वारा नियंत्रित होता था, उस दशा से यह स्थिति अधिक हानिकर है; क्योंकि पाठशाला के अन्दर की विधियों तथा बाहर प्रयोग की जाने वाली विधियों में बड़ा अन्तर होता है। इसे कोई भी अस्वीकार न करेगा, कि वैज्ञानिक अन्वेषण में व्यवस्थित प्रगति तभी प्रारंभ हुई, जब व्यक्तियों का विषय-सामग्री के प्रतिचार में अपनी स्वयं की विशिष्टताओं का उपयोग स्वीकार किया गया तथा इसे प्रोत्साहन मिला। यह आपत्ति की जाती है कि पाठशाला के विद्यार्थियों में ऐसी कोई मौलिकता नहीं होती, इसीलिए, उन्हें अधिक सज्ञान व्यक्तियों द्वारा ज्ञात बातों की ज्ञान-प्राप्ति तथा पुनरुत्पादन में लगा रखना चाहिए। इसके दो उत्तर हैं: १—हमारा संबंध मनोवृत्ति की मौलिकता से है, जो किसी के स्वयं के व्यक्तित्व के स्वतंत्र प्रतिचार की पर्याय है, उत्पत्ति से नापी जाने वाली मौलिकता से नहीं। कोई भी बालकों से, प्रकृति तथा मनुष्य के विज्ञानों में व्यक्त तथ्यों तथा सिद्धान्तों के रूप में, उनका मौलिक अन्वेषण करने की आशा नहीं करता। किन्तु यह आशा करना असंगत नहीं है, कि ज्ञान ऐसी परिस्थितियों से उत्पन्न हो सकता है, कि शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से, वास्तविक अन्वेषण हो। अपरिपक्व ज्ञान के विद्यार्थी, उच्च विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से अन्वेषण नहीं करते; किन्तु जब कभी भी वास्तविक ज्ञानार्जन होता है, तब वे अपने स्वयं के दृष्टिकोण से अन्वेषण करते हैं। २—दूसरों की ज्ञात विषय-सामग्री से परिचित बनने की सामान्य प्रक्रिया में, छोटे विद्यार्थी भी अप्रत्याशित ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं। इसमें ऐसी नवीनता होती है, जिसकी सर्वाधिक अनुभवी अध्यापक भी पूर्वकल्पना नहीं कर सकते।

उनके विषयों को ग्रहण करने के ढंग तथा वस्तुओं के उनमें प्रेरणा उत्पन्न करने की रीतियाँ सभी नवीन होती हैं। प्रायः इन तथ्यों की आवश्यकता समझ कर उपेक्षा की जाती है, और विद्यार्थियों को, वयस्क जनों द्वारा सोचे गए रूप में ही, सामग्री में सचेष्ट रूप से अभ्यस्त बनाया जाता है। परिणाम यह होता है कि एक दूसरे से पृथक् करने वाली उनकी व्यक्तित्व की प्रवृत्यात्मक मौलिकता, अप्रयुक्त तथा अनिर्देशित ही रह जाती है। तब अध्यापन अध्यापक के लिए शिक्षात्मक प्रक्रिया नहीं रह जाती। अधिक-से-अधिक वह केवल अपनी वर्तमान कला को सुधारता है, वह नवीन दृष्टिकोण नहीं प्राप्त कर पाता। वह बौद्धिक सहचारिता का अनुभव करने में असफल होता है। अतएव, अध्यापन तथा अध्ययन दोनों ही परंपरावादी तथा यांत्रिक बन जाते हैं, और उसमें अन्तर्निहित मानसिक अतिश्रम दोनों में ही उत्पन्न होता है।

जैसे-जैसे परिपक्वता की वृद्धि होती है, जैसे-जैसे विद्यार्थी की परिचयात्मक पृष्ठभूमि का विस्तार होता है, जिस पर नवीन प्रकरणों का प्रेक्षण होता है, लगभग मनमौजी भौतिक प्रयोग करने की संभावना कम हो जाती है। क्रिया कुछ निश्चित मार्गों में परिभाषित तथा विशिष्ट बन जाती है। दूसरों की दृष्टि में, विद्यार्थी भौतिक रूप से पूर्णशान्ति की दशा में प्रतीत हो सकता है, क्योंकि उसकी शक्तियाँ, स्नायु-मार्गों तथा आँखों और वाक्-अंगों से संबंधित उपक्रम में ही लगी रही हैं। किन्तु चूँकि यह मनोवृत्ति प्रशिक्षित व्यक्ति के तीव्र मानसिक एकाग्रता का प्रमाण है, इसलिए यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह उन विद्यार्थियों के आदर्श के रूप में रक्खी जाए, जिन्हें अभी अपने मानसिक ढंगों को खोजना है। और यह वयस्कों की भी मानसिक शक्ति के पूरे वृत्त को नहीं आवृत्त करती। यह मध्य-काल की अभिव्यक्ति करती है, किसी विषय की बढ़ती हुई योग्यता के साथ इसके समय को बढ़ाया जा सकता है। किन्तु सदैव यह, अधिक सामान्य तथा प्रमुख इन्द्रिय-विषयक कार्य के पहले आने वाले काल, और समझे गए तथ्यों को प्रयोग में लाने के उत्तर-काल के बीच में आता है।

कुछ भी हो, जब ज्ञान-प्राप्ति में, शिक्षा मन तथा शरीर के सहयोग को स्वीकार करती है, तो हमें व्यक्त अथवा वाह्य स्वतंत्रता पर बल देना अनिवार्य नहीं है। अध्ययन तथा अध्यापन में निहित स्वतंत्रता का उस चिन्तन के साथ तादात्म्य स्थापित कर देना ही पर्याप्त है, जिससे किसी व्यक्ति के पूर्वकालीन ज्ञान तथा विश्वासों का परिष्कार तथा परिवर्द्धन होता है। यदि उन परिस्थियों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय, प्रभावशाली चिन्तन के अनुकूल स्थिति प्राप्त करने के

लिए जिनका सामना करना है, तो स्वतंत्रता स्वयं अपना ध्यान रक्खेगी। वह व्यक्ति बौद्धिक रूप से स्वतंत्र होता है, जिसके सामने प्रश्न होता है, जो उसके लिए वास्तविक प्रश्न होने के कारण उसकी उत्सुकता को जागृत करता है, जो उसकी सूचना प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति करता है तथा जिनके अधिकार में ऐसे उपक्रम होते हैं, जो इन अभिरुचियों की पूर्ति में सहायक हों। उसमें जो भी प्रेरणाशक्ति तथा कल्पनात्मक प्रज्ञा होती है, वह प्रयोग में आती है तथा उसकी प्रवृत्तियों और आदतों का नियंत्रण करती है। उसके अपने प्रयोजन ही उसके कार्यों का निर्देश करेंगे ; अन्यथा उसका प्रातिभासिक ध्यान, उसकी आज्ञा-परायणता, उसका याद करना तथा सुनाना सभी कुछ, दासोचित बन जाएगा। साधारण जन, समुदाय को ऐसे समाज में सम्मिलित करने में ऐसी बौद्धिक पराधीनता की आवश्यकता होती है, जिसमें अधिकांश लोगों से अपने स्वयं के उद्देश्य तथा भाव रखने की आशा नहीं की जाती ; बल्कि अधिकार प्राप्त कतिपय व्यक्तियों से केवल आज्ञाएँ ही ग्रहण की जाती हैं। यह प्रजातंत्रात्मक समाज के अनुकूल नहीं है।

अध्याय का सारांश

वास्तविक व्यक्तिवाद, विश्वासों के मानदंडों के रूप में, परंपराओं तथा रीति-रिवाजों के अधिकार से मुक्त होने पर उत्पन्न होता है। यूनानी विचार-धारा के उत्थान-जैसे विरल उदाहरणों के होते हुए भी यह आपेक्षिक रूप से आधुनिक है। यह नहीं है कि व्यक्ति में सदैव से विभिन्नताएँ नहीं रही हैं, बल्कि रूढ़िवादी रीति-रिवाजों की प्रधानता वाला समाज उनका दमन करता रहा है, अथवा कम-से-कम उनका उपयोग नहीं करता तथा उन्हें प्रोत्साहन नहीं देता है। अनेक कारणों से, नवीन व्यक्तिवाद का अर्थ, दार्शनिक रूप से, पूर्व-स्वीकृत विश्वासों के रूपांतर तथा परिष्कार के साधनों का विकास नहीं माना गया, बल्कि इस निश्चित कथन के रूप में लगाया गया कि प्रत्येक व्यक्ति का मन, प्रत्येक अन्य वस्तु से भिन्न अपने-आप में पूर्ण है। दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष में इससे ज्ञान-शास्त्रीय समस्या उत्पन्न हुई। यह प्रश्न हुआ कि व्यक्ति का विश्व से कोई ज्ञानात्मक संबंध है, अथवा नहीं। इसके व्यावहारिक पक्ष में, सामान्य अथवा सामाजिक हित के लिए कार्य करने वाली शुद्ध वैयक्तिक चेतना की संभावना की समस्या—अर्थात् सामाजिक निर्देश की समस्या उत्पन्न हुई। यद्यपि इन प्रश्नों को हल करने में परिविस्तृत दर्शनों का शिक्षा पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है, फिर भी उनमें निहित

धारणाएँ; प्राय: अध्ययन और प्रबन्ध, व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और दूसरों के नियंत्रण में, किए गए विलगाव में व्यक्त हुई हैं। स्वतंत्रता के संबंध में, ध्यान देने योग्य, महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि यह गतियों के वाह्य स्वातंत्र्य की अपेक्षा मानसिक मनोवृत्ति की द्योतक है ; किन्तु अनुसंधान, प्रयोग तथा संप्रयोग इत्यादि की गतियों के पर्याप्त अवसर के विना मन में यह गुण विकसित नहीं हो सकता। रीति-रिवाज पर आधारित समाज, वैयक्तिक विभिन्नताओं का उपयोग प्रयोग की समता की सीमा तक ही करेगा ; प्रत्येक वर्ग में एकरूपता ही प्रमुख आदर्श है। प्रगतिशील समाज, व्यक्तिगत विभिन्नताओं को अत्यधिक महत्त्व देता है ; क्योंकि इसे उनमें अपने विकास का माध्यम प्राप्त होता है। अतएव, प्रजातंत्रात्मक समाज को अपनी शिक्षा में, अपनी आदर्शों की संगति में, बौद्धिक स्वतंत्रता तथा विभिन्न गुणों और अभिरुचियों को कार्य करने का पर्याप्त अवसर अवश्य प्रदान करना चाहिए।

२३

शिक्षा का व्यावसायिक पक्ष

व्यवसाय का अर्थ

इस समय दार्शनिक सिद्धांतों का मतभेद, शिक्षा में व्यावसायिक अवयवों के उचित स्थान तथा कार्य के विवेचन पर केन्द्रित हो जाता है। इस कोरे कथन से संदेह उत्पन्न हो सकता है, कि मौलिक दार्शनिक धारणाओं के महत्त्वपूर्ण अन्तरों का मुख्य विषय यही विन्दु है। यह संदेह उत्पन्न होता है कि उन दूरस्थ सामान्य पदों—जिनमें दार्शनिक भाव सूत्रवद्ध हैं—और व्यावसायिक शिक्षा के व्यावहारिक तथा मूर्त विस्तारों के बीच वहुत वड़ा अन्तर है। किन्तु, शिक्षा में श्रम तथा अवकाश, सिद्धांत तथा अभ्यास, शरीर तथा मन, मानसिक स्थितियां तथा विश्व के प्रतिवादों में अंतर्निहित वौद्धिक पूर्वकल्पनाओं के मानसिक सिंहावलोकन से यह व्यक्त होगा कि उनका अंत व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा के प्रतिवाद में होता है। परम्परा के अनुसार उदार संस्कृति, अवकाशोपभोग, केवल विचारात्मक ज्ञान तथा आध्यात्मिक क्रिया की धारणाओं से संवद्ध रही है, जिसमें शारीरिक अंगों का कोई क्रियात्मक प्रयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त संस्कृति का संबंध, सामाजिक निर्देश अथवा सेवा दोनों ही से पृथक् केवल स्वकीय परिष्कार, चेतना की कतिपय स्थितियों तथा मनोवृत्तियों के उपार्जन से भी रहा है। इससे पूर्व-कथित से मुक्ति तथा उत्तर-कथित की आवश्यकता का संतोष मिलता रहा है।

ये दार्शनिक द्वैतवाद, व्यावसायिक शिक्षा के संपूर्ण विषय से इस प्रकार गुथे हुए हैं कि इस धारणा से बचने के लिए कि इस पर केन्द्रित शिक्षा यदि केवल आर्थिक नहीं, तो संकुचित रूप से व्यावहारिक अवश्य है, यह आवश्यक है कि व्यवसाय के अर्थ की अधिक पूर्णता के साथ परिभाषा की जाय। व्यवसाय का अर्थ, जीवन की क्रियाओं के ऐसे निर्देश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो उन्हें किसी व्यक्ति के लिए उनसे उत्पन्न होने वाले प्रतिफलों के कारण, इन्द्रियगोचर रूप से महत्त्वपूर्ण तथा उनके संवंधियों के लिए उपयोगी वना देता है। किसी व्याववसायिक कार्य का विलोम न तो अवकाश है न संस्कृति, बल्कि

वैयक्तिक पक्ष में, उद्देश्य-हीनता, मनमौजीपन तथा अनुभव में संग्रहात्मक सफलता का अभाव ; और सामाजिक पक्ष में, अकर्मण्य प्रदर्शन तथा दूसरों पर परोपजीवी निर्भरता है। व्यवसाय, निरंतरता के लिए मूर्त पद है। इसमें किसी भी प्रकार की कलात्मक शक्ति विशिष्ट वैज्ञानिक योग्यता तथा सफल नागरिकता का विकास, और यांत्रिक श्रम अथवा उपयोगी, लाभप्रद कार्यों में संलग्नता का तो कुछ कहना ही नहीं, पेशे-संबंधी तथा व्यापारिक कार्य भी सम्मिलित हैं।

हमें व्यवसाय की धारणा को उन्हीं कार्यों तक सीमित हो जाने से नहीं बचाना है, जिनसे तुरन्त स्थूल सामग्रियों की उत्पत्ति होती है, बल्कि इस धारणा से भी बचाना है कि एक व्यक्ति को पूर्णरूप से एक, और केवल एक ही व्यवसाय मिलता है। ऐसा सीमित विशिष्टतावाद असंभव है। व्यक्तियों को केवल एक प्रकार के क्रिया-क्रम के लिए शिक्षित करने के प्रयत्न से और अधिक निरर्थक और कौन कार्य हो सकता है। एक तो, अनिवार्यरूप से प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ विभिन्न होती हैं, उसे जिनमें से प्रत्येक की पूर्ति के योग्य होना चाहिए, दूसरे कोई भी एक व्यवसाय, जितना ही अन्य हितों से पृथक् होता है, उतना ही निरर्थक होता है तथा किसी एक क्रिया की यांत्रिक संलग्नता बन जाता है : १—कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो केवल कलाकार हो और कुछ न हो, जो जितना ही ऐसा होता है, उतना ही वह कम विकसित मनुष्य होता है। यह तो एक प्रकार की विकृतांगता है। उसे जीवन के किसी समय में परिवार का सदस्य होना है, उसके मित्र तथा साथी होते हैं ; वह या तो स्वावलम्बी होता है अथवा दूसरों पर अवलंबित होता है तथा इस प्रकार, उसका कोई-न-कोई व्यापारिक पेशा होता है। वह किसी-न-किसी संगठित राजनैतिक इकाई का सदस्य होता है, इत्यादि-इत्यादि। हम उसके व्यवसाय का नामकरण केवल उस कार्य के आधार पर करते हैं, जो उसकी अपनी विशिष्टता का द्योतक होता है। उन कार्यों के आधार पर नहीं करते, जो दूसरों के साथ उभयनिष्ठ होते हैं। किन्तु, हमें शब्दों के इतना अधीन नहीं हो जाना चाहिए, कि शिक्षा के व्यावसायिक पक्षों पर विचार करते समय उसकी अन्य आवश्यकताओं की उपेक्षा करें।

२—जैसे कलाकार के रूप में किसी व्यक्ति का व्यवसाय उसकी विभिन्न तथा विविध व्यावसायिक क्रियाओं का विशेष रूप से विशिष्टीकृत पक्ष है। वैसे उसकी इसमें क्षमता, क्षमता के मानवीय भाव में, इसकी दूसरी आवश्यकताओं

के संबंध से निर्धारित होती हैं। यदि किसी व्यक्ति की कला केवल प्रविधिक सफलता-मात्र नहीं है, तो उसे अनुभव प्राप्त करना है, उसे जीवित रहना है। उसे अपनी कलात्मक क्रिया की विषय-सामग्री अपनी कला में ही नहीं प्राप्त हो सकती। यह उन सुखों अथवा दुःखों की अभिव्यक्ति होती है, जिन्हें वह दूसरों के संपर्क में अनुभव करता है, जो उसकी अभिरुचियों की सतर्कता तथा सहानुभूति पर निर्भर है। जो कुछ एक कलाकार के लिए सत्य है, वही किसी भी कार्य के लिए लागू होता है। निस्संदेह—आदत के सामान्य नियम के अनुसार—प्रत्येक विशिष्ट व्यवसाय, अपने विशिष्टीकृत पक्ष में आवश्यकता से अधिक, व्यक्ति पर अधिकार रखने वाला, उसे एक ही प्रकार के कार्य तक सीमित रखनेवाला तथा उसी में संलग्न रखने वाला हो सकता है। इसका यह अर्थ है कि अर्थ को ध्यान में न रखकर कौशल अथवा प्रविधिक विधि पर अधिक बल दिया जाता है। अतएव, शिक्षा का कार्य, इस मनोवृत्ति को पोषित करना नहीं है, ताकि वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता—केवल वैज्ञानिक, शिक्षक—केवल अध्यापक, और पादरी—केवल पादरी का चोगा पहननेवाला न बने।

शिक्षा में व्यावसायिक उद्देश्यों का स्थान

व्यवसाय की विभिन्न तथा संबद्ध अंतर्वस्तु और उस विस्तृत पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, जिससे कोई विशेष कार्य उत्पन्न करने वाली आवश्यकता का प्रेक्षण होता है, हम व्यक्ति की अधिक विशिष्ट क्रिया के लिए दी गई शिक्षा पर विचार करेंगे : १—केवल व्यवसाय ही ऐसी चीज़ है, जो किसी व्यक्ति की विशिष्ट क्रिया को उसकी सामाजिक सेवा के साथ संतुलित करती है। यह पता लगा लेना कि कोई क्या करने के उपयुक्त है, तथा उसे करने का अवसर प्राप्त करना ही प्रसन्नता की कुंजी है। जीवन में अपने वास्तविक कार्य को खोजने तथा यह पता न लगाने में, असफल होने की अपेक्षा और कोई बात अधिक दुःखद नहीं है कि कोई अवांछित कार्य में वह लग गया है, अथवा उसे ही करने के लिए परिस्थियों द्वारा बाध्य कर दिया गया है। उचित व्यवसाय का अर्थ केवल यह है कि व्यक्तिगत क्षमता की यथेष्ट अभिव्यक्ति हो रही है तथा न्यूनतम संघर्ष और अधिकतम संतोष से कार्य हो रहा है। समुदाय के अन्य सदस्यों के लिए, कार्य की यह यथेष्टता व्यक्त करती है, कि वे उस व्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट सेवा प्राप्त कर रहे हैं, जो कि वह कर सकता है। उदाहरण-स्वरूप, सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि दास-श्रम में अंततोगत्वा, शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से भी अपव्यय होता था, अर्थात् दासों की शक्तियों का निर्देश करने के लिए यथेष्ट उद्दीपन न होता था, परिणाम-स्वरूप, अपव्यय होता था। इसके अतिरिक्त, चूँकि दास कुछ प्रस्तावित कार्यों में ही लगे रहते थे, अतएव बुद्धि का अधिकांश समुदाय के उपयोग में न आ पाता था, और निश्चित हानि होती थी। दासता, केवल पर्याप्त रूप से उसी तथ्य की अभिव्यक्ति करती है, जो कभी-कभी व्यक्ति का किसी कार्य में मन न लगने के कारण उत्पन्न होती है। और जब तक व्यवसायों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाएगा तथा सब के लिए मौलिक रूप से एक ही प्रकार की संस्कृति का परंपरागत भाव रहेगा, तब तक कार्य को व्यक्ति के लिए रुचिपूर्ण पाना संभव न हो सकेगा। प्लेटो ने इस कथन में शिक्षा-दर्शन के मूलभूत सिद्धांत का प्रतिपादन कर दिया है कि शिक्षा का कार्य यह

है कि वह पता लगाए कि व्यक्ति किस कार्य के योग्य है तथा उसे उस कार्य के करने में दक्षता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित करे, क्योंकि ऐसे विकास से, सर्वाधिक संगत रूप से सामाजिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होगी। उसकी अशुद्धि उसके गुणात्मक सिद्धांत में नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यक व्यवसायों के विस्तार-क्षेत्र को सीमित कर देने में है। इस प्रकार दृष्टिकोण सीमित हो जाने के कारण, वह विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाने वाली असीमित रूप से विभिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रत्यक्षीकरण न कर सका।

२—व्यवसाय, सप्रयोजन सतत क्रिया है। परिणाम-स्वरूप व्यवसायों के माध्यम से दी गई शिक्षा में शिक्षा उत्पन्न करनेवाले अवयव किसी भी दूसरी विधि की अपेक्षा अधिक शिक्षात्मक होते हैं। इसमें मूल प्रवृत्तियां तथा आदतें कार्य में आती हैं, यह निष्क्रिय ग्रहणशीलता की विरोधी है। इसका सदैव कोई-न-कोई लक्ष्य होता है; इसे कतिपय परिणाम प्राप्त करने रहते हैं। अतएव, यह विचार जाग्रत करती है। इसकी यह मांग होती है कि लक्ष्य का भाव सदैव कायम रक्खा जाए, ताकि क्रिया यांत्रिक अथवा मनमौजी न हो सके। चूंकि क्रिया की गति प्रगतिशील होनी चाहिए, जिसमें एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर प्रगति हो; अतएव प्रत्येक स्तर पर अवरोधों को पार करने तथा प्रगति के साध्यों की खोज और उनका पुनर्समायोजन करने के लिए निरीक्षण और अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। संक्षेप में, ऐसी परिस्थितियों में किए गए व्यवसाय, जिनमें केवल वाह्य उत्पत्ति की अपेक्षा, क्रिया की प्राप्ति ही उद्देश्य होती है, उन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, जो उद्देश्यों, अभिरुचि तथा विचार के विवेचन के संबंध में दिए जा चुके हैं। (देखिए अध्याय ८, १०, १२)

कार्य आवश्यक रूप से सूचना तथा भावों, ज्ञान और बौद्धिक विकास के लिए व्यवस्थापक सिद्धांत भी होता है। इससे ऐसा अक्ष प्राप्त होता है, जो विभिन्न प्रकार के अनेक विस्तारों में से होकर गुजरता है, जिससे विभिन्न अनुभव, तथ्य तथा सूचना के विषय एक-दूसरे के साथ व्यवस्थित हो जाते हैं। वकील, चिकित्सक, रसायन-शास्त्र की किसी शाखा में प्रयोगशाला के अनुसंधान-कर्त्ता, माता-पिता, अपने ही आवास-क्षेत्र में अभिरुचि रखनेवाले नागरिक, सभी को अपने हित से संबंधित प्रत्येक वस्तु पर ध्यान देने तथा उसका वर्णन करने का स्थाई उद्दीपन प्राप्त होता है। वे, अचेतन रूप से, अपने व्यवसाय की प्रेरणा से, सभी उपयुक्त सूचनाएँ प्राप्त करते हैं तथा उन्हें सूत्रबद्ध रखते हैं। व्यवसाय आकर्षण के लिए चुंबक और व्यवस्थित रखने के लिए सरेस, दोनों का ही कार्य

करता है। ज्ञान की ऐसी व्यवस्था परमावश्यक है ; क्योंकि इसका संबंध आवश्यकताओं से होता है। यह कार्यों में इस प्रकार व्यक्त होता है, तथा पुनर्समायोजित रहता है, कि यह कभी भी निष्क्रिय नहीं होता। तथ्यों के किसी भी वर्गीकरण, उनके किसी भी प्रवरण तथा प्रबंध की तुलना, जो केवल अमूर्त साध्यों के लिए सचेष्ट रूप से किया जाता है, कभी भी व्यवसाय के प्रभाव में किए गए वर्गीकरण तथा प्रबंध से नहीं की जा सकती। इसकी अपेक्षा वह रूपात्मक, धरातलीय तथा निर्जीव होता है।

३——व्यवसायों की यथेष्ट शिक्षा केवल व्यवसायों के द्वारा ही दी जा सकती है। इस पुस्तक के पूर्व भाग में दिया गया सिद्धांत, कि शिक्षात्मक प्रक्रिया अपना स्वयं का साध्य है तथा भविष्यकालीन उत्तरदायित्वों के लिए पर्याप्त तैयारी केवल तात्कालिक वर्तमान जीवन से सर्वाधिक शिक्षा ग्रहण करने से ही होती है, शिक्षा के व्यावसायिक पक्षों में अपनी पूरी शक्ति के साथ लागू होता है। सभी युगों में सभी मनुष्यों का मुख्य व्यवसाय जीवन, अर्थात् बौद्धिक तथा मानसिक विकास रहा है। बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में, आर्थिक चिंता की विमुक्ति के कारण यह तथ्य अनावेष्ठित तथा अपरोक्ष होता है। किसी ऐसे भावी व्यवसाय को पहले ही निश्चित कर लेना, जिसके लिए निश्चित रूप से तैयारी की जाय, वर्तमान विकास की संभावनाओं को हानि पहुँचाना है तथा भावी उचित कार्य-व्यापार की यथेष्ट तैयारी को कम कर देना है। सिद्धांत की पुनरुक्ति कर हम कह सकते हैं कि ऐसा प्रशिक्षण कार्यक्रमिक रूप से, यंत्रवत् कौशल का विकास कर सकता है (तथा निश्चित नहीं कि यह ऐसा भी कर सके ; क्योंकि इससे अरुचि, घृणा तथा लापरवाही भी उत्पन्न हो सकती है।); किन्तु इसके लिए सतर्क निरीक्षण और सुसंगत तथा पटु नियोजन के उन गुणों का मूल्य चुकाना होगा, जो किसी व्यवसाय को बौद्धिक रूप से महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। निरंकुश प्रबंध के समाज में, स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व को सचेष्ट रूप से रोका जाता है। थोड़े से लोग, योजना बनाते तथा व्यवस्था का निर्माण करते हैं। दूसरे निर्देशों का अनुसरण करते हैं तथा प्रयत्न के संकुचित तथा प्रस्तावित मार्गों तक ही सीमित होते हैं। किसी वर्ग के सम्मान तथा लाभ में ऐसा क्रम कितनी ही वृद्धि क्यों न करे, यह प्रकट है कि यह निर्देशपालक-वर्ग के विकास को सीमित कर देता है तथा अधिकारी-वर्ग के अनुभव द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के अवसरों को कठिन तथा सीमित बना देता है, इस प्रकार समस्त समाज के जीवन में, दोनों ही रूपों में बाधक होता है।

बचाव का एक-मात्र उपाय यह है कि व्यवसायों के लिए प्रारंभिक तैयारी प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष रूप से हो; अर्थात् उन व्यवसायों में लगकर की जाए, जो विद्यार्थी की उस समय की आवश्यकताओं तथा अभिरुचियों द्वारा व्यक्त होते हैं। केवल इसी प्रकार से ही शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों की ही वैयक्तिक क्षमताओं का वास्तविक अनुसंधान हो सकता है, ताकि बाद के जीवन में विशिष्ट कार्य के उचित चुनाव का संकेत दिया जा सके। इसके अतिरिक्त जब तक उन्नति क्रमिक रूप से चलती रहेगी, शक्तियों तथा क्षमताओं के अनुसंधान की प्रक्रिया भी निरंतर चलती रहेगी। वह विचार परंपरावादी तथा निरंकुश है, जो यह स्वीकार करता है, कि वयस्क जीवन के लिए चुने जाने वाले कार्य का अन्वेषण, एक ही बार सदैव के लिए कर लिया जाता है। लीजिए, किसी ने अपने-आप में, इंजीनियरिंग की वस्तुओं में बौद्धिक तथा सामाजिक अभिरुचि खोज ली है, और उसी को अपना भावी कार्य बनाने का निश्चय कर लिया है। अधिक-से-अधिक, यह उस क्षेत्र की रूप-रेखा निर्धारित करता है, जिसमें भावी विकास को निर्देशित करना है। यह भावी क्रियाओं के निर्देश में काम आने वाली मोटी रूपरेखा है। यह उस भाव में किसी पेशे का अन्वेषण है, जैसे अमरीका के किनारों पर आ जाने पर कोलम्बस ने किया था। अनेक प्रकार के अधिक व्यापक तथा विस्तृत अन्वेषण बाद में करने होते हैं। जब शिक्षक लोग, व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन को कोई ऐसी वस्तु समझते हैं, जिससे निश्चित, अपरिवर्तनीय तथा पूर्ण चुनाव की प्राप्ति होती है, तब शिक्षा तथा चुना गया व्यवसाय दोनों ही अन्यमनस्कतापूर्ण हो जाते हैं तथा भावी विकास में बाधक होते हैं। जहाँ तक, चुना हुआ कार्य ऐसा होगा कि संबंधित व्यक्ति स्थाई अधीनता की स्थिति में रहे, और दूसरों की बुद्धि से कार्य करे, जिनके कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें कार्य तथा पुनर्समायोजन नमनशील होता है और जब तक भाषा के साधारण प्रयोग, पुनर्समायोजन की नमनशील मनोवृत्ति को, नवीन तथा आगे आने वाले कार्य के चुनाव के रूप में न्याय-संगत न स्वीकार करेंगे, परिणाम यही होगा। यदि वयस्क जनों को भी इस पर ध्यान देना है कि उनके कार्य उन्हें एक निश्चित क्षेत्र में बंद तो नहीं किए दे रहे हैं, उन्हें पाषाणवत् तो नहीं बनाते जा रहे हैं, तो निश्चित ही शिक्षकों को इसके प्रति सतर्क रहना होगा, कि किशोरों की व्यावसायिक तैयारी ऐसी हो कि उन्हें उद्देश्यों तथा विधियों की निरंतर पुनर्व्यवस्था में संलग्न रक्खे।

वर्तमान सुअवसर तथा आशंकाएँ

भूतकाल में शिक्षा, नाम की अपेक्षा तथ्य में अधिक व्यावसायिक रही है।

१—जनसाधारण की शिक्षा विशिष्ट रूप से उपयोगितावादी थी। इसे शिक्षा के बजाय अनुशिक्षा, अथवा केवल अनुभव से सीखना कहा जाता था। जहाँ तक सभी प्रकार के श्रमों में लिखना, पढ़ना तथा गणना सर्वनिष्ठ तत्त्व होते थे, पाठशालाओं में लिखने-पढ़ने तथा गणित की ही शिक्षा पर बल दिया जाता था। दूसरों के निर्देश के अंतर्गत, किसी विशेष प्रकार के कार्य में भाग लेना, शिक्षा के—पाठशाला के—बाहर का पक्ष होता था। दोनों एक दूसरे के पूरक होते थे। अपने संकुचित तथा रूपात्मक स्वरूप में, पाठशाल का कार्य, शिक्षा का उतना ही अंश है, जितना इसे व्यक्त रूप से कहा जाता है।

२—पर्याप्त सीमा तक, अधिकारी वर्गों की शिक्षा भी व्यवसायात्मक होती थी। केवल यह होता था कि उनके शासन करने तथा आनंद उठाने के कार्यों को पेशा नहीं कहा जाता था; क्योंकि केवल उन्हीं कार्यों को व्यवसाय अथवा रोजगार कहा जाता था, जिनमें शारीरिक श्रम होता था, अपने संग्रह में वृद्धि के लिए धन प्राप्त होता था, अथवा इसी के बराबर आर्थिक वेतन मिलता था अथवा विशिष्ट लोगों की सेवा होती थी। उदाहरणार्थ, बहुत दिनों तक, शल्यकार तथा चिकित्सक के पेशों को लगभग नाई और वैयक्तिक नौकरों के बराबर समझा जाता था। इसका कारण कुछ तो यह था कि इसका संबंध शरीर से था, और कुछ यह था कि इसमें वेतन के लिए किसी व्यक्ति की प्रत्यक्ष सेवा की जाती थी। किन्तु यदि शब्दों के पीछे जाएँ, तो सामाजिक हितों के निर्देशों के कार्य भी, कार्य ही हैं, चाहे वे राजनैतिक हों अथवा आर्थिक, चाहे वे शांति के दिनों में किए जाएं, चाहे युद्ध के। और जहाँ शिक्षा परंपरा के अधीन नहीं रही है, अंततोगत्वा उच्च विद्यालयों का कार्य इसी काम के लिए तैयार करना होता था। इसके अतिरिक्त, दिखावा, व्यक्ति का अपना शृंगार, सम्मान देने वाले सामाजिक सहयोग तथा मनोरंजन और धन-व्यय सभी, निश्चित आवश्यकताओं

की पूर्ति के कार्य हैं। अचेतन रूप से, विद्या की उच्च संस्थाओं का निर्माण इन्हीं व्यवसायों की तैयारी में योगदान देने के लिए हुआ है। आज-कल भी, उच्च शिक्षा एक निश्चित वर्ग (पहले से बहुत छोटे) को इन्हीं कार्यों में सफलता प्राप्त करने की तैयारी के लिए है।

दूसरे अर्थों में, यह अधिकांशतः, विशेषकर, सर्वाधिक उच्चकार्य, अध्यापन अथवा विशेष अनुसंधान के लिए प्रशिक्षण प्रदान करना है। एक विलक्षण अंधविश्वास द्वारा, विशेष रूप से, अध्यापन, साहित्यिक कार्य तथा नेतृत्व-जैसे कम शारीरिक श्रमवाले कार्यों के लिए तैयार करने वाली शिक्षा को अव्यावसायिक तथा विशेषरूप से सांस्कृतिक समझा जाता है। साहित्य-प्रशिक्षण, जो परोक्ष रूप से, पुस्तकों, समाचारों-पत्रों के संपादकीय अंशों, अथवा पत्रिकाओं के निबंध लिखने के लिए तैयार करता है, विशेषरूप से इस अंधविश्वास के अंतर्गत आता है। बहुत-से अध्यापक तथा लेखक, विशिष्ट व्यावहारिक शिक्षा के अतिक्रमण के विरोध में, सांस्कृतिक तथा परिष्कृत शिक्षा की ओर से लिखते तथा तर्क देते हैं। वह यह नहीं समझ पाते कि उनकी स्वयं की शिक्षा भी, जिसे वे उदार कहते हैं, मुख्य रूप से उनके अपने विशिष्ट कार्य का प्रशिक्षण रही है। उन्हें केवल अपने कार्य को विशेष रूप से सांस्कृतिक समझने तथा दूसरे व्यवसायों की सांस्कृतिक संभावनाओं की उपेक्षा करने की आदत पड़ गई है। इन विभेदों के मूल में, निस्संदेह वह परंपरा वर्तमान है, जो केवल उन्हीं कार्यों को व्यवसाय समझती है, जिनमें व्यक्ति अपने कार्यों के लिए चरम नियोक्ता समुदाय के बजाय, किसी विशिष्ट नियोक्ता के प्रति उत्तरदाई होता है।

कुछ भी हो, व्यावसायिक शिक्षा पर दिए गए वर्तमान बल—अर्थात् पहले छिपे हुए व्यावसायिक तात्पर्यों को व्यक्त तथा ऐच्छिक बनाने की धारणा के अनेक स्पष्ट कारण हैं : १—पहले तो प्रजातंत्रात्मक समुदायों में, शारीरिक श्रम, व्यापारिक कार्यों तथा समाज की स्थूल सेवा करने वाले व्यवसायों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। सिद्धांत में, स्त्री तथा पुरुष दोनों ही से, समाज द्वारा दी गई सहायता—बौद्धिक तथा आर्थिक सहायता के बदले में अब कुछ करने की आशा की जाती है। श्रम की प्रशंसा की जा रही है, सेवा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आदर्श बन गया है। यद्यपि आज भी श्रमहीन विशिष्ट प्रदर्शन के कार्य करने वाले व्यक्तियों की प्रशंसा की जाती है तथा उनसे ईर्ष्या की जाती है, फिर भी अच्छे नैतिक स्थाई भाव ऐसे व्यक्तियों को निंदनीय

ही समझते हैं। समय के उपयोग के सामाजिक उत्तरदायित्व तथा स्वकीय शक्ति को सदैव से अधिक महत्व दिया जा रहा है।

२—दूसरे उन व्यवसायों ने, जो विशेष रूप से औद्योगिक हैं, गत डेढ़ शताब्दियों में अत्यन्त महत्त्व प्राप्त कर लिया है। उत्पादन तथा वाणिज्य अब घरेलू तथा स्थानीय नहीं रह गए हैं, इसीलिए आकस्मिक भी नहीं हैं ; बल्कि विश्वक्षेत्रीय हो गए हैं। व्यक्तियों की अधिकांश बढ़ती हुई संख्या की शक्तियाँ इसमें लगी हुई हैं। उत्पादकों, बैंकरों तथा उद्योगपतियों ने व्यावहारिक रूप से, सामाजिक विषयों के अपरोक्ष निर्देशकों के रूप में, भूमिपतियों के परंपरागत स्थान को अपना लिया है। सामाजिक पुनर्संमायोजन की मुख्य समस्या, प्रकट रूप से औद्योगिक है। इसका संबंध पूँजी तथा श्रम के संबंधों से है। विशिष्ट औद्योगिक प्रक्रियाओं के बढ़ते हुए सामाजिक महत्त्व के कारण, औद्योगिक जीवन की शिक्षा का संबंध अपरिहार्य रूप से मुख्य प्रश्न बन गया है। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों से संक्रान्त शिक्षा को चुनौती दिए बिना तथा शिक्षा की नवीन समस्याओं को अपनाए बिना, कभी भी ऐसा महान् सामाजिक पुनर्संमायोजन नहीं संभव हो सकता था।

३—तीसरे कारण के रूप में बार-बार कहा गया यह तथ्य आता है, कि अब उद्योग-धंधे, रीति-रिवाजों द्वारा संक्रान्त व्यावहारिक रूढिवादी परंपरा-मात्र नहीं रह गए हैं। इसकी कला-विधि अब वैज्ञानिक हो गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र और जीवाणु-विज्ञान के नवीन आविष्कारों से उत्पन्न यन्त्रों पर आधारित है। आर्थिक क्रान्ति ने हल करने के लिए नवीन समस्याएँ उपस्थित कर तथा यांत्रिक उपकरणों को अधिक बौद्धिक सत्कार प्रदान कर, विज्ञान को नवीन उद्दीपन प्रदान किया है। उद्योग ने, विज्ञान को प्रदान किए गए मूलधन को चक्रवृद्धि ब्याज सहित पुनः प्राप्त किया है। परिणाम-स्वरूप औद्योगिक व्यवसायों में पहले की अपेक्षा अत्यन्त अधिक बौद्धिक अन्तर्वस्तु और अधिक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक संभावनाएँ आ गई हैं। ऐसी शिक्षा की माँग अनिवार्य होती जा रही है, जो काम करने वालों को, उनके कार्यों के वैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार तथा प्रभाव से परिचित बनाए, क्योंकि जिनमें यह ज्ञान नहीं होता, वे केवल अपने प्रयोग के यंत्रों के सहगामी-मात्र बन जाते हैं। प्राचीन काल में, किसी कला-कौशल के सभी कार्यकर्ता अपने ज्ञान तथा दृष्टिकोण में लगभग समान होते थे। वैयक्तिक ज्ञान तथा अध्यवसाय का उपार्जन तथा विकास सीमित क्षेत्र में होता था ; क्योंकि कार्य में आने वाले उपकरणों पर कार्यकर्ता का प्रत्यक्ष पूर्ण अधिकार

होता था। अब अपने प्रयोजन के अनुकूल उपकरणों का समायोजन करने के वजाय, यंत्र-चालक को अपने ही को यंत्र से समायोजित करना पड़ता है। यद्यपि उद्योग-धंधों की बौद्धिक संभावनाएँ बढ़ गई हैं; किन्तु औद्योगिक परिस्थितियाँ अधिकांश जन-समुदाय के लिए उतनी शिक्षात्मक नहीं हैं, जितनी स्थानीय बाजारों के लिए हस्त-उत्पादन के समय में थीं। इस प्रकार, कार्य में समवायी बौद्धिक संभावनाओं का ज्ञान प्रदान करने का भार विद्यालयों पर आ गया है।

४—चौथे, ज्ञानार्जन का कार्य, विज्ञान में, अधिक प्रयोगात्मक तथा साहित्यिक परम्परा पर कम निर्भर, एवं तर्क की द्वंद्वात्मक विधियों और प्रतीकों से कम संबंधित रह गया है। परिणाम-स्वरूप औद्योगिक व्यवसाय की विषय-सामग्री, केवल पहले से अधिक वैज्ञानिक अन्तर्वस्तु ही नहीं प्रस्तुत करती है, वल्कि ज्ञान-निर्माण की विधि से परिचय प्राप्त करने के अधिक अवसर भी उपस्थित करती है। निस्संन्देह, किसी कारखाने का साधारण श्रमिक, इतने तात्कालिक आर्थिक दवाव में रहता है कि उसे, प्रयोगशाला में कार्य करने वाले की तरह ज्ञान का उत्पादन करने का अवसर नहीं रहता। किन्तु विद्यालयों में, यंत्रों तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं के साथ ऐसी परिस्थितियों में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, जिनमें विद्यार्थियों का मुख्य सचेतन प्रयत्न अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना हो। व्यवसायशाला तथा प्रयोगशाला का यह विलगाव, जिसमें ये शर्तें पूरी होती हैं, अधिकांश रूप से परम्परावादी है। प्रयोगशाला में यह लाभ है कि इसमें समस्या द्वारा संकेत किए गए किसी भी कार्य का अनुसरण करने को स्वीकार किया जा सकता है। और व्यवसायशाला का लाभ यह है कि इससे वैज्ञानिक सिद्धान्त के सामाजिक प्रभाव को वल मिलता है तथा बहुत-से विद्यार्थियों में अधिक सजीव अभिरुचियों का उद्दीपन होता है।

५—अन्त में, सामान्य रूप से सीखने तथा विशेष रूप से वाल्यावस्था में सीखने के मनोविज्ञान की प्रगति, जीवन में उद्योग के बढ़ते हुए महत्त्व की सहगामी है। क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान, अनुसंधान, प्रयोग तथा नवीन प्रयत्न करते जाने की आदिम, जन्मजात, मूलप्रवृत्तियों के मूलभूत महत्त्व पर वल देता है। इसने यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानार्जन, पूर्व-तत्पर 'मन' का कार्य नहीं है, वल्कि 'मन' स्वयं, मौलिक शक्तियों की महत्त्वपूर्ण क्रियाओं में की गई व्यवस्था का नाम है। जैसा कि हम देख चुके हैं, काम का, बड़े विद्यार्थियों के अपरिपक्व जन्मजात क्रियाओं के शिक्षात्मक विकास से वही सम्बन्ध है, जो बालकों में खेल का। कुछ भी हो, खेल से काम तक का मार्ग क्रमिक होना चाहिए। इसमें मनोवृत्ति का मौलिक परिवर्तन नहीं होना चाहिए; बल्कि काम में भी खेल के तत्त्व का तथा

अधिक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए, निरन्तर पुनर्व्यवस्था होनी चाहिए।

पाठक यह कहेंगे कि ये पाँचों बातें व्यावहारिक रूप से पुस्तक के पूर्व भाग की मुख्य बातों की ओर निर्देश करती हैं। व्यावहारिक तथा दार्शनिक दोनों ही प्रकार से, वर्तमान शैक्षणिक स्थिति की कुंजी, विद्यालय की विषय-सामग्री तथा विधियों के ऐसे पुनर्निर्माण में है, कि सामाजिक कार्यों को विशिष्ट रूप से व्यक्त करने वाले, विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का उपयोग हो तथा उनकी बौद्धिक और नैतिक अन्तर्वस्तु व्यक्त हो जाय। इस पुनर्निर्माण में केवल शुद्ध साहित्यिक विधियों—पाठ्य-पुस्तकों को भी—तथा तार्किक विधियों को, आगे बढ़ाने वाली तथा सहयोग में की जाने वाली क्रियाओं के विवेकपूर्ण विकास के अनिवार्य सहायक उपकरणों के स्थान से कम महत्त्व देना होगा।

किन्तु हमारे विवेचन में इस तथ्य पर बल दिया गया है, कि शैक्षणिक पुनर्व्यवस्था, केवल उद्योगों तथा पेशों की वर्तमान प्रक्रियाओं के लिए, प्रविधिक तैयारी प्रदान करने-मात्र से नहीं संभव हो सकती और विद्यालय में वर्तमान औद्योगिक परिस्थितियों को उत्पन्न करने से भी नहीं। समस्या, विद्यालयों को उत्पादन तथा वाणिज्य का अनुपूरक बनाना नहीं, अपितु उद्योग-धंधों के अवयवों को, विद्यालय के जीवन को अधिक सक्रिय, अधिक अपरोक्ष अर्थ से परिपूर्ण तथा विद्यालय से बाहर के अनुभवों से अधिक सम्बन्धित बनाने के लिए, उपयोग करना है। इस समस्या का हल सरल नहीं। प्रत्यक्ष भय यह है कि शिक्षा थोड़े-से चुने हुए लोगों के लिए, प्राचीन परम्पराओं का पोषण करेगी तथा लगभग हमारे दोषपूर्ण औद्योगिक युग के अपरिष्कृत, अविवेकपूर्ण तथा असामाजिक पक्षों के आधार पर नवीन आर्थिक परिस्थितियों के साथ समायोजन उत्पन्न करेगी। स्थूल पदों में, यह भय है कि व्यावसायिक शिक्षा को सैद्धान्तिक व्याख्या तथा अभ्यास में व्यापारिक शिक्षा समझा जायगा। इसे विशिष्ट भावी कार्यों में प्रविधिक क्षमता प्राप्त करने के साधन के रूप में लिया जायगा।

तब शिक्षा, समाज की वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के रूपान्तरण के साधन के रूप में कार्य करने के बजाय, उसे अपरिवर्तित रूप से ही प्रोत्साहित करने का साधन बनेगी। वांछित रूपान्तर की सविधिक रूप से परिभाषा देना बहुत कठिन नहीं है। यह ऐसे समाज को द्योतित करती है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी ऐसे कार्य में लगा रहता है, जो दूसरों के जीवन को अधिक अच्छी तरह रहने योग्य बना देता है तथा इसी के अनुसार, व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधने वाले सम्बन्धों को, अधिक व्यक्त बना देता है—अर्थात् इससे

उनके बीच की दूरी की दीवारें टूट जाएँगी। इससे ऐसी दशा का बोध होता है, जिसमें प्रत्येक की अपने कार्य में अभिरुचि, अबाध्य तथा विवेकपूर्ण होनी और उसकी अपनी क्षमता के साथ इसकी वांछनीयता पर आधारित रहती है। यह तो निश्चित ही है कि हमारी सामाजिक दशा ऐसी नहीं है। शाब्दिक तथा मात्रात्मक भाव में हम कभी ऐसी दशा को नहीं प्राप्त होंगे ; किन्तु, सिद्धान्त में, अब तक उत्पन्न परिवर्तनों के गुणों का रुख इसी दिशा में है। अब इसकी सफलता के अधिक पर्याप्त साधन हैं, जैसा कि पहले कभी नहीं थे। इसे प्राप्त करने की विवेकपूर्ण इच्छा-शक्ति की उपस्थिति में, इसके मार्ग में कोई अलंघ्य बाधा नहीं है।

इसकी प्राप्ति के प्रयत्न की सफलता अथवा विफलता, किसी और वस्तु के बजाय, परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए सोची गई शैक्षणिक विधियों के अपनाने पर अधिक निर्भर है ; क्योंकि परिवर्तन सात्विक रूप से मानसिक संस्कारों के गुणों का परिवर्तन—शिक्षाप्रद परिवर्तन है। इसका यह अर्थ नहीं, कि औद्योगिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के परिवर्तन से अलग, प्रत्यक्ष आदेश तथा प्रबोधन द्वारा चरित्र तथा 'मन' में परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसी धारणा हमारे आधारभूत भाव की विरोधी है, कि मन तथा चरित्र, सामाजिक मामलों में सक्रिय प्रतिचार की मनोवृत्तियाँ हैं ; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि विद्यालयों में उस प्रकार के समाज का प्रक्षेपण उत्पन्न कर सकते हैं, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं तथा मनों का इसके अनुकूल निर्माण कर, धीरे-धीरे वयस्क समाज की बड़ी तथा अधिक दुर्दान्त विशेषताओं को रूपान्तरित कर सकते हैं।

भावात्मक रूप से यह कहना जरा कठोर प्रतीत हो सकता है कि वर्तमान युग का सब से बड़ा दोष, निर्धनता तथा तदुत्पन्न दुःख है ; बल्कि यह तथ्य है कि बहुत-से लोगों को ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जिनमें उनकी रुचि नहीं होती तथा वे केवल बदले में प्राप्त होने वाले धन के लिए ही उन कार्यों को करते हैं। यह सब से बड़ा दोष इसलिए है, कि ऐसे कार्य व्यक्ति में निरन्तर, घृणा, कुभावना तथा अवज्ञा और टाल-मटोल करने की इच्छा जाग्रत करते रहते हैं। न तो लोगों के दिल ही कार्य में लगते हैं, न दिमाग ही। दूसरी ओर वे लोग, सामाजिक सम्पर्क की सामान्यता तथा समता से पृथक् हो जाते हैं, जो केवल सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही अच्छे नहीं हैं, बल्कि जिन्हें बहुतों की क्रियाओं का यदि एकाधिकारी नहीं, तो अत्यधिक नियन्त्रण प्राप्त है। वे अनुग्रह तथा आडम्बर के कार्यों के लिए उद्दीप्त किए जाते हैं। वे शक्ति, अधिक सम्पत्ति तथा आनन्दोत्सवों के

प्रभाव द्वारा, अपने को दूसरों से पृथक् करने वाली दूरी की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा की संकुचित दृष्टिकोण से निर्मित योजना के लिए बहुत संभव है, कि वह इस विलगाव को और भी स्पष्ट रूप से बढ़ावा दे। सामाजिक पूर्व-विधान की रूढ़ि का सहारा लेकर यह ऐसा स्वीकार कर लेगी कि वर्तमान की सी ही आर्थिक परिस्थितियों में बहुतों को वेतन-भोगी ही रहना है तथा उन्हें 'व्यापारिक शिक्षा' देना ही अपना उद्देश्य बना लेगी, अर्थात् अधिक प्रविधिक क्षमता प्रदान करने का प्रयत्न करेगी; किन्तु दुःख है, कि प्रविधिक निपुणता का बहुधा अभाव रहता है, यद्यपि हर प्रकार से यह वांछनीय है—कम व्यय पर अधिक अच्छी सामग्री के उत्पादन के ही लिए नहीं, बल्कि कार्य में अधिक प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए भी; क्योंकि जो किसी काम को आधा भी नहीं कर सकता, उसकी बिल्कुल परवाह नहीं करता। किन्तु, केवल तात्कालिक कार्य तक सीमित निपुणता तथा इसके सामाजिक प्रभावों में अन्तर्दृष्टि रहने की क्षमता में और दूसरों की बनाई हुई योजनाओं को पूरा करने और स्वयं योजना बनाने की क्षमता में बड़ा अन्तर है। आज-कल नियोक्ता तथा नियुक्त दोनों ही वर्गों की बौद्धिक तथा संवेगात्मक सीमाएँ हैं। जहाँ कि नौकर-वर्ग का अपने वेतन के अतिरिक्त अपने व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नहीं होता, नियोक्ताओं का दृष्टिकोण केवल लाभ और शक्ति प्राप्ति तक ही सीमित हो सकता है। इनकी अभिरुचि में अधिक बौद्धिक कार्यारम्भ की रुचि तथा परिस्थितियों में अधिक विस्तृत सिंहावलोकन होता है, क्योंकि इसमें अनेक विभिन्न अवयवों का निर्देश तथा योग करना होता है, जब कि वेतन की अभिरुचि केवल कतिपय मांसपेशीय गतियों तक ही सीमित है। किन्तु, कुछ भी हो, जहाँ तक कार्य में सामाजिक प्रभावों का ज्ञान नहीं होता, बुद्धि केवल प्रविधिक, अपरिष्कृत तथा अनुदार मार्गों तक ही सीमित रह जाती है। और जब मुख्य प्रेरणा, स्वकीय लाभ अथवा स्वकीय बल प्राप्त करने की इच्छा होती है, वहाँ यह सीमा अपरिहार्य है। वास्तव में, अपरोक्ष सामाजिक सहानुभूति, तथा दयापूर्ण मनोवृत्ति का लाभ आर्थिक रूप से भाग्यहीन लोगों को ही होता है, जिन्होंने दूसरों के मामलों के एकांगी नियंत्रण की कठोरता उत्पन्न करने वाले प्रभाव का अनुभव नहीं किया है।

व्यावसायिक शिक्षा की कोई भी योजना, जो वर्तमान औद्योगिक परिस्थितियों से आरम्भ होगी, बहुत सम्भव है, इसके विभागों तथा कमजोरियों को स्वीकार कर ले तथा इन्हें प्रोत्साहित करे। और इस प्रकार सामाजिक पूर्व-विधान की सामंतवादी

रूढ़ि का प्रतिपादन कर। जो ऐसी स्थिति में हैं, कि अपनी इच्छा की पूर्ति कर सकें, वे जिस किशोर से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होंगे, उसके लिए उदार, सांस्कृतिक, तथा उपयुक्त निर्देशन-शक्ति वाले व्यवसाय की मांग करेंगे। इस व्यवस्था को तोड़ कर, कम भाग्यशाली स्थिति के लोगों को विशिष्ट व्यापारिक कार्य की तैयारी की शिक्षा देना, विद्यालयों को, श्रम तथा अवकाश, संस्कृति तथा नौकरी, मन तथा शरीर, निर्देशित तथा निर्देशक-वर्ग के प्राचीन विभाजन को नाम-मात्र के प्रजातंत्रात्मक समाज में रूपान्तरित करने का साधन-मात्र बना देना है। ऐसी व्यावसायिक शिक्षा, अपरिहार्य रूप से, प्रयोग में आने वाली सामग्री तथा प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक मानवीय सम्बन्धों को कम महत्त्व देगी। संकुचित व्यावसायिक शिक्षा में, ऐसी वस्तुओं का समावेश करना, केवल समय नष्ट करना होगा ; क्योंकि उनके लिए प्रयोजन 'व्यावहारिक' न होगा। ये उनके लिए सुरक्षित हैं, जिन्हें अवकाश—उच्च आर्थिक साधनों के कारण अवकाश—रहता है। नियंत्रक-वर्ग के लिए ऐसी बातें, दूसरों के निर्देश में काम करने वाले लोगों में असंतोष अथवा 'अपनी स्थिति' से ऊपर जाने की महत्त्वाकांक्षाएँ उत्पन्न कर खतरनाक भी सिद्ध हो सकती हैं ; किन्तु जो शिक्षा, व्यवसाय के पूर्ण बौद्धिक तथा सामाजिक अर्थ को स्वीकार करती है, आदेश को वर्तमान परिस्थिति की, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में स्वीकार करेगी, इसमें उत्पादन की सामग्री तथा साधनों के प्रयोग में विवेक तथा प्रेरणा प्रदान करने के लिए, विज्ञान में प्रशिक्षण दिया जायगा तथा भावी कर्मचारियों को वर्तमान समस्याओं तथा इनके सुधार के लिए, प्रस्तावित विभिन्न विधियों से परिचित बनाने के लिए, अर्थशास्त्र, नागरिक-शास्त्र तथा राज्य-शास्त्र का अध्ययन सम्मिलित होगा। इसके अतिरिक्त यह परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों से पुनर्समायोजन की शक्ति को प्रशिक्षित करेगी, ताकि भावी कर्मचारी, अपने ऊपर लादे गए भाग्य के अंधे दास न बनें। इस आदर्श को केवल वर्तमान शैक्षणिक परम्पराओं की निष्क्रियता का ही सामना नहीं करना पड़ेगा ; बल्कि उन लोगों के विरोधों का भी सामना करना पड़ेगा, औद्योगिक-संगठन जिनके अधिकार में हैं, तथा जो यह जानते हैं, कि यदि ऐसी शैक्षणिक व्यवस्था सामान्य बना दी जाएगी, तो उनकी दूसरों को अपने लक्ष्य के लिए प्रयोग करने की योग्यता को खतरे में डाल देगी।

किन्तु यही तथ्य तो अधिक साम्यमूलक तथा प्रबुद्ध सामाजिक व्यवस्था की भविष्यवाणी करता है ; क्योंकि, यह शैक्षणिक पुनर्निर्माण पर सामाजिक पुनर्व्यवस्था की निर्भरता का उदाहरण प्रदान करता है ; इसलिए यह उन लोगों को बड़ा

प्रोत्साहन प्रदान करता है, जो ऐसी व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति करने के लिए, अच्छी व्यवस्था में विश्वास करते हैं, जो युवकों को वर्तमान व्यवस्था की माँगों तथा अधिमानों के अधीन नहीं बनाती है ; बल्कि जो इसके वैज्ञानिक तथा सामाजिक अवयवों को, साहसी बुद्धि उत्पन्न करने तथा बुद्धि को व्यावहारिक तथा कार्य-निर्वाहक बनाने के लिए उपयोग में लाती है।

अध्याय का सारांश

व्यवसाय का अर्थ, कोई भी ऐसी निरन्तर क्रिया है, जो दूसरों की सेवा में की जाती है अथवा परिणाम प्राप्त करने के लिए स्वकीय शक्तियों को संलग्न रखती है। शिक्षा के साथ व्यवसाय के सम्बन्ध का प्रश्न, विचार तथा शारीरिक क्रिया, सहचारी जीवन के साथ व्यक्तिगत सचेतन विकास सैद्धान्तिक संस्कृति का निश्चित परिणाम वाले प्रयोगात्मक व्यवहार के साथ, तथा जीवकोपार्जन का अवकाश के उचित आनन्दोपभोग के साथ के सम्बन्धों के पूर्व-विवेचन में आई हुई समस्त समस्याओं को ध्यान में केन्द्रित कर देता है। सामान्य रूप से, शिक्षा में जीवन के व्यावसायिक पक्षों का विरोध, (केवल प्राथमिक शिक्षा के तीन उपयोगी रकारों ' पढ़ने, लिखने और गणित ' की शिक्षा को छोड़कर) भूतकाल के अभिजातकुलीन आदर्शों के कारण होता है ; किन्तु, वर्तमान समय में, व्यावसायिक शिक्षा के लिए आन्दोलन हो रहा है, जो यदि सफल हुआ, तो इन भावों को वर्तमान औद्योगिक स्थिति के अनुकुल रूपों में ढाल देगा। यह आन्दोलन थोड़े से, आर्थिक रूप से आनन्द ले सकने वाले व्यक्तियों के लिए परम्परागत उदार अथवा सांस्कृतिक शिक्षा को कायम रखेगा तथा जन-साधारण के लिए, दूसरों के नियंत्रण में किए जाने वाले विशिष्ट कार्यों के लिए, प्रविधिक व्यापार-शिक्षा का प्रबन्ध करेगा। यह योजना, निसन्देह, केवल प्राचीन सामाजिक विभाजन को, उसके प्रतिरूप बौद्धिक तथा नैतिक द्वैतवादों के साथ व्यक्त करती है ; किन्तु इसका अर्थ इसे ऐसी परिस्थितियों में क्रमशः कायम रखना है, जहाँ इसकी स्थिति अधिक न्यायसंगत नहीं है ; क्योंकि औद्योगिक जीवन अब इतना विज्ञान पर निर्भर है तथा सामाजिक सम्पर्क के प्रत्येक रूप पर अब इतना घनिष्ट प्रभाव डालता है, कि इसे मन तथा चरित्र के विकास में उपयोग करने का अवसर है। इसके अतिरिक्त, इसका उचित शैक्षणिक प्रयोग, बुद्धि तथा अभिरुचि पर ऐसी प्रतिक्रिया करेगा कि विधि-निर्माण, तथा प्रबन्ध के सम्बन्ध में, वर्तमान औद्योगिक तथा वाणिज्य-व्यवस्था की दोषपूर्ण विशेषताएँ परिष्कृत हो जाएँगी। यह सामाजिक सहानुभूति की बढ़ती हुई निधि को, केवल

कुछ-कुछ लोकोपकारी संवेग के रूप में छोड़ देने के बजाय, निर्माणकारी कोप में बदल देगा। यह औद्योगिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को सामाजिक नियंत्रण में भाग लेने की इच्छा तथा योग्यता, और अपने औद्योगिक भाग्य का मालिक बनने की योग्यता प्रदान करेगा। यह उन्हें उन प्रविधिक तथा यांत्रिक विशेषताओं को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए योग्य बना देगा, जो हमारे यांत्रिक उत्पादन तथा विभाजन के विशिष्ट गुण हैं। यह तो उनके लिए है, जिन्हें धनहीन आर्थिक अवसर प्राप्त हैं। समुदाय के अधिक अवसर प्राप्त अंश के प्रतिनिधियों को यह श्रम के लिए सहानुभूति की वृद्धि करेगा, मन में ऐसे भाव उत्पन्न करेगा, जो उपयोगी क्रिया में सांस्कृतिक तत्त्व खोज सकें, तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को बढ़ाएगा। व्यावसायिक शिक्षा के प्रश्न की मुख्य महत्ता, आज इस तथ्य के कारण है, कि यह दो मूलभूत प्रश्नों को एक विशिष्ट विषय पर एकाग्र कर देती है ; प्रकृति को मानव उपयोग में लाने वाली बुद्धि का सर्वाधिक प्रयोग कार्य में ही होता है, अथवा इससे परे तथा वैयक्तिक संस्कृति, सर्वाधिक सुन्दर रूप से सामाजिक परिस्थितियों में प्राप्त की जा सकती है, अथवा अहंवादी-परिस्थितियों में। इस अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन नहीं किया गयाहै ; क्योंकि यह निष्कर्ष केवल पिछले १५ से लेकर २२ अध्याय तक के विवेचन का अंतिम सारांश है।

२४

शिक्षा - दर्शन

आलोचनात्मक सिंहावलोकन

यद्यपि हम अभी तक शिक्षा के दर्शन की ही विवेचना करते रहे हैं, किन्तु दर्शन की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। न अभी तक व्यक्त रूप से शिक्षा के स्वरूप पर ही विचार किया गया है। यह अध्याय, पूर्व विवेचन में निहित तार्किक क्रम का सारांश देकर, उसमें आने वाले दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने के लिए, प्रारम्भ किया जा रहा है। बाद में अधिक दार्शनिक पदों में, व्यवहार में आने वाले, विभिन्न शैक्षणिक आदर्शों में आने वाले, ज्ञान तथा नीति के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

पहले आए हुए अध्याय तार्किक रूप से तीन अंशों में विभक्त किए जा सकते हैं: १—पहले प्रकार के अध्याय सामाजिक आवश्यकता तथा प्रक्रिया के रूप में शिक्षा की विवेचना करते हैं। उनका प्रयोजन, उस प्रक्रिया के रूप में शिक्षा की सामान्य विशेषताओं की रूप-रेखा बनाना है, जिसके द्वारा सामाजिक समुदाय अपनी स्थिति कायम रखते हैं। शिक्षा को, संचरण की प्रक्रिया द्वारा अनुभव के अर्थों के पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया के रूप में दिखाया गया था। अंशतः यह संचरण प्रक्रिया, वयस्कों तथा नवयुवकों के साधारण सहयोग अथवा पारस्परिक सम्पर्क के लिए सांयोगिक है, और आंशिक रूप से, सामाजिक निरन्तरता प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रूप से उत्पन्न की जाती है। यह देखा गया था कि इस प्रक्रिया में, अविकसित व्यक्ति तथा उस समुदाय दोनों का ही नियंत्रण तथा विकास सम्मिलित है, जिसमें वह व्यक्ति जीवन विताता है।

यह विवेचन इस अर्थ में रूपात्मक था, कि सम्बन्धित सामाजिक समुदाय अर्थात् इस प्रकार के समुदाय के गुणों पर विशिष्ट ध्यान नहीं दिया गया, जो शिक्षा द्वारा अपना विकास करना चाहता है; इसलिए सामान्य विवेचन, उन सामाजिक समुदायों के संप्रयोग को व्यक्त करता है, जो साभिप्राय रूप से प्रगतिशील है, तथा जिनका उद्देश्य उन पारस्परिक सहकारी अभिरुचियों के विभिन्न रूपों को प्राप्त करना है, जो केवल पूर्व-स्थापित रीति-रिवाजों के संरक्षण का उद्देश्य रखने

वाली अभिरुचियों से भिन्न हैं। ऐसे संघों की मुख्य विशेषता यह है कि वे प्रजातंत्रात्मक होते हैं, क्योंकि इसके निर्णायक सदस्यों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है तथा मुख्यकर उच्च वर्ग के नियंत्रण में कार्य करने वाले रीति-रिवाजों की शक्ति पर विश्वास करने के बजाय, व्यक्तियों में सचेतन सामाजिक अभिरुचि प्राप्त करने की चेतन आवश्यकता होती है। प्रजातंत्रात्मक समुदाय के विकास के उपयुक्त इस प्रकार की शिक्षा को, इसीलिए शिक्षा के उत्तरकालीन तथा अधिक विस्तृत विश्लेषण के मानदण्ड के रूप में ग्रहण किया गया था।

२—यह देखा गया कि प्रजातंत्रात्मक अधिमान पर आधारित इस विश्लेषण में अनुभव का इस प्रकार का निरन्तर पुनर्निर्माण अथवा पुनर्व्यवस्था निहित है, जिससे इसके स्वीकृत अर्थ अथवा सामाजिक अन्तर्वस्तु की वृद्धि हो, तथा व्यक्तियों में इस पुनर्व्यवस्था के निर्देशक संरक्षकों के रूप में कार्य करने की शक्ति की वृद्धि हो। (देखिए अध्याय ६–७) उसकी विषय-सामग्री तथा विधि की विभिन्न विशेषताओं को रूप-रेखा तैयार करने के लिए, विभेदों का प्रयोग किया गया। इससे उनकी एकता की भी परिभाषा हो गई ; क्योंकि इस आधार की, अध्ययन तथा सीखने की विधि, ठीक अनुभव की विषय-सामग्री की पुनर्व्यवस्था की चेतन रूप से निर्देशित गति है। इसी दृष्टिकोण से ज्ञानार्जन की विषय-सामग्री तथा विधि का विकास किया गया (देखिए अध्याय १३–१४)

३—सिद्धान्तों को विरोध के बल पर स्पष्ट करने के लिए अपनाई गई, सांयोगिक आलोचनाओं के अतिरिक्त विवेचन के इस पक्ष ने सदैव प्रजातंत्रात्मक अधिमान तथा वर्तमान सामाजिक जीवन में इसके संप्रयोग को स्वीकार किया है। बाद के अध्यायों में (१८-२३) हमने इसकी वास्तविक प्राप्ति की वर्तमान सीमाओं पर विचार किया है। वे इस धारणा से उत्पन्न होती पाई गई थीं, कि अनुभव में विभिन्न प्रकार के पृथक् क्षेत्र अथवा अभिरुचियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र महत्ता, सामग्री तथा विधि है ; प्रत्येक एक दूसरे का नियंत्रण करती है, और जब प्रत्येक एक दूसरे से ठीक-ठीक निबद्ध रहती हैं, तब शिक्षा में एक प्रकार का 'शक्ति का संतुलन' उत्पन्न होता है। तब हमने इस पृथक्करण में अन्तर्निहित विभिन्न पूर्व-कल्पनाओं का विश्लेषण किया। व्यावहारिक पक्ष में, वे समाज के, लगभग अनम्य रूप से, विशिष्ट वर्गों तथा समुदायों के विभाजन के कारण उत्पन्न हुए पाए गए—दूसरे शब्दों में, पूर्व तथा नम्य सामाजिक पारस्परिक प्रतिक्रिया तथा सम्पर्क के अवरोधों से उत्पन्न हुए पाए गए। यह देखा गया कि क्रम से ये सामाजिक विच्छेद, विभिन्न द्वैतवादों,

अथवा प्रतिवादों में बौद्धिक रूप से सूत्रबद्ध हुए ; जैसे—श्रम तथा अवकाश, व्यावहारिक तथा बौद्धिक क्रिया, मनुष्य तथा प्रकृति, व्यक्तित्व तथा संघ और संस्कृति तथा व्यवसाय के द्वैतवाद। इस विवेचन में हमने यह देखा कि ये इन विभिन्न विषयों के प्रतिरूप, शास्त्रीय दार्शनिक व्यवस्थाओं के सूत्रों में वर्तमान हैं तथा उन्हीं में दर्शन की प्रमुख समस्याएँ निहित हैं; जैसे—मन (आत्मा) तथा पदार्थ (तत्त्व), शरीर तथा मन, मन तथा विश्व, व्यक्ति तथा उसके दूसरों के साथ के सम्बन्ध इत्यादि। इन विभिन्न पृथक्करणों के मूल में हमें यह कल्पना मिली कि मन, भौतिक परिस्थितियों में की जाने वाली क्रिया, शारीरिक अंगों, भौतिक उपकरणों तथा प्राकृतिक वस्तुओं से विलगाव है। परिणाम-स्वरूप, ऐसे दर्शन की अभिव्यक्ति हुई, जो मन की उत्पत्ति, स्थान तथा कार्य को ऐसी क्रिया में मानता है, जो वातावरण का नियंत्रण करती है। इस प्रकार हमने पूरे क्षेत्र की आवृत्ति पूरी कर ली, और इस पुस्तक के प्रथम अंश की धारणाओं पर पुनः आ जाते हैं ; जैसे—प्राकृतिक शक्तियों के साथ मानवीय शक्तियों तथा मूल-प्रवृत्तियों के विकास-क्रम की निरन्तरता सर्वनिष्ठ प्रयोजन रखने वाली सहकारी क्रियाओं में भाग लेने पर, मन के विकास की निर्भरता, सामाजिक माध्यम में अपने किए गए उपयोग द्वारा भौतिक वातावरण का प्रभाव; प्रगतिशील विकास करने वाले समाज के लिए इच्छा तथा विचार में वैयक्तिक विषमताओं के उपयोग की आवश्यकता, विधि तथा विषय-सामग्री की मूलभूत एकता, साध्य तथा साधनों की अनिवार्य निरन्तरता तथा मन को ऐसे विचार-क्रिया के रूप में स्वीकार करना, जो व्यवहार के अर्थों का प्रत्यक्षीकरण तथा परीक्षण करती है। ये धारणाएँ उस दर्शन के साथ न्याय-संगत हैं, जो बुद्धि को, कार्य द्वारा, अनुभव की सामग्री के सप्रयोजन पुनर्व्यवस्था के रूप में देखता है, और वे कथित द्वैतवादी दर्शनों में से किसी के भी साथ न्याययुक्त नहीं हैं।

दर्शन का स्वरूप

हमारा आगे का कार्य, इन विचारों में निहित दर्शन के भाव को व्यक्त बनाना तथा स्पष्ट करना है। हम पहले ही इसकी समस्याओं के पदों में, दर्शन की व्याख्या कर चुके हैं, यद्यपि इसकी परिभाषा नहीं दी गई है। हम इसका संकेत कर चुके हैं कि ये समस्याएँ सामाजिक जीवन के संघर्षों तथा आपत्तियों से उत्पन्न होती हैं। ये समस्याएँ ये हैं ; जैसे—मन तथा पदार्थ, शरीर तथा आत्मा, मानवता तथा भौतिक प्रकृति, व्यक्ति तथा समाज, और सिद्धान्त अथवा ज्ञान तथा अभ्यास अथवा कर्म के सम्बन्ध। इन समस्याओं को सूत्रबद्ध करने वाली दार्शनिक व्यवस्थाएँ, सम-सामयिक सामाजिक अभ्यास की प्रमुख विशेषताओं तथा आपत्तियों का अंकन करती हैं। अपने प्रचलित अनुभव के गुण के अनुसार मनुष्य ने प्रकृति, अपने-आप तथा इन दोनों को ही अपने में निहित करने वाले, अथवा इन दोनों को ही नियंत्रित करने वाले सत्य के बारे में जो कुछ विचार किया है, उसे ये व्यक्त चेतना में लाती हैं।

जैसा कि हम आशा कर सकते हैं, इसीलिए, दर्शन की परिभाषा सामान्यतय: ऐसी विधियों में की गई है, जो विषय-सामग्री तथा विधि दोनों की ही पूर्णता, सामान्यता तथा चरमत्व को उपलक्ष करती हैं। विषय-सामग्री के सम्बन्ध में, दर्शन, 'समझने' अर्थात् जीवन तथा विश्व के विभिन्न विस्तारों को एक समावेशक 'पूर्ण' में सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न है, जो या तो एकत्व होगा अथवा जैसे द्वैतवादी व्यवस्थाओं में, अनेक विस्तारों को कतिपय चरम सिद्धान्तों में व्यक्त करेगा। दार्शनिक तथा उसके निष्कर्षों को स्वीकार करने वालों की मनोवृत्ति के पक्ष में अनुभव पर इतना एकीकृत, संगत तथा पूर्ण दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया जाता है, जितना संभव हो। यह पक्ष 'फिलासफी' शब्द—अर्थात् 'ज्ञान के प्रेम' से व्यक्त होता है। जब कभी भी दर्शन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है, तभी यह माना गया है कि यह ऐसे ज्ञान का द्योतक है, जो जीवन के आचरण पर प्रभाव डालता है। प्रमाण-स्वरूप इस तथ्य को

लीजिए, कि दर्शन के लगभग सभी प्राचीन मत, जीवन-आचरण के व्यवस्थित ढंग भी थे, जो उनके विचारों को स्वीकार करता था, उसे आचरण की कतिपय विशिष्ट प्रणालियों को भी अपनाना पड़ता था। अथवा मध्यकाल में, रोमन चर्च के धर्मशास्त्र से दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध, धार्मिक अभिरुचियों के साथ इसका सामान्य सम्बन्ध तथा राष्ट्रीय संकट-काल में इसका राजनैतिक संघर्षों के साथ सम्बन्ध, इसका प्रमाण है।

दर्शन का जीवन के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध इसके तथा विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। विज्ञान के विशिष्ट तथ्य तथा नियम, व्यक्त हैं, अर्थात् आचरण पर प्रभाव डालते हैं। वे कार्य-विशेष को करने अथवा न करने का संकेत देते हैं, और कार्य करने के साधन प्रदान करते हैं। जब विज्ञान केवल विश्व के बारे में खोजे गए विशिष्ट तथ्यों का वर्णन-मात्र नहीं करता, अपितु इसके प्रति एक सामान्य दृष्टिकोण—की जाने वाली विशेष बातों से भिन्न रूप में—दिखलाता है, तब यह दर्शन में सन्निहित हो जाता है। क्योंकि अन्तर्भूत संस्कार ऐसी मनोवृत्ति द्योतित करता है, जिसका सम्बन्ध इस या उस वस्तु, अथवा ज्ञात वस्तुओं के योग से भी नहीं होता, बल्कि ऐसे विचारों से है, जो आचरण का नियंत्रण करते हैं।

अतएव केवल विषय-सामग्री के पक्ष में दर्शन की परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसी कारण, सामान्यता, पूर्णता तथा चरमत्व-जैसी धारणाओं की परिभाषा पर, जिस विश्व को ये व्यक्त करते हैं, उसके प्रति के संस्कारों की ओर से पहुँचा जा सकता है। किसी भी शाब्दिक तथा मात्रात्मक भाव में, ये पद ज्ञान की विषय-सामग्री पर नहीं संप्रयुक्त होते हैं, क्योंकि पूर्णता और अन्तता का इसमें कोई प्रश्न ही नहीं उठता। निरन्तर तथा परिवर्तित होने वाली प्रक्रिया के रूप में अनुभव का स्वरूप ही इसे रोकता है। कम अनम्य भाव में, वे दर्शन के बजाय विज्ञान पर अधिक लागू होते हैं; क्योंकि विश्व के तथ्यों को प्राप्त करने के लिए हमें गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन-विज्ञान, प्राणि-शास्त्र, मानव-शास्त्र तथा इतिहास की ओर जाना होता है, दर्शन की ओर नहीं। यह तो विज्ञान ही बताता है कि विश्व के बारे में कौन-कौन-से सामान्यीकरण शुद्ध हैं, और वे विशिष्ट रूप से क्या हैं; किन्तु, जब हम यह पूछते हैं कि हम में, विश्व के प्रति कार्य के किस 'प्रकार' के स्थाई संस्कार, वैज्ञानिक अन्वेषण बनाते हैं, तो हमारा प्रश्न दार्शनिक हो जाता है।

इस दृष्टिकोण से 'संपूर्णता' का अर्थ मात्रात्मक एकत्रीकरण का नीरस कार्य

नहीं है। इस अर्थ में घटित होने वाली अनेक घटनाओं के सम्बन्ध में प्रतिचार की प्रणाली की संगति है। संगति का अर्थ शाब्दिक तादात्म्य नहीं है, क्योंकि वही घटना दुबारा नहीं घटित होती है, अतएव किसी प्रतिक्रिया का ठीक-ठीक पुनः दुबारा होना, किसी-न-किसी दोष का द्योतक है। सम्पूर्णता का अर्थ निरन्तरता है—अर्थात् कार्य करने की एक पूर्व-आदत को, जीवित रखने तथा विकसित करने के लिए आवश्यक पुनर्समायोजनों के साथ जारी रखना है। कार्य करने का पूर्व-निश्चित पूर्ण क्रम व्यक्त करने के बजाय इसका अर्थ है, विभिन्न कार्यों की विविधताओं को इस प्रकार संतुलन में रखना कि प्रत्येक दूसरे को महत्त्व प्रदान करे तथा ग्रहण करे। किसी व्यक्ति के संस्कार वहाँ तक दार्शनिक हैं, जहाँ तक, वह नवीन प्रत्यक्षीकरणों के लिए तैयार रहता है तथा उनके प्रति उदार दृष्टिकोण रखता है, उन्हें सम्बन्धित करने का उत्तरदायित्व अनुभव करता है, और एकाग्रतापूर्वक उन्हें संवद्ध करता है। दर्शन का एक प्रचलित अर्थ हानि तथा आपत्तियों की उपस्थिति में शान्ति तथा सहनशीलता रखना भी है ; यह भी माना गया है, कि बिना किसी हिचक के कष्टों को सहन करने की शक्ति है। यह अर्थ, सामान्यतया दर्शन की विशेषता नहीं, केवल स्टोइक दर्शन के प्रभाव का परिशेष है। किन्तु, जहाँ तक इससे यह संकेत मिलता है कि संपूर्ण रूप से दर्शन की विशेषता, ज्ञानार्जन की शक्ति तथा अनुभव के अवांछित परिवर्तनों से भी अर्थ निकालना एवं अर्जित ज्ञान को ज्ञान ग्रहण करते जाने की योग्यता में साकार करना है ; यह किसी भी योजना में न्याय-संगत है। इसी प्रकार की व्याख्या, दर्शन के सामान्यत्व तथा चरमत्व पर भी लागू है। यदि शाब्दिक रूप से लिया जाय, तो ये गलत धारणाएँ हैं, इनसे पागलपन व्यक्त होता है। कुछ भी हो, अन्तता का अर्थ, यह नहीं है कि अनुभव का अन्त हो जाता है तथा यह समाप्त हो जाता है, बल्कि अर्थ के गंभीरतर स्तरों में प्रवेश करना—किसी घटना अथवा वस्तु के सम्बन्धों का अनुसंधान करने के लिए धरातल के नीचे जाकर अन्वेषण करना तथा उस पर स्थिर रहना है। इसी प्रकार, दार्शनिक दृष्टिकोण इस भाव में सामान्य है, कि यह किसी भी वस्तु को पृथक् अकेले नहीं ग्रहण करना चाहता, यह किसी भी कार्य को उसके उस संदर्भ में रखने का प्रयत्न करता है, जिसके कारण इसका महत्त्व है।

इससे, ज्ञान से पृथक्, विचार के साथ दर्शन को संवद्ध करने में सहायता मिलती है। ज्ञान, आधारभूत ज्ञान, विज्ञान है। यह उन वस्तुओं को व्यक्त करता है, जो विवेकपूर्वक निश्चित, व्यवस्थित तथा निर्णीत हो चुकी हैं। दूसरी

ओर विचारना, सम्बन्ध में भविष्य से सम्बन्धित होता है। यह अनिश्चय के कारण उत्पन्न होता है तथा इसका उद्देश्य किसी विक्षोभ को दूर करना है। दर्शन वह विचार है, जिसकी ज्ञात बातें हम से माँग करती हैं—अर्थात् यह कौन सी प्रतिचारात्मक मनोवृत्ति निश्चित करता है। यह किसी प्राप्त तथ्य का आलेख नहीं, वल्कि किसी संभाव्य का भाव है। अतएव, यह भी हर विचार की तरह अनुमानित होता है। यह कोई ऐसा कार्यक्रम उपस्थित करता है, जिसे करना होता है, जिस पर प्रयत्न करना होता है। इसकी महत्ता हल उपस्थित करने में नहीं, (वह तो केवल कार्य में प्राप्त किए जा सकते हैं) वल्कि आपत्तियों की परिभाषा करने तथा उनका सामना करने की विधियों का संकेत करने में हैं। दर्शन को लगभग ऐसा विचार कहा जा सकता है, जो स्वयं अपने-आप के प्रति चेतन हो गया हो—जिसने अनुभव में अपने स्थान, कार्य तथा मूल्य का सामान्यीकरण कर दिया हो।

अधिक विशिष्ट रूप से, 'संपूर्ण' के लिए मनोवृत्ति इसलिए उत्पन्न होती है कि जीवन की विभिन्न विरोधी अभिरुचियों में एकात्मकता की आवश्यकता होती है। जहाँ अभिरुचियाँ इतनी धरातलीय होती हैं, कि वे स्वतः एक दूसरे में घुली-मिली होती हैं, अथवा वे यथेष्ट रूप से संगठित न होने के कारण ही एक दूसरे से संघर्ष करती रहती हैं, वहाँ दर्शन की आवश्यकता अधिक प्रत्यक्ष नहीं होती। किन्तु, जब वैज्ञानिक अभिरुचि का धार्मिक अभिरुचि, अथवा आर्थिक का वैज्ञानिक अथवा सौन्दर्यात्मक अभिरुचि से संघर्ष होता है ; अथवा जब व्यवस्था के रूढ़िवादी प्रयोजन का स्वतंत्रता की प्रगतिशील अभिरुचि के साथ संघर्ष होता है ; अथवा जब संस्थावाद का व्यक्तिवाद से विरोध होता है, तब किसी ऐसे व्यापक दृष्टिकोण का अनुसंधान करने का उद्दीपन होता है, जिससे विषमताओं को एकात्मक बनाया जा सके, तथा अनुभव की संगति और निरंतरता पुनः प्राप्त की जा सके। प्रायः ये संघर्ष व्यक्ति द्वारा अपने-आप के लिए हल किए जा सकते हैं। उद्देश्यों के संघर्ष का क्षेत्र सीमित कर दिया जाता है ; और व्यक्ति अपना मोटा रास्ता निर्धारित कर लेता है। ऐसे स्वयं-निर्मित दर्शन वास्तविक होते हैं तथा प्रायः पर्याप्त भी होते हैं। किन्तु, उनसे दर्शन की व्यवस्थाएँ नहीं निर्मित होती हैं। ये तभी उत्पन्न होती हैं, जब आचरण के विभिन्न आदर्शों के संगत अधिकारों का समुदाय पर पूर्णरूप से प्रभाव पड़ता है, और पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता सामान्य होती है।

इन विशेषताओं से कुछ ऐसी बातों की व्याख्या होती है, जो दर्शनों के

विरोध में आपत्तियों के रूप में उपस्थित की जाती हैं ; जैसे—उनमें वैयक्तिक चिंतन का कार्य, उनका विवादात्मक वैषम्य तथा यह तथ्य, कि दर्शन बार-बार लगभग विभिन्न रूप से कथित, लगभग उन्हीं प्रश्नों पर विचार करता है। निस्संदेह ये सभी बातें ऐतिहासिक दर्शन में पाई जाती हैं। किन्तु, वे दर्शन के लिए आपत्तियां इसलिए नहीं हैं कि यह तो मानव-स्वभाव में ही आती हैं तथा उस विश्व की भी विशेषताएँ हैं, जिसमें मानव-स्वभाव कार्य करता है। यदि जीवन में वास्तविक अनिश्चितताएँ हैं, तो दर्शनों में उनका परावर्तन अवश्य ही होगा । यदि किसी आपत्ति के कारणों के अनेक निदान हैं तथा इसके हल करने के अनेक प्रस्ताव हैं, अर्थात् यदि अभिरुचियों का संघर्ष करीव-करीव विभिन्न प्रकार के लोगों में है, तो अनेक प्रतियोगी दर्शनों का होना अवश्यम्भावी है। जो कुछ घटित हुआ है, वही सहमति तथा निश्चय लाने की आवश्यकता का पर्याप्त प्रमाण है। वस्तु, स्वयं निश्चित है। किन्तु इसके संबंध में कि किसी संश्लिष्ट परिस्थिति में क्या करना बुद्धिमानी है, विवेचन संभवतः इसलिए अपरिहार्य है, कि वस्तु स्वयं अभी अनिश्चित है। शांतिपूर्वक, आराम के साथ जीवन बिताने वाले अधिकारी-वर्ग से कभी भी वही दर्शन रखने की आशा नहीं की जा सकती, जो अपने जीवन को बिताने के लिए अनवरत संघर्ष करने वाले वर्ग में हो। यदि धनी तथा निर्धन दोनों का ही विश्व के प्रति एक ही मूलभूत दृष्टिकोण होता, तो इससे उनका पाखंड अथवा गंभीरता का अभाव ही व्यक्त होता। कोई औद्योगिक कार्यों में, वाणिज्य तथा व्यवसाय में क्रियाशील समुदाय, जीवन की आवश्यकताओं तथा संभावनाओं को उसी रूप में नहीं देखेगा, जैसे कि उच्च सौन्दर्यात्मक संस्कृति वाला देश देखेगा, जिसमें प्रकृति की शक्तियों को यांत्रिक बनाने का कम उपक्रम किया जाता है। क्रमवद्ध इतिहास रखने वाला सामाजिक समुदाय किसी विषम स्थिति के प्रति उस समुदाय की अपेक्षा मानसिक रूप से भिन्न प्रकार का प्रतिचार करेगा, जिसने केवल आकस्मिक परिवर्तनों के आघात का अनुभव किया है। यदि एक ही प्रकार के आँकड़े प्रस्तुत किए जाएँ, तो भी उनका मूल्यांकन भिन्न होगा ; किन्तु विभिन्न प्रकार के जीवन से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के अनुभव एक ही प्रकार के आँकड़े नहीं उत्पन्न होने देते तथा महत्ताओं की विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन विवेचनों को सम-सामयिक संश्लिष्टताओं में अर्थान्वित करने के कारण समस्याओं की समानता वास्तविक की अपेक्षा अधिक प्रातिभासिक है। किन्तु, कुछ मूलभूत अर्थों में,

जीवन की वही समस्याएँ, समय-समय पर, केवल ऐसे परिवर्तनों के साथ उपस्थित होती हैं, जो विज्ञान के विकास के साथ, सामाजिक संदर्भ में परिवर्तन हो जाने के कारण उत्पन्न हुए हैं।

यह तथ्य, कि दार्शनिक समस्याएँ, सामाजिक अभ्यास के विस्तार में अधिक विस्तृत रूप से अनुभव की गई आपत्तियों के कारण उत्पन्न होती हैं—पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हो पाता ; क्योंकि दार्शनिकों का एक विशिष्ट वर्ग बन जाता है, जो प्रविधिक भाषा का प्रयोग करता है और यह उस भाषा से भिन्न होती है, जिसमें प्रत्यक्ष कठिनाइयों का कथन होता है। किन्तु, जब कोई व्यवस्था प्रभावशाली बन जाती है, तब सामाजिक समायोजन उपक्रम उत्पन्न करने वाले, इसके अभिरुचियों के साथ के संघर्षों के संबंध सदैव खोजे जा सकते हैं। इस अवसर पर, शिक्षा तथा दर्शन का घनिष्ठ संबंध दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में, शिक्षा से ऐसा आधार प्राप्त होता है, जिससे, दार्शनिक विवेचनों की, प्रविधिक से विशिष्ट, मानवीय महत्ता में प्रवेश कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। 'स्वयं' दर्शन के विद्यार्थी के लिए सदैव यह भय बना रहता है कि वह इसे ऐसे प्रखर अथवा पृथक् बौद्धिक अभ्यास के रूप में ग्रहण करे, जैसा कि दार्शनिकों द्वारा कहा गया है तथा केवल उन्हीं से संबंधित है। किन्तु, जब दार्शनिक विषयों पर उस पक्ष से दृष्टिपात किया जाता है, जो उनसे संबंधित मानसिक संस्कारों अथवा उन पर कार्य करने से शैक्षणिक अभ्यास में उत्पन्न परिवर्तनों पर आधारित होता है, तब उनके द्वारा सूत्रबद्ध होने वाली जीवन की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सामान्य दृष्टिकोण से अधिक दूर नहीं जाना पड़ता। यदि कोई सिद्धांत शैक्षणिक प्रयत्न में कोई अंतर नहीं उत्पन्न करता, तो वह अवश्य ही कृत्रिम है। शैक्षणिक दृष्टिकोण, व्यक्ति को दार्शनिक समस्याओं को ऐसे दृष्टिकोण से देखने के योग्य बनाता है, जहाँ वे उत्पन्न होतीं तथा फलती-फूलती हैं—जहाँ से उन्हें अच्छी तरह से समझा जा सकता है, और जहाँ स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से अभ्यास में अंतर आता है।

यदि हम शिक्षा को, प्रकृति और सहजीवी मनुष्यों के प्रति, बौद्धिक और संवेगात्मक, मूलभूत संस्कारों के निर्माण की प्रक्रिया मानें, तो दर्शन को 'शिक्षा के सामान्य सिद्धांत' की भी परिभाषा दे सकते हैं। जब तक दर्शन प्रतीकात्मक, अथवा शाब्दिक, केवल थोड़े-से व्यक्तियों का संवेगात्मक कार्य, अथवा स्वेच्छाचारी सिद्धांत के रूप में रहेगा, इसके भूतकालीन अनुभव तथा इसके महत्ताओं के क्रम के संपादन का आचरण में अवश्य प्रभाव रहेगा। जन-साधारण के आंदोलन,

प्रचार, वैधानिक तथा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्य, दर्शन द्वारा वांछनीय कहे गए, संस्कारों के परिवर्तन उत्पन्न करने में सफल हैं ; किन्तु केवल उसी सीमा तक, जहाँ तक वे शिक्षात्मक हैं---कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ तक वे मानसिक तथा नैतिक मनोवृत्तियों को परिष्कृत करते हैं। तथा अधिक-से-अधिक अच्छे रूप में, ऐसी विधियाँ, इसलिए मध्यम मार्ग की समझती जाती हैं कि ये उनके साथ प्रयोग में आती हैं, जिनकी आदतें अधिकांश रूप से पहले ही से निश्चित होती हैं, अल्पवयस्कों की शिक्षा में तो उनके कार्य करने का और भी अच्छा तथा स्वतंत्र क्षेत्र हैं। दूसरी ओर, पाठशाला की शिक्षा का कार्य यांत्रिक व्यावहारिक विषय बन जाता है, यदि इसके उद्देश्य तथा विधियाँ, इसके समसामयिक जीवन में स्थान के ऐसे विस्तृत तथा सहानुभूतिपूर्ण सिंहावलोकन द्वारा अनुप्राणित नहीं होती हैं, जैसा कि दर्शन को प्रदान करना चाहिए।

विधायक विज्ञान में व्यावहारिक रूप से ऐसे साध्य निहित होते हैं, जिन्हें प्राप्त करना समुदाय का कार्य है। ऐसे साध्यों से पृथक् होने पर यह उपेक्षा का विषय बन जाता है—इसके अनुसंधानों का रोगों की चिकित्सा के लिए प्रयोग किया जाय, या उन्हें फैलाने के लिए, या जीवन के मुख्य तत्त्वों के साधनों की वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाय, या जीवन को समाप्त कर देने के लिए युद्ध-सामग्री के उत्पादन में। यदि समुदाय इनमें से दूसरों के बजाय किसी एक बात में अभिरुचि लेता है, तो विज्ञान उसकी प्राप्ति का मार्ग दिखलाता है। इस प्रकार दर्शन के दो कार्य हैं—एक तो विज्ञान की वर्तमान स्थिति के अनुसार वर्तमान उद्देश्यों की आलोचना करना है, ऐसी महत्ताओं का संकेत करना, जो नवीन साधनों पर अधिकार कर लेने के साथ-साथ गत-प्रयोग हो गई हैं ; यह दिखाना कि कौन-कौन-सी महत्ताएँ केवल संवेगात्मक हैं, क्योंकि उनकी प्राप्ति का कोई साधन नहीं हैं तथा भावी सामाजिक प्रयत्न पर पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में विशिष्टीकृत विज्ञान के परिणामों की व्याख्या करना भी है। क्या किया जाय तथा क्या न किया जाय---इसके संबंध में शैक्षणिक पर्यायों के बिना, इसके लिए इन सब कार्यों में सफलता प्राप्त करना असंभव है ; क्योंकि दार्शनिक सिद्धांत के पास कोई अलादीन का चिराग तो है नहीं, कि यह जिन अभिमूल्यों को बौद्धिक रूप से निर्मित करे, उन्हें तत्काल ही उपस्थित भी कर सके। यांत्रिक कलाओं में विज्ञान वस्तुओं का प्रबंध करने की विधियाँ बन जाते हैं, ताकि स्वीकृत उद्देश्यों के लिए उनकी शक्तियों का उपयोग हो सके। शिक्षात्मक कलाओं द्वारा दर्शन, जीवन की गंभीर तथा विचारपूर्ण धारणाओं के अनुकूल

मनुष्यों की शक्तियों का उपयोग करने की विधियाँ उत्पन्न कर सकता है। शिक्षा ऐसी प्रयोगशाला है, जिसमें दार्शनिक विशिष्टताएँ मूर्त बनती तथा परीक्षित होती हैं।

यह महत्त्वपूर्ण विषय है कि यूरोपीय दर्शन (एथीनियनों में) शैक्षणिक प्रश्नों के प्रत्यक्ष दबाव में उत्पन्न हुआ। यूनानियों द्वारा एशियामाइनर तथा इटली में विकसित किया हुआ, दर्शन का पूर्व इतिहास, जहाँ तक इसके विषयों के विस्तार-क्षेत्र का संबंध है, मुख्य रूप से दर्शन के उस रूप का जैसा कि यह आज समझा जाता है, अध्याय होने के बजाय, विज्ञान के इतिहास का एक अध्याय है। इसने प्रकृति को अपना विषय बनाया तथा इस पर विचार किया कि वस्तुओं का निर्माण कैसे होता है, और वे कैसे परिवर्तित होती हैं। बाद में सॉफिस्ट कहे जाने वाले, यात्रा करने वाले गुरुओं ने, प्राकृतिक दार्शनिकों की विधियों तथा परिणामों का मानव-आचरण में संप्रयोग करना प्रारंभ किया।

जब यूरोप के सर्व-प्रथम पेशेवर शिक्षकों के समुदाय, "सॉफिस्टों" ने युवकों को सदाचार, राजनैतिक कलाओं तथा नगर और घरेलू प्रबंध की शिक्षा दी, तब दर्शन व्यक्तिगत तथा सार्विक, व्यापक वर्ग अथवा किसी समुदाय के संबंधों तथा मनुष्य और प्रकृति, परंपरा और चिंतन, ज्ञान और कर्म के संबंधों पर विचार करने लगा। उन्होंने ये प्रश्न किए कि क्या सदाचार से किसी भी दिशा में स्वीकृत उत्कृष्टता सीखी जा सकती है? सीखना क्या है? इसका संबंध ज्ञान से है। तो ज्ञान क्या है? यह कैसे प्राप्त होता है? इन्द्रियों द्वारा अथवा किसी प्रकार के कार्य में शिक्षा द्वारा अथवा प्राथमिक तार्किक अनुशासन से गुजरे हुए विवेक द्वारा? चूँकि सीखने का अर्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना है, इसकी गति अज्ञान से ज्ञान, अभाव से पूर्णता, दोष से आदर्श और यूनानी शब्दों में असद् से सद् की ओर होती है। ऐसी प्रगति कैसे संभव होती है? क्या परिवर्तन, निर्माण, विकास, वास्तव में संभव है? यदि हाँ, तो कैसे? और कल्पना कीजिए कि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाय, तो शिक्षा तथा ज्ञान का सदाचार से क्या संबंध है?

चूँकि सदाचार वास्तव में कार्य में निवास करता है, इसलिए इस अंतिम प्रश्न से, विवेक के कार्य के साथ, सिद्धांत के अभ्यास के साथ के संबंध की समस्या की उत्पत्ति हुई। क्या ज्ञान, मनुष्य के सर्वोत्तम विशेष व्यवच्छेदक धर्म विवेक की क्रिया नहीं है? तथा परिणाम-स्वरूप, क्या शुद्ध बौद्धिक क्रिया स्वयं सभी उत्कृष्टताओं में सर्वोच्च नहीं है, जिसकी तुलना में, सद् सह-आवास, और नागरिक जीवन के गुण गौण हैं? अथवा दूसरी ओर क्या वह बौद्धिक

ज्ञान जिस पर लोग गर्व करते हैं, मनुष्यों को सामुदायिक जीवन में बांधने वाले, सामाजिक बंधनों को नष्ट करने वाले तथा चरित्र को परिभ्रष्ट करने वाले खोखले तथा व्यर्थ प्रदर्शन से अधिक है? क्या एकमात्र सद्, क्योंकि एकमात्र नैतिक जीवन, समुदाय के परंपरागत अभ्यासों के आज्ञापालक स्वभाव के निर्माण द्वारा ही नहीं प्राप्त होता? तथा क्या नवीन शिक्षा, अच्छी नागरिकता की शत्रु नहीं है, क्योंकि यह समुदाय की परंपराओं द्वारा प्रतिष्ठित अभिमान का प्रतिद्वंदी मानदंड उपस्थित करती है?

दो या तीन पीढ़ियों में, ऐसे प्रश्नों की, उनके शिक्षा पर पड़ने वाले मौलिक व्यावहारिक प्रभाव से पृथक् कर, स्वयं उन्हीं के लिए विवेचना की गई। अर्थात् अनुसंधान की स्वतंत्र शाखा के रूप में इन्हें दर्शन का विषय बनाया गया। किन्तु, यह तथ्य दर्शन और शिक्षा के घनिष्ठ संबंध का ज्वलंत उदाहरण है कि यूरोपीय दार्शनिक विचारधारा, शैक्षणिक प्रणाली के सिद्धांत के रूप में उत्पन्न हुई। "शिक्षा का दर्शन" पूर्व-निश्चित भावों का, मूल रूप से विभिन्न प्रकार की उत्पत्ति तथा प्रयोजन वाले अभ्यासों की व्यवस्था पर संप्रयोग नहीं है। यह केवल सम-सामयिक सामाजिक जीवन की कठिनाइयों के संबंध में, उचित मानसिक तथा नैतिक आदतों के निर्माण की समस्याओं को व्यक्त रूप से मतबद्ध करना है; इसलिए दर्शन की परमव्यापक परिभाषा, जो दी जा सकती है, वह यह है कि यह अपने सर्वाधिक सामान्य पदों में शिक्षा का सिद्धांत है।

इस प्रकार दर्शन, शिक्षा तथा सामाजिक आदर्शों तथा विधियों का पुनर्निर्माण साथ-ही-साथ होता है। यदि वर्तमान समय में, शैक्षणिक पुनर्निर्माण की विशेष आवश्यकता है, यदि यह आवश्यकता, परंपरागत दार्शनिक व्यवस्थाओं के मौलिक भावों पर पुनर्विचार परमावश्यक बना देती है, तो इसका कारण विज्ञान के विकास, औद्योगिक क्रांति, तथा प्रजातंत्र के विकास का सहगामी, सामाजिक जीवन का व्यापक परिवर्तन है। ऐसे व्यावहारिक परिवर्तन, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा-संबंधी सुधार की मांग तथा बिना व्यक्तियों से यह प्रश्न पुछाए संभव नहीं है, कि इन सामाजिक परिवर्तनों में कौन-कौन-से भाव तथा आदर्श निहित हैं, तथा इनके लिए उन भावों तथा आदर्शों में कौन-कौन से संशोधन करने पड़ेंगे, जो प्राचीन तथा भिन्न प्रकार की संस्कृतियों से संक्रांत हुए हैं। सांयोगिक रूप से, पूरी पुस्तक में, व्यक्त रूप से अंतिम कुछ अध्यायों में, हम केवल ऐसे ही प्रश्नों पर विचार करते

रहे हैं, कि उनका मन तथा शरीर, सिद्धांत तथा अभ्यास, मनुष्य तथा प्रकृति, व्यक्ति तथा समाज इत्यादि के संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अपने अंतिम अध्यायों में हम, पहले ज्ञान के दर्शन के संबंध में तथा बाद में नैतिक शिक्षा के संबंध में अपने पूर्व-विवेचन का सारांश देंगे।

अध्याय का सारांश

पूर्व-विवेचनों में निहित दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने के लिए अपनाए गए सिंहावलोकन के पश्चात्, शिक्षा के सामान्यीकृत सिद्धांत के रूप में दर्शन की परिभाषा दी गई है। दर्शन को विचार का ऐसा रूप कहा गया था, जो सभी विचारों की तरह, अनुभव की विषय-सामग्री के अनिश्चित तथ्यों से उत्पन्न होता है, जिसका उद्देश्य, असमंजस का स्वरूप निर्धारित करना, तथा इसे दूर करने के लिए परिकल्पनाएं निर्मित करना है, जिनकी कार्य में परीक्षा हो सके। दार्शनिक विचार का व्यवच्छेदक धर्म यह तथ्य है कि वे अनिश्चितताएँ, जिनका यह निराकरण करता है, संस्थाओं, अधिकारों तथा व्यवस्थित अभिरुचियों के संघर्ष की विस्तृत सामाजिक परिस्थितियों तथा उद्देश्यों में प्राप्त होती हैं। चूंकि विरोधी मनोवृत्तियों के संगत पुनर्समायोजन का एकमात्र ढंग, संवेगात्मक तथा बौद्धिक संस्कारों का परिष्कार है, इसलिए दर्शन, जीवन की विभिन्न अभिरुचियों, व्यक्त सूत्रबद्धता, तथा ऐसे दृष्टिकोणों और विधियों को प्रस्तुत करता है, जिनके द्वारा अभिरुचियों का अधिक अच्छा संतुलन उत्पन्न किया जा सकता है। चूंकि शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे आवश्यक रूपांतरण प्राप्त किया जा सके और वांछनीय कार्य के लिए परिकल्पना-मात्र न रह जाय ; इसलिए हम इस कथन को न्याय-संगत पाते हैं, कि दर्शन ऐच्छिक रूप से किए जाने वाले अभ्यास के लिए शिक्षा का सिद्धांत है।

२५
ज्ञान के सिद्धांत

निरन्तरता बनाम द्वैतवाद

पिछले अध्यायों में ज्ञान-सम्बन्धी अनेक सिद्धांतों की आलोचना की गई है। यद्यपि उनमें से प्रत्येक में एक दूसरे से अंतर है, फिर भी वे मौलिक संबंध में सभी एकमत हैं, जो उन्हें विधानात्मक रूप से प्रस्तुत सिद्धांत के विरोध में रखता है। इस सिद्धांत में 'निरंतरता' है ; पूर्व-सिद्धांतों में मौलिक विभाजन, विलगाव अथवा प्रविधिक शब्दों में द्वैतवाद निहित है। हमने देखा था कि इन विभाजनों की उत्पत्ति उन निश्चित रुकावटों में है, जो एक ही समुदाय में विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से अलग रखती हैं ; जैसे—धनी तथा निर्धन, स्त्री तथा पुरुष, उच्च तथा नीच, और अधिकारी तथा अधिकृत इत्यादि। ऐसी रुकावटों का अर्थ है—स्वतंत्र तथा सरल संपर्क का अभाव। यह अभाव, ऐसे विभिन्न प्रकार के जीवन-अनुभवों को प्रस्तुत करना है, जिनमें प्रत्येक अपने पृथक्, विषय-सामग्री, उद्देश्य तथा अभिमूल्यों के अधिमान हों। यदि दर्शन को अनुभव का निष्पक्ष वर्णन करना है, तो ऐसी प्रत्येक सामाजिक परिस्थिति द्वैतवादी दर्शनों में ही सूत्रवद्ध होगी। जब ये द्वैतवाद से परे जाते हैं—जैसा कि 'रूप' में अनेक दर्शन करते हैं—तो ऐसा केवल अनुभव में पाए जाने वाली सभी वस्तुओं से उच्च वस्तु का सहारा लेकर ही—किसी अनुभवातीत विश्व की उड़ान भरकर ही कर सकते हैं। और ऐसे सिद्धांत नाम में, ऐसे द्वैतवाद को अस्वीकृत करके, वास्तव में स्वीकार करते हैं ; क्योंकि उनका अंत, इस संसार की वस्तुओं के प्रातिभासिक विश्व तथा सत्य के अप्राप्य तत्त्व के विभाजन में होता है।

जहाँ तक ये विभाग स्थित रहते हैं, तथा इनमें और भी जोड़े जाते हैं, शैक्षणिक व्यवस्था पर उनका प्रभाव अवश्य पड़ता है, जब तक शिक्षा की योजना, पूर्ण रूप से देखे जाने पर, विभिन्न प्रणालियों तथा प्रयोजनों का योग नहीं बन जाती। परिणाम, पृथक्-पृथक् अवयवों तथा अभिमूल्यों का ऐसा संतुलन तथा नियंत्रण होता है, जिसका वर्णन किया जा चुका है। (देखिए अध्याय १८).

वर्तमान विवेचन केवल जानने के सिद्धांत में निहित, विभिन्न प्रतिवादी धारणाओं को, दर्शन की शब्द-व्यंजना में सूत्रबद्ध करता है।

सर्व-प्रथम प्रयोगात्मक तथा उच्च विवेकात्मक ज्ञान का विरोध आता है। प्रथम का संबंध प्रतिदिन के व्यवहार से है। यह उन साधारण व्यक्तियों के प्रयोजनों की पूर्ति करता है, जिनको कोई विशिष्ट बौद्धिक कार्य नहीं करना होता तथा उनकी आवश्यकताओं को, तात्कालिक वातावरण के साथ कुछ काम करने वाले संबंधों में लाता है। ऐसे ज्ञान को केवल उपयोगी-मात्र, सांस्कृतिक महत्त्व से हीन कहकर, यदि तिरस्कृत नहीं किया जाता, तो कम महत्त्व का अवश्य ही समझा जाता है। विवेक-पूर्ण ज्ञान को कुछ ऐसा समझा जाता है, जो सत्य को उसके चरम स्वरूप में बौद्धिक रूप से स्पर्श करता है। इसकी प्राप्ति केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए, तथा उचित रूप से केवल सैद्धान्तिक अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए होती है, तथा व्यवहार में संप्रयुक्त करके इसे आधार-विहीन नहीं बनाया जाता। सामाजिक रूप से, इस विभेद का प्रतिरूप, श्रमिक-वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली बुद्धि, तथा जीविकोपार्जन के साधनों के संबंध से दूरस्थ शिक्षित-वर्ग के प्रयोग की बुद्धि का विभेद है।

दार्शनिक रूप से यह विभेद, विशेष तथा सार्विक के विभेद में केन्द्रित है। अनुभव करीब-करीब पृथक् विशेषों का योग है, जिनमें से प्रत्येक का परिचय पृथक्-पृथक् प्राप्त किया जाता है। विवेक का संबंध, सार्विक, सामान्य सिद्धांत तथा नियमों से है, जो मूर्त विस्तारों के स्तर से ऊपर होते हैं। शैक्षणिक ज्ञान में, एक ओर तो विद्यार्थी से, स्वतंत्र रूप से, पृथक्-पृथक् स्थित, अनेक विषयों की विशिष्ट सूचना संग्रह करने की आशा की जाती है, दूसरी ओर कतिपय निश्चित नियमों तथा सामान्य संबंधों का परिचय प्राप्त करने की। भूगोल, जैसा कि सामान्यतया पढ़ाया जाता है, उस रूप में प्रथम का उदाहरण है, और प्रारंभिक गणना से परे, गणित, दूसरे प्रकार के ज्ञान का। सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए, ये दो स्वतंत्र संसार व्यक्त करते हैं।

दूसरे प्रतिवाद का संकेत ज्ञान-प्राप्ति शब्द के दो पृथक् भावों से मिलता है। एक ओर तो 'ज्ञान-प्राप्ति' पुस्तकों तथा ज्ञानवान व्यक्तियों द्वारा दिए गए, ज्ञात तथ्यों का योग है। यह बाह्य होता है तथा अभिज्ञानों का संग्रह होता है, जैसे कोई किसी गोदाम में भौतिक सामग्रियों का संग्रह करता हो। सत्य पूर्व-निश्चित रूप में कहीं स्थित होता है। अतएव, अध्ययन ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति ज्ञान को भंडार से निकाल कर स्वयं ग्रहण करता है। दूसरी ओर,

ज्ञान-प्राप्ति का अर्थ वह है, जो कुछ व्यक्ति अध्ययन करके करता है। यह स्वकीय रूप से परिचालित, क्रियाशील विषय है। यहाँ द्वैतवाद, वाह्य रूप के, अथवा जैसा कि प्रायः कहा जाता है, वस्तुनिष्ठ ज्ञान तथा केवल आंतरिक व्यक्तिनिष्ट तथा आत्मिक रूप की ज्ञान-प्राप्ति में है। एक ओर तो पूर्व-निश्चित सत्य का निकाय होता है, दूसरी ओर ज्ञान-प्राप्ति की शक्ति से सुसज्जित, पूर्व-तत्पर मन––यदि यह केवल इसका प्रयोग करने की इच्छा-मात्र भर करता है, जैसा करने के लिए यह प्रायः अनिच्छुक होता है। जिस पर हमने अनेक बार साधारण विचार किया है, विषय-सामग्री तथा विधि का वह विलगाव, इसी द्वैतवाद का शैक्षणिक समानक है। सामाजिक रूप से यह विभेद, जीवन के उस अंश से, जो अधिकारियों पर निर्भर है तथा उस अंश से संबंधित है, जहाँ विकास करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र है।

दूसरा द्वैतवाद ज्ञानार्जन में क्रिया तथा निष्क्रियता का है। केवल व्यावहारिक तथा भौतिक वस्तुएँ, संस्कारों के ग्रहण-मात्र से जानी-मानी गई हैं। भौतिक वस्तुएँ किसी प्रकार मन पर अपने को अनुमुद्रित करती हैं, अथवा इंद्रियों के माध्यम से अपनी सूचना चेतना तक पहुँचाती हैं। दूसरी ओर विवेकपूर्ण ज्ञान अथवा आध्यात्मिक वस्तुओं का ज्ञान, मन के अन्दर ही उत्पन्न की जाने वाली क्रिया से ही उत्पन्न होता माना गया है। यह क्रिया तब और भी अच्छी तरह से चल सकती है, जब कि इसे इंद्रियों तथा वाह्य वस्तुओं के परिभ्रष्ट करने वाले स्पर्श से दूर रक्खा जाय। इंद्रिय प्रशिक्षण, वस्तु पाठों तथा प्रयोगशाला के अभ्यासों और पुस्तकों के शुद्ध भावों तथा मानसिक शक्ति की विलक्षण क्रिया द्वारा उपयुक्त बनाए गए भावों का विभेद, इस विभेद का शिक्षा में व्यक्त, स्पष्ट उदाहरण है। सामाजिक रूप से यह उस विभाजन में परावर्तित होता है, जो वस्तुओं के प्रत्यक्ष नियंत्रित होने वाले लोगों तथा अपने को संस्कृत बनाने के लिए स्वतंत्र लोगों में स्थित है।

दूसरा प्रचलित विरोध बुद्धि तथा संवेगों में स्थित माना गया है। संवेग को शुद्ध स्वकीय तथा वैयक्तिक समझा जाता है। अब कदाचित् बौद्धिक उत्सुकता के एक-मात्र संवेग के अतिरिक्त जिनका तथ्यों तथा सत्यों को समझने में शुद्ध बुद्धि के कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। बुद्धि शुद्ध प्रकाश है, संवेग अव्यवस्थित कर देने वाला ताप। मन सत्य को ग्रहण करने के लिए वहिर्गत होता है; संवेग वैयक्तिक लाभ तथा हानि पर विचार करने के लिए अंतर्मुखी होते हैं। इस प्रकार शिक्षा में हमें अभिरुचि का वह व्यवस्थित अवमूल्यन प्राप्त होता है,

जिस पर हम ध्यान दे चुके हैं तथा अभ्यास में, अधिकांश विद्यार्थियों के साथ उन्हें उत्सुक बनाने के लिए अनावश्यक तथा व्यर्थ, दण्डों तथा पुरस्कारों का सहारा लेने की आवश्यकता पड़ती है ; ताकि वे अपने मन का ज्ञेय सत्यों पर संप्रयोग करें। इस प्रकार हम पेशेवर शिक्षकों को, अभिरुचि को जागृत करने के तथ्य को अवमानित करता हुआ पाते हैं, जब कि वे बड़े सम्मान के साथ परीक्षाओं, अंकों तथा संवेगों, पारितोषिकों तथा बहुत दिनों से सम्मानित दण्ड तथा पुरस्कार के साज-सामानों पर निर्भर रहने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। इस परिस्थिति के अध्यापक के विनोद के भाव को पंगु बनाने में पड़ने वाले भाव पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना कि दिया जाना चाहिए। उन सभी प्रतिवादों का अंत ज्ञान तथा क्रिया, सिद्धांत और मन तथा कार्य के साध्य तथा आत्मा के रूप में मन और इसके साधन तथा अंग के रूप में शरीर के एक-मात्र प्रतिवाद में होता है। इस द्वैतवाद के, उत्पत्ति-स्रोत के रूप में, समाज में, भौतिक तत्त्वों के लिए अपनी मांसपेशियों से श्रम करने वाले वर्ग तथा उस वर्ग के विभाजन के बारे में, जो आर्थिक दबाव से मुक्त रहकर प्रकाशन की कलाओं तथा सामाजिक निर्देश में लगा रहता है, जो कुछ कहा गया है, उसे हम फिर नहीं दुहराएँगे। और न इस विलगाव से उत्पन्न होने वाले शैक्षणिक कुपरिणामों के बारे में ही पुनः कहने की आवश्यकता है। हम केवल उन शक्तियों का सारांश देकर संतोष कर लेंगे, जो इस धारणा की निर्मूलता व्यक्त करती हैं। तथा इसके स्थान पर निरंतरता के भाव को स्थापित करती हैं—शरीर विज्ञान तथा उससे सम्बंधित मनोविज्ञान के विकास ने मानसिक क्रिया तथा नाड़ी-तंत्र की क्रिया के संबंध को प्रदर्शित कर दिया है। प्रायः संबंध की प्रत्यभिज्ञा को इसी स्थान पर समाप्त कर दिया है और मन तथा शरीर के प्राचीन द्वैतवाद के स्थान पर मस्तिष्क तथा शेष शरीर का द्वैतवाद स्वीकार किया गया है ; किन्तु वास्तव में स्नायु-व्यवस्था केवल सभी शारीरिक क्रियाओं को एक साथ कार्य करती हुई कायम रखने के लिए एक विशिष्ट यांत्रिक संघटन है। स्नायु प्रतिचार के अंगों से पृथक् जानने के अंग के रूप में यह उनसे अलग होने के बजाय, ऐसा अंग है, जिसके द्वारा वे एक दूसरे के साथ, प्रतिचारात्मक रूप से प्रतिक्रिया करती हैं। मौलिक रूप से मस्तिष्क, वातावरण से ग्रहण किए गए उद्दीपनों तथा उन पर प्रतिचारों का एक दूसरे के साथ अन्योन्याश्रय समायोजन उत्पन्न करने वाला अंग है। ध्यान रहे, यह समायोजन अन्योन्याश्रित है, मस्तिष्क

केवल आंगिक क्रिया को इस योग्य नहीं बनाता है, कि वे किसी ऐंद्रिक उद्दीपन के प्रतिचार में वातावरण की किसी वस्तु पर कार्य कर सकें, अपितु यह प्रतिचार भी यह निर्धारित करता है, कि आगामी उद्दीपन कौन-सा होगा। उदाहरण के लिए देखिए कि जब कोई बढ़ई किसी लकड़ी के तख्ते पर काम कर रहा, हो अथवा बर्तनों पर तेजाब से लिखने वाला, किसी प्लेट पर लिखने का कार्य कर रहा हो, तो निरन्तर क्रिया की किसी भी दशा में क्या होता है। जहाँ प्रत्येक मांसपेशीय प्रतिचार इंद्रियों द्वारा संकेत किए गए विषयों से समायोजित होता है, वहाँ मांसपेशीय प्रतिचार, आगामी ऐंद्रिक उद्दीपन का निर्माण करता है। इस उदाहरण को सामान्य बना देने पर मस्तिष्क-क्रिया का क्रमशः पुनर्संगठन करने वाली यंत्र-व्यवस्था है, जिससे इसकी निरंतरता कायम रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि भावी कार्य में ऐसे परिष्कार हो जायें, जो कुछ किया जा चुका है, उसके कारण आवश्यक हैं। बढ़ई के कार्य की निरन्तरता उसी गति के तादात्म्य रूप से बार-बार के यांत्रिक पिष्ट-पेषण से भिन्न है, तथा उस अस्त-व्यस्त क्रिया से भी विशिष्ट है, जिसमें कोई व्यवस्था ही नहीं होती। इसे क्रमागत कार्यकारिणी अथवा एकाग्र बनाने वाला तथ्य यह है कि प्रत्येक पहले आने वाला कार्य आगे आने वाले कार्य के लिए रास्ता तैयार करता है। जब कि ये पूर्वप्राप्त परिणामों—सारे उत्तरदायित्व के आधार—का ध्यान रखते हैं। जिसने जानने तथा नाड़ी-तंत्र तथा नई परिस्थितियों की पूर्ति करने के लिए क्रिया के निरंतर पुनर्समायोजन के संबंध के तथ्यों की पूर्ण शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसा कोई भी व्यक्ति इसमें सन्देह न करेगा कि ज्ञान-प्राप्ति, अपने-आप के लिए पूर्ण, सारी क्रिया से पृथक् होने के बजाय क्रिया के पुनर्संगठन से संबंधित है।

प्राणि-शास्त्र के विकास ने विकासवाद के अनुसंधान द्वारा इस तथ्य को और भी पुष्ट कर दिया है; क्योंकि विकासवाद के सिद्धांत का दार्शनिक महत्त्व, मुख्यकर इसके—जब तक हम मनुष्य तक नहीं पहुँच जाते, तब तक—सरल तथा अधिक संश्लिष्ट आंगिक रूपों के निरंतर क्रम पर बल देने में है। आंगिक रूपों की उत्पत्ति उन ढाँचों से प्रारंभ होती है, जहाँ प्राणी तथा वातावरण का समायोजन व्यक्त होता है; और मन कही जाने वाली वस्तु न्यूनतम होती है। जैसे-जैसे क्रिया, स्थान तथा समय में अधिक अवयवों का समन्वय करके, अधिक संश्लिष्ट बन जाती है, बुद्धि अधिक व्यक्त रूप से कार्य करने लगती है; क्योंकि इसके लिए तब भविष्यवाणी करने तथा

योजना बनाने के लिए, भविष्य का विस्तार-क्षेत्र बढ़ता जाता है। जानने के सिद्धांत पर इसका यह प्रभाव पड़ा कि इसे केवल विश्व के द्रष्टा अथवा दर्शक की क्रिया-मात्र मानने की धारणा, अथवा इसे अपने-आप में पूर्ण मानने के भाव की सहगामी धारणा नष्ट हो गई ; क्यों कि आंगिक विकास के सिद्धांत का अर्थ है, कि प्राणी विश्व का एक अंश है, यह उसके परिवर्तनों तथा विडम्बनाओं में भाग लेता है, बौद्धिक रूप से अपने आस-पास की वस्तुओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर दुःखद निर्भरता में अपने को सुरक्षित कर लेता है ; और जो कुछ हो रहा है, उसके भावी परिणामों का पूर्व-ज्ञान प्राप्त कर, अपनी क्रियाओं को उनके अनुकूल बना लेता है। यदि सजीव, अनुभव करने वाला प्राणी, संबंधित विश्व की क्रियाओं में घनिष्ठ सहयोग देता है, तो ज्ञान सहयोग अथवा भाग लेने का ही एक रूप है तथा यह सहयोग जितना ही प्रभावपूर्ण होगा, ज्ञान उतना ही महत्त्वपूर्ण। यह असंबंधित द्रष्टा का निष्क्रिय अवलोकन-मात्र नहीं हो सकता।

ज्ञान प्राप्त करने तथा यह निश्चित करने कि यह ज्ञान है—वैयक्तिक विचार-मात्र नहीं—विधि के रूप में, प्रयोगात्मक विधि—अर्थात् अनुसंधान तथा उत्पत्ति की विधि ही एकमात्र बची हुई शक्ति है, जिसके कारण ज्ञान का सिद्धांत रूपांतरित हुआ है। प्रयोगात्मक विधि के दो पक्ष हैं—(१) एक ओर तो इसका यह अर्थ है, कि केवल हमारी क्रिया ने वस्तुओं में कुछ ऐसे निश्चित परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, जो हमारी स्वीकृत धारणाओं के अनुकूल तथा उन्हें पुष्ट करने वाले हैं, उसके अतिरिक्त हमें और किसी भी वस्तु को ज्ञान कहने का अधिकार नहीं है। ऐसे विशिष्ट परिवर्तन न उत्पन्न कर सकने पर, हमारे विश्वास केवल परिकल्पना, सिद्धांत, सुझाव, तथा अनुमान-मात्र हैं तथा केवल प्रयोगात्मक रूप में किए जाने वाले प्रयोगों का संकेत करने के लिए ही उनका उपयोग किया जाना चाहिए—(२) दूसरी ओर विचार की प्रयोगात्मक विधि यह व्यक्त करती है कि विचार का महत्त्व है, अर्थात् यह उसी मात्रा में महत्त्वपूर्ण होता है, जहाँ तक इसमें वर्तमान परिस्थितियों के पूर्ण निरीक्षण के आधार पर, भावी परिणामों की पूर्व-कल्पनाओं का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में प्रयोग करना, अंधी प्रतिक्रिया करने का पर्याय नहीं है। ऐसी अतिरेकी क्रिया—अतिरेकी, जो कुछ निरीक्षण में आ चुका है, तथा जिससे पूर्व-कल्पना का निर्माण हो चुका है, उसके संदर्भ में—हमारे सभी व्यवहारों का अपरिहार्य अवयव है ; किन्तु केवल जहाँ तक इनमें परिणामों पर ध्यान

दिया जाता है, और उनका भविष्यवाणी करने और भविष्य में उसी प्रकार की परिस्थितियों के लिए योजना बनाने में प्रयोग किया जाता है, वहीं तक यह प्रयोग के अंतर्गत आती है, और नहीं। जितना ही प्रयोगात्मक विधि का अर्थ समझा जाता है, उपस्थित भौतिक साधनों तथा बाधाओं के संव्यवहार की विशेष प्रणालियाँ अपनाने के हमारे प्रयत्नों में बुद्धि का अधिक पूर्व-प्रयोग होता है। जिसे हम जादू कहते हैं, वही बहुत अर्थों में असभ्य व्यक्तियों की प्रयोगात्मक विधि थी ; किन्तु उनके प्रयत्न करना भाग्य का निर्णय करना होता था, भावों का नहीं। दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रयोगात्मक पद्धति, भावों का परीक्षण है ; इसीलिए यदि यह व्यावहारिक रूप से अथवा तात्कालिक रूप से, असफल भी होती है, तो भी बौद्धिक तथा फलोत्पादक होती है ; क्योंकि जब हमारे प्रयत्न गंभीरतापूर्वक विचारपूर्ण होते हैं, तब हमें अपनी असफलताओं से शिक्षा मिलती है।

प्रयोगात्मक पद्धति वैज्ञानिक साधन—अर्थात् ज्ञान-निर्माण के व्यवस्थित साधन के रूप में नवीन है। यद्यपि यह उतनी ही प्राचीन है, जितना व्यावहारिक युक्ति के रूप में जीवन। अतएव, यह आश्चर्य का विषय नहीं होना चाहिए कि लोगों ने इसके पूरे विस्तार-क्षेत्र को पूर्णरूपेण नहीं समझा है। अधिकांश रूप से, इसके महत्त्व को, केवल कतिपय प्रविधिक तथा भौतिक विषयों से ही संबंधित माना गया है। निःसंदेह यह ज्ञान उत्पन्न होने में पर्याप्त समय लगेगा, कि यह सामाजिक तथा नैतिक विषयों में भी भावों के निर्माण तथा परीक्षण में भी उतनी ही सफल है। लोग आज भी, विचारने की परेशानी तथा अपनी क्रियाओं का विचार द्वारा निर्देश करने के उत्तरदायित्व से बचने के लिए, धर्म-सिद्धांतों तथा अधिकारियों द्वारा निश्चित किए विश्वासों का सहारा चाहते हैं। वे अपने विचार को, केवल इस निर्णय तक ही लगाते हैं, कि धर्म-सिद्धान्तों की विभिन्न प्रतिद्वंद्वी व्यवस्थाओं में से वे किस को स्वीकार करेंगे। इसीलिए, जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है—संप्रदाय, विद्यार्थियों के बजाय चेलों (शिष्यों) का निर्माण करने के अधिक अनुकूल हैं। किन्तु, प्रयोगात्मक पद्धति के प्रभाव की प्रत्येक प्रगति, निश्चित ही विश्वासों के निर्माण की ऐसी साहित्यिक, तार्किक तथा अधिकारी विधियों को असिद्ध करने में सहायक होगी, जिनका भूतकाल के विद्यालयों पर अधिकार रहा है। और उनके सम्मान को ऐसी विधियों को प्रदान करेगी, जो अधिक सामयिक पहुँच तथा वस्तुओं के अधिक स्थानीय क्षेत्र-विस्तार के उद्देश्यों द्वारा निर्देशित होंगी, और वस्तुओं तथा व्यक्तियों में अधिक

सक्रिय अभिरुचि उत्पन्न करेंगी। थोड़े ही समय में जानने का सिद्धांत, ऐसे ही अभ्यास से प्राप्त किया जाएगा, जो ज्ञान के निर्माण में सब से अधिक सफल होगी। और तव इस सिद्धांत का, कम सफल विधियों का सुधार करने के लिए प्रयोग किया जायगा।

पद्धतियों के संप्रदाय

दर्शन की अनेक व्यवस्थाएँ हैं, जिनकी ज्ञान-प्राप्ति की पद्धतियाँ भी विशिष्ट तथा भिन्न हैं। उनमें से कुछ के नाम——मध्ययुगवाद, संवेदनावाद, बुद्धिपरतावाद, आदर्शवाद (भाववाद), यथार्थवाद, अनुभववाद, अनुभवातीतवाद, उपयोगितावाद इत्यादि हैं। इनमें बहुतों की आलोचना, किसी-न-किसी शैक्षणिक समस्या के विवेचन के साथ की जा चुकी है। यहाँ हमारा प्रयोजन, उनके उस पद्धति से अलग के मार्गों से है, जो ज्ञान प्राप्त करने में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई हैं ; क्योंकि इनके विलगाव के विचार से अनुभव में ज्ञान का वास्तविक स्थान अधिक स्पष्ट हो जाएगा। संक्षेप में ज्ञान का कार्य, एक अनुभव को स्वतंत्रतापूर्वक दूसरे अनुभवों के लिए प्राप्य बनाना है। 'स्वतंत्रतापूर्वक' शब्द ज्ञान तथा आदत के सिद्धांतों का अंतर स्पष्ट करता है। आदत का अर्थ है कि व्यक्ति में अनुभव द्वारा परिष्कार हो जाता है, जिस परिष्कार से ऐसे पूर्व-संस्कार का निर्माण होता है, जो भविष्य में, उसी दिशा के कार्य को अधिक सरल तथा प्रभावपूर्ण बना देता है। इस प्रकार इसका कार्य भी एक अनुभव को दूसरे अनुभवों के लिए प्राप्य बनाना है। कुछ सीमाओं के अंतर्गत, यह इस कार्य को सफलतापूर्वक करता है ; किन्तु ज्ञान से अलग, आदत में परिस्थितियों के परिवर्तन तथा नवीनता के लिए कोई स्थान नहीं। परिवर्तन के लिए अवसर देना, इसके विस्तार-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता ; क्योंकि आदत नवीन परिस्थितियों की भूतकालीन स्थितियों से मौलिक समानता पहले ही मान लेती है। परिणाम-स्वरूप यह प्रायः व्यक्ति को उचित मार्ग से अलग कर देती है अथवा व्यक्ति तथा उसके कार्य की सफल पूर्ति के बीच बाधा बन जाती है, ठीक जिस प्रकार, केवल आदत पर आधारित, यांत्रिक का कौशल। जब यंत्र के चलने में कोई अप्रत्याशित घटना हो जाती है, तब उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती है ; किन्तु वह व्यक्ति, जो यंत्र को समझता है, यह जानता है कि उसे क्या करना चाहिए। वह उन परिस्थितियों को जानता है, जिनमें प्रस्तुत आदत कार्य करती है।

और ऐसे परिवर्तन भी ला सकता है, जो इसे नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बना देंगे।

दूसरे शब्दों में ज्ञान, किसी वस्तु के उन संबंधों का प्रत्यक्षीकरण है, जो उसके किसी प्रस्तुत स्थिति के संप्रयोग को निर्धारित करते हैं। एक चरम उदाहरण लीजिए—असभ्य लोग प्रज्वलित पुच्छल तारे के प्रति वैसी ही प्रतिक्रिया करते हैं, जैसी कि वे अपने जीवन की सुरक्षा को नष्ट करने वाली अन्य घटनाओं के प्रति करने के अभ्यस्त हैं। चूँकि वे जंगली पशुओं अथवा अपने शत्रुओं को चीखकर, घंटे बजाकर, अथवा शस्त्रों की झंकार इत्यादि से डराने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए, पुच्छल तारे को दूर करने के लिए भी वे उन्ही विधियों को अपनाते हैं। हमारे लिए यह विधि बिलकुल निरर्थक है—इतनी निरर्थक है कि हम यह भी नहीं जान पाते, कि असभ्य लोग अपनी आदतों का ऐसे रूप में प्रयोग करते हैं, जिससे इनकी सीमा प्रदर्शित होती है। उसी प्रकार हमारे कार्य न करने का एकमात्र कारण यह है कि हम पुच्छल तारे को, पृथक्, असंबद्ध घटना के रूप में नहीं लेते ; बल्कि हम इसे अन्य घटनाओं के संबंध में समझते हैं। हम इसे, जैसा कि हम कहते हैं, नक्षत्रों से संबंधित व्यवस्था में रखते हैं। हम इसके 'संबंधों' के प्रति प्रतिचार करते हैं, केवल तात्कालिक घटना के प्रति नहीं। इस प्रकार हमारा दृष्टिकोण इसके प्रति अधिक स्वतंत्र है। हम इसके संबंधों द्वारा प्रदान किए गए किसी भी कोण से इसे समझ सकते हैं। जैसा भी हम उचित समझें, संबंधित व्यक्तियों में से किसी एक की भी उपयुक्त आदत को प्रयोग में ला सकते हैं। इस प्रकार हम किसी घटना को तात्कालिक रूप से नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से—आविष्कारों, अध्यवसायों तथा अनेक साधनों द्वारा समझते हैं। आदर्श रूप से पूर्ण ज्ञान, पारस्परिक संबंधों का ऐसा जाल प्रस्तुत करेगा, कि कोई-न-कोई भूतकालीन अनुभव ऐसा लाभकारी दृष्टिकोण प्रदान करेगा, जिससे नवीन अनुभव में प्रस्तुत समस्या को समझा जा सके। थोड़े में, जहाँ कि ज्ञान से पृथक् आदत, हमें कार्य करने की केवल एक स्थाई विधि प्रदान करती है, ज्ञान का अर्थ है कि आदतों के अधिक विस्तृत क्षेत्र में से चुनाव किया जा सकता है।

उत्तरकालीन अनुभवों के लिए, पूर्व अनुभवों की इस अधिक सामान्य तथा स्वतंत्र प्राप्यता के दो विशिष्ट पक्ष हैं—(१) अधिक विशेषता तो यह है कि नियंत्रण की शक्ति बढ़ जाती है। जिसका प्रबंध प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता,

उसे अप्रत्यक्ष रूप से ठीक किया जाता है, अथवा हम अपने लिए अवांछनीय परिणामों के मार्ग में बाधाएँ खड़ी कर सकते हैं, अथवा हम यदि किसी कठिनाई को पूरी तरह अपने वश में नहीं कर सकते, तो कम-से-कम टाल तो सकते ही हैं। वास्तविक ज्ञान में, किसी दशा की सक्षम आदतों से संबद्ध सभी व्यावहारिक महत्ताएँ होती हैं—(२) किन्तु इससे, किसी अनुभव से संबद्ध अर्थ, अनुभूत महत्त्व की भी वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में, जिसके प्रति हम मनमौजी ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं, अथवा यांत्रिक रूप से प्रतिचार करते हैं, उस में केवल न्यूनतम चेतन महत्ता होती है। इससे हमें मानसिक रूप से कुछ भी नहीं प्राप्त होता ; किन्तु जहाँ कहीं भी नवीन अनुभव को निश्चित करने के लिए ज्ञान का प्रयोग होता है, वहीं मानसिक लाभ होता है। यदि हम व्यावहारिक रूप से आवश्यक नियंत्रण प्राप्त करने में असफल होते हैं, तो भी हमें केवल भौतिक रूप से प्रतिक्रिया करने के बजाय, अर्थ का अनुभव करने का संतोष मिलता है।

जहाँ कि ज्ञान की अंतर्वस्तु वह है, जो कुछ घटित हो चुकी है, जिसे समाप्त, अतएव निश्चित तथा असंदिग्ध समझा जाता है, वहाँ ज्ञान का संबंध भविष्य से होता है ; क्योंकि जो कुछ हो रहा है, और जो कुछ करना है, ज्ञान उसे समझने का साधन प्रस्तुत करता है। चिकित्सक का ज्ञान, वह है, जो कुछ उसने वैयक्तिक परिचय से प्राप्त किया है ; वह भी है, जो कुछ उसने दूसरों द्वारा संगृहीत तथा लिखित ज्ञान के अध्ययन द्वारा प्राप्त किया है। किन्तु, यह उसके लिए ज्ञान है ; क्योंकि यह ऐसे साधन प्रदान करता है, जिससे वह अपने सामने की अज्ञात बातों का अर्थ लगाता है, संबंधित सांकेतिक घटनाओं से आंशिक रूप से व्यक्त तथ्यों की पूर्ति करता है, उनके संभव भविष्य का पूर्व-ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसके अनुसार योजना बनाता है। जब ज्ञान को अस्पष्ट तथा भ्रामक तथ्यों का अर्थ प्राप्त करने के प्रयोग से अलग कर लिया जाता है, तब यह पूर्ण रूप से चेतना से गिर जाता है, अथवा सौन्दर्यात्मक चिंतन का विषय बन जाता है। प्राप्त ज्ञान की व्यवस्था तथा संगति के सिंहावलोकन से पर्याप्त संवेगात्मक संतोष प्राप्त किया जा सकता है, और यह संतोष उचित ही होता है। किन्तु, यह चिंतनात्मक मनोवृत्ति सौन्दर्यात्मक होती है, बौद्धिक नहीं। यह उसी प्रकार का आनन्द है, जैसा कि किसी पूर्ण चित्र अथवा सुन्दर दृश्य को देखने से प्राप्त होता। विषय-सामग्री पूर्णरूप से भिन्न हो, तो भी यदि इसमें उसी प्रकार की

संगत व्यवस्था होती है, तो कोई अंतर नहीं पड़ता। सचमुच, यदि यह पूर्ण रूप से अन्वेषित, कल्पना से ही उत्पन्न हो, तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता। विश्व का संप्रयोग्य होने का अर्थ भूत अथवा बीते हुए—अर्थात् इस दशा के स्वरूप के ही कारण, जिसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, उस पर की संप्रयुक्तता नहीं है। अपितु, जो कुछ अब भी हो रहा है, जो अब भी अनिश्चित है, जो दृश्य सामने है, जिसमें हम निरत हैं, उसी पर की संप्रयुक्तता है। यही तथ्य, कि हम प्रायः इस विशेषता की उपेक्षा कर देते हैं तथा भूत अथवा पहुँच से बाहर के तथ्यों के कथन को ज्ञान समझते हैं, इस कारण है कि हम भूत और भविष्यत् की निरंतरता मान लेते हैं। हम विश्व की ऐसी धारणा को नहीं स्वीकार कर सकते, जिसमें इसके भूत का ज्ञान, इसके भविष्य का पूर्वज्ञान प्राप्त करने तथा इसे अर्थ प्रदान करने में सहायक नहीं होता। हम भावी संबंध की केवल इसलिए उपेक्षा करते हैं, कि इस प्रकार बार-बार अंतर्निहित रहता है।

फिर भी, पद्धतियों के कथित अनेक दार्शनिक संप्रदाय इस उपेक्षा को सद् अस्वीकृति में रूपांतरित कर लेते हैं। वे ज्ञान को, इसकी जो कुछ अभी होने को है, उसके संव्यवहार में प्राप्यता से पृथक्, अपने-आप में ही पूर्ण मानते हैं। और यही अभाव, उन्हें अमान्य बना देता है तथा उन्हें शैक्षणिक पद्धतियों के लिए, जामिनदार के रूप में खड़ा करता है, जिसे ज्ञान की उचित धारणा निन्दनीय समझती है; क्योंकि व्यक्ति को केवल उस तथ्य पर ध्यान देना पड़ता है, जिसे कभी-कभी विद्यालयों में, यह जानने के लिए ज्ञान का संग्रह समझा जाता है, कि इसमें विद्यार्थियों के चलते हुए अनुभव के साथ किसी भी प्रकार के फलोत्पादक संबंध में यह कितना अभावपूर्ण है—कितने विस्तृत रूप से यह विश्वास किया जाता प्रतीत होता है, कि केवल पुस्तकों में संगृहीत, विषय-सामग्री को उपयुक्त बनाना ही ज्ञान है। जिन्होंने इसकी खोज की है तथा जिनके अनुभवों में इसने कार्य किया है, उनके लिए यह कितना ही ज्ञानपूर्ण क्यों न हो; इसमें कोई भी ऐसा गुण नहीं है, जो इसे विद्यार्थियों के लिए ज्ञान बना दे। जब तक यह व्यक्ति के स्वयं के जीवन में न आए, यह मंगल ग्रह, अथवा काल्पनिक देश के बारे में भी हो सकता है।

जिस समय मध्ययुगीन पद्धति का विकास हुआ था, उस समय यह सामाजिक परिस्थितियों के लिए उचित थी। यह अधिकारियों से स्वीकृत सामग्री, व्यवस्थित करने तथा विवेकपूर्ण अनुमोदन प्रदान करने की विधि थी। इसमें

विषय-सामग्री का इतना महत्त्व था, कि इससे परिभाषित तथा व्यवस्थित करने वाली विधि को बड़ा बल मिला। वर्तमान परिस्थितियों में, मध्ययुगीन पद्धति का अर्थ, अधिकांश व्यक्तियों के लिए, ज्ञान-प्राप्ति का ऐसा रूप है, जिसका किसी विशेष विषय-सामग्री से कोई विशिष्ट संबंध नहीं है। इसमें केवल बनाने के लिए ही, अर्थात् अनुभव में बिना किसी लक्ष्य के ही, विभेद, परिभाषाएँ, विभाजन तथा वर्गीकरण बनाना सम्मिलित है। विचार को अपने ऐसे रूप रखने वाली मानसिक क्रिया समझना, जो किसी भी सामग्री पर वैसे ही संप्रयुक्त की जा सकती है, जैसे मुहर किसी भी नमनशील वस्तु पर लगाई जा सकती है, अर्थात् रूपात्मक (सविधिक) तर्क-शास्त्र में अंतर्निहित विधि, मौलिक रूप से मध्ययुगीन पद्धति का सामान्यीकृत रूप है। शिक्षा में रूपात्मक (सविधिक) अनुशासन का सिद्धांत मध्ययुगीन पद्धति का स्वाभाविक प्रतिरूप है।

ज्ञान की पद्धतियों के विरोधी सिद्धांत जिन्हें संवेदनवाद तथा बुद्धिपरतावाद कहा जाता है, क्रमशः पूर्णरूप से वैयक्तिक तथा सामान्य पर दिए गए बल के प्रतिरूप हैं—अर्थात् एक ओर तो केवल तथ्यों पर तथा दूसरी ओर केवल संबंधों पर, बल दिया जाता है। वास्तविक ज्ञान में, विशिष्टीकरण तथा सामान्यीकरण दोनों क्रियाएँ साथ-साथ कार्य करती हैं। जहाँ तक कोई स्थिति अस्पष्ट है, उसे स्पष्ट करना है ; उसे इतने निश्चित रूप से परिभाषित विस्तारों में व्यक्त करना है, जितना संभव हो। निश्चित तथ्य तथा गुण, सुलझाई जाने वाली समस्या का निर्माण करते हैं, और हमारी इन्द्रियों के द्वारा ही ये निश्चित किए जाते हैं। समस्याओं को उपस्थित करने के कारण उन्हें विशेष कहा जा सकता है ; क्योंकि वे आंशिक हैं। चूँकि हमारा काम, उनके संबंधों को खोजकर उन्हें पुनः जोड़ना है, हमारे लिए उस समय-विशेष में वे आंशिक हैं। उन्हें अर्थ प्रदान करना है, इसलिए वे जैसे होते हैं, उनमें इसका अभाव होता है। कोई भी वस्तु जिसे जानना होता है, जिसका अभी अर्थ निर्माण करना है, वह विशेष के रूप में ही अपने को प्रस्तुत करती है ; किन्तु जो कुछ जाना जा चुका है, वह यदि नवीन विशेषों को बौद्धिक रूप से समझने में, संप्रयोग करने के लिए, परिष्कृत हो चुका है, तो उसका कार्य सामान्य है। इसका कार्य इसलिए सामान्य है कि यह असंबद्ध तथ्यों को संबंधित करता है। कोई तथ्य सामान्य तभी होता है, जब हम इसे नवीन अनुभव के तत्त्वों को अर्थ प्रदान करने के लिए प्रयोग करते हैं। 'विवेक' पूर्ण-अनुभव की विषय-

सामग्री को, नवीन अनुभव की विषय सामग्री के अर्थ का प्रत्यक्षीकरण करने के प्रयोग करने की योग्यता है। कोई व्यक्ति उसी अनुपात में विवेकशील होता है, जिसमें वह इन्द्रियों द्वारा तात्कालिक रूप से उपस्थित होने वाली घटनाओं को, पृथक् वस्तु के रूप में नहीं, अपितु मानवजाति के सर्वनिष्ठ अनुभव के संबंध में देखने का अभ्यस्त होता है।

इन्द्रियों के सक्रिय प्रतिचारों द्वारा, पृथक् किए गए, विशेषों के बिना ज्ञान-प्राप्ति के लिए कोई सामग्री नहीं रह जाती. अतएव कोई बौद्धिक विकास नहीं होता। भूतकाल के अधिक विस्तृत अनुभव द्वारा निर्मित, अर्थों के संदर्भ में, इन विशेषों को रक्खे बिना—अर्थात् विवेक अथवा विचार के प्रयोग के बिना, विशेष केवल उत्तेजना, अथवा संवेदन-मात्र रह जाते हैं। संवेदनवादी तथा विवेकवादी दोनों ही संप्रदायों की गलती यह है कि प्रत्येक यह देखने में असफल है, कि ऐन्द्रिक उद्दीपन तथा विचार दोनों का कार्य प्राचीन का नवीन पर संप्रयोग करने में, अनुभव की पुनर्व्यवस्था करने तथा उसके द्वारा जीवन की संगति तथा निरंतरता कायम रखने के लिए आपेक्षिक है।

ज्ञान की पद्धति के इन पृष्ठों में दिए गए सिद्धांत को परिणामवादी कहा जा सकता है। इसकी मूलभूत विशेषता, सप्रयोजन रूप से वातावरण का परिष्कार करने वाली क्रिया के साथ, ज्ञान-प्राप्ति की निरंतरता को कायम रखना है—यह स्वीकार करती है, कि संपत्ति के रूप में समझे जाने वाले ज्ञान में हमारे बौद्धिक साधन होते हैं—अर्थात् वे सभी आदतें होती हैं, जो हमारे कार्यों को विवेकपूर्ण बनाती हैं। वास्तविक रूप से, ज्ञान केवल वही है, जो हमारे संस्कारों के रूप में इस प्रकार व्यवस्थित हो गया हो, कि हम वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल, तथा अपने उद्देश्यों और इच्छाओं को उन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के योग्य बन जाएं, जिनमें हम रहते हैं। ज्ञान केवल वह नहीं, जो हमारी चेतना में इस समय है, बल्कि इसमें वे संस्कार आते हैं, जिन्हें हम, जो कुछ इस समय घटित हो रहा है, उसे समझने के लिए सचेष्ट रूप से प्रयोग करते हैं। कार्य के रूप में ज्ञान, हमारे असमंजस को दूर करने के लिए, हमारे तथा उस विश्व के संबंध की धारणा बनाकर, जिसमें हम रहते हैं—हमारे कुछ संस्कारों को चेतना में लाना है।

अध्याय का सारांश

ऐसे सामाजिक विभाजन, जो स्वतंत्र तथा पूर्ण पारस्परिक संपर्क में बाधक

होते हैं, अपनी प्रतिक्रिया द्वारा, पृथक् वर्ग के सदस्यों की बुद्धि तथा ज्ञान-प्राप्ति को एकांगी बना देते हैं। वे व्यावहारिक अनुभववादी हैं, जिनके अनुभव का संबंध, उनके अधिक बड़े सहायक तथ्य से पृथक् की गई उपयोगिताओं से होता है। वे जो अर्थों के साम्राज्य के चिंतन का आनन्द लेते हैं, जिनके क्रियाशील उत्पादन में उनका कोई हाथ नहीं होता, व्यावहारिक बुद्धिवादी कहलाते हैं। जो वस्तुओं के प्रत्यक्ष संपर्क में आते हैं, तथा जिन्हें तत्काल अपनी क्रियाओं को उनके अनुकूल बनाना पड़ता है, वे यथार्थवादी हैं। जो इन वस्तुओं के अर्थों को पृथक् कर लेते हैं तथा जिन्हें वस्तुओं से दूर, धार्मिक अथवा तथाकथित आध्यात्मिक विश्व में रखते हैं, वे आदर्शवादी हैं। जिनका प्रयोजन प्रगति है, जो प्राप्त विश्वासों को परिवर्तित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे ज्ञानार्जन में वैयक्तिक अवयव पर बल देते हैं। जिनका मुख्य कार्य परिवर्तनों को सहन कर, प्राप्त सत्य को सुरक्षित रखना है, वे सार्विक तथा स्थाई पर बल देते हैं—इत्यादि-इत्यादि। अपने विरोधी ज्ञान के सिद्धान्तों में दार्शनिक व्यवस्थाएँ अनुभव के इन पृथक् तथा एकांगी अंशों के विशिष्ट गुणों को व्यक्त रूप से सूत्रबद्ध कर उपस्थित करती हैं—एकांगी इसलिए कि संपर्क के अवरोधक एक के अनुभव को, दूसरी स्थिति के अन्य लोगों के अनुभव द्वारा अधिक संपन्न बनने तथा अनुपूरित होने से रोकते हैं।

इसी प्रकार, चूँकि प्रजातंत्र सिद्धांत रूप से स्वतंत्र पारस्परिक आदान-प्रदान, सामाजिक निरंतरता का प्रतिनिधि है, इसमें इसलिए अवश्य ही ज्ञान के ऐसे सिद्धांत का विकास होना चाहिए, जो ज्ञान में वह विधि देखता है, जिसके द्वारा एक अनुभव, दूसरे को निर्देश तथा अर्थ प्रदान करने के लिए प्राप्य बनाया जाता है। शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान तथा प्रयोगात्मक विज्ञानों का तर्क-शास्त्र, ऐसे सिद्धांत को पूरा करने तथा सूत्रबद्ध करने के लिए आवश्यक बौद्धिक साधन प्रदान करते हैं। उनका शैक्षणिक पर्याय, विद्यालयों में ज्ञान के संग्रह का, सहयोगी जीवन के माध्यम में की जाने वाली क्रियाओं अथवा व्यवसायों का संबंध है।

२६

नैतिक आदर्शों के सिद्धांत

आंतरिक तथा वाह्य

चूंकि नैतिकता का संबंध आचरण से है ; अतएव मन तथा क्रिया के बीच प्रस्तुत कोई भी द्वैतवाद अपने को नैतिक आदर्शों के सिद्धांत में अवश्य ही परावर्तित करेगा। चूंकि नैतिक आदर्शों के दार्शनिक सिद्धांत में विलगाव के सूत्रबद्धीकरण, नैतिक प्रशिक्षण में प्रयोग किए जाने वाले अभ्यासों को न्यायसंगत तथा आदर्श बनाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं, इसलिए उनका संक्षिप्त आलोचनात्मक विवेचन उपयुक्त होगा। यह शैक्षणिक सिद्धांत की सर्वविदित बात है कि चरित्र-निर्माण, विद्यालय के आदेश तथा अनुशासन का व्यापक उद्देश्य है। अतएव, यह आवश्यक है कि हम बुद्धि तथा चरित्र के संबंधों की धारणा के प्रति सदैव सजग रहें, जो उद्देश्य की प्राप्ति में बाधा उपस्थित करती हैं ; तथा उन परिस्थितियों की खोज करें, जिन्हें उद्देश्य पर सफलतापूर्वक आचरण करने के लिए उपस्थित करना है।

नैतिक भावों का प्रचलन, जो क्रिया के क्रम को दो विरोधी अवयवों—जिन्हें प्रायः क्रमशः आंतरिक तथा वाह्य अथवा आध्यात्मिक तथा भौतिक कहा जाता है—में विभाजित कर देता है, बाधा के रूप में सर्व-प्रथम हमें प्राप्त होता है। यह विभाजन मन तथा विश्व, आत्मा तथा शरीर, साध्य तथा साधनों, के उसी द्वैतवाद का अंत है, जिस पर हम बार-बार विचार कर चुके हैं। नैतिक आदर्शों में यह कार्य के परिणामों से उसकी प्रेरणा तथा आचरण से चरित्र के पृथक् करने का रूप धारण कर लेता है। 'प्रेरणा' तथा 'चरित्र' को केवल 'आंतरिक' समझा जाता है, जो केवल चेतना में स्थित होते हैं। जब कि परिणाम और आचरण को मन से बाहर समझा जाता है। आचरण का संबंध केवल प्रेरणाओं को कार्यान्वित करने वाली गतियों से होता है, परिणामों का संबंध उसके फलस्वरूप घटित होता है। विभिन्न संप्रदाय, नैतिकता का तादात्म्य, एक दूसरे से पृथक् या तो मन की आंतरिक दशा से करते हैं, अथवा बाध्य कार्यों तथा परिणामों से।

सप्रयोजन कार्य ऐच्छिक होता है। इसमें सचेतन रूप से पूर्वदृष्टि तथा लक्ष्य होता है तथा मानसिक रूप से आगे का विचार होता है। इसमें साध्य के लिए आकांक्षा अथवा इच्छा की सचेतन स्थिति भी होती है। उद्देश्य के सचेतन चुनाव तथा इच्छा के निश्चित मनोभाव के निर्माण में समय लगता है। इस अंतराल में वाह्य कार्य स्थगित रहता है। जो मनुष्य अपने मन को निश्चित नहीं कर लेता, उसे यह ज्ञान नहीं होता कि क्या करे ; इसलिए वह जहां तक संभव होता है, वाह्य चेष्टा को स्थगित रखता है। उसकी दशा की तुलना उस मनुष्य से की जा सकती है, जो किसी नाली को कूदकर पार करने का विचार कर रहा हो। यदि वह निश्चय कर पाता है कि क्या हो सकता है और क्या नहीं, तभी किसी दिशा में क्रिया होती है। उस समय में जब कि प्रत्येक वाह्य क्रिया स्थगित रहती है, उसकी क्रियाएँ अंदर-ही-अंदर शक्ति के ऐसे पुर्नविभाजन में लगी रहती हैं, जो क्रिया का निश्चित क्रम तैयार करती हैं। वह अपनी आँखों से नाली को नापता है, वह कुछ पीछे हट कर अपनी वर्तमान शक्ति का अंदाजा लगाता है, वह उस पार जाने के अन्य मार्गों पर दृष्टि दौड़ाता है तथा उस पार जाने की आवश्यकता पर चिंतन करता है। इन सभी बातों का अर्थ चेतना का संधान है, अर्थात् व्यक्ति का अपनी स्वयं की मनोवृत्तियों, शक्तियों तथा इच्छाओं इत्यादि पर विचार करना है।

स्पष्ट है कि सचेतन प्रत्यभिज्ञा के रूप में वैयक्तिक अवयवों का यह संगठन, पूर्ण क्रिया के सामयिक विकास का एक अंश है। ऐसा नहीं होता कि पहले केवल मानसिक प्रक्रिया हो, तत्पश्चात् एकाएक मौलिक रूप से भिन्न भौतिक क्रिया हो। इसमें क्रमागत व्यवहार होता है, जिसमें अधिक अनिश्चित विभक्त तथा हिचक की स्थिति से अधिक वाध्य, निश्चित तथा पूर्ण दशा की प्राप्ति होती है। क्रिया में पहले प्राणी के अंदर ही कुछ असमंजस तथा समायोजन होते हैं, जैसे ही एकात्मक मनोवृत्ति में पुंजीभूत हो जाते हैं, प्राणी अपने पूरे रूप में प्रतिक्रिया करता है। तब कोई निश्चित कार्य होता है। निस्संदेह हम क्रमागत क्रिया के अधिक चेतन पक्ष को मानसिक अथवा आत्मिक क्रिया के रूप में पृथक् करके जान सकते हैं। किन्तु, इस मानसिक अथवा आत्मिक से केवल क्रिया की अनिश्चित, निर्माणात्मक दशा का ही बोध होता है, जिसकी पूर्णता में, वाह्य शक्ति को वातावरण के परिष्कार के लिए कार्यान्वित किया जाता है।

हमारे चेतन विचार, निरीक्षण, इच्छाएँ तथा घृणा-सूचक वृत्तियाँ इत्यादि

इसलिए आवश्यक हैं कि वे हमारी मौलिक, अपरिपक्व क्रियाओं को व्यक्त करती हैं। वे अपना भाग्य पहले उत्पन्न होने, और बाद में विशिष्ट तथा प्रत्यक्ष कार्य में ही पूरा कर लेती हैं। और ये मौलिक, प्रारंभिक, आंगिक पुनर्समायोजन इसलिए आवश्यक हैं कि केवल इन्हीं के द्वारा हम अंधी प्रवृत्तियों और यांत्रिक आदतों से बचते हैं। ये विकास की प्रक्रिया में नया अर्थ प्राप्त करने वाली क्रियाएँ हैं। इसीलिए सामान्यतः जहाँ कहीं भी हमारी मूल प्रवृत्तियाँ तथा निर्मित आदतें नवीन परिस्थितियों से अवरुद्ध होती हैं, वहाँ हमारी वैयक्तिक चेतना का विस्तार होता है। उस समय, कोई निश्चित तथा ठीक कार्य करने के लिए हमें विचार करना होता है ; ताकि हम अपनी मनोवृत्ति को जान सकें। यदि हम केवल पशुबल के प्रयोग द्वारा ही कार्य करने का प्रयत्न करें, तो हमारी स्थिति की विशिष्ट विशेषताओं के अनुकूल बनाने में, हमारी आंगिक शक्तियों का परिष्कार होता है। इस प्रकार, बाह्य कार्य के पहले आने वाले विचार तथा इच्छा, अनिश्चित स्थितियों में की गई क्रिया में निहित, वैधिक वैयक्तिक पुनर्समायोजन हैं।

फिर भी, निरंतर क्रिया में मन का यह कार्य सदैव नहीं कायम रहता है। कोई दूसरी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा तथा सफल क्रिया के अवरोध द्वारा उत्पन्न प्रस्तुत वस्तु-स्थिति के प्रति घृणा, कल्पना को उद्दीप्त करती है। वस्तु-स्थिति की दूसरी दशा का चित्र, सदैव नवीन मार्ग अपनाने तथा अग्रसर होने के लिए, अध्यवसायपूर्ण निरीक्षण तथा पुनर्स्मरण में सहायता करने का कार्य नहीं करता है। केवल जहाँ अनुशासित संस्कार होते हैं, उसके अतिरिक्त प्रायः कल्पना के अनियंत्रित हो जाने की संभावना रहती है। उनकी वस्तुएँ, परिस्थितियों द्वारा, कार्य में अपनी व्यावहारिकता के संबंध में नियंत्रित होने के बजाय, उनसे प्राप्त होने वाले तात्कालिक संवेगात्मक संतोष के कारण स्वतंत्र विकास के लिए छोड़ दी जाती हैं। जब हमारी शक्तियों का सफल प्रदर्शन, अवांछनीय प्राकृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों द्वारा अवरुद्ध हो जाता है, तब सरलतम मार्ग हवाई किले बनाना है, तथा उन्हें उन वास्तविक उपलब्धियों का स्थानापन्न बना दिया जाता है, जिनके लिए विचार का कष्ट उठाना पड़ता है। इसी प्रकार बाह्य कार्य में भी हम शांत रह कर मन में एक काल्पनिक संसार का निर्माण कर लेते हैं। विचार तथा आचरण का यह विच्छेद उन सिद्धांतों में परावर्तित होता है, जो मन को आंतरिक के रूप में तथा आचरण और परिणाम को केवल बाह्य के रूप में ग्रहण करते हैं तथा दोनों में विलगाव उपस्थित करते हैं।

चूँकि पृथक्करण किसी व्यक्ति-विशेष के अनुभव की सांयोगिक घटना से अधिक बड़ी बात भी हो सकती है। सामाजिक स्थिति ऐसी हो सकती है, कि विचारशीलता को व्यक्त करने वाला वर्ग, बिना ऐसे साधन प्रदान किए, जिसके द्वारा ये भाव तथा प्रेरणाएं वातावरण को पुनर्व्यवस्थित करने में प्रयोग की जा सकें, अपने स्वयं के विचारों तथा इच्छाओं में पड़ जाता है। ऐसी परिस्थितियों में लोग—ऐसा मालूम होता है—प्रतिकूल वातावरण से, घृणा प्रदर्शन करके तथा गालियाँ देकर, बदला चुकाते हैं। वे स्वयं अपनी मन की स्थितियों में, अपनी स्वयं की कल्पनाओं तथा इच्छाओं में शांति तथा शरण खोजते हैं, जिनकी वे—निंदित बाह्य संसार से अधिक—सत्य तथा आदर्श कह कर सराहना करते हैं। ऐसे युग इतिहास में बार-बार आए हैं। क्रिश्चियन-युग की प्रारंभिक शताब्दियों में, स्टोइकवाद, मठवादी तथा प्रचलित क्रिश्चियन-धर्म तथा उस समय के अन्य प्रचलित धार्मिक आंदोलनों की प्रभावशाली नैतिक व्यवस्थाएँ, ऐसी ही परिस्थितियों में निर्मित हुई थीं। प्रचलित आदर्शों को व्यक्त करने वाले कार्यों को रोका गया था। आदर्शों का आंतरिक संग्रह तथा उपार्जन आत्म-पूर्ण नैतिकता का मुख्य तत्त्व समझा जाता था। बाह्य संसार को, जिससे क्रिया का संबंध है, नैतिक रूप से उदासीन समझा जाता था। उचित मंतव्य रखना ही सब कुछ समझा जाता था, यद्यपि वह मंतव्य संसार में गतिशील करने वाला तथा प्रेरणा प्रदान करने वाला नहीं था। जर्मनी में भी, अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, लगभग ऐसी ही स्थिति आई, जिसमें कांट ने सद् इच्छा-शक्ति को ही एक-मात्र संपूर्ण नैतिक सद् के रूप में ग्रहण किया; इच्छा-शक्ति को, संसार में उत्पन्न होने वाले कार्यों तथा परिवर्त्तनों और परिणामों से पृथक् अपने-आप में पूर्ण समझा जाता था। बाद में इससे वर्तमान संस्थाओं में से किसी एक को भी आदर्श बनाकर, भावों में विवेक का प्रतिरूप समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

'सद्-भावना' रखने की केवल आंतरिक नैतिकता से, जिसमें केवल सद्-संस्कार रखने पर बल दिया जाता था, और इस पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि इससे क्या परिणाम होता है, प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इसी को सामान्यतया सुखवाद अथवा उपयोगितावाद कहा जाता है। परिणाम-स्वरूप यह कहा गया कि नैतिक रूप से यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य अपनी स्वयं की चेतना के अंदर क्या है, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि वह क्या करता है—उससे क्या परिणाम उत्पन्न होते हैं, वास्तव में वह कौन-से परिवर्तन उत्पन्न करता

है। आंतरिकता का विरोध हुआ, इसे केवल भावात्मक, स्वेच्छाचारी, सिद्धांतवादी, व्यक्तिनिष्ठ---अर्थात् मनुष्यों को अपने स्वार्थ के अनुकूल किसी भी धर्म को, धर्मसिद्धांत को अथवा कल्पना में आनेवाली किसी भी तरंग को अंतर्प्रज्ञा अथवा अंतःकरण का आदर्श कह कर महत्त्व प्रदान करने वाला तथा उसी का सहारा लेने वाला—कहा गया। परिणामों तथा आचरण का महत्त्व है—वे ही नैतिकता के पूर्ण, एकमात्र मापक हैं।

साधारण नैतिकता और इसीलिए पाठशाला-कक्ष की नैतिकता, संभवतः इन दोनों विचारधाराओं की असंगत संधि हो सकती है। एक ओर कतिपय भावनाओं को बड़ा महत्त्व दिया जाता है कि व्यक्ति की भावना सद् होनी चाहिए, और यदि उसका मंतव्य अच्छा है, यदि उसमें उचित प्रकार की संवेगात्मक चेतना है, तो उसे आचरण में पूर्ण परिणामों के उत्तरदायित्व से मुक्त किया जा सकता है। किंतु चूँकि दूसरी ओर, दूसरों की तथा सामान्य सामाजिक व्यवस्था की सुविधा तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, कुछ कार्य करना पड़ता है, इसलिए कुछ कार्यों के करने पर बड़ा बल दिया जाता है, चाहे व्यक्ति का उन कार्यों के करने में कोई प्रयोजन अथवा मति हो या न हो। उसे कार्य-स्थिति की टोह ले लेनी चाहिए, लक्ष्य पर ध्यान रखना चाहिए, उसे आज्ञापालन करना चाहिए, उसे उपयोगी आदतों का निर्माण करना चाहिए, उसे आत्म-नियंत्रण सीखना चाहिए—ये सभी निर्देश केवल ऐसे अर्थ में लिए जाते हैं, जो केवल मूर्त रूप से होने वाली तात्कालिक बात पर बल देता है। उस विचार तथा इच्छा पर ध्यान नहीं दिया जाता, जिसमें यह किया जाता है, और इसीलिए अन्य कम स्पष्ट कार्यों पर पड़नेवाले इसके प्रभाव पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

यह आशा की जाती है कि पूर्व विवेचन से वह विधि पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दी गई है, जिससे इन दोनों ही दोषों से बचा जा सकता है। जहाँ कहीं भी व्यक्ति, चाहे छोटे हों या बड़े, ऐसी परिस्थितियों में प्रगतिशील सहयोगी क्रिया में संलग्न नहीं होते, जिनमें उनकी अभिरुचि हो तथा जिनमें उनके चिंतन की आवश्यकता पड़ती हो, इनमें से एक अथवा दोनों ही दोष अवश्य उत्पन्न होंगे; क्योंकि केवल ऐसी ही दशाओं में यह संभव है कि बाह्य तथा व्यक्त आचरण में इच्छा तथा विचार के संस्कार आंगिक अवयव हों। विद्यार्थियों की स्वयं की अभिरुचि को व्यक्त करनेवाली क्रमागत क्रिया में ही—जिसमें निश्चित परिणाम प्राप्त करना होता है, और जिसमें न तो यांत्रिकता ही पर्याप्त होगी,

न दिए गए निर्देशों का अनुसरण ही, न मनमोजी प्रयत्न ही—चेतन प्रयोजन, चेतन इच्छा, तथा सचेष्ट चिंतन अपरिहार्य होते हैं। वे आंतरिक चेतना के पृथक् संसार का निर्माण करने के रूप में नहीं, विशिष्ट परिणामों को उत्पन्न करने वाली आत्मा तथा गुण के रूप में अपरिहार्य हैं।

कर्तव्य तथा अभिरुचि का पारस्परिक विरोध

संभवत: नैतिक विवेचन में, 'सिद्धांत' से कार्य करने तथा 'अभिरुचि' से कार्य करने के प्रतिवाद से बढ़कर हमारे सामने दूसरा कोई विरोध नहीं है। सिद्धांत पर कार्य करना, निष्काम भाव से, किसी सामान्य नियम के अनुसार कार्य करना है, जो सभी स्वकीय विचारों से ऊपर होता है। और ऐसा कहा जाता है कि अभिरुचि के अनुसार कार्य करना, स्वार्थपरता के साथ, अपने वैयक्तिक लाभ को ही दृष्टिकोण में रखकर कार्य करना है। यह अपरिवर्तनशील नैतिक नियम के प्रति अनुराग के स्थान पर तात्कालिक परिवर्तनशील उपयोगिता को स्थानापन्न कर देता है। इस विरोध में निहित अभिरुचि के भ्रामक भाव की आलोचना पहले ही की जा चुकी है। (देखिए अध्याय १०) किन्तु, प्रश्न के कतिपय नैतिक पक्षों पर अब विचार किया जायगा।

इस विषय को समझने के लिए एक सूत्र इस तथ्य में मिल जायगा कि विवाद के 'अभिरुचि' पक्ष के समर्थक आदतन 'आत्म-अभिरुचि' पद का प्रयोग करते हैं। इन आधार वाक्यों से प्रारंभ करके कि जब तक किसी वस्तु अथवा भाव में अभिरुचि नहीं होती—उसमें गतिशील करने वाली प्रेरणा-शक्ति नहीं आती, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चाहे कोई व्यक्ति किसी सिद्धांत अथवा कर्तव्य के भाव से ही कार्य करने का दावा क्यों न करे ; किन्तु जैसा कार्य करता है, वैसा इसीलिए करता है कि उसमें उसका अपना कुछ स्वार्थ होता है। आधार-वाक्य तो ठीक है, निष्कर्ष अशुद्ध है। उत्तर में दूसरा पक्ष यह तर्क देता है—चूँकि मनुष्य कार्य में उदार होता है, आत्म-विस्मरण तथा आत्म-बलिदान भी कर सकने की क्षमता रखता है ; इसलिए वह बिना अभिरुचि के भी कार्य कर सकता है। इस में भी आधार-वाक्य शुद्ध है ; किन्तु निष्कर्ष अशुद्ध। दोनों ही पक्षों में अशुद्धि, अभिरुचि तथा आत्मा के संबंध की गलत धारणा के कारण है।

दोनों ही पक्ष यह कल्पना कर लेते हैं कि आत्मा स्थिर और इसीलिए पृथक् मात्रा है। परिणाम-स्वरूप, आत्मा की अभिरुचि के लिए, और बिना किसी अभिरुचि के कार्य करने में दृढ़ द्विविधा है। यदि आत्मा कार्य का स्थाई पूर्वहेतु है, तो अभिरुचि से कार्य करने का अर्थ, आत्मा के लिए किसी-न-किसी रूप में और अधिक संपत्ति जुटाना है—चाहे ख्याति के रूप में हो, अथवा दूसरों के समर्थन, दूसरों पर अधिकार, आर्थिक लाभ अथवा आनन्द के रूप में। तब इस विचारधारा से प्रतिक्रिया, मानव-स्वभाव के जनद्वेषी गुणापकर्ष से यह विचार उत्पन्न होता है कि जो लोग सत्कार्य करते हैं, वे बिना किसी स्वार्थ के ही कार्य करते हैं ; किन्तु निर्विरोध निर्णय के लिए तो यह स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि मनुष्य जो कुछ कर रहा है, उसमें उसकी अभिरुचि होना आवश्यक है, अन्यथा वह उस कार्य को करेगा ही क्यों। कोई चिकित्सक यदि किसी प्लेग के रोगी की चिकत्सा अपने जीवन को खतरे में डाल कर करता जाता है, तो उसकी अभिरुचि अपने व्यवसाय को अधिक सफलतापूर्वक करने में है—उसकी उसमें अपने शारीरिक जीवन की सुरक्षा से भी अधिक अभिरुचि है। किन्तु, यह कहना तो तथ्य को विकृत करना है कि यह अभिरुचि केवल अन्य किसी वस्तु की अभिरुचि के लिए केवल बाह्य आवरण-मात्र है, जिसे वह अपनी परंपरागत सेवाएँ करके प्राप्त करता है ; जैसे—धन, अथवा अच्छा नाम अथवा सम्मान, अर्थात् यह केवल किसी भावी स्थाई साध्य का साधन-मात्र है। जैसे हमें यह प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि आत्मा पूर्व-निश्चित तथा स्थित नहीं है ; बल्कि कार्य के प्रवरण में, निरंतर निर्माण में लगी रहती है, तो सारी स्थिति साफ हो जाती है। जीवन के लिए खतरा होते हुए भी, किसी व्यक्ति के अपने कार्य में अभिरुचि रखते रहने का अर्थ यह है कि उसकी आत्मा उस कार्य 'में' मिलती है, यदि अंततः वह छोड़ देता है, और अपनी वैयक्तिक सुरक्षा तथा सुख को अच्छा समझता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह उस 'प्रकार' की आत्मा को अधिक अच्छा समझता था। यह अशुद्धि आत्मा तथा अभिरुचि को पृथक् करने के कारण होती है, और इस कल्पना में यह निहित है, कि आत्मा साध्य है और वस्तुओं की अभिरुचि कार्य, और अन्य व्यक्ति केवल साधन-मात्र हैं। वास्तव में आत्मा तथा अभिरुचि एक ही तथ्य के दो नाम हैं। किसी वस्तु में क्रियात्मक रूप से ली गई अभिरुचि का रूप तथा उसकी मात्रा से यह व्यक्त होता है कि स्थित आत्मत्व की विशेषता क्या है, और यह कितनी है। इसे सदैव ध्यान में रखिए कि अभिरुचि का अर्थ किसी वस्तु के साथ आत्मा का

क्रियाशील अथवा गतिमान 'तादात्म्य' है, इसकी प्रत्यभिज्ञा के बाद सारी द्विविधा मिट जाती है।

उदाहरणार्थ, निस्स्वार्थ भावना से जो कुछ किया जाता है, न तो उसमें अभिरुचि का अभाव ही व्यक्त होता है (क्योंकि उसका अर्थ यंत्रवत उदासीनता होगा) और न अनभिरुचि ही का ; क्योंकि उसका अर्थ चरित्र तथा पुरुषार्थ का अभाव होगा। इस विशेष सैद्धांतिक विवाद से बाहर कहीं भी प्रयोग किए जाने पर 'स्वार्थहीन' पद का संबंध इस प्रकार के उद्देश्यों तथा वस्तुओं से होता है, जिसमें मनुष्य की स्वाभाविक अभिरुचि होती है। और यदि हम उस प्रकार की अभिरुचियों का मानसिक सिंहावलोकन करें, जो इस शब्द के प्रयोग को जागृत करती हैं, तो हम देखेंगे कि उनकी दो बड़ी घनिष्ठतापूर्वक संबद्ध विशेषताएँ हैं: १—उदार आत्मा चेतन रूप से, अपनी क्रिया में निहित संबंधों के पूर्ण विस्तार के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है तथा अपने-आप और उन विचारों में विभेद नहीं करती, जिन्हें दूरस्थ अथवा उदासीन कह कर छोड़ दिया जाता है। २—यह अपने 'भूतकाल' के भावों को नवीन मूर्त परिणाम उत्पन्न करने के लिए पुनर्समायोजित कर लेती है तथा उनका विस्तार करती है। जब चिकित्सक ने अपना कार्य प्रारंभ किया था, तब उसने घातक संक्रामक रोग की आशा चाहे न की हो, चाहे उसने सचेष्ट रूप से ऐसी परिस्थितियों में की जाने वाली सेवा से अपना तादात्म्य न स्थापित किया हो ; किन्तु यदि उसमें सामान्य रूप से वृद्धि पाती हुई सक्रिय आत्मा है, तो जब उसे यह पता चलेगा, कि उसके व्यवसाय में ऐसे खतरे भी हैं, तब वह उन्हें अपनी क्रिया के आवश्यक अंगों के रूप में समायोजित कर लेगा। विस्तृत अथवा वृहत् आत्मा—जिसमें संबंधों का निष्कासन समाविष्ट नहीं होता है—का ऐसी आत्मा से तादात्म्य है, जो पहले ही पूर्वद्रष्ट बंधनों को प्राप्त करने के लिए बढ़ती है।

पुनर्समायोजन की ऐसी आपत्तिजनक परिस्थितियों में—चाहे वे छोटी हों या बड़ी—सिद्धांत का अभिरुचि के साथ संक्रमणात्मक विरोध हो सकता है। आदत का यह स्वभाव है, कि क्रिया के परिचित क्रम में सरलता उत्पन्न हो। आदतों के पुनर्समायोजन में कुछ ऐसे प्रयत्न होते हैं, जो अवांछनीय होते हैं—अर्थात् कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें मनुष्य को सचेष्ट रूप से स्वीकार किए रहना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य जिस वस्तु का आदी हो गया होता है, उसमें उसकी आत्मा—अथवा अभिरुचि होती है और जब कोई अप्रत्याशित वस्तु आ

जाती है, जिसके कारण आदत में अवांछित परिष्कार करना पड़ता है, तब हम मन को घृणा अथवा चिड़चिड़ेपन के साथ हटा लेते हैं। चूँकि भूतकाल में व्यक्ति ने अपने कर्तव्य का पालन बिना ऐसी अवांछित परिस्थितियों का सामना किए ही किया है, तो आगे भी क्यों वैसा ही न रहे, जैसा वह रहा है? इस सरल भावना को स्वीकार कर लेने का अर्थ आत्मा के विचार को संकुचित तथा पृथक् बना देना है—अर्थात् इसे पूर्ण समझना है। कोई भी आदत, जो स्थाई बन गई हो, चाहे भूतकाल में कितनी ही सक्षम क्यों न रही हो, किसी भी समय ऐसी सरल भावना उपस्थित कर सकती है। ऐसी असाधारण स्थिति में सिद्धांत से कार्य करना, किसी अमूर्त सिद्धांत अथवा सामान्य कर्तव्य पर कार्य करना नहीं है। यह किसी कार्य की परिस्थितियों के बजाय, उसके क्रम के सिद्धांत पर कार्य करना है। चिकित्सक के आचरण का सिद्धांत, उसे अनुप्राणित करने वाला उद्देश्य तथा भाव—रोगी के लिए परवाह है। सिद्धांत, किसी क्रिया को न्याय-संगत सिद्ध करने वाला तत्त्व नहीं है; क्यों कि सिद्धांत केवल क्रिया की निरंतरता का दूसरा नाम है। यदि क्रिया अपने परिणामों में व्यक्त रूप में अवांछनीय है, तो इसके सिद्धांत पर कार्य करना, इसके दोष को बढ़ावा देना है। और वह व्यक्ति, जो सिद्धांत पर कार्य करने का गर्व करता है, वह अनुभव से यह शिक्षा ग्रहण किए बिना, कि कौन-सा मार्ग अच्छा है, अपने मार्ग का हठपूर्वक अनुसरण करने वाला होता है। वह यह कल्पना करता है, कि अमुक सिद्धांत उसकी क्रिया को न्याय-संगत सिद्ध करता है, और वह यह प्रत्यभिज्ञा नहीं कर पाता, कि उसके सिद्धांत को भी न्याय-संगत सिद्ध करने की आवश्यकता है।

कुछ भी हो, यह मान लेने पर भी, कि विद्यालय की परिस्थितियाँ ऐसी हैं, कि वांछनीय व्यवसाय प्रस्तुत कर सकें—व्यवसाय के पूर्ण रूप में इसके क्रमागत विकास की अभिरुचि ही विद्यार्थी को अस्थाई ध्यानभंग तथा दुःखद बाधाओं के होते हुए भी उसके काम में लगाए रखती है। जहाँ बढ़ते हुए महत्त्व की क्रिया नहीं होती, वहाँ सिद्धांत का सहारा लेना या तो केवल शाब्दिक होता है, या एक प्रकार का हठीला गर्व, अथवा बड़े अच्छे उपनाम दिए गए वाह्य विचारों का सहारा होता है। निस्सन्देह ऐसे भी अवसर होते हैं, जहाँ तात्कालिक अभिरुचि समाप्त हो जाती है, और ध्यान भंग हो जाता है और यहीं पुनः बल लगाने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु, किसी व्यक्ति को इन कठिनाइयों के पार ले जाने वाली शक्ति अमूर्त कर्तव्य-निष्ठा नहीं; बल्कि उसके व्यवसाय की अभिरुचि है। कर्तव्य 'कर्म' हैं—अर्थात् किसी कार्य

को पूरा करने के लिए आवश्यक विशिष्ट कार्य हैं, अथवा घरेलू भाषा में व्यक्ति के अपने 'काम' हैं। और जो व्यक्ति अपने काम में वास्तविक अभिरुचि रखता है, वही हतोत्साह नहीं होता, वही कठिनाइयों का सामना करने के योग्य होता है, और वही सफल भी हो सकता है। वह आपत्तियों का सामना करने तथा अवरोधों को पार करने में ही अभिरुचि का निर्माण करता है।

बुद्धि तथा चरित्र

नैतिक आदर्शों के विवेचन में प्रायः एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विरोधाभास आता है। एक ओर तो नैतिक और विवेक-पूर्ण का तादात्म्य स्थापित किया जाता है, विवेक को ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिससे अंततोगत्वा नैतिक प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं और कभी-कभी—जैसे कांट के सिद्धांत में—इसी को ही नैतिक प्रेरणा प्रदान करने वाला एकमात्र साधन समझा जाता है। दूसरी ओर स्थूल, दैनिक बुद्धि का महत्त्व निरंतर कम माना जाता है, और सचेष्ट रूप से इसका अवमूल्यन होता है। नैतिक आदर्शों को प्रायः ऐसा समझा जाता है, कि उनसे साधारण ज्ञान का कोई संबंध ही नहीं है। नैतिक ज्ञान को पृथक् वस्तु समझा जाता है और अंतःकरण को मूलतः चेतना से भिन्न माना जाता है। इस पृथक्करण का, यदि यह शुद्ध हो, तो शिक्षा के लिए विशेष महत्त्व है। जब हम चरित्र के विकास को चरम साध्य मान लेते हैं, और उसी समय ज्ञानोपार्जन तथा बुद्धि के विकास को—जो अनिवार्य रूप से पाठशाला के समय के अधिकांश का उपभोग करते हैं—ऐसा मान लेते हैं, कि उनका चरित्र से कोई संबंध ही नहीं है, तब विद्यालयों में नैतिक शिक्षा की दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। ऐसे आधार पर नैतिक शिक्षा, अपरिहार्य रूप से केवल एक प्रकार के धर्म-शिक्षा-शास्त्रीय आदेश, अथवा नैतिक आदर्शों के पाठ-मात्र रह जाती है। नैतिक आदर्शों के पाठों का अर्थ वास्तव में ऐसे पाठों से लिया जाता है, जिनमें कर्त्तव्यों तथा सद्‌गुणों के बारे में दूसरों के विचार व्यक्त किए जाते हैं। इनका महत्त्व उसी अनुपात में होता है, जिसमें विद्यार्थी दूसरों के स्थाई भावों के सहानुभूतिपूर्ण तथा महत्त्व प्रदान किए गए आदर से अनुप्राणित होते हैं। बिना ऐसे आदर के, चरित्र पर, एशिया के पर्वतों के बारे की सूचना से अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। दासोचित सम्मान के साथ, इससे दूसरों पर आश्रित रहने की भावना की वृद्धि होती है, और अधिकारी-वर्ग पर ही आचरण के लिए उत्तरदायित्व लद जाता है। वास्तव में नैतिक

आदर्शों की प्रत्यक्ष शिक्षा केवल ऐसे सामाजिक समुदाय में सफल रही है, जहां यह अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों के अधिकारपूर्ण नियंत्रण का अंश थी। केवल शिक्षा-मात्र ने नहीं, अपितु उस समस्त शासन-पद्धति के बल देने के कारण यह प्रभावपूर्ण बनी थी, जिसकी यह एक घटना थी। प्रजातंत्रात्मक समाज में, नैतिक आदर्शों के पाठों से वैसे ही परिणाम प्राप्त करने का प्रयत्न, भावुकतापूर्वक जादू का सहारा लेना है।

इस क्रम के दूसरे सिरे पर सुकरात और प्लेटो की शिक्षा है, जो ज्ञान और सदाचार में तादात्म्य स्थापित करती है—जो स्वीकार करती है, कि व्यक्ति सद् के अज्ञान के कारण ही असद् कार्य करता है, ज्ञान में नहीं। इस सिद्धांत का सामान्य रूप से इस आधार पर विरोध किया जाता है, कि इससे तो और साधारण बात कोई नहीं है, कि मनुष्य सद् ज्ञान का रखते हुए भी असद् कार्य करता है। ज्ञान की नहीं ; बल्कि आदतों के निर्माण अथवा अभ्यास और प्रेरणा की आवश्यकता है । सचमुच अरस्तू ने प्लेटो की शिक्षा की, इस आधार पर आलोचना की, कि नैतिक सद्गुण भी, चिकित्सा की तरह एक कला है। अनुभवी अभ्यासकर्त्ता उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है, जिसमें सैद्धान्तिक ज्ञान तो है ; किन्तु, बीमारियों और उनके उपचारों का कोई व्यावहारिक अनुभव नहीं है। प्लेटो इस विषय पर आता है, कि ज्ञान क्या है। अरस्तू ने अपनी आपत्ति में प्लेटो की शिक्षा के मुख्य तत्त्व की यहां तक उपेक्षा की, कि यदि मनुष्य ने वर्षों तक व्यावहारिक आदतों तथा श्रमपूर्वक अनुशासन का निर्माण नहीं किया है, तो उसे सद् में कोई सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। सद् का ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो पुस्तकों अथवा दूसरों से प्राप्त किया जा सकता हो ; बल्कि केवल बहुत दिनों की शिक्षा से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह जीवन के परिपक्व अनुभव की अंतिम तथा तात्त्विक विशेषता है। प्लेटो की स्थिति से पृथक् भी यह देखना सहज है, कि ज्ञान-पद का प्रयोग अत्यंत दूरस्थ तथा घनिष्ठ सजीव वैयक्तिक ज्ञान को व्यक्त करने के लिए किया जाता है—अर्थात् ऐसे निश्चय को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जो अनुभव में ही प्राप्त किया तथा परीक्षित किया गया हो। तथा ऐसे दूसरों से प्राप्त, अधिकांश रूप से प्रतीकात्मक ज्ञान को भी व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें यह स्वीकार किया जाता है, कि सामान्य रूप से लोग ऐसा विश्वास करते हैं—अर्थात् जिसमें निष्प्राण दूरस्थ सूचना होती है। यह तो निश्चित ही है, कि इससे आचरण का निश्चय नहीं होता तथा इसका चरित्र पर बहुत अधिक

प्रभाव नहीं पड़ता ; किन्तु, यदि ज्ञान का अर्थ कुछ हमारी इस प्रकार की धारणाओं जैसा है, जैसे हम प्रयत्न तथा परीक्षण द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि शकर मीठी होती है और कुनैन कड़वी, तो दशा बिलकुल ही विपरीत होगी। जब कभी भी मनुष्य स्टोव पर न बैठ कर कुर्सी पर बैठता है, जब पानी बरसता रहता है, तो छतरी लेकर निकलता है, बीमार होने पर चिकित्सक की राय लेता है, अथवा संक्षेप में, दैनिक जीवन का निर्माण करने वाले हजारों कार्यों में से कोई भी कार्य करता है, तो वह यह सिद्ध कर देता है कि एक विशेष प्रकार का ज्ञान आचरण में प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सद् के ज्ञान का भी इसी प्रकार व्यक्तीकरण होता है। वास्तव में 'सद्' केवल छूँछा पद होगा, जब तक इसमें कथित स्थितियों में अनुभूत संतोष न सम्मिलित हो। वह ज्ञान, जो दूसरों में स्थित माना जाता है, किसी व्यक्ति से केवल ऐसे कार्य करा सकता है, कि वह कतिपय कार्यों से संबंधित दूसरों के अनुमोदन प्राप्त कर सके, अथवा कम-से-कम दूसरों पर यह प्रभाव डाल सके कि वह उनसे सहमत हैं ; किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं, कि यह उनमें स्वकीय आरंभ-रुचि उत्पन्न कर सके तथा दूसरों द्वारा संबद्ध विश्वासों की ओर से निष्ठा को जन्म दे सके।

अतएव यह आवश्यक नहीं, कि ज्ञान-पद के अर्थ के विवाद में पड़ा जाय। शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है, कि किसी नाम द्वारा व्यक्त होने वाली विभिन्न विशेषताएँ कौन-कौन-सी हैं, ताकि ज्ञात हो सके, कि यह महत्त्वपूर्ण ढंग से आचरण पर प्रभाव डालने वाले अनुभव की आवश्यकताओं के माध्यम से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान है। यदि विद्यार्थी पुस्तकों से केवल विद्यालय के पाठों के संबंध में, ज्ञान प्राप्त करता है ; ताकि पूछे जाने पर पुनः सुना सके, तो ज्ञान का प्रभाव केवल 'कुछ' आचरणों पर ही— अर्थात् दूसरों द्वारा माँगे जाने पर कथनों के पुनरुत्पादन पर ही—पड़ेगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, कि ऐसा ज्ञान विद्यालय से बाहर के जीवन पर अधिक प्रभाव नहीं डालता ; किन्तु इसके कारण ज्ञान तथा आचरण में विभेद नहीं किया जाना चाहिए। केवल इस प्रकार के ज्ञान को कम महत्त्व का समझा जा सकता है। यही बात उस ज्ञान के लिए भी कही जा सकती है, जो पृथक् तथा प्रविधिक विशिष्टता से संबंधित है। यह कार्य को परिष्कृत करता है ; किन्तु, केवल अपने संकुचित क्षेत्र में ही। वास्तव में, शिक्षालयों में नैतिक शिक्षा की समस्या, ज्ञान-प्रवृत्तियों तथा आदतों की व्यवस्था से संबंधित ज्ञान

प्राप्त करने की समस्या के अनुरूप है ; क्योंकि वह उपयोग, जिसमें कोई भी ज्ञात तथ्य लाया जाता है, संबंधों पर ही निर्भर है। किसी तिजोरी तोड़ने वाले के विस्फोटक-विशेष का ज्ञान शाब्दिक रूप में किसी रसायन-शास्त्री के अनुरूप हो सकता है ; किन्तु वास्तव में यह भिन्न है, क्योंकि यह भिन्न प्रकार के उद्देश्यों तथा आदतों से संबद्ध है, और इस प्रकार इसका आशय भी भिन्न है।

तात्कालिक उद्देश्य रखने वाली प्रत्यक्ष क्रिया से उत्पन्न होने वाली विषय-सामग्री का हमारा पूर्व-विवेचन, जिसमें इतिहास तथा भूगोल में प्राप्त होने वाले अर्थों से परिवर्द्धन होता है, तब वह वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित ज्ञान बनती है, इस भाव पर आधारित था, कि ज्ञान तथा क्रिया का सजीव संबंध कायम रहे। दूसरों के सहयोग में, सोद्देश्य व्यवसाय में लगाया गया समस्त ज्ञान नैतिक ज्ञान है, चाहे चेतन रूप से उसे ऐसा समझा जाय अथवा नहीं ; क्योंकि यह सामाजिक अभिरुचि का निर्माण करता है और उस अभिरुचि को अभ्यास में सफल बनाने के लिए आवश्यक बुद्धि प्रदान करता है। केवल इसलिए कि पाठ्यक्रम के विषय, सामाजिक जीवन के प्रतिमान अवयवों को व्यक्त करते हैं, वे सामाजिक महत्ताओं में आरंभ-रुचि उत्पन्न करने के अंग हैं। केवल पाठशाला के विषयों के रूप में उनके उपार्जन का केवल प्रविधिक महत्त्व है। ऐसी परिस्थितियों में प्राप्त किए जाने पर, जहाँ उनका सामाजिक महत्त्व प्राप्त होता है, वे सामाजिक अनुभव को पोषित करते हैं और नैतिक अंतर्दृष्टि का विकास करते हैं। इसके अतिरिक्त, ज्ञानार्जन विधि के विषय के अंतर्गत विवेचित समस्त मानसिक गुण, अनिवार्य रूप से नैतिक गुण हैं। उदार-बुद्धि, एकात्म-बुद्धि, निष्कपटता, दृष्टिकोण का विस्तार, संपूर्णता, स्वीकृत भावों के परिणामों का विकास करने के उत्तरदायित्व की कल्पना आदि सभी नैतिक विशेषताएँ हैं। अधिकारी आदेशों की बाह्य अनुरूपता के साथ नैतिक विशिष्टताओं का तादात्म्य स्थापित करने की आदत से इन बौद्धिक मनोवृत्तियों के नैतिक महत्त्व की उपेक्षा हो सकती है ; किन्तु, वही आदत नैतिक आदर्शों को मृत, यंत्रवत कार्यक्रम बना देती है। परिणाम-स्वरूप जहाँ ऐसी मनोवृत्ति से परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे परिणाम नैतिक रूप से अवांछनीय होते हैं—प्रजातंत्रात्मक समाज में तो और भी, जहाँ स्वकीय वैयक्तिक संस्कारों पर बहुत कुछ निर्भर है।

सामाजिक तथा नैतिक

ये सभी विभाजन, जिनकी हम अभी तक आलोचना करते रहे हैं, तथा पिछले अध्यायों में विवेचित शिक्षा, जिनसे बचने का प्रयत्न करती है, नैतिक आदर्शों को अत्यधिक संकुचित रूप से ग्रहण करने के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में उन्हें, एक ओर तो जो कुछ सामाजिक रूप से आवश्यक है, उसे करने की सक्षम योग्यता के संबंध के बिना ही, भावुकतापूर्वक उन्हें अच्छे-अच्छे रूप दिए जाते हैं, और दूसरी ओर, परंपरा तथा रीति-रिवाजों पर इतना अधिक बल दिया जाता है, कि नैतिक आदर्श निश्चित रूप से कथित कार्यों की तालिका-मात्र रह जाते हैं। वास्तव में, नैतिक आदर्श उतने ही विस्तृत हैं, जितने कि वे कार्य, जो हमारे दूसरों के साथ के संबंधों से संबंधित हैं। और अंतर्निहित रूप से इसमें हमारे सारे कार्य आ जाते हैं, चाहे कार्य करते समय उनके सामाजिक प्रभाव का ध्यान किया जाय अथवा नहीं; क्योंकि प्रत्येक कार्य, आदत के सिद्धांत के अनुसार, संस्कारों को परिष्कृत करता है, यह एक प्रकार की इच्छा तथा आकांक्षा उपस्थित करता है और यह बता सकना असंभव है, कि इस प्रकार से बलवती बनी आदत, हमारे दूसरों के साथ के संपर्कों पर प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट प्रभाव डालेगी। चरित्र की कतिपय विशेषताओं का हमारे सामाजिक संबंधों से इतना घनिष्ट संबंध होता है, कि हम उन्हें बड़े सबल भाव में 'नैतिक' कहते हैं; जैसे—सत्यवादिता, ईमानदारी, शुद्धता, प्रेम इत्यादि। किन्तु, इसका अर्थ केवल इतना है, कि कुछ अन्य मनोवृत्तियों की अपेक्षा वे अधिक केन्द्रस्थ होती हैं—अर्थात् उनके साथ और भी मनोवृत्तियाँ संबद्ध होती हैं। वे अधिक सबल भाव में नैतिक इसलिए नहीं हैं, कि वे पृथक् और पूर्ण हैं; बल्कि इसलिए हैं, कि वे अन्य हजारों ऐसी मनोवृत्तियों के साथ, बड़ी ही घनिष्टता के साथ संबद्ध हैं, जिन्हें हम व्यक्त रूप से जानते भी नहीं—अर्थात् जिनमें से बहुतों का तो हमने कुछ नाम भी नहीं रक्खा है। अपने पृथक् रूप में ही उन्हें सद्गुण कहना सजीव

शरीर के स्थान पर हड्डियों के ढांचे को ग्रहण करना है। निस्सन्देह हड्डियां आवश्यक हैं ; किन्तु उनका महत्त्व इस तथ्य में है, कि वे शरीर के अन्य अवयवों को ऐसा आधार प्रदान करती हैं कि वे संगठित प्रभावशाली क्रिया के योग्य बन सकें। विशिष्ट रूप से सद्‌गुण कही जाने वाली चरित्र की विशेषताओं के लिए भी यही सत्य है। नैतिक आदर्शों का संबंध पूर्ण चरित्र से है, और संपूर्ण चरित्र का, मनुष्य के पूर्ण स्थूल रूप तथा प्रकाशन के साथ तादात्म्य है। सद्‌गुण रखने का अर्थ, कतिपय सद् तथा पूर्ण विशेषताओं का उपार्जन नहीं है। इसका अर्थ मनुष्य का पूर्ण तथा यथेष्ट रूप से वह बनना है, जो कुछ दूसरों के संपर्क द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण बनाने की क्षमता रखता है।

अंतिम विश्लेषण में आचरण के नैतिक तथा सामाजिक गुणों में तादात्म्य है। इसलिए यह बतलाने के लिए कि पाठशाला का प्रबंध, पाठ्य-क्रम, शिक्षा-विधि उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, जितनी वह सामाजिक भावना से अनुप्राणित होती हैं। शिक्षा के सामाजिक कार्य के संबंध के पिछले अध्यायों के तात्पर्य को केवल पुनः कहना-मात्र है। और, शिक्षालय के कार्य के लिए सबसे बड़ा खतरा जो है, वह यह है कि उसमें ऐसी परिस्थितियों का अभाव है, जो सजीव सामाजिक भावना को संभव बनाती हैं। यह प्रभावशाली नैतिक शिक्षा का सब से बड़ा शत्रु है ; क्योंकि यह भावना केवल तभी सक्रिय रूप से वर्तमान रह सकती है, जब कुछ परिस्थितियों की पूर्ति की जाए।

१—पहले तो पाठशाला को स्वयं ऐसा सामाजिक जीवन होना चाहिए, जिसमें इसके सभी निहित तत्त्व वर्तमान हों। सामाजिक प्रत्यक्ष तथा अभिरुचियां केवल वास्तविक सामाजिक माध्यम में ही—अर्थात् जहां सर्वनिष्ठ अनुभव के निर्माण में आदान-प्रदान होता है—विकसित की जा सकती हैं। वस्तुओं के बारे में परिचयात्मक कथन तो आपेक्षिक रूप से अकेले ही, किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा उपार्जित किए जा सकते हैं, जिसने भाषा सीखने के लिए, दूसरों के साथ का पर्याप्त अनुभव पहले ही प्राप्त कर लिया है। किन्तु, भाषात्मक प्रतीकों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त करना बिलकुल दूसरी ही बात है। उसमें दूसरों के साथ के काम तथा खेल के संदर्भ की आवश्यकता पड़ती है। इस पुस्तक में, क्रमागत निर्माणात्मक क्रियाओं द्वारा जिस शिक्षा की मांग की गई है, वह इस तथ्य पर आधारित है कि वे सामाजिक वातावरण के लिए अवसर प्रस्तुत करती हैं। पाठों के अध्ययन के स्थान के रूप में पाठशाला को जीवन से पृथक् रखने के बजाय, उसे हमने संक्षिप्त सामाजिक समुदाय बना दिया है, जिसमें अध्ययन

तथा विकास वर्तमान सहयोगी अनुभव में घटित होते हैं। क्रीड़ास्थल, दुकानें, कार्यकक्ष, प्रयोगशालाएँ इत्यादि बालकों की प्राकृतिक सक्रिय शक्तियों का निर्देश ही नहीं करती हैं, बल्कि उनमें पारस्परिक संपर्क, आदान-प्रदान, तथा सहयोग भी बढ़ता है—ये सभी संबंधों का प्रत्यक्षीकरण करने में सहायक हैं।

२—विद्यालय के अंदर का ज्ञानार्जन बाहर के ज्ञानार्जन के साथ-साथ चलना चाहिए। दोनों में स्वतंत्र पारस्परिक सामंजस्य होना चाहिए। यह तभी संभव है, जब कि एक की सामाजिक अभिरुचि के दूसरे के साथ के अनेक संबंध-विन्दु हों। ऐसे शिक्षालय की धारणा बनाई जा सकती है, जिसमें सहयोगी क्रिया तथा सहकारी भाव की आत्मा वर्तमान हो; किन्तु जब इसका सामाजिक जीवन, शिक्षालय से बाहर के सामाजिक जीवन को मठों की ही तरह व्यक्त करेगा तथा उसी का प्रतिरूप होगा, तब सामाजिक संबंध तथा भावनाएँ विकसित तो होंगी; किन्तु बाहर के लिए प्राप्य न होंगी। वे जीवन में सार्थक न होंगी। ऐसी दशा में, नगर तथा गांव के विलगाव तथा ज्ञान से उत्पन्न ऐकांतिकता का ही विकास होगा। भूतकाल की प्राचीन संस्कृति को अपनाने पर भी उसी की अवशेषात्मक भावना का विकास होता है; क्योंकि व्यक्ति अपने समय के बजाय दूसरे युग के जीवन में शांति अनुभव करता है। तथाकथित सांस्कृतिक शिक्षा में यह भय सदैव बना रहता है। आदर्श समझा जानेवाला भूतकाल आत्मा की शांति का शरणस्थल बन जाता है। वर्तमानकाल के प्रयोजन तुच्छ, न ध्यान देने योग्य समझे जाते हैं। किन्तु नियमतः, ऐसे सामाजिक वातावरण का अभाव, जिसके संबंध में ज्ञान आवश्यक तथा वरदान-स्वरूप है, शिक्षालय के विलगाव का मुख्य कारण है, और यह विलगाव शिक्षालय के ज्ञान को जीवन के लिए निष्प्रयोग; अतएव चरित्र के लिए अनुत्पादक बना देता है।

नैतिक आदर्शों को संकुचित तथा अत्यन्त नैतिक रूप से समझना ही इस प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति में असफलता के लिए उत्तरदायी है कि शिक्षा के सभी उद्देश्य तथा अभिमूल्य स्वयं नैतिक हैं। अनुशासन, प्राकृतिक विकास, संस्कृति, सामाजिक क्षमता इत्यादि नैतिक गुण हैं—अर्थात् ऐसे व्यक्ति की विशेषताएँ हैं, जो ऐसे समाज का सुयोग्य सदस्य है, जिसका विकास करना शिक्षा का कार्य है। एक बहुत पुरानी कहावत है, जिसका अर्थ है कि किसी मनुष्य के लिए केवल अच्छा होना ही पर्याप्त नहीं, उसे किसी वस्तु में अच्छा होना चाहिए। 'कोई वस्तु' जिसके लिए मनुष्य को योग्य होना चाहिए, वह सामाजिक सदस्य के रूप में जीवन बिताने की शक्ति है; ताकि वह दूसरों के साथ जीवन

बिताने से जो कुछ प्राप्त करता है, वह उसके स्वयं के योगदान से संतुलित हो जाय। इच्छा, संवेग, तथा भाव रखने वाले मनुष्य के रूप में, वह जो कुछ देता या प्राप्त करता है, वह केवल वाह्य संपत्ति नहीं है, बल्कि चेतन जीवन को अधिक विस्तृत तथा गंभीर बनाने वाले तत्त्व—अर्थात् अर्थों की अधिक तीव्र, अनुशासित तथा विस्तारक प्राप्ति करानेवाले अवयव हैं। जो कुछ वह 'भौतिक' रूप से देता अथवा प्राप्त करता है, वे अधिक-से-अधिक चेतन जीवन के विकास के अवसर तथा साधन हैं। अन्यथा यह न तो लेना है न देना ही, बल्कि किसी लकड़ी से बालू और पानी को इधर-उधर करके मिलाने की तरह केवल स्थित वस्तुओं का स्थान-परिवर्तन मात्र है। अनुशासन, संस्कृति, सामाजिक क्षमता, वैयक्तिक सम्यता, चरित्र का सुधार इत्यादि सभी ऐसे ही संतुलित अनुभव में सद्रूप से भाग लेने की शक्ति के विकास के विभिन्न पक्ष हैं। और शिक्षा ऐसे जीवन का केवल साधन-मात्र नहीं है। ऐसी शिक्षा के लिए शक्ति को बनाए रखना ही नैतिक आदर्शों का मूलतत्त्व है ; क्योंकि सचेतन जीवन का क्रमागत रूप पुनः नवीन बन कर प्रारंभ होता रहता है।

अध्याय का सारांश

शिक्षालय में नैतिक शिक्षा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या ज्ञान तथा आचरण से संबंध रखती है ; क्योंकि जब तक अध्ययन के वैधिक क्रम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का चरित्र पर प्रभाव न हो, नैतिक लक्ष्य को शिक्षा का एकात्मक तथा अंतिम लक्ष्य सोचना व्यर्थ है। जब ज्ञान तथा नैतिक विकास की विधियों तथा साधनों में घनिष्ठ व्यवस्थित संबंध नहीं होता, तब विशेष प्रकार के पाठ तथा अनुशासन के रूपों को अपनाना पड़ता है। ज्ञान, क्रिया के सामान्य स्रोत तथा जीवन के दृष्टिकोण के रूप में नहीं संघटित होता है, और नैतिक आदर्श केवल नैतिक सिद्धांत—अर्थात् पृथक् सद्गुणों की योजना-मात्र बन जाते हैं।

ज्ञान के क्रिया से विलगाव, और इसीलिए नैतिक आदर्शों से विलगाव से प्रमुख दो सम्बन्धित सिद्धांत हैं, जो आंतरिक संस्कार तथा प्रेरणा—अर्थात् चेतन वैयक्तिक अवयव को, और कार्यों को केवल भौतिक तथा वाह्य रूप में पृथक् कर लेते हैं, और जो अभिरुचि से पृथक् कार्य को सिद्धांत के विरोध में रखते हैं। ये दोनों ही विलगाव शिक्षा की उस योजना में नहीं रह जाते, जहाँ ज्ञान, ऐसी निरंतर क्रियाओं अथवा व्यवसायों का सहगामी होता है, जो

विशिष्ट सामाजिक स्थितियों की सामग्री का उपयोग करते हैं, और जिनका उद्देश्य सामाजिक होता है ; क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में, शिक्षालय स्वयं एक प्रकार का सामाजिक जीवन, संक्षिप्त समुदाय, और शिक्षालय की दीवारों के बाहर के सहकारी अनुभव के अन्य रूपों के साथ पारस्परिक संपर्क रखने वाला बन जाता है। जो भी शिक्षा प्रभावपूर्ण ढंग से सामाजिक जीवन में भाग लेने की शक्ति का विकास करती है, नैतिक होती है। इससे ऐसे चरित्र का निर्माण होता है, जिससे केवल सामाजिक रूप से अनिवार्य कार्य ही नहीं होते हैं, अपितु जिसकी अभिरुचि उस निरंतर पुनर्संमायोजन में होती है, जो विकास के लिए मौलिक रूप से आवश्यक है। जीवन के सभी संबंधों से ज्ञान प्राप्त करने की अभिरुचि ही मूलभूत नैतिक अभिरुचि है ।